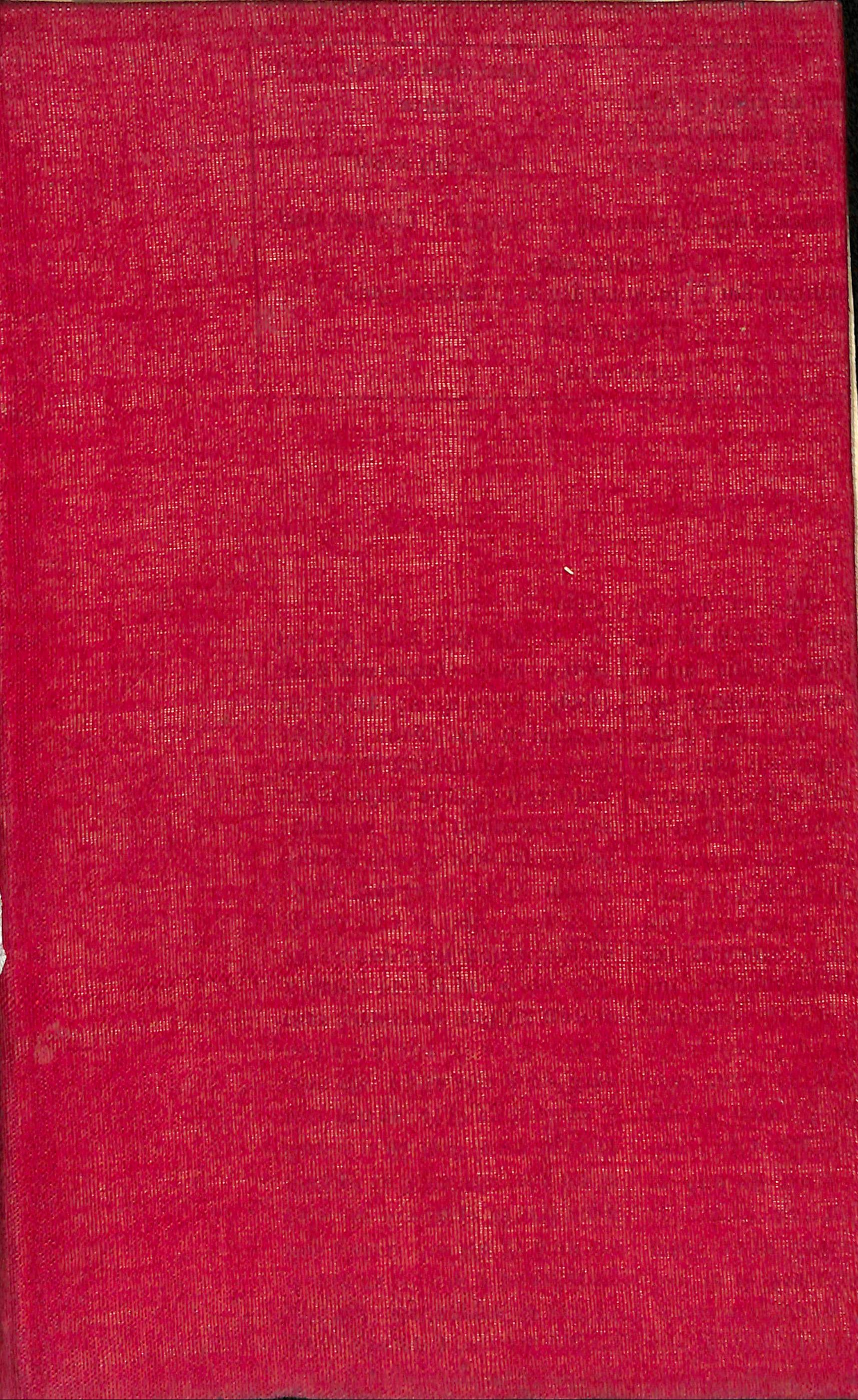
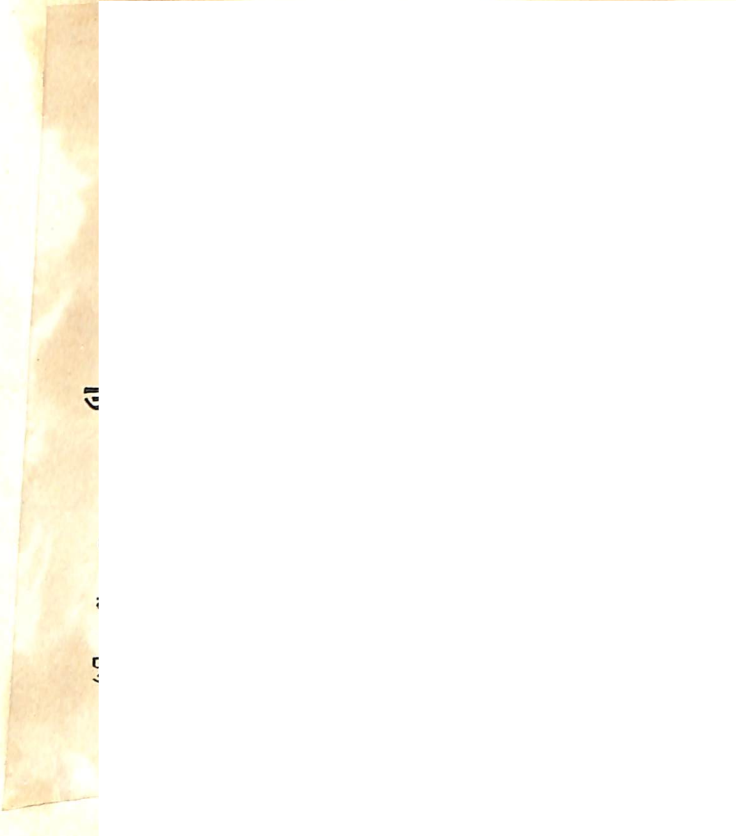




Parimal Sanskrit Series No. 19.

KĀVYAPRAKĀŚA

OF

MAMMAṬĀCĀRYA

WITH *'ĀDARŚA'* SANSKRIT
COMMENTARY OF
MAHESWARĀCĀRYA

WITH AN INTRODUCTION
IN HINDI

By

PT. T. C. UPRAITI

Vol. 1.

1985

PARIMAL PUBLICATIONS

DELHI * **INDIA**

Published by :
Parimal Publications
27/28 Shakti Nagar
DELHI-110007
INDIA



Edition 1985
(The text portion with commentary has been taken from the edition, published under Calcutta Sanskrit Series 1936)

Price : Rs. 250.00 (Two Vols.)

Printed at : Laxmi Composing Agency Babarpur main Road Delhi & Kwality offset Printing Press, Indira Market Naraina, New Delhi-110028.

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या-१९

श्रीमम्मटाचार्यप्रणीतः

काव्यप्रकाशः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यकृत
'आदर्शाख्यसंस्कृतव्याख्यया'
समुद्भासितः

भूमिकालेखकः
पं० थानेशचन्द्र उप्रैती, साहित्याचार्य

प्रथमो भागः

१९८५

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली भारत

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७
(भारत)

संस्करण १९८५

मूल्य : २५०.०० (२ भाग)
(ग्रन्थ का मूल भाग एवं संस्कृत व्याख्या कलकत्ता संस्कृत सीरिज के अन्तर्गत पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ से साभार गृहीत है)

मुद्रक : भूमिकाभाग—लक्ष्मी कम्पोजिंग एजेन्सी बाबरपुर मेन रोड दिल्ली तथा मूलग्रन्थ—क्वालिटी आफसेट प्रिंटिंग प्रेस, इन्दिरा मार्केट, नरायणा नई दिल्ली ११००२८.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

काव्यप्रकाशः

यस्या कृपाकटाक्षेण स्पन्दते निष्क्रियं जगत् ।
तां वन्दे मातरं वाचां, रमणीयामर्थभूषिताम् ॥१॥
वाग्देवताऽवतारस्य मम्मटस्य कृताविह ।
भूमिकाकल्पनाऽनल्प जल्पनैव विभाति मे ॥२॥
प्रयासः सहसा योऽयमल्पज्ञस्य ममोऽपि यत् ।
सेवाऽधिकार एवायं मन्यतां धीधनैरिह ॥३॥

संस्कृत वाङ्मय भारत का ही नहीं, अपितु यह विश्व की एक अमूल्य निधि है। इस वाङ्मय के अनन्त रत्नों की आभा से कभी यह निखिल भूमण्डल प्रकाशित था, जिनकी मन्द-मन्द कुछ धूमिल किरणें आज भी सुदूर देश देशान्तर को आलोकित कर रही हैं। भारत ही प्राधान्येन इस अमृत कल्प-वाङ्मय की उत्स भूमि रही है, क्योंकि इसी के अरुण प्रकाश से प्रकाशित प्राञ्जल प्राङ्गण में महर्षियों ने सर्वप्रथम सामगान किया था। शनैः शनैः इसके स्वर महाकाश के मध्य गूंजते हुए, यत्र तत्र सर्वत्र ही दिव्य सन्देश देते रहे।

परमपिता परमेश्वर के विश्वासस्वरूप वेद इसी वाङ्मय की दिव्य-विभूति हैं, जहाँ से निरन्तर निगमागम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। वेद ही आर्य जाति के अमर-काव्य हैं। जिनके विषय में कहा है—"**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**" संस्कृत वाङ्मय सम्बन्धी-आगम-निगमादि-शास्त्र-प्रस्थान व सिद्धान्तों की जितनी भी शाखा प्रशाखायें हैं, वे सभी इसी वेद कल्पतरु के ही विवर्त हैं।

मनुष्य जीवन के समृद्धि-सुख-शान्ति व समुन्नत करने की जितनी भी विद्यायें हैं, वे सब वेदों में वर्णित हैं। धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों का सम्पादन कराने वाले सुन्दर साधनों का यहाँ मनोरम वर्णन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवनोपयोगी किसी भी विद्या या कला का कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसका यहाँ वर्णन न किया हो। पुरुषार्थ चतुष्टय-सम्बन्धी जिन उपायों का वेद में वर्णन पाया जाता है, वे शास्त्र सरणि में

परिष्कृत किये हुए प्रस्थान अतिगहन सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऊहापोह से परिपूर्ण, व तर्क कर्कश होने से अत्यन्त दुरूह हो गये हैं, इस कठिन मार्ग से लौकिक पुरुषार्थ त्रिवर्ग—धर्म-अर्थ-काम, तक प्राप्त करना ही जहाँ कठिन है, वहाँ परम पुरुषार्थ मोक्ष तक की पहुँचने की तो फिर चर्चा ही क्या ?

सुकुमारमति भी अनायास ही चारों पुरुषार्थों को जिससे प्राप्त कर सकें, ऐसे वाङ्मय के इस ललित अंश का नाम साहित्य शास्त्र, या काव्यमार्ग है। पुरुषार्थ चतुष्टय के सरलतया सम्पादन में यही काव्यमार्ग अत्यन्त उपादेय प्रतीत होता है। अन्य शास्त्रीय उपाय इसकी अपेक्षा कठिन, श्रमसाध्य व दुरूह होने के कारण सुकुमार मतिवालों के अनुष्ठान के योग्य नहीं है, अत एव काव्य की उपादेयता को ध्यान में रखते हुए साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कविराज का यह कथन भी युक्तियुक्त ही है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।

"मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की तरह आचरण करना चाहिए, न कि लङ्काधिपति रावण की तरह" इस तरह कृत्य में प्रवृत्ति तथा अकृत्य से निवृत्ति कराने के लिए काव्य के कान्तासम्मित उपदेश सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि परिनिष्ठित प्रौढ बुद्धि वाले भले ही बड़े अध्यवसायपूर्वक वेदादिशास्त्रों से उक्त फल को कथञ्चित् प्राप्त कर लें, पर सरल तथा सुकुमार मति वालों के लिए तो यह कार्य अत्यन्त ही दुष्कर है। फिर जब एक सरल मार्ग का निर्माण उक्त गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए हो चुका है, तो कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो दुष्कर-गहन व कठिन मार्ग की शरण लेगा। कड़वी औषधि के द्वारा शमनीय रोग यदि मीठी औषधि से भी शान्त हो जाता है, तो कहना न होगा कि रोगियों की प्रकृति मीठी औषधि के लिए ही होगी।

इसीलिए अग्नि पुराण ने भी ऊँचे स्वर से काव्य की उपादेयता का उद्घोष किया है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।।

सर्वप्रथम इस संसार में प्रकृष्टसत्वसमनस्यूत मानव जीवन ही मिलना मुश्किल है, जन्मजन्मान्तरों के परिणत पवित्र संस्कारों के परिपाकजन्य पुण्यसञ्चय के द्वारा ही प्राणी मानव जीवन को प्राप्त करता है, उसमें भी

मानवता की सम्पादिका विद्या (शास्त्रज्ञान) को प्राप्त करना और भी कठिन है। अध्ययन भी एक प्रकार का तप माना जाता है, अनेक प्रकार के संयम नियमों का पालन कर कठिन परिश्रम से शास्त्रों का चिन्तन करते हुए विद्यार्थी विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती की उपासना करता है, तब किसी प्रकार विद्वान् बनता है।

अतः विद्या भी सर्वसाधारण सुलभ नहीं है, इसलिए इसे दुर्लभ कहा है। किसी प्रकार विद्या प्राप्त भी हो जाय तो कवि बनना तो और भी कठिन है, साधारण वृत्त पाद तुक आदि का नियमानुसार पद्यबन्धन कार्य ही जब मुश्किल है, तो फिर कवित्वशक्ति (प्रतिभा) के विषय में तो कहना ही क्या, अर्थात्— कवित्वशक्ति तो पूर्वजन्म के असाधारण परिपक्व सुसंस्कारों के परिणामरूप कोई विचित्र ही प्रसाद है, जो जनसामान्य के लिए सुलभ नहीं है।

इस प्रसङ्ग में ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति सर्वथा युक्तियुक्त मालूम पड़ती है कि प्रतिभाशक्ति सम्पन्न महाकवि तो अङ्गुलिगणनीय दो तीन ज्यादा से ज्यादा पाँच छैः ही होंगे। **"येनाति विचित्र-कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयो इति गण्यते।"**

कवि अपने लोकोत्तर प्रतिभा के द्वारा नीरस, प्रस्तरप्राय इस जगत् के पदार्थों को सरस तथा सजीव बना देता है, किञ्च अपनी अलौकिक कविता द्वारा ही प्रपञ्चाभिमुख मानव के भोगापवर्ग के निमित्त प्रवृत्ति निवृत्तिस्वरूप उभयविध मार्गों को प्रशस्त कर, परमपुरुषार्थ के उस महनीयप्रसाद के प्राङ्गणाभिमुख बना देता है। इसी हित को लक्ष्य करके मनीषियों ने काव्यमार्ग को साहित्य कहा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ प्रतीत होता है—यथा—**"हितेन-निरतिशय-प्रेमास्पदेन रसेन सहितं इति। अथवा हितं-पिहितं-आवृत-सन्निहितं (सत्यं) यस्य तत्सहितं तस्य भावः साहित्यम् उक्तञ्चापि-हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।"** इत्यादि।

यह साहित्य सदुपदेश का विधायक या शासक होने के कारण शास्त्र भी है, अतः यह भी काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। उपमेय—(**प्राप्तव्य परमपुरुषार्थ**) की प्राप्ति का मनोरम साधन होने के कारण ही संगीत-व साहित्य को वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के दो स्तनों की तरह माना है, जिनसे अमृतवाङ्मधु निस्पन्दन होता रहता है, जिसका पान कर मनुष्य अमर हो जाता है—

संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।
एकमापातमधुरमन्यदालोचनामृतम् ॥१॥

संगीत जहाँ आपाततः श्रवणमात्र से रमणीय है, वहाँ साहित्य-आलोचना से चर्वित होकर आस्वादातिरेक समर्पण करता है ।

सच भी यही है कि किसी साहित्य की सुन्दर कसौटी आलोचना ही है, बिना आलोचना के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है, और न उसके दोषों का ही ठीक-ठीक पता चलता है। गुण दोषों के बिना जाने काव्य के वास्तविक आनन्द का आस्वादन नहीं हो सकता है। इसलिए काव्य के वैशिष्ट्य को समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है। आलोचक ही काव्य के मर्म को समझने में सफल होता है, कभी-कभी तो आलोचक कुछ ऐसे भावों को समझाता है, जो कवि की दृष्टि से भी ओझल रहते हैं।

इस प्रकार "आलोचना" भी संस्कृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, आलोचक का पद भी कवि से कथमपि न्यून नहीं है। न संस्कृत साहित्य में इसकी उपेक्षा ही है, आलोचक की अपेक्षा रखते हुए संस्कृत साहित्य के मान्य आचार्य राजशेखर ने तो आलोचनाशास्त्र को वेद का सप्तम अङ्ग माना है।

"उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम् इति यायावरीयः" ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

राजशेखर की सम्मति में बिना अलंकार शास्त्र के जाने वेद के अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह हो ही नहीं सकता। इस प्रकार यह शास्त्र वेदाङ्ग के समान ही उपयोगी तथा उसी के समकक्ष माना जाता है।

उक्त **"द्वा सुपर्णा सयुजा"** इत्यादि मन्त्र में ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीन अनादि अनन्त मौलिक तत्त्वों का वर्णन है। यहाँ इन तीन तत्त्वों का निरूपण अपने नामों से न कहकर "रूपकातिशयोक्ति" द्वारा दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित किया गया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पल वृक्ष के रूप में है। ईश्वर और जीव दोनों सुन्दर पंखों वाले और साथ-साथ रहने वाले मित्र रूप पक्षी हैं। वे दोनों पक्षी समानवृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित हैं। उन दोनों में से एक-जीव—उस वृक्ष के फलों को खाता है। अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार संसार में सुखदुःखरूप फलों का भोग करता है, और दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ, संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यही इस मन्त्र का भावार्थ है।

वैदिक ऋषियों की रूपकातिशयोक्ति की यह कल्पना अत्यन्त रमणीय है। इसके साथ **"सुपर्णा सयुजा, सखाया, समानं, परिषष्वजाते"**, के सुन्दर अनुप्रास

ने तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। "अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति" में नकारका अनुप्रास माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर रहा है, "फल का भोग न करते हुए भी अपने तेज (सौन्दर्य) को प्रकाशित कर रहा है, यह "विभावना अलंकार का सुन्दर उदाहरण है, न केवल अलंकार ही उक्त मन्त्र को अलंकृत कर रहा है, अपितु सयुजा, सखाया ये विशेषण पदद्योत्य ध्वनि के भी अभिव्यञ्जक हैं। इन पदों से जीवात्मा तथा परमात्मा की नित्यता एवं सच्चिद्रूपता की भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार के मन्त्रों में साहित्यशास्त्र के अनेक मौलिक तत्त्वों का सुन्दर समावेश हुआ है।

इसीलिए वेद से लेकर व्यवहार तक साहित्यशास्त्र या अलंकार शास्त्र भी उतना ही उपयोगी है, जितने अन्य शास्त्र। अतः राजशेखर की यह उक्ति भी अत्युक्ति नहीं है कि—काव्य सभी विद्याओं का विश्राम धाम है, कवि कल्पना प्रसूत होते हुए भी हितोपदेशक होने से वह शास्त्र है।

"सकल विद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्" इति, **यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च, तद्धि शास्त्राण्यनुधावति।"**

अलङ्कार इस नाम का निदान—

आलोचना के लिए संस्कृत साहित्य में अनेक नामों का प्रचलन प्राचीन काल से होता आया है। इसका प्राचीनतम नाम "क्रियाकल्प" प्रतीत होता है, वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं के भीतर क्रियाकल्प को भी एक विशिष्ट कला माना है। क्रिया का अर्थ है काव्यग्रन्थ और कल्प का अर्थ है विधान।

इस प्रकार काव्य के विधायकशास्त्र होने से इसका यह नाम सार्थक ही है। पर यह नाम आगे प्रसिद्धि नहीं पा सका।

इसी प्रकार दशम शती के प्रारम्भ में राजशेखर ने अपनी "**काव्यमीमांसा**" में इसका नाम साहित्य विद्या रखा।

"पञ्चमी साहित्य विद्या" इति यायावरीयः, सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः" इति।

इसको चारों वेदों का सारभूत माना है। परन्तु "**साहित्यविद्या विधा**" यह नाम भी आगे प्रचलित न हो सका।

काव्य के सौन्दर्य का परीक्षण करने वाले इस आलोचनाशास्त्र का संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम "अलङ्कारशास्त्र" है, और इस आलोचना या काव्य की सौन्दर्य समीक्षा के अभिज्ञ को "आलङ्कारिक" कहा जाता है। यद्यपि यह शास्त्र केवल अलङ्कार पर ही विचार न करके, काव्य की सभी

विद्याओं, गुण-दोष-रस-रीति व ध्वनि आदि पर प्रकाश डालता है, अलङ्कार तो काव्य के अनेक शोभाधायक तत्वों में से अन्यतम है, वह भी स्वरूपाधायक न होकर, केवल उत्कर्षाधायक ही माना है, "**काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते**" दण्डी के ये वचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं। पर यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। "**अलंक्रियते अनेन इति अलङ्कारः**" इस संकीर्ण अर्थ में नहीं हुआ है। अर्थात् काव्य केवल उत्कर्षाधायक तत्वों के लिए न होकर "**अलंक्रियते इति**" या "**अलङ्कृतिरलङ्कारः**" इस व्यापक अर्थ में यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् काव्य के यावत् सौन्दर्याधायक तत्व। अलङ्कार को इस व्यापक अर्थ में लाने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलंकार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषण मात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है—"**सौन्दर्यमलङ्कारः ॥२॥**" अर्थात् सौन्दर्य ही अलङ्कार है। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने भी तत्व हैं, उन सबका सामान्य अभिधान "अलङ्कार" है। फलतः "अलङ्कारशास्त्र" का अर्थ है, काव्य के सौन्दर्याधायक तत्वों का प्रतिपादक शास्त्र, इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अलंकार शब्द के सौन्दर्यपरक अर्थ पर टिप्पणी करते हुए काव्यालङ्कार सूत्रों के व्याख्याकार श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने भी पूर्वोक्त पक्ष की ही पुष्टि की है। "**यद्यपि काव्यं ग्राह्यं सौन्दर्यात्, तद्दोषगुणालङ्कारहानोपादानाभ्याम् इति विन्यासान्तरे लाघवं भवति तथापि योऽयमलङ्कारः काव्यग्रहणहेतुत्वेनोपन्यस्यते तद्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमप्यलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यते, इति शास्त्रस्यालङ्कारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूचयितुं विन्यासः कृतः—काव्यंग्राह्यम् अलङ्कारादिति ॥२॥**

अथवा—"**प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति**" इस न्याय के अनुसार रस-रीति-दोष-गुणों का प्रतिपादक होने पर भी यमक उपमादि अलङ्कारों की प्रचुरता के कारण इन्हीं से काव्य का व्यवहार होने लगा, अर्थात् अलङ्कारों की प्रधानता के कारण उस समय अलङ्कार ही काव्य व्यवहार के प्रयोजक हो गये, "**काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्**" इस ध्वनिकार की उक्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अलङ्कारों में ही काव्य व्यवहार की प्रयोजकता है।

साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था, यद्यपि ध्वन्यमान अर्थ, रस, रीति आदि भी काव्य के जीवनाधायक तत्व विद्यमान थे, परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य के पहले उन तत्वों की स्पष्ट व्याख्या नहीं थी, अतः भट्टोद्भट्ट, रुद्रट, दण्डी आदि प्राचीन आलङ्कारिक ध्वन्यमान अर्थ को भी वाच्य का उपस्कारक मानकर, काव्य में अलङ्कारों की

ही प्रधानता मानते थे, और अलङ्कार तत्त्व को ही काव्य व्यवहार का प्रयोजक मानते थे। जब अलङ्कार ही एकमात्र काव्य का आश्रय है तो उसके विवेचक या प्रतिपादकशास्त्र का नाम भी "अलङ्कारशास्त्र" होना स्वाभाविक है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में करीब नवम शतक के मध्य भाग का काल स्वर्णाक्षरों से उल्लेखनीय है। साहित्य की इस शुभ वेला में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। काव्य की गहरी मीमांसा करने पर ध्वनि तत्त्व का आविर्भाव हुआ, इसका श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। ये ही ध्वनि मार्ग के प्रवर्तक हैं। इन्होंने ध्वनि तत्व की प्रतिष्ठा करके काव्य क्षेत्र में एक नई धारा बहाई, जो ध्वनि सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है, और इसका तात्त्विक विवेचन इन्होंने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ "**ध्वन्यालोक**" में किया, इसी ग्रन्थ में इन्होंने बड़े संरम्भ के साथ प्रतीयमान अर्थ की काव्य में प्रथक् सत्ता सिद्ध की।

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा काव्य में प्रतीयमान तत्व को काव्याङ्गों से पृथक् स्वतन्त्र कर दिया। यहीं से काव्याङ्गों का उचित मूल्याङ्कन हुआ, विशेषत: इस अलङ्कार व गुणों को उनके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया, अब काव्य में अलङ्कार व अलङ्कार्य के विषय में भी विशेष विवेचन होने लगा। फलत: अलङ्कार्य को काव्यसाम्राज्य के उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर अलङ्कारों को उनका उत्कर्षाधायक अङ्ग माना गया।

आलोचक धीरे-धीरे काव्य के इस महत्वपूर्ण तत्त्व से परिचित होने लगे। ध्वनि की काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषणा हो गई।

तदनन्तर ध्वनि के व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी प्रौढ व्याख्या द्वारा ध्वनि प्रासाद की चहारदीवारी को मजबूत किया, मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" में सदा के लिए इस सिद्धान्त की पूर्णरूप से स्थापना की, इसी से इनको ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य की पदवी मिली।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं, जिनकी कृति "**रसगङ्गाधर**" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक प्रौढ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलङ्कारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है।

"**ध्वनिकृतामालङ्कारिक सरणि-व्यवस्थापकत्वात्** ।"

इस प्रकार उत्तरोत्तर साहित्य क्षेत्र में गहरी छान-बीन होने लगी। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि अनेक काव्य तत्त्वों का उदय होने लगा। ध्वनि

वक्रोक्ति आदि के विषय में एक तरफ से विरोध भी चलता रहा, पर रस काव्य की आत्मा है, इसके विषय में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं थी। अष्टम उल्लास में मम्मट ने भी **'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा'** कहकर गुण और अलङ्कारों को साक्षात् और परम्परया रस के उत्कर्षक माना, और रस को काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार तात्विक दृष्टि से तो इस शास्त्र का नाम रसशास्त्र या ध्वनिशास्त्र होना चाहिए था, परन्तु पूर्व प्रचार या प्रसिद्धि के कारण अथवा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अलङ्कारों को प्रचुर परिमाण या व्याख्यान को देखते हुए **"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"** इस न्याय से इस शास्त्र का नाम "अलङ्कारशास्त्र" पड़ा।

अर्थात् साहित्यशास्त्र के आद्ययुग में अलङ्कारों की ही महिमा व्याप्त थी। इसका "अलङ्कारशास्त्र" इस नामकरण का यही रहस्य है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट :

संस्कृत साहित्यशास्त्र की समाराधना में जिन यशस्वी मनीषियों ने अपना जीवन समर्पण किया है, उनमें आचार्य मम्मट का नाम भी उल्लेखनीय है। भरत से लेकर भोजराज तक लगभग एक हजार वर्ष के बीच में काव्यशास्त्र पर जितना चिन्तन-मनन व ऊहापोहपूर्ण समालोचन हुआ था, उन सभी साहित्य बिम्बों का संक्षेप में प्रतिबिम्ब हमें आचार्य मम्मट की कृति काव्यप्रकाश में स्पष्ट रूप में मिल जाता है। इतने लम्बे अरसे में साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में विभिन्न दृष्टिकोणों से जितना मन्थन हुआ था, उसका साररूप नवनीत काव्यप्रकाश है। मम्मट का कार्य उन मधुमक्खियों की तरह है, जो निरन्तर अनेक उद्यानों के पुष्पों से परिश्रमपूर्वक मधुचयन कर, पुनः उस मधु को अपने छत्ते में सजाकर रख देती है। मम्मट ने विभिन्न आचार्यों की काव्यवाटिकाओं के पुष्पों में—शब्द-अर्थ-दोष-गुणालङ्कारों का परिशीलन कर—**"तददोषौशब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृतीपुनः क्वाऽपि"** तत्तत् पुष्पों में बिखरे हुए इन मधुबिन्दुओं को कलात्मक ढंग से दश उल्लासों में संभाला है, तथा सुरक्षित रखा।

इधर नवम शताब्दी के मध्य भाग में ध्वनि सिद्धान्त की काव्य क्षेत्र में पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, काव्यालोचन में अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का यथावत् विभाग कर दिया गया, गुण व अलङ्कारों का भी परस्पर विवेकपूर्ण विभाग हो चुका था, गुण काव्यात्मा रस के नित्य धर्म तथा आभ्यन्तर और अलङ्कार रस के अनित्यधर्म व बाह्य शोभाधायक तत्व माने गये। ये दोनों ही साक्षात् और परम्परया काव्यात्मा के उपस्कारक माने गये।

ध्वनि सिद्धान्त की इस प्रकार व्यापक व्यवस्था होने पर भी, कुछ कश्मीर के मान्य आलङ्कारिकों को यह सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य नहीं

हुआ, इस आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता वक्रोक्तिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक थे। इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा व प्रखर मेधा के द्वारा काव्य के मूल सिद्धान्तों का सर्वथा नवीनरूप में पुनराख्यान किया, और ध्वनिसिद्धान्त के उद्भावक आनन्दवर्धन की सार्वभौम प्रतिष्ठा को ललकारा—

"निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचितविषयचर्वणाचातुर्यचापल्येन।"

अर्थात्—भाव और अभाव के समान उन दोनों **"क्षिप्तो हस्तावलग्नः"** इत्यादि पद्य में (कामी तथा शराग्नि के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपादान नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखलाने का (**ध्वन्यालोककार**) का प्रयत्न व्यर्थ है। इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन के कारण कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल सिद्धान्त न रहकर सम्प्रदाय बन गया। पर ध्वनिवादी आचार्यों ने आगे इस पर विशेष ध्यान न देकर केवल **"वक्रोक्तेरलङ्कारत्वात्"** कह कर ही सन्तोष कर लिया। इसके बाद ग्यारहवीं शती के मध्य में कश्मीर निवासी आचार्य महिमभट्ट के द्वारा ध्वनि का प्रबल विरोध हुआ। महिमभट्ट मूलतः नैय्यायिक थे, इन्होंने "व्यक्तिविवेक" नामक अपने प्रौढ ग्रन्थ में ध्वनि तथा व्यञ्जनावृत्ति का बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन किया। इनका कहना था कि ध्वनि नामक कोई पृथक् वस्तु नहीं है, अपितु अनुमान का ही एक प्रकार है। इसी की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। मङ्गलाचरण में ही वे ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य बतलाते हुए लिखते हैं कि—

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में ही अन्तर्भाव दिखलाने के लिए "महिमा नामक" आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर व्यक्तिविवेक (नामक ग्रन्थ) की रचना करते हैं।

इन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि लक्षण का प्रतिपद खण्डन कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यह ध्वनि का लक्षण तो बन ही नहीं सकता है, अपितु विचारपूर्वक देखा जाय तो, यह अनुमान में ही सङ्गत होता है—**"एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव सङ्गच्छते नान्यस्य"** (व्यक्तिविवेक)। इस प्रकार ध्वनि के सभी प्रकारों का प्रौढ तर्कों द्वारा खण्डन कर, तृतीय विमर्श में **"ध्वन्यालोक"** के ध्वनि सिद्धान्त की कठोर समीक्षा करता हुआ, लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर, उन्हें अनुमान में ही गतार्थ कर दिया।

सचमुच अपनी प्रौढ प्रतिभा से महिमभट्ट ने एक बार तो ध्वनि सिद्धान्त को सदा के लिए मिटा देना चाहा, और ध्वनि सिद्धान्त के स्थान में **अनुमिति-वाद** को सुप्रतिष्ठित कर देना था।

ध्वनि की प्रतिष्ठा की स्थापना का यह सारा भार मम्मट जैसे महिमाशाली आचार्य पर था, मम्मट ने अनुमितिवादी तथा अन्य ध्वनि-विरोधियों का जब एक बार मुँहतोड़ उत्तर दे दिया, तो फिर ध्वनि के विषय में आगे किसी को विरोध करने का साहस नहीं हुआ। आचार्य मम्मट के कड़े हाथों से ध्वनि सम्प्रदाय की सुप्रतिष्ठा हुई। इसलिए इन्हें ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया।

मम्मट की कृति—

अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में "काव्यप्रकाश" मम्मट की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है, जिसमें समग्र काव्य तत्त्वों का समावेश किया गया है। शुद्ध शक्ति के विषय में इनका एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। जिसका नाम "शब्दव्यापारविचार" है। इस ग्रन्थ का विषय प्रायः काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास से गतार्थ हो जाता है।

भामह का "**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**" वाला काव्यलक्षण काव्यप्रकाश में अधिक विशद, परिष्कृत तथा प्राञ्जल मालूम पड़ता है। भामह व दण्डी ने न शब्दशक्तियों का विवेचन किया है, और न रस व ध्वनि का ही प्रतिपादन किया, इसलिए वे आज अलङ्कारशास्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण है, मम्मट ने भामह व दण्डी की इस कमी को समझा, और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश में इन सब विषयों का समावेश किया।

यह ग्रन्थ तीन अंशों में विभक्त है कारिका, वृत्ति, तथा उदाहरण, कारिका व वृत्ति के कर्ता एक ही हैं, कारिकायें स्वयं मम्मट विरचित हैं, और वृत्तिमात्र भी जिसमें कारिका या सूत्रों की व्याख्या, विषय के विशद विवेचन के लिए है। उदाहरण स्वयं मम्मट के नहीं है, वे अन्य काव्यग्रन्थों से लिए गये हैं। कहीं-कहीं भरत के सूत्रों का भी समावेश किया गया है, "**यथा—विभावानु-भावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति**" पर जहाँ भी भरत के नाट्यशास्त्र से सूत्र लिये गये हैं, वहाँ "**उक्तं हि भरतेन**" कहकर उनका निर्देश भी किया गया है।

कारिका तथा वृत्तिविषयक विवाद—

काव्यप्रकाश के कारिका तथा वृत्ति के विषय में बहुत से विद्वानों का मत एक नहीं है। कुछ लोग कारिका तथा वृत्ति दोनों के निर्माता पृथक्-पृथक्

मानते हैं। ये लोग कारिका भाग के निर्माता भरत को मानते हैं, और वृत्ति-भाग मम्मट द्वारा विरचित मानते हैं।

यह मत वङ्गदेशीय विद्वानों का है, जिनमें साहित्यकौमुदी के टीकाकार श्री विद्याभूषण व काव्यप्रकाश के आदर्श टीकाकार श्री महेश्वर हैं। विद्याभूषण ने अपनी साहित्य कौमुदी में दो बार इस बात का उल्लेख किया है—

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्॥

इसमें विद्याभूषण ने "काव्यप्रकाश" के सूत्रों को भरत सूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है—

"सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम्।"

इसी प्रकार काव्यप्रकाश के आदर्श व्याख्या के निर्माता महेश्वर भट्टाचार्य ने भी वृत्तिभाग को ही मम्मट की कृति माना है। कारिका भरतनिर्मित मानी है। उन्होंने **"ग्रन्थकृत् मरामृशति"** इत्यादि उद्धरण देते हुए अपनी आदर्श टीका में लिखा है—**"ग्रन्थकृच्चात्र कारिकाकृद् भरतमुनिरेव तदीय सहितासायासो कारिकाणां दर्शनात्। न तु वृत्तिकृदेव कारिकाकृत्, परामृशती-त्यादिषु सर्वत्र नामयोगोचित् प्रथम पुरुष निर्देशस्वरसात्, अन्यथाऽस्मद् योगोचितोत्तम पुरुष एव निर्दिश्येत।"**

इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिन कारिकाओं की व्याख्या करने जा रहे हैं, उनका बनाने वाला कोई भिन्न भरत मुनि है, जिसके लिए परामृशति यह प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी हुई कारिका की वृति लिखते तो प्रथम पुरुष का प्रयोग नहीं करते। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिका मम्मट की न होकर भरत की है।

कारिका तथा वृत्तिभाग के भिन्न कर्तृत्व खण्डन—

पूर्वपक्षियों में कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे विचार करने पर निस्सार प्रतीत होती हैं। काव्यप्रकाश के आरम्भ में आये हुए **"समुचितेष्ट देवतां ग्रन्थकृत् परामृशति"** इस प्रथम पुरुष के प्रयोग के आधार पर सूत्र या कारिकाभाग को वृत्तिकार से भिन्न की कृति सिद्ध करने का जो उपक्रम किया गया है, वह उपहास्यास्पद ही है। क्योंकि ग्रन्थों में इस प्रकार के अवसरों पर अपने लिए प्रथम पुरुष के प्रयोग की शैली तो संस्कृत साहित्य की बहुत-समाहत तथा बहुत प्रचलित सामान्य शैली है। अधिकांश लोग ऐसे प्रसङ्गों में प्रथम पुरुष का ही प्रयोग

करते हैं। जैसे—साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इसी प्रकार का प्रयोग कर "वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते" लिखा है।

"नागेशः कुरुते सुधीः" में नागेश ने भी प्रथम पुरुष का ही प्रयोग किया है। संस्कृत साहित्य के ग्रन्थकारों की तो यह एक अलङ्कृत् शैली है।

आचार्य कुन्तक ने इसे पुरुष वैचित्र्य प्रयुक्त वक्रत्व कहा है—"**पुरुष वैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासं प्रयुञ्जते कवयः काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपादिकमात्रं निबध्नन्ति—**

यथा—अस्मदभाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय "देवो न जानाति" इत्युक्तम्॥

अर्थात्—पुरुष वैचित्र्यवक्रत्वं वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पुरुष का मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप अन्य के साथ विपर्याय का कवि लोग प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य के वैचित्र्य के लिए (मध्यम पुरुष बोधक) युष्मद् शब्द अथवा (उत्तम पुरुष बोधक) अस्मद् शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र (प्रथम पुरुष) का प्रयोग करते हैं।

जैसे—यदि आप (रावण) उस (लोकप्रसिद्ध रामचन्द्र) को नहीं जानते हैं (यह अभिमानवश कहते हैं) तो वह हमारे (लङ्कावासियों के) दुर्भाग्य से ही है। अर्थात्—हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

यहाँ "**त्वं न जानासि**" इसके स्थान पर "**देवो न जानाति**" यह प्रथम पुरुष प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने भी इसे गुण ही माना है उनका कहना है कि—"**यस्तु क्वचित् कविभिः प्रयुज्यमानो दृश्यते स कर्तृत्व-व्यत्यासो नाम गुण एव न दोषः।**"

कहीं-कहीं कवियों के द्वारा प्रयुक्त यह कर्तृत्वव्यत्यास नाम प्रक्रम भेद भी गुण ही होता है।

यदाह—जैसा कि वहीं कहा भी है—

प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदस्मदर्थस्य।
चारुत्वायान्यन्नारोप्येत गुणः स तु न दोषः॥

अतः इन सब प्रमाणों के आधारों पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वृत्ति तथा कारिका भाग के कर्ता एक ही हैं। यदि मम्मट केवल वृत्तिभाग के ही रचयिता होते तो वे अपने वृत्ति ग्रन्थ के आरम्भ में अवश्य मङ्गलाचरण करते यह सब नहीं किया।

अतः मूल का मङ्गलाचरण ही वृत्तिभाग का भी मङ्गलाचरण है। इसलिए दोनों भागों को मम्मटाचार्य की ही कृति मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

काव्यप्रकाश के कर्ता के रूप में साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ निर्माता वे नहीं हैं, इसमें मम्मट के अतिरिक्त कश्मीर के एक दूसरे विद्वान् का भी इसके समाप्ति करने में हाथ है। दूसरे विद्वान् का नाम "अल्लट" है। अधिकांश टीकाकारों का भी यही मत है। काव्यप्रकाश के अन्त में एक श्लोक दिया गया है। जिससे इस ग्रन्थ की समन्वयात्मक रचना प्रतीत होती है।

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥

काव्यप्रकाश के प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटनावशादखण्डायते।"

तात्पर्य यह है कि—किसी कारणवश मम्मटाचार्य इस ग्रन्थ को समाप्त न कर सके तब दूसरे विद्वान् ने इसे पूर्ण किया। परन्तु टीकाकारों ने यह स्पष्ट निर्देश नहीं किया कि कितना अंश मम्मटाचार्य का है और कितने अंश की पूर्ति दूसरे विद्वान् ने की है, और वह दूसरा विद्वान् कौन है जिसने शेष भाग की पूर्ति की है। इन दोनों बातों का स्पष्ट सङ्केत राजनक आनन्द की निदर्शना टीका में मिलता है, जो इस प्रकार है—

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा॥१॥

स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त ही काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना की है, उसके बाद ग्रन्थ का अवशिष्ट अंश "अल्लट" नाम के विद्वान् ने पूर्ण किया। इसी प्रकार की घटना "कादम्बरी" ग्रन्थ के विषय में भी हुई है। वाणभट्ट कादम्बरी के केवल पूर्वार्धभाग की ही रचना कर सके थे। उसके बाद उत्तरार्ध भाग की रचना उनके सुयोग्य पुत्र पुलिन्दभट्ट ने की थी। इसी प्रकार मम्मटाचार्य के इस काव्यप्रकाश की समाप्ति भी अल्लट या अलकसूरि ने की।

इस ग्रन्थ में दश उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः (१) काव्यस्वरूप, (२) शब्दशक्तिविवेचन (३) शब्दार्थव्यञ्जकता का विवेचन (४) रस व ध्वनि

भेदों का वर्णन (५) व्यञ्जना स्थापना (६) शब्दार्थचित्रनिरूपण (७) दोषों का व्याख्यान (८) गुणविवेचन (९) शब्दालङ्कार निर्णय (१०) अर्थालङ्कार निर्णय।

इन दश उल्लासों में प्रायः काव्य के सभी तत्वों का समावेश हो जाता है।

काव्यप्रकाश की टीका सम्पति—

टीका सम्पत्ति की दृष्टि से काव्यप्रकाश एक सौभाग्यशाली ग्रन्थ है, श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़कर संस्कृत साहित्य में शायद ही कोई दूसरा ग्रन्थ हो जिस पर इतनी टीका लिखी गई हो। इसमें इसकी दुरुहता ही कारण है, प्राचीन आलङ्कारिकों में भामह, दण्डी, वामन, भोज आदि के ग्रन्थ प्रसादगुण-मण्डित प्राञ्जल प्राय सूक्ष्मविवेचनरहित थे।

वे अपने प्रकृतविषय के प्रतिपादन में समर्थ थे। साहित्य के केवल शोभाधायक बाह्य तत्त्वों के प्रतिपादन में निर्विवाद उनका उत्कर्ष था। मम्मट के बाद भी पण्डितराज जगन्नाथ का रस गङ्गाधर ध्वनिप्रस्थान का एक प्रौढ तथा उत्कृष्ट ग्रन्थ है इसमें सन्देह नहीं है कि पण्डितराज ने प्रायः सभी विषयों को अपनी प्रौढ प्रतिभा से प्रकाशित किया है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसन्धानपूर्वक पदार्थों का प्रतिपादन किया है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, केवल एक ही दोष है, वह है नव्यन्याय की शैली का अनुसरण। वस्तुतः यह दोष भी ग्रन्थकार पण्डितराज का अपना दोष नहीं है, यह तो उस वादयुग का दोष या गुण है जिसके बिना पाण्डित्य का रथ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है। फिर दूसरा दायित्व पण्डितराज पर यह था कि साहित्य के क्षेत्र में बढ़ती हुई निरर्गलता का नियन्त्रण करना था, इसके लिए ही शक्त, परिमार्जित व नपी-तुली भाषा की आवश्यकता थी। अतः उस युग की परिस्थिति को देखते हुए पण्डितराज का यह दोष न होकर गुण या भूषण ही कहना चाहिए।

मम्मटाचार्य का यह काव्यप्रकाश तो सूक्ष्म विषय की विवेचना में निःसन्देह उत्कृष्ट है, परन्तु किसी-किसी अंश में यह काफी जटिल भी हो गया है। जिसका अभिप्राय सामान्य तो क्या प्रौढ पण्डित भी सहसा अवगत नहीं कर पाते। टीकाकारों का भी परस्पर किसी अंश विशेष में मतभेद मालूम पड़ता है। एक टीकाकार यदि किसी पंक्ति का एक अर्थ करता है तो दूसरा टीकाकार कुछ दूसरा ही अर्थ कर देता है। यही कारण है इसकी टीकाओं की प्रचुरता का।

साहित्य के क्षेत्र में काव्यप्रकाश ही सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ रहा। इस पर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। अतः पण्डितमण्डली में

इसी ग्रन्थ का अध्ययन व अध्यापन होता था। साहित्य का पण्डित या साहित्य का विद्यार्थी काव्यप्रकाश पर अपनी पूर्ण प्रतिभा का व्ययकर प्रति पंक्ति के प्रतिपद का पदकृत्य करने में ही अपना सौभाग्य समझता था। काव्यप्रकाश के विषय में प्रसिद्ध है कि उसकी टीकायें घर-घर में विद्यमान हैं, किन्तु यह ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरूह बना हुआ है—**काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे सन्ति टीकाः तथाप्येष ग्रन्थस्तथैव दुर्बोधः**। करीब इसकी सत्तर टीकायें हैं, जिनमें—माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, विश्वनाथ कविचक्रवर्ती, प्रदीपकार, सुधासागरकार महेश्वर इत्यादि प्राचीनटीकाकारों की टीकायें प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार काव्यप्रकाश पर बारहवें शताब्दी से लेकर आज तक संस्कृत व हिन्दी में कुछ न कुछ टीका टिप्पणी आदि शोध कार्य चल ही रहा है। वामनाचार्यझलकीकर की संस्कृत टीका वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचचित टीका है इसमें सभी टीकाओं का संग्रह है। इसी तरह आचार्य विश्वेश्वर की काव्यप्रकाशदीपिका टीका भी सुन्दर है। जिसमें पूर्व टीकाओं के सभी सारगर्भित अंश संगृहीत हैं।

मम्मट का जन्मस्थान—

काव्यप्रकाश की "सुधासागर" टीका के निर्माता भीमसेन ने मम्मट के परिचय के रूप में कुछ पद्य लिखे हैं। उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट "कश्मीरदेशीय" जैयट के पुत्र थे। इन्होंने वाराणसी में आकर विद्याध्ययन किया, पतञ्जलि प्रणीतमहाभाष्य के टीकाकार कैयट तथा चतुर्वेदभाष्यकार-उव्वट दोनों मम्मट के छोटे भाई थे। इस भाव का वर्णन भीमसेन ने अपने जिन श्लोकों में किया, वे इस प्रकार हैं—

शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्।
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान् ॥१॥
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः।
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ॥२॥
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपढ्यादरात्।
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात् ॥३॥
तत्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटम्।
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ॥४॥
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुम्।
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ॥५॥
श्रीमान् कैय्यट-औव्वटौ ह्यवरजौ यच्छान्नतामागतौ।
भाष्याब्धि निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतौ ॥६॥

इस विवरण के अनुसार मम्मट का जन्म जैय्यट गेहिनी के सुजठर से हुआ था। अर्थात्—ये जैय्यट के पुत्र थे, और श्रीमान् कैय्यट और औव्वट उनके छोटे भाई थे, जिन्होंने महाभाष्य तथा वेदों पर व्याख्या लिखी थी, इस प्रकार मम्मट के रूप में स्वयं सरस्वती देवी ने कश्मीर देश में पुरुष के रूप में अवतार लिया था, और साहित्यशास्त्र पर सूत्रों का निर्माण कर, उस पर स्वयं काव्यवृत्ति की रचना की थी।

किञ्च काव्यप्रकाश के पञ्चमोल्लास में "रुचिङ्कुरु" इस वाक्य के पदों के परिवर्तन से "चिङ्कु" इस तरह की असभ्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः अन्विताभिधानवादी को भी व्यञ्जना वृत्ति माननी ही पड़ेगी। इस पर व्याख्याकार विश्वनाथ कविराज की जो टिप्पणी है उससे भी यही सिद्ध होता है कि मम्मट की जन्मभूमि कश्मीर ही है। **"चिङ्कुपदं कश्मीरादि-भाषाणामश्लीलार्थबोधकम्" [इति (विश्वनाथः)]** ।

कश्मीरी पण्डितों की परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार मम्मट "नैषधीय चरित महाकाव्य" के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं। यह किंवदन्ती इस प्रकार है—कि श्री हर्ष जब "नैषधीयचरितमहाकाव्य" की रचना कर चुके तब उन्हें आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। वे प्रफुल्लित होकर एकदम अपनी कृति की कुशलता की कामना के लिए अपने मामा मम्मट के घर जाकर अपने महाकाव्य नैषधीय चरित को अवलोकनार्थ मम्मट के सामने रख दिया, उन्हें आशा थी कि उनके मामा मम्मट इस उत्कृष्ट कृति पर कुछ शुभाशंसन अवश्य करेंगे।

जब मम्मट ने अपनी सरसरी नजर से नैषधीय चरित का अवलोकन किया तो बहुत खेद प्रकट किया कि काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में दोषों का वर्णन है, उनके उदाहरण के लिए उनको जगह-जगह से दोषों का उदाहरण ढूँढ़ना पड़ा, उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि सप्तम उल्लास के बनने से पहले तुम मुझे यह पुस्तक दे देते तो हमें अन्यत्र परिश्रम नहीं करना पड़ता, सारे दोषों के उदाहरण हमें यहीं मिल जाते।

जैसे—निम्नलिखित श्लोक में—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ॥२।२॥

हे वय, राजहंस ! आपका मार्ग मंगलकारी हो, और आपका पुनः समागम शीघ्र हो, जाइये कार्य को कीजिए, और कार्यकाल में मेरा स्मरण कीजिए।

यह प्रकृत अर्थ, यहाँ थोड़े से उलट फेर से **तव वर्त्म निवर्त्ततां शिवं,** तुम्हारा रास्ता अमङ्गलकारी हो, **स गमः त्वरितं मा अस्तु,** पुनः जल्दी यहाँ आना न हो। इत्यादि विरुद्धमतिकृत् दोष से युक्त है, आगे **साधय** इत्यादि पद अमङ्गलरूप अश्लीलदोष से भी दूषित हैं। अतः दोषप्रचुर यह आपका काव्य है।

वैसे भी मम्मट काव्य में अपने इस दोष दर्शन के लिए बहुत बदनाम हैं, वे कालिदास जैसे महाकवियों की कृति पर भी लाञ्छन लगाने में नहीं चूके। इसलिए इनको यवन कहा गया।

"काव्य प्रकाशो यवनो काव्याली क्व कुलाङ्गना" इत्यादि।

मम्मट का समय—

मम्मट का समय निर्धारण करने में अन्य कवियों व विद्वानों की तरह कठिनाई नहीं है। इन्होंने एकादश शतक के पूर्वार्ध में विद्यमान महामाहेश्वराचार्य श्रीअभिनव गुप्त के मत का सार संगृहीत किया है, और काव्यप्रकाश में अनेक स्थलों पर पद्मगुप्त परिमल के काव्य से उदाहरण दिये हैं। एक श्लोक में मम्मट ने धराधीश श्री भोजराज की दानशीलता का वर्णन किया है।

अतः भोजराज के बाद एकादश शताब्दी के उत्तरार्ध में मम्मट का समय निश्चित होता है। उधर इनके ग्रन्थ काव्यप्रकाश के प्रथम टीकाकार माणिक्यचन्द्र सूरि ने "संकेत" नामक टीका की रचना ११६० ई० में की है। फलतः इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

अलङ्कारशास्त्र के सम्प्रदाय—

अलङ्कारशास्त्र के अध्ययन व अनुशीलन से यह भलीभांति मालूम हो जाता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलङ्कारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन सा तत्त्व है, जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है। वह कौन सा पदार्थ है जो काव्य के अङ्गों में सबसे अधिक उपादेय है, और महत्वपूर्ण है।

इसी प्रश्न के उत्तर में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ, कुछ लोग अलङ्कार को ही काव्य का प्राण मानते थे। कुछ लोग गुण या रीति को, दूसरे लोग ध्वनि को काव्य-सर्वस्व मानते हैं।

इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में मतभेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई।

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन विभिन्न सम्प्रदायों के उदय का जो कारण बतलाया है, वह बहुत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है—"इह

विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन, वेति त्रयः पक्षा आद्येऽपि अलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण, भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेसु आद्यः,—उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनाचार्येण।"

उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से संभव है—

(१) धर्म से।
(२) व्यापार से।
(३) व्यङ्ग्य से।

धर्म दो प्रकार के होते हैं। (१) नित्य और (२) अनित्य। अनित्यधर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म हैं अलङ्कार, और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्म मूलक विशिष्टता को प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलङ्कार सम्प्रदाय, (२) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापार मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है। (१) वक्रोक्ति, और (२) भोजकत्व। वक्रोक्ति-उक्ति वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है। और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य हैं कुन्तक। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है।

भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस निरूपण के प्रसङ्ग में भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है।

शब्दार्थ में व्यंगमूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है, आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ध्वनि विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है, जो उनसे प्राचीन हैं और काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं—इन तीनों सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं। (१) अभाववादी (२) भक्तिवादी (३) अनिर्वचनीयतावादी। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक की पहली कारिका में इन तीनों वादों का निर्देश करते हुए, सहृदयजनों के हृदय में प्रकाशमान ध्वनि तत्त्व का मिथ्या प्रवाद करने वाले निराकरण के लिए ही यह हमारा प्रयास है कहा हैं, जिससे कि सहृदयों की मानसिक चिन्ता दूर हो इसी अभिप्राय को उन्होंने श्लोक के अन्तिमपाद से अभिव्यक्त किया है।

"तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥१॥"

उक्त पद्य का संक्षेप में रहस्योद्घाटन करते हुए अभिनव गुप्ताचार्यपाद ने इन तीन ध्वन्यभाववादियों को क्रमशः भ्रान्त, सन्दिग्ध, तथा अज्ञ माना है। क्योंकि काव्य में जो विलकुल भी ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे देहात्मवादी चार्वाक के समान हैं। जैसे चार्वाक दर्शन देह से पृथक् आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, इसी प्रकार ये भी ध्वन्यभाववादी भी काव्य में आत्मभूत ध्वनि की सत्ता नहीं मानते हैं। अतः ये विपर्ययज्ञान युक्त हैं अर्थात् भ्रान्त हैं।

दूसरे भक्तिवादी यह तो जानते ही है कि वाच्यातिरिक्त भी कोई अर्थ हैं परन्तु अभिधा व लक्षणा व्यापार से भी अतिरिक्त कोई व्यापार है या नहीं इस विषय के सन्देह से मुक्त नहीं हैं। अतः ये सन्दिग्ध हैं। अन्तिम अनिर्वचनीयवादी यद्यपि भ्रान्त व सन्दिग्ध नहीं हैं, ये लोग ध्वनि के स्वरूप से अच्छी तरह परिचित भी हैं फिर भी ध्वनि लक्षण नहीं बना सकते, अतः इनमें अज्ञान की प्रधानता है।

इस प्रकार ध्वनि के विषय में जब लोगों में अनेक प्रकार का विपरीत ज्ञान या विरोध है तो सहृदयों के सन्तोष के लिए ध्वनि का विवेचन करना परमावश्यक हैं।

इन सब विरोधों के परिहार के लिए तथा साहित्य जगत् में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता हेतु आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की रचना की।

यहीं से ध्वनि सम्प्रदाय की पुनः स्थापना हुई। छठा सम्प्रदाय "औचित्य" सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इनका उदय इन टीकाकारों के बाद में करीब एकादशशती के उत्तरार्ध में हुआ, अतः अलंकारसर्वस्व की टीका में इस सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है।

संस्कृत आलोचना शास्त्र के ये मुख्यतः छः सम्प्रदाय हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस-सम्प्रदाय	भरत मुनि
(२) अलङ्कार सम्प्रदाय	भामह
(३) रीति सम्प्रदाय	वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्तक
(५) ध्वनिसम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र

(१) रस सम्प्रदाय

रस शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में सोम रस के अर्थ में हुआ है **"दधानः कलशे रसम्"** (९।६३।१३) तैत्तिरीय उपनिषद् में पुनः आनन्द के अर्थ में

भी इसका उल्लेख हुआ है, (**"रसो वै सः रस ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दी भवति।"** (११।७।१) इस प्रकार वैदिक साहित्य में रस के विषय में यत्र तत्र किञ्चित् चर्चा है।

इधर लौकिक साहित्य में भी सर्व प्रथम रसों का वर्णन हमें आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण में मिलता है।

"रसः शृङ्गार करुणरौद्रवीरभयानकैः" (वा० का० २।९)

शृङ्गारादि आठ रसों का वर्णन यहाँ मिलता है, वैसे इस आदि काव्य को रस का ही विवर्त या परिणाम माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। महाकवि कालिदास की यह उक्ति भी इस बात को सुतरां पुष्ट करती है

निषादविद्धाण्ऽजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः (१४।२७)

व्याध के द्वारा क्रौञ्च पक्षी के वध को जब मुनि ने देखा तो वे बहुत दुःखी हुए, वही हृदयस्थ मुनि का शोक श्लोक में परिणत हो गया।

अतः यह मानना पड़ता है कि आदि काव्य का उदय करुण रस से ही हुआ, इसीलिए रामायण करुण रस प्रधान आदि काव्य है इसको आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में इस प्रकार कहा है—**"रामायणे हि करुणो रसः स्वयंमादि कविना सूत्रितः, "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येवं वादिना** और महाभारत में शान्त रस को ही मुख्यतया विवक्षा का विषय माना है।

तिलों में तेल की तरह अङ्गनाओं में लावण्य की तरह यह रस भी महाकवियों के महाकाव्यों में व्याप्त हैं।

इसका शास्त्रीय विवेचन करने का श्रेय भरत को है। भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और उनका "नाट्यशास्त्र" रस सिद्धान्त का प्रतिपादक सर्व प्राचीन ग्रन्थ है।

भरत के नाट्य शास्त्र को ललित कलाओं का विश्वकोष कहना चाहिए, नाट्य विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्दशास्त्र का, संङ्गीत का तथा अभिनय का भी यह आदि तथा प्रौढ ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारों के नाम से भी चल सकता है। इसके नौ भाष्यकार हैं। जिनका नाम नीचे दिया जाता है—

(१) उद्भट्ट (२) लोल्लट (३) शङ्कुक (४) भट्टनायक (५) राहुल (६) भट्ट यन्त्र (७) अभिनव गुप्त (८) कीर्तिधर (९) मातृ गुप्त। इन सब में अभिनव गुप्त की प्रख्यात व्याख्या "अभिनव भारती" ही आज उपलब्ध है और इसी में उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारों के अस्तित्व का पता चलता है। इन टीकाकारों में लोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक ने भरत

के रस सूत्र की विभिन्न व्याख्या की है, जिसका निर्देश अभिनव भारती में बहुशः किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में रस ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है। भरत मुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है इसीलिए रस को नाट्यरस की संज्ञा दी है। पिछले आलङ्कारिकों ने इसे श्रव्य काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य है। इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर होता है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव-विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है। रस की संख्या के के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की सत्ता के विषय में किसी की भी विमति नहीं है। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस है जिसकी काव्य तथा नाट्य में सत्ता के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस को नाट्य में निषेध करते हैं, परतु अभिनव गुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी सत्ता मानते हैं। रुद्रट ने "पेयान्" नामक रस को, विश्वनाथ कविराज ने वात्सल्य को, गौडीय वैष्णवों ने "मधुर रस" को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है।

साहित्य में रसमत का सर्वतोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में **"रसध्वनि"** को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है।

भोजराज भी समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटते हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति, (३) रसोक्ति।

इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक काव्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। अग्निपुराण की स्पष्ट उक्ति है—**"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।"** काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। भरत ने **"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"** का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्त्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार रस सिद्धान्त की पूर्णरूपेण व्याख्या नहीं हो सकती है। क्योंकि भारतीय साहित्य में इसका अपना कुछ अलग ही महत्त्व

है, जिसका सम्बन्ध भारतीय दर्शन से है, जो आत्मानन्द सहोदर है, चिन्मय तथा प्रकाशस्वरूप है, अतः पाश्चात्य मनोविज्ञान की परिधि से परे की बात है। जब आधुनिक विज्ञान केवल मन तथा उसकी वृत्तियों के विवेचन तक ही सीमित है, तो आत्मस्थानीय रसास्वादजन्य अलौकिक अनुभूति की आशा करना तो दुराशामात्र है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द, (३) रसानन्द। विषयानन्द वासना पर अवलम्बित है, यह विषय चिन्तन से या विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाला लौकिक क्षणिक तथा वासनाओं की मलिनता के कारण सुखदुःखादि सांसारिक भावों के द्वन्द्व मे अभिभूत है। अतः यह सत्त्वप्रधान आनन्द न होकर आनन्दाभास है। आनन्द की उच्चतम कोटि है ब्रह्मानन्द, जिसके अन्तर्गत समस्त आनन्द सिमट कर एकत्र हो जाते है। रसानन्द भी करीब-करीब इसी आनन्द की कोटि में आता है। विषयानन्द के लिए जिस प्रकार वासना अपेक्षित है रसानन्द में उस जगह वासना की शुद्धि अपेक्षित है, अर्थात् भावों का उदात्तीकरण, भावों की अशुद्धि का कारण है, उसका व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध, मेरी यह रति है इत्यादि जो परिमित प्रमाता का सम्बन्ध विशेष है वही हीनता तथा अशुद्धि का कारण है। इसी भावसंशोधन के लिए साहित्यशास्त्रियों ने रसनिष्पत्ति प्रक्रिया के लिए साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की है, जिसकी सहायता से प्रमाता में अपरिमित भाव आ जाता है। वासना विषयविष से दूषित न होकर निष्काम भावना या उदात्तभावना से स्वच्छ हो जाती है। इसी दिशा में शनैः शनैः रत्यादि भाव से जो अज्ञानावरण से परिच्छिन्न थे वे व्यञ्जना व्यापार व साधारणीकरण व्यापार के सहयोग से अपरिच्छिन्न होते हुए सच्चिदानन्दघनस्वरूप रस को प्राप्त कर लेते हैं। इसी रस के विषय में भरत ने लिखा है—

"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

अलङ्कार सम्प्रदाय

काव्य जगत् में अलङ्कारों का सर्वाधिक महत्त्व है, आपातत यही तत्त्व गुण व अलङ्कार ही काव्य के व्यावर्तक धर्म है। इसीलिए **"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्"** इस आनन्दवर्धन की सूक्ति का आश्रय लेकर गुणालङ्कारादि से निरूपणीय काव्य को माना है। अर्थात् काव्य के काव्येतर से भेदज्ञान में साधन अलङ्कारादि ही हैं। **"काव्यं काव्येतराद् भिन्नं गुणालङ्कारादिमत्वात्"** यह अनुमानाकार है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य में अलङ्कार की स्थिति अति आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ने जब काव्य के लक्षण में अलङ्कारों का विधान विकल्प रूप से किया तो अलङ्कारवादियों को यह विकल्प असह्य सा प्रतीत हुआ। जयदेव का तो यहाँ तक कहना है कि जो विद्वान् अलङ्कार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता है ? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असम्भव है, उसी प्रकार काव्य का अलङ्कार से रहित होना भी असम्भव है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलङ्कृती ॥१॥ (चन्द्रालोक)

इस सम्प्रदाय में अलङ्कार ही काव्य की आत्मा है।

अलङ्कार मत के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं, इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य के पोषक अंगों को भी अलङ्कार कहते हैं। रुद्रट् व प्रतिहारेन्द्रराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलङ्कार को ही प्रधानता दी है।

रूय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं।

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलंकारों का निर्देश मिलता है—यमक, उपमा, रूपक व दीपक। साहित्य के मूलभूत अलंकार ये ही हैं, जिनमें पहला शब्दालङ्कार और तीन अर्थालङ्कार हैं। भरत के मत में यमक शब्दालंकार दस प्रकार का है, और उपमा के पाँच भेद होते हैं—प्रसंशा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित् सदृशी। रूपक तथा दीपक का एक-एक भेद होता है। इन्हीं चार अलङ्कारों से विकसित तथा बर्धित होकर अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द में सवा सौ के ऊपर तक पहुँच गयी है।

कालक्रम के अनुसार अलंकारों की संख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र (अध्याय १७) में ३६ प्रकार के लक्षणों का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलंकार में सम्मिलित कर लिया, और इस प्रकार अलंकारों के विकास में इन लक्षणों का भी कम महत्त्व नहीं है। उदाहरणार्थ, हेतु, आशी, तथा लेश के विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मितियाँ हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलंकार नहीं मानते परन्तु आशी को अलंकार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलंकार माना है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्यय दीक्षित ने कुवलयानन्द

में हेतु तथा लेश को अलंकार माना है। इस प्रकार अलंकारों का विकास होता गया।

भारतीय आलंकारिकों ने अलंकारों के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्त्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका संकेत सर्वप्रथम रुद्रट् के काव्यालङ्कार में मिलता है। उन्होंने ही सबसे पहले औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेश को अलंकारों के विभाजन का मूल कारण माना। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में अलंकारसर्वस्व के कर्ता रूय्यक का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। इन्होंने औपम्य, विरोध, लोकन्याय आदि को अलंकारों का मूल विभेदक तत्त्व मानकर अलंकारों का विभाजन सुन्दर समीक्षा के साथ किया है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनत्व और महत्त्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचनाशास्त्र अलंकारशास्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है।

महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय में रस की स्थिति विचारणीय है। अलंकार मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात नहीं था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलंकार का ही एक प्रकार माना है। रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वी तथा समाहित नामक अलंकारों के भीतर ही रस और भाव का समस्त विषय इन आलंकारिकों ने निविष्ट कर दिया। भामह को महाकाव्य में रसों की स्थिति मान्य है, दण्डी भी रस तत्त्व से परिचित हैं, और रसवत् अलंकार के भीतर इन्होंने आठों रसों और आठों स्थायी भावों का निर्देश कर दिया। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश मानते हैं। अतः दण्डी को रसतत्त्व से अपरिचित नहीं माना जा सकता है। उद्भट ने भी रसवत् अलंकार के निरूपण के अवसर पर विभाव, संचारीभाव और स्थायीभाव जैसे पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख नहीं किया है, बल्कि रस के नव भेदों को भी स्वीकार किया है। रुद्रट भी काव्य में रस का सन्निवेश करने का उपदेश देते हैं। इन सब उल्लेखों का यही आशय है कि भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्त्व के महत्त्व से पर्याप्त परिचित हैं। भरत मुनि से पश्चाद्वर्ती होने से यह ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त उचित है।

परन्तु वे लोग उसे अलंकार का ही एकरूप मानते हैं। अलंकार उनकी दृष्टि में एक व्यापक तत्त्व है।

अलंकार और ध्वनि

इन आलंकारिको को काव्य में प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) की भी सत्ता किसी न किसी रूप में अज्ञात न थी, रुय्यक का स्पष्ट मत है कि भामह तथा उद्‌भटप्रभृति अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर उसे अलंकार में ही अन्तर्भूत किया है। एकावली की टीका "तरला" में मल्लिनाथ ने भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य माना है, परन्तु उन्हें ध्वनि-अभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं, वे प्रतीयमान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य जैसे पदार्थों का अपने अलंकार ग्रन्थों में प्रयोग ही करते हैं, परन्तु प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं हैं। पर्यायोक्त अलंकार के भीतर ध्वनि की कल्पना इन आलंकारिकों को स्पष्टतः मान्य है, समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में भी द्वितीय अर्थ के रूप में प्रतीयमान प्रतीत होता है,

अलंकार सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव रुद्रट को इतना खटका कि उन्होंने "भाव" नामक एक नवीन अलंकार की ही कल्पना कर ली। इसके दो भेद हैं जिनके उदाहरणों को मम्मट ने तथा अभिनव गुप्त ने प्रतीयमान अर्थ का द्योतक माना है, ऐसी दशा में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकारवादी रुद्रट को व्यङ्ग्य का सिद्धान्त सर्वथा मान्य था, अन्तर इतना है कि वे इसे स्वतन्त्र रूप देने के पक्षपाती नहीं थे। प्रत्युत इसे वे अलंकार के भीतर गतार्थ मानते थे, दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्व काव्य में स्वीकार किया है वह किसी न किसी मात्रा में पिछले युग तक चलता गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्व देकर भी अलंकार के वर्णन में अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई। ध्वनिवादी होते हुए भी मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में अलंकारों का जो सुन्दर तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्य के वर्णन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य वामन हैं। वामन ने काव्य में अलङ्कार की प्रधानता के स्थान पर रीति की प्रधानता का प्रतिपादन किया है,

"रीतिरात्मा काव्यस्य" यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है, और पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं—**"विशिष्टा पद-रचना-रीतिः**, (पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं,) पदों में विशिष्टता गुणों के ही कारण उत्पन्न होती हैं, गुणों के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही

स्थित रहते हैं, अतः रीति गुणों के ही ऊपर अवलम्बित रहनेवाला काव्यतत्त्व है—"विशेषो गुणात्मा" । इसीलिए रीति सम्प्रदाय "गुण सम्प्रदाय" के नाम से भी पुकारा जाता है ।

गुणों का सर्वप्रथम वर्णन भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है, गुण संख्या में दश होते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति, (ना०शा० १६।६८) रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (१५० ई०) में भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणों का उल्लेख पाया जाता है, भरत के द्वारा निर्दिष्ट इन गुणों को दण्डी ने स्वीकार किया है, परन्तु भरत से उनकी व्याख्या में अनेक स्थलों में अन्तर है, गुणों में शब्दगत अथवा अर्थगत वैशिष्ट्य मानना दण्डी की मौलिक सूझ है, वे इन दश गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग (वैदर्भ रीति) का प्राण मानते हैं, तथा उनके विपर्यय को गौडीय मार्ग का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं ।

वामन के गुणों की कल्पना तथा इनकी व्याख्या अत्यन्त नवीन और मौलिक है, वामन गुणों को दो प्रकार का मानते हैं—(१) शुद्धगुण और (२) अर्थगुण, इस विभाजन में जो शुद्धगुणों के नाम हैं वे ही अर्थगुणों के भी हैं, परन्तु दोनों प्रकार के गुणों की कल्पना में पर्याप्त अन्तर है। वे ही गुण शुद्धगुण होते हैं, तथा अर्थगुण भी, नाम में भेद नहीं, परन्तु दोनों के स्वरूप में महान अन्तर है। गुण के विषय में वामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हो सका, इनके पहिले ही भामह ने दश गुणों के स्थान पर केवल तीन गुणों—माधुर्य-औज-प्रसाद-की कल्पना स्वीकार की थी, इसी मत का अवलम्बन पीछे के आलंकारिकों ने किया । मम्मट, हेमचन्द्र, और विश्वनाथ कविराज आदि आलंकारिकों ने गुणों की संख्या तीन ही मानी है । इतने ही पर्याप्त हैं, काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है कि या तो अन्य गुणों का इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव होता है, या वे दोषाभाव रूप है, अथवा कहीं कहीं वे गुण न होकर वस्तुतः दोष ही होते हैं। वामन के मार्ग का थोड़ा अवलम्बन भोजराज ने किया है परन्तु विभाजन का तरीका कुछ और है, भोजराज ने गुणों के तीन भेद माने हैं, (१) बाह्य गुण (२) आन्तर गुण और (३) वैशेषिक गुण, उन्होंने गुणों की भी संख्या दश से बढ़ाकर चौबीस कर दी है, (सरस्वती कण्ठाभरण १।५८।६५)

रीति का विकास

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकारशास्त्र के आदिम युग में, भामह से पूर्वकाल में कभी न कभी अवश्य हुई होगी । वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था, तथा गौडीयमार्ग निन्दनीय

था, परन्तु स्वतन्त्र मार्गी भामह की विचारधारा निराली है, उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए, और न गौडीय मार्ग की निन्दा, बल्कि काव्य के शोभन गुणों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। दण्डी ने इन दोनों मार्गों—वैदर्भ मार्ग और गौडीय मार्ग का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है, वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वोक्त दस गुणों से युक्त मानते हैं, और गौडीय मार्ग में कतिपय गुणों को छोड़कर अन्य गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं, इसलिए दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियों के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है, और गौडीयमार्ग नितान्त अस्पृहणीय मार्ग है।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ़ आधार पर निर्मित किया है, काव्य की आत्मा को खोज निकालने वाले सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रीति है, दण्डी की दो रीतियों के स्थान पर वे तीन रीतियाँ मानते हैं। (१) वैदर्भी (२) गौडी और (३) पाञ्चाली। वैदर्भी रीति में समस्त दश गुणों की सत्ता विद्यमान रहती है, गौडीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण होते हैं, तथा पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों की सत्ता रहती है। पूर्व आलंकारिकों ने रीति की इस संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है, राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के मंगल-श्लोक में इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है।

(१) वच्छोभी-वैदर्भी, (२) मागधी तथा (३) पाञ्चालिका-पाञ्चाली, रुद्रट ने लाटीया को भी नई रीति मानकर रीतियों की संख्या चार कर दी है। भोज ने आवन्ती, मागधी, और लाटी को नई रीतियाँ मानकर इनकी संख्या वामन की अपेक्षा दुगनी (छै) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा उद्भासित तीन ही रीतियों का काव्यजगत् में आज भी प्रचलन है। वामन ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। गुणों के समान ही इनकी अलंकारों की उद्भावना भी नितान्त मौलिक और सुन्दर है।

महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय में काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। साथ ही साथ काव्य की आत्मा का विवेचन भी बड़ी मार्मिकता के साथ हुआ है। आनन्दवर्धन की मान्यता है कि काव्य के तत्त्वों के उन्मीलन में रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी क्षमता दिखलाई हैं। वामन की यह प्रकारान्तर से भूयसी प्रशंसा हैं।

रीति सम्प्रदाय को गुण और अलंकार का परस्पर पार्थक्य दिखलाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करने वाले समस्त धर्मों अर्थात् गुणों को भी

अलंकार शब्द से ही व्यवहृत कर अपने अलंकारवादी होने का परिचय दिया। परन्तु वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म "गुण" कहलाते हैं, तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करने वाले धर्म "अलंकार" के नाम से पुकारे जाते हैं। काव्य में अलकार की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वशाली हैं। क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं उनके बिना काव्य की शोभा के एकमात्र आधायक धर्म को "गुण" मानना इस सम्प्रदाय का महत्त्व है।

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीतिसम्प्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा तीक्ष्ण है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रस को काव्य का बहिरङ्ग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरङ्ग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इन्होंने "कान्ति" गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन की वक्रोक्ति के भीतर अविवक्षितवाच्यध्वनि का अन्तर्भाव भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्त्वों का विवेचन इस सम्प्रदाय में अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनिवादी आचार्यों को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामञ्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ सम्बद्ध कर काव्य में रीति के महत्त्व को अङ्गीकार किया है।

वर्तमान रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर हुआ है। कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है, और न यह नाम ही इसीलिए उन्होंने रीतियों के इन नये नामों की उद्भावना की है—

> **सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।**
> **सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥** १।२४।

(१) सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति)
(२) विचित्र मार्ग (गौड़ी रीति)
(३) मध्यम मार्ग (पाञ्चाली रीति)

काव्य में रीति का तथा तद्बोधक काव्यतत्त्व गुण का सिद्धान्त नितान्त महनीय है जिनकी उपासना कविजनों का लक्ष्य होना चाहिए।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय

संस्कृत साहित्य में "वक्रोक्ति" शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में जो वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग

किया है वह केवल वाक्छलरूप शब्दालंकार के अर्थ में नहीं किया गया, वास्तव में बाण स्वयं भी वाणी के चमत्कार के बड़े प्रेमी थे।

"वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण" (कादम्बरी)

बाण की यह वक्रोक्ति इतिवृत्त वर्णन से भिन्न काव्य की चमत्कारपूर्ण शैली तथा वचनविदग्धता की ही पर्याय है, जिसका विन्यास उन्होंने इस प्रकार किया है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥१॥ (हर्षचरित)

यह स्पष्ट है कि बाण का वक्रोक्ति मार्ग शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार से सम्पन्न है।

वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ भी यही है कि सामान्य कथन न होकर कुछ वक्र (टेढ़ापन वाला) असाधारण कथन।

काव्य की उक्ति साधारण न होकर अधिक चमत्कृत होनी चाहिए यहीं "वक्रोक्ति" है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकारशास्त्र में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम मानते हैं। इसे काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार करते हैं। **"वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते"** (का०ल० ५।६६) अर्थात् वक्र (टेढ़ा) अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है।

अभिनव गुप्त की दृष्टि में वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता।
लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् ॥"

लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है, उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना "वक्रोक्ति" है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति व (२) वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थलों का अन्तर्भाव किया गया है, जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभाव या यथार्थ कथन से भिन्न होने के कारण "वक्रोक्ति" में "अतिशय कथन" का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालङ्कार तथा रसवत्, प्रेयादि रस से सम्बद्ध अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ (काव्यादर्श)

वामन ने भी वक्रोक्ति का वर्णन किया है। पर उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्य के उपर आश्रित होने वाली लक्षणा ही है। लक्षणा के अनेक आधार

हो सकते हैं। परन्तु सादृश्य (समानता) के आधार पर आश्रित होने वाली लक्षणा "वक्रोक्ति" कही जाती है—

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।"

रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवाञ्छनीय तथा अकल्पित उत्तर देता हैं, तब रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति अलंकार होता है।

परन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की "वक्रोक्ति" इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर, काव्य की आत्मा (मूलतत्त्व) मानते हैं। उनकी वक्रोक्ति का लक्षण है—**"वैदग्ध्य भङ्गी भणिति।"**

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥१।९॥
उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रुच्यते ॥१।१०॥

अर्थात्—किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न अलौकिक ढंग से कथन।

इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकारों के मूलतत्त्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालङ्कार थी, और रुद्रट में शब्दालङ्कार मानी जाती थी, वही "वक्रोक्ति" कुन्तक के मतानुसार काव्य का "मूलतत्त्व" स्वीकार की गई।

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले कुन्तक-वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। कुन्तक बड़े ही प्रौढ़ तथा मेधावी आलोचक थे। उनकी इस मौलिकता के कारण ही हम उन्हें आनन्दवर्धन व अभिनव गुप्त की कोटि में मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि दोनों सिद्धान्तों से परिचित थे परन्तु उन्हें आलोचना में स्वतन्त्र स्थान न देकर वक्रोक्ति का ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं।

इनके मतानुसार वक्रोक्ति छै प्रकार की होती है—(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्धवक्रता (३) पदोत्तरार्धवक्रता (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता (६) प्रबन्धवक्रता।

उपचार वक्रता के भीतर उन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया है। इसकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि

उसके भीतर ध्वनि के समस्त भेद सिमटकर विराजने लगते हैं। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। इनका ग्रन्थ मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि इनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुसरण ही किया। वक्रोक्ति सिद्धान्त संस्कृत आलोचना में काव्य के एक मौलिक तत्त्व के रूप में सदा अमर रहेगा।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म वास्तव में प्रत्युत्तर के रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अन्तिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौन्दर्य भेदों की आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेघा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की, इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकलपना-सी प्रतीत होती है।

जो कुछ भी हो पर ध्वनि की प्रतिष्ठा को पुनः पर्यवेक्षण पूर्वक प्रत्याख्यान करने का अदम्य साहस वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक को ही है।

(५) ध्वनि सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय यही "ध्वनि-सम्प्रदाय" है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने ध्वनि की उद्भावना का काव्य में निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है, जिनका अविर्भाव काश्मीर में नवम शताब्दी के मध्यकाल में हुआ। इस सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों की कमी नहीं थी, परन्तु अन्तर्बल होने के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि में खरा उतरा और आजकल का साहित्य-संसार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है? जहाँ वाच्य अर्थ से भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि-काव्य कहलाता है। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) वाच्य और (२) प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है, और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का, प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए काव्य में वस्तुस्थिति को देखने की जरूरत है।

किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है, जो उसके अङ्गों से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है, काव्य में भी उसके अङ्गों से पृथक् चमत्कार जनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता निश्चित वर्तमान रहती है।

आनन्दवर्धन का स्पष्ट मत है कि—

**"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥१।४॥**

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी आलौकिक प्रतिभा के द्वारा इस काव्यतत्त्व को अन्य काव्याङ्गों से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है, परन्तु उनकी समीक्षा कर उसे काव्यतत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बताकर व्यवस्थित करना साधारण काम नहीं था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि-सम्प्रदाय को विशेष महत्त्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने "ध्वन्यालोक" नामक ग्रन्थ में इस तत्त्व की वही मार्मिक व्याख्या की, उनके लगभग सौ वर्ष बाद अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका "लोचन" में इस सिद्धान्त की प्रौढ़ व्याख्या की, मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" में इस सिद्धान्त की सदा के लिए पूर्णरूप से स्थापना की, इसीलिए वे "ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य" की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं।

ध्वनितत्त्व के लिए आलंकारिक लोग वैय्याकरणों के ऋणी हैं। वैय्याकरण "स्फोट" नामक एक ऐसे पदार्थ को मानते हैं जिससे अर्थ स्फुटित होता है, **"स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः"** इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द से प्रस्फुटित होता है, वह शब्द ध्वनि है, अर्थात—स्फोट रूप मुख्यार्थायि व्यक्ति विधायक शब्द के लिए वैय्याकरणों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—व्याकरणशास्त्र में परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन चार प्रकार की वाणी का वर्णन है, इनमें परा, पश्यन्ती व मध्यमा को नित्य तथा अखण्ड मानकर **"तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति"** इस नियम से जिसे हम सुनते हैं या जिससे बोलते हैं वह वैखरी वाक् है। वैखरी शब्द ही व्यक्त शब्द है, इसी शब्द में जो अर्थ है उसी में वैय्याकरणों ने स्फोट की कल्पना की है, अर्थात्—पूर्वपूर्व वर्ण अपने संस्कार को उत्तरोत्तर वर्ण में आहित कर देता है, उसी संस्कार की सहायता से अन्तिम वर्ण पूरे वाक्यार्थ को अभिव्यक्त कर देता है, यही अन्तिमवर्ण से अभिव्यक्त अर्थ ही स्फोट है, इसी वाक्यार्थ ज्ञान के लिए वैय्याकरणों ने स्फोट की कल्पना की है। भर्तृहरि ने भी लिखा है—

**यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटशब्दजः शब्दो ध्वनिरित्यभिधीयते ।**

स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए वैयाकरणों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु आलंकारिकों ने इसी कल्पना का विस्तार कर शब्द, अर्थ व

शब्दार्थ के व्यापार और व्यङ्ग, व व्यङ्ग्यप्रधान काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनि का लक्षण करते हुए स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

यत्रार्थः शब्दो या तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः ।।१।१३।।

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके "उस प्रतीयमान-अर्थ को प्रकाशित करते है, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के ५१ प्रकारों में तीन ही को मुख्य माना है। (१) रसध्वनि (२) अलंकार ध्वनि और (३) वस्तु ध्वनि।

रसध्वनि के भीतर केवल नव रसों की ही गणना नहीं होती है, अपितु भाव, रसाभास, भावोदय, भाव-शान्ति, भावसन्धि और भावशबलता की भी गणना है। वस्तु ध्वनि वहीं होती है जहाँ किसी तथ्य कथन-मात्र की अभिव्यञ्जना की जाय, अलंकारध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्ति किया गया पदार्थ इति वृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों में प्रकट किये जाने पर अलंकार रूप को धारण करें। इन तीनों में रसध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। ध्वनि और अलंकार ध्वनि का तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है, आलोचकों का यही निश्चित मत है। काव्य का अभ्यासी कवि चित्र काव्य से अभ्यास भले ही करे, परन्तु परिपक्व मतिवाले कवियों का एक मात्र पर्यवसान "ध्वनिकाव्य" में ही होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते है—(१) ध्वनि-काव्य (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार अधिक रहता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे "गुणीभूतीव्यङ्ग्य काव्य" कहते हैं। चित्रकाव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार समस्त काव्य तत्त्वों का उचित संतुलन काव्य में दिखलाया है। विशेषतः गुण और अलंकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुण वे ही धर्म होते हैं जो रस-लक्षण मुख्य अर्थ पर अवलम्बित रहते हैं। अलंकार काव्य के अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहने वाले धर्म हैं।

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, और अलंकार अनित्य धर्म। अलंकारों की स्थिति काव्य में हो या न हो परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यम्भावी है।

ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार तथा कारिकाकार को भिन्न-भिन्न मानते है और "सहृदय' नामक किसी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं। परन्तु अधिकतर विद्वानों की सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की थी। आचार्य अभिनव गुप्त ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्त्व इसीलिए रखते है कि उन्होंने ध्वन्यालोक के ऊपर लोचन टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियों से पुष्टकर उसे प्रामाणिक बनाया, उसके अनन्तर मम्मटाचार्य ने ध्वनि विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त को दृढ़तर आधारों पर स्थापित किया। अपने ग्रन्थ में इन्होंने भिन्न भिन्न दर्शनों के मतानुयायी विद्वानों की युक्तियों का खण्डन कर व्यञ्जना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापना की। मम्मट के पश्चात्वर्ती विश्वनाथ कविराज ने "साहित्यदर्पण" में ध्वनि की पर्याप्त मीमांसा की है। पिछले युग के सबसे बड़े आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शती) हैं। जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलंकारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है—

ध्वनिकृतामलङ्कारसरणि-व्यवस्थापकत्वात्" (र० ग०)

यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रवल प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था, तथापि काश्मीर के मान्य आलंकारिकों को यह सिद्धान्त प्रथमतः मान्य नहीं हुआ। "मुकुलभट्ट" सबसे प्राचीन ध्वनि विरोधी आचार्य हैं। अभिधा वृत्ति मातृका" में इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नई थी, और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे। इनके शिष्य "प्रति-हारेन्दुराज" ने ध्वनि को अलंकार के ही अन्तर्गत माना है। ध्वनि के खण्डन के लिए "भट्टनायक" ने "सहृदयदर्पण" नामक ग्रन्थ की रचना की है। ये काव्य में रस के पक्षपाती थे, परन्तु रस की व्याख्या के लिए व्यञ्जना का सिद्धान्त इन्हें मान्य न था। "कुन्तक" ध्वनि को वक्रोक्ति का ही दूसरा प्रकार मानते हैं। इनके मत में रस काव्य का स्वतन्त्र तत्व न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेद मात्र है। "महिमभट्ट" के ग्रंथ का नाम "व्यक्तिविवेक" है, जिसमें

इन्होंने ध्वनि को अनुमान में ही गतार्थ करने का प्रयास किया है। इनकी विवेचना बड़ी मार्मिक और गम्भीरता पूर्ण है।

इन विरोधी आचार्यों को तर्कपूर्ण समाधान "काव्यप्रकाश" में मिलता है। जिसके बाद यह सिद्धान्ततः एकान्ततः प्रतिष्ठित हो गया और पिछले आचार्यों ने इसे सर्वथा मान्यता दी।

(६) औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य साहित्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य की आत्मा या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य-जगत् में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र में सिद्धान्त रूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है, भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है, उसका उसी वेश तथा उसी मुद्रा में, अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है इसीलिए नाट्यशास्त्र (प्रकृति) पात्र के भाषा वेष आदि के विधान पर इतना जोर देता है। भरत ने विभिन्न प्रकृतियों का वर्णन अपने ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है। इससे स्पष्ट है कि भरत नाट्य में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे, काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है। इस प्रसङ्ग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभाञ्जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते।। (ना० २३।६८)

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने काव्य में औचित्य की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था, और रसभङ्ग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था कि "अनौचित्य" ही रसभङ्ग का प्रधान कारण है।

अनुचित वस्तु के परिवेश से रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं हो सकता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन तथा काव्य में कल्पना और विधान। आनन्दवर्धन कहते हैं—

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।।१।।

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन काश्मीरी आलोचकों की कड़ी आलोचना की है जो ध्वनि के सिद्धान्त से विना सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे। उन्होंने दिखलाया है कि

ध्वनि की सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के रूप में काव्य जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य "क्षेमेन्द्र" थे, ये स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि "औचित्यविचारचर्चा" नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक काव्यतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। औचित्य को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए क्षेमेन्द्र लिखते है कि "उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते है "उचित" और उचित का ही भाव होता है—"औचित्य"

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते।। (औ०वि-७)

यह औचित्य ही रस का जीवनभूत है. उसका प्राण है, तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।। (औ० वि० ३)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिङ्ग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विशद विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल है, क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद "ध्वन्यालोक" में पूर्णतया विद्यमान है, सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है, और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है।

क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण करुणया प्रणते, रिपौ नायान्ति के हास्यताम्,।
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृति नो गुणाः ।।१।।

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलंकारिकों ने अपनी काव्य-कल्पना में औचित्य के तत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया।

रसालंकृति-वक्रोक्ति-रीति ध्वन्यौचिती क्रमाः।
साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृताः ॥१॥

अलंकारशास्त्र के आचार्यों का संक्षिप्त इतिवृत्त—

संस्कृत साहित्य में दोनों प्रकार के काव्य, श्रव्य व दृश्य, आलोचना के विषय होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य काव्य की ही समीक्षा भारतवर्ष में सबसे पहले आरम्भ हुई पाणिनि के समय (७ शती विक्रम पूर्व) में नटों की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, उन्होंने "शिलालि" तथा "कृशाश्व" के द्वारा विरचित नट सूत्रों का निर्देश अपनी अष्टाध्यायी में किया है।

श्रव्यकाव्य की आलोचना का उदय विक्रम की छठी शताब्दी के मध्य में हुआ जिस युग में भामह ने अपने "काव्यालङ्कार" की रचना की। भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों में काश्यप ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु उनके ग्रन्थों की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है, उपलब्ध आचार्यों में मान्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) भरत (द्वितीय शताब्दी)—

भरत आलोचना शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य हैं। दो भरतों का पता चलता है, वृद्धभरत तथा भरत। वृद्धभरत का ग्रन्थ नाट्यवेद सम्भवतः बारह हजार श्लोकों में था, परन्तु वह आज अनुपलब्ध है, भरत का "नाट्यशास्त्र" आज उपलब्ध है, यह आलोचना का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ललितकलाओं की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। "नाट्यशास्त्र" एक युग की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। आज यह कारिकाबद्ध रूप में ही उपलब्ध है, परन्तु इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अंशों का पर्याप्त परिचय मिलता है।

(१)—**सूत्र-भाष्य**—यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ सूत्र-रूप में ही था, जिस पर भरत ने ही भाष्य भी लिखा था—

(२) **कारिका**—मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को समझने के लिए कालान्तर में कारिकाओं का निर्माण हुआ, कुछ विस्तार से विषय का प्रतिपादन है।

(३) **अनुवंश्य-श्लोक**—गुरु-शिष्य परंपरा से आने वाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप् में निबद्ध) जो अभिनव भारती के अनुसार प्राचीन आचार्यो द्वारा विरचित है, तथा सूत्रों की पुष्टि में यहाँ संग्रहित हैं।

भरत के वर्तमान नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती से कम नहीं हो सकता। कालिदास भरत को देवों के नाट्याचार्य के रूप में जानते हैं, और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने का वे स्पष्ट निर्देश करते हैं। अतः भरत को कालिदास (पञ्चशती) से पूर्ववर्त्ती होना चाहिए। मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है।

नाट्यशास्त्र में मुख्यतः ३६ अध्याय है, तथा लगभग पांच हजार श्लोक है। इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय के नाना प्रकारों से सम्बद्ध विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण है। रस तथा भाव का वर्णन षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में है। यहाँ काव्य की आलोचना वाचिक अभिनय के प्रसँङ्ग में की गई है। १६ वें अध्याय में काव्यालोचन का मर्म समझाया गया है। भरत ने दश दोष, दश गुण तथा चार अलंकार (यमक-उपमा-रूपक दीपक) की मीमांसा कर इस शास्त्र का आरम्भ किया। इसके ऊपर अनेक टीका में लिखी गईं, जिनमें आचार्य "अभिनवगुप्त" की "अभिनव भारती" ही आज उपलब्ध प्रमुख व्याख्या है।

(२) भामह (**षष्ठ शतक का पूर्वार्ध**)—

भरत के बाद आलंकारिकों में भामह ही मान्य आचार्य हैं। इन्होंने अलंकार शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया है। भामह से पूर्ववर्ती "मेधाविरुद्र" नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है, भामह के पिता का नाम था "रक्रिल गोमी" और ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते है।

भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय में विद्वानों में कभी पर्याप्त मतभेद था परन्तु अब तो यह सर्वमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायदीप के वर्णन में बौद्ध न्याय से अपना विशेष परिचय दिखलाया है। इनका प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण आचार्य दिङ्नाग (षष्ठशती) के अनुसार है। धर्मकीर्ति (सप्तमशती) के अनुसार नहीं फलतः इनका समय इन दोनों बौद्धाचार्यों के मध्ययुग में होना चाहिए, अतः इनका आविर्भाव काल षष्ठशतक का मध्यभाग माना जाता है।

भामह बौद्ध न्याय से विशेष परिचय रखने पर भी बौद्ध नहीं है, प्रत्युत ब्राह्मण हैं। क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है, तथा बौद्धों के "अपोहवाद" का खण्डन भी किया है

जो कोई भी बौद्ध नहीं कर सकता है। भामह का ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" छै परिच्छेदों में विभिक्त है जिनमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का प्रथम परिच्छेद में अलंकारों का द्वितीय तृतीय परिच्छेद में, दश दोषों का चतुर्थ परिच्छेद में, न्यायविरोधी दोष का पञ्चम परिच्छेद में, तथा शब्द शुद्धि का षष्ठ परिच्छेद में, वर्णन क्रमशः किया है। श्लोक चार सौ करीब है, भामह के समस्त सिद्धान्त इस शास्त्र में मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये है—

(१) शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य होना "**शब्दार्थौ काव्यम्**"
(२) भरत के द्वारा वर्णित दश गुणों का गुणत्रयी माधुर्य-ओज-प्रसाद में अन्तर्भाव।
(३) वक्रोक्ति को सकल अलंकारों का प्राण मानना।
(४) दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन।
(५) रीति पर आग्रह न रखकर काव्य गुणों पर आस्था।

(३) दण्डी (**सप्तम शती**)—

दण्डी दक्षिण भारत के पल्लव नरेश सिंहविष्णु (सप्तमशती) के सभा पडित माने जाते हैं। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ "काव्यादर्श" है। जिसके कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नड़भाषा के प्राचीन ग्रन्थ "**कविराज मार्ग**" तथा सिंघली ग्रन्थ "**सिय वस-लकर**" (स्वभाषालंकार) में किया गया है। और ये दोनों अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका तिब्बती अनुवाद इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय में विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

"काव्यादर्श" बड़ा ही माननीय ग्रन्थ है, इसमें चार परिच्छेद हैं। तथा श्लोकों की संख्या साड़े छै सौ के आसपास है। पहिले परिच्छेद में काव्य का लक्षण-भेद रीति-तथा गुण का विस्तृत वर्णन है। दूसरे में अर्थालंकारों का, तृतीय में शब्दालंकारों का, (विशेषतः यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद में दशविधि दोषों का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। ये सबसे पहिले आचार्य हैं जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

(४) वामन (**अष्टम उत्तरार्ध**)—

कल्हण पडित के कथनानुसार वामन काश्मीर नरेश जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मन्त्री थे, वामन भवभूति के उत्तररामचरित का एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, फलतः ये भवभूति (अष्टमशती पूर्वार्ध) से परवर्त्ती हैं। तथा राजशेखर (१० म शती) से प्राचीन हैं, क्योंकि काव्य मीमांसा में वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं। वामन आनन्दवर्धन

(नवमशती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने इनका नामतः उल्लेख तो नहीं किया है, परन्तु इनके रीति सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है।

इनके ग्रन्थ का नाम है—"काव्यालङ्कारसूत्र"—जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में प्रस्तुत की गई है। वामन ने इसके उपर अपनी वृति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१९ है। तथा ग्रन्थ पांच अधिकरणों में विभक्त है। प्रथम अधिकरण में काव्य का रूप तथा प्रयोजन तथा रीतियों का वर्णन है। दूसरे में दोषों का, तीसरे में गुणों का, चौथे में अलंकारों का तथा पाचवें में शब्द शुद्धि का वर्णन है।

वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं।—रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। "रीतिरात्मा काव्यस्य" इनके कतिपय सिद्धान्त ये हैं—

(क) गुण तथा अलंकार का परस्पर विभेद, तथा गुण की अलंकार की अधिक महत्ता का प्रतिपादन ।

(ख) रीति को काव्य की आत्मा मानना।

(ग) वैदर्भी गौडी तथा पाञ्चाली-इन तीन रीतियों की कल्पना।

(घ) "वक्रोक्ति" को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना।

(ङ) समग्र अर्थालङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च मानना।

(च) दश प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ उभयगत मानकर वीस प्रकार की कल्पना।

(५) उद्भट (अष्टम शती का उत्तरार्ध)—

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में "उद्भट" नितान्त प्रख्यात हैं। ये भी वामन के समकालीन आचार्य थे, तथा जयापीड के सभापति किसी उद्भट नामक विद्वान से भिन्न नहीं है। प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, तथा पडितराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनन्दवर्धन से प्राचीन माना है। आनन्द वर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट हैं कि इनका समय अष्टम शती उत्तरार्ध है। वामन और उद्भट एक ही राजा के राजदरवार में उपस्थित समकालीन विद्वान थे, जिनमें एक थे रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और दूसरे थे अलंकार सम्प्रदाय के उन्नायक, परन्तु किसी ने भी किसी का निर्देश नहीं किया।

उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ हैं—काव्यालङ्कारसार-संग्रह, और प्रतिहारेन्दु-राज द्वारा निर्दिष्ट-भामह के ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" की टीका—"भामह विवरण" हैं जो आज उपलब्ध नहीं हैं। इनकी तीसरी कृति है—"कुमार सम्भव काव्य" कालिदास के कुमार सम्भव के आदर्श पर लिखित एक लघुकाव्य है, जिसके अनेक पद्य प्रथम ग्रन्थ में उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गये हैं।

इनके—"काव्यालङ्कारसार-संग्रह" ग्रन्थ के दो टीकाकार हैं—प्रतिहारेन्दुराज (दशम शती) जो मुकुलभट्ट के शिष्य थे, दाक्षणात्य थे, तथा अलंकार शास्त्र के मान्य आचार्य हैं। दूसरे व्याख्याकार काश्मीरी राजानक तिलक हैं, (१०७५-११२५ ई०) जिनकी "विवृति" नामक टीका बडौदा से सन् १९३१ में प्रकाशित हुई है।

काव्यालङ्कारसार संग्रह-में अलंकारों का ही विवेचन है। परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। उद्भट के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

(१) अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना।

(२) श्लेष के दो प्रकार, शब्द श्लेष तथा अर्थश्लेष मानना। परन्तु दोनों को अर्थालङ्कार में ही परिगणित करना।

(३) अन्य अलंकारों को योग में श्लेष की ही प्रबलता मानना।

(४) वाक्य का त्रिविध अभिधा-व्यापार।

(५) अर्थ की द्विविध-कल्पना—विचारित सुस्थ तथा अविचारितरमणीय

(६) काव्य गुणों को संघटना का धर्म मानना।

इन्हीं सब विशेषताओं के कारण उद्भट का ग्रंथ अलंकार सम्प्रदाय में एक विशिष्ट ग्रंथ तथा इस सम्प्रदाय का आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

(६) रुद्रट (नवम शती का पूर्वार्ध)—

रुद्रट भी कश्मीर निवासी ही थे। राजशेखर ने अपने "काव्यमीमांसा" में रुद्रट के द्वारा उद्भावित "वक्रोक्ति" नामक शब्दालङ्कार का निर्देश किया है। "शिशुपाल वध" के टीकाकार काश्मीरी वल्लभदेव (दशमशती पूर्वार्द्ध) ने इनके अलंकार ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है। फलतः इनका समय १० शती के पूर्वार्ध से भी प्राचीन है। ये वामन तथा उद्भट के पश्चात् वर्ती आचार्य हैं। रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है तथा प्राचीन आलंकारिकों से मेल नहीं खाती। "शृङ्गारतिलक" के कर्ता "रुद्रभट्ट" रुद्रट से भिन्न हैं या अभिन्न इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद हैं। परन्तु रुद्रट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रुद्रभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

इनका काव्यालङ्कार १६ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है तथा इसमें ७३४ श्लोक हैं। इनमें काव्यस्वरूप, शब्दालङ्कार चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबन्ध अर्थालङ्कार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है।

इसमें रस का विस्तार से वर्णन है। रुद्रट ने पहिले-पहल अलंकारों के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, औपम्य, अतिशय, तथा श्लेष को अलंकार का मूलतत्त्व निर्दिष्ट किया है।

इन्होंने नये-नये अलंकारों की भी उद्‌भावना इस ग्रंथ में की है।

(७) आनन्दवर्धन (**नवम शती का उत्तरार्ध**)—

आलोचनाशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं। इसका सर्वमान्य ग्रन्थ "**ध्वन्यालोक**" है। जिसमें ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ विषय ग्राहिता का अपूव परिचय मिलता है। ये कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५ ई० ८८३ ई०) के सभापण्डित थे और इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित रूप से है।

"ध्वन्यालोक" में मूलत: कारिकायें हैं जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है। कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति ? इस प्रश्न की मीमांसा दो प्रकार से की गई है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन ने वृत्ति और "सहृदय" नामक किसी प्राचीन पण्डित ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकायें लिखी थीं। परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। आनन्दवर्धन ही स्वयं कारिकाकार व वृत्तिकार हैं। इस बात के लिए अभिनवगुप्त के "लोचन" में अनेक पुष्ट-प्रमाण विद्यमान हैं। इसके उपर "चन्द्रिका" नामक कोई प्राचीन टीका थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध टीकाओं में सबसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्या "लोचन" ही है। इस टीका के निर्माता महामाहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त हैं। इस टीका को मौलिक-ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के उद्‌भावक आचार्य हैं। ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है।

द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है।

आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, परन्तु इनके जीवनवृत्त का पता नहीं चलता है। हेमचन्द्र के कथनानुसार ये "नोण" के पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन-चरित, विषमबाणलीला, (प्राकृत काव्य) देवीशतक, तत्त्वालोक नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी, परन्तु इसमें "देवी शतक" ही मिलता है।

(८) अभिनवगुप्त (**दशम शती का उत्तरार्ध**)—

अभिनव गुप्त कश्मीर निवासी हैं, ये शैवदर्शन तथा तन्त्रशास्त्र के भी अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। इनका "तन्त्रालोक" नामक ग्रन्थरत्न तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्यशास्त्र में इनकी प्रसिद्धि भरत के

नाट्यशास्त्र की टीका ''अभिनवभारती'' तथा ध्वन्यालोक की टीका ''लोचन'' के कारण है।

अभिनव गुप्त के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों को पाकर साहित्यशास्त्र चमक पड़ा, और ध्वनि सम्प्रदाय अपने आलोक से साहित्य संसार को उद्भासित करने लगा। रस सिद्धान्त की इनकी व्याख्या पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अन्तरङ्ग तथा आवर्जक है, और इसलिए ये अवान्तरकालीन आलोचकों के लिए सर्वथा उपजीव्य, मान्य तथा श्रद्धांस्पद आचार्य हैं।

अभिनव गुप्त का समय ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक साधारण रीत्या माना जाता है। क्रमस्तोत्र की रचना इन्हीं के अनुसार ९९१ ई० में हुई, तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी टीका (१०१४-१५वीं) में की। इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था, जो लोगों में ''चुखुलक'' के नाम से कश्मीर में प्रसिद्ध थे। माता का नाम विमलका था। अभिनव ने अपने अनेक गुरुओं का उल्लेख किया है, जिनसे इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं, इनके पिता नरसिंहगुप्त, भट्ट इन्दुराज, तथा भट्ट तौत, जिनसे इन्होंने क्रमशः व्याकरण, ध्वनि तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था।

इन्होंने साहित्यशास्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा शैवदर्शन पर ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो कुल मिलाकर संख्या में लगभग ४० हैं। तन्त्रालोक तथा प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी इनकी सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कृतियाँ हैं। साहित्य क्षेत्र में ''अभिनव भारती'' तथा ''लोचन'' के अतिरिक्त ''काव्यकौतुकविवरण'' नामक इनका एक दूसरा भी अनुपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें इन्होंने अपने साहित्यशास्त्रीय गुरु ''भट्टतौत'' के ''काव्यकौतुक'' ग्रन्थ की व्याख्या की थी। यदि ध्वनिसम्प्रदाय को अभिनव गुप्त की कृतियाँ नहीं मिलती तो उसके सर्वमान्य होने में सन्देश ही रहता।

(९) कुन्तक **(दशम शती का उत्तरार्ध)**—

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के उद्भावक ये ही आचार्य हैं। ये वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते थे। इसीलिए इनका ग्रन्थ ''वक्रोक्तिजीवित'' के नाम से प्रसिद्ध है, तथा ये भी वक्रोक्तिजीवितकार के नाम से बहुशः उल्लिखित हैं। इसमें इन्होंने राजशेखर के (९१० ई०) के बालरामायण नाटक से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है, तथा इनके मत का उल्लेख सर्वप्रथम महिमभट्ट (११वीं शती का उत्तरार्ध) ने अपने ग्रन्थ ''व्यक्तिविवेक'' में किया है, और इसीलिए इनका समय इन दोनों लेखकों के बीच में कभी होना चाहिए। ये दशम शती के उत्तरार्ध में विद्यमान माने जा सकते हैं। ये अभिनव गुप्त के

समकालीन कश्मीरी आचार्य हैं। अभिनव ने इनके नाम का तो नहीं, परन्तु इनके विशिष्ट मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है।

"वक्रोक्तिजीवित" कारिका तथा वृत्ति से संवलित ग्रन्थ है। इनमें चार उन्मेष हैं जिसमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का पूरा वर्णन किया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से मिलते हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिलते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ तथा क्रान्तिकारी ग्रन्थ है। इसका वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य-जगत् में एक निराला सिद्धान्त है।

(१०) महिमभट्ट (११वीं शती का मध्यभाग)—

महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे, ये रसध्वनि आदि को मानते तो थे परन्तु इनके लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति को नहीं मानते थे, वे अनुमान के द्वारा रसादि की प्रतीति मानते थे। इनके मत में व्यञ्जनावृत्ति की न तो ध्वनि के लिए कोई आवश्यकता है, और न इसके लिए कोई अवकाश ही।

ध्वनि के खण्डन के लिए ही इन्होंने "व्यक्तिविवेक" नामक ग्रन्थ की रचना की। इनके अनुसार ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक प्रकार विशेष है।

इसी बात की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। यह ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि के लक्षण का खण्डन तथा उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव बड़ी प्रौढता के साथ दिखलाया है।

द्वितीय विमर्श में "औचित्य" को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकारों का प्रगल्भ वर्णन है। अन्तरङ्ग अनौचित्य के भीतर "रसदोष" का अन्तर्भाव होता है। बहिरङ्ग के भीतर समस्त शब्दगत दोषों की गणना की गई है।

तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार "ध्वन्यालोक" के ध्वनि स्थापन पर टूट पड़ता है, और उसमें से लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर उन्हें अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है।

महिमभट्ट के पिता का नाम श्रीधैर्य तथा गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने लोचन तथा वक्रोक्ति जीवितकार के सिद्धान्त का खण्डन किया है। मम्मट भट्ट ने इनके द्वारा उद्भावित दोषों को अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में ग्रहण किया है। अतः इसका समय दोनों के बीच (११वीं शती का मध्यकाल) होना चाहिए।

(११) धनञ्जय (१०वीं शती का उत्तरार्ध)—

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनि विरोधी आचार्यों में अन्यतम हैं। वे रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं, और व्यञ्जनावाद के

खण्डनकर्ता हैं। धनञ्जय तथा इसके भ्राता धनिक, दोनों धारा नगरी के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (९७४ ई० ९९० ई०) के सभा पण्डित थे। इनका ग्रन्थ है— "दशरूपक" जिसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में, परन्तु बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं। धनिक ने इस पर "अवलोक" नामक टीका लिखी है। इन्होंने "काव्यनिर्णय" नामक साहित्य विषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहले किया था। बहुरूप मिश्र की अप्रकाशित टीका दशरूपक की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं, तथा लगभग तीन सौ कारिकायें हैं जिसमें वस्तु (नाटक का कथानक) नेता, (नायक) रूपक के दश प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन क्रमशः किया गया है। नाट्यशास्त्र एक भारी भरकम ग्रन्थ है, जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठकों के लिए कठिन है। "दशरूपक" से यह कठिनता बहुत अंशों में दूर होती है। इसीलिए यह नाट्य का बहुत ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(१२) भोजराज (११वीं शती का पूर्वार्ध)—

धारा नरेश राजा भोज साहित्यशास्त्र के इतिहास में संग्राहक रूप से विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके दानों ग्रन्थ इस विषय में वस्तुतः विश्वकोष ही हैं। "सरस्वती कण्ठाभरण" जो बहुत समय से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, दूसरा ग्रन्थ "शृङ्गारप्रकाश" है यह भी अब प्रकाश में आ चुका है।

सरस्वती कण्ठाभरण में पाँच परिच्छेद हैं।

प्रथम परिच्छेद में काव्य के २४ गुणों का व १६ दोषों का वर्णन अपने मतानुसार है। द्वितीय परिच्छेद में २४ अलंकारों का, तृतीय में २४ अर्थालंकारों का तथा चतुर्थ में २४ उपमालंकारों का उदाहरण सहित वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस भाव, सन्धि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

शृङ्गार प्रकाश- में रसों का विशेषतः शृङ्गार का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मक है और अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के मतों का तथा उदाहरणों का पर्याप्त रूप से उद्धरण दिया है। दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ पर बहुत अधिक है।

(१३) मम्मट (एकादश शती का उत्तरार्ध)—

पूर्ववर्त्ती चारों आचार्य ध्वनि विरोध का प्रामाणिक खण्डन कर मम्मट ने अपने "काव्य प्रकाश" में ध्वनि मार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया, वही आदर्श

माना जाने लगा, और उसी का अनुगमन पिछले आलंकारिकों ने किया कश्मीर ही मम्मट की जन्मभूमि थी, भीमसेन ने इन्हें जैयट का पुत्र तथा कैय्यट और उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है।

मम्मट का समय निश्चित करने में ज्यादा कठिनाई नहीं है। इन्होंने अभिनव गुप्त के मत को तथा पद्म गुप्त (१०१० ई०) के आस-पास वर्तमान पद्यों को उद्धृत किया है। उधर इसके प्रथम टीकाकार माणिक्य चन्द्र सूरि ने "संकेत" की रचना (११६०ई०) में की। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

काव्यप्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ तथा मौलिक है। इसके १० उल्लास हैं, जिसमें काव्यलक्षण, वृत्तिविचार, ध्वनिप्रकार तथा दोष गुण अलंकार का विस्तृत तथा विशद विवरण है।

ध्वनि मार्ग का इससे सुन्दर विवेचन संक्षेप में मिलना कठिन है। इस पर टीका का निर्माण करना पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था। टीका सम्पत्ति में यह बेजोड़ है। इसकी सत्तर टीकाओं में से अनेक स्वतन्त्र रीति ग्रन्थ के कर्ताओं की भी रचनायें हैं। "अलंकार सर्वस्व" के लेखक रुय्यक तथा साहित्य दर्पण" के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने भी इसे व्याख्याओं से मण्डित किया है।

(१४) सागरनन्दी (एकादश शती का पूर्वार्ध)—

ग्रन्थकार का नाम "सागर" है, पर नन्दीवंश में उत्पन्न होने के कारण ये सागर-नन्दी के नाम से विख्यात थे। इनके ग्रन्थ का नाम "**नाटकलक्षण-रत्नकोष**" जिसमें नाटक के सब लक्षणों का वर्णन है। फलतः यह दशरूपक की कोटि का ग्रन्थ है। सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन हैं। इन्होंने राजशेखर (९२० ई०) के श्लोकों को उद्धृत किया है, तथा इनके मत तथा पद्यों को सुभूति (१०६० ई० ११५० ई०) ने अपनी अमर टीका में उद्धृत किया है। फलतः इनका समय ११ शती का पूर्व भाग मानना उचित होगा। दशरूपक से यह ग्रन्थ अपने में वैशिष्ट्य रखता है।

(१५) अग्निपुराण (११वीं शती का अन्तिम भाग)—

अग्निपुराण वस्तुतः नाना विधाओं का लोकप्रिय कोष है। इसके दश अध्यायों में अलंकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं। इनमें किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। प्रत्युत प्राचीन आलंकारिकों के मतों को आधार मानकर इसकी रचना की गई है। अधिकांश मत अलंकार सम्प्रदाय से मिलते हैं। ये ध्वनि मार्ग को अङ्गीकार नहीं करते हैं। इनके उपर भोजराज का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। फलतः इस अंश की रचना का समय ११वीं शती का अन्तिम भाग होना चाहिए।

(१६) क्षेमेन्द्र (एकादश शती का उत्तरार्ध) —

ये औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। ये भी काश्मीर निवासी है। ये सिन्धु के पौत्र तथा प्रकाशेन्द्र के पुत्र थे। आरम्भ में ये शैवमतानुयायी थे, परन्तु बाद में सोमाचार्य के द्वारा वृद्धावस्था में वैष्णव धर्म में दीक्षित किये जाने से वैष्णव बन गये।

साहित्यशास्त्र में ये अभिनव गुप्त के साक्षात् शिष्य थे। इनके "औचित्य विचारचर्चा" तथा "कण्ठाभरण" की रचना काश्मीर नरेश "अनन्त" (१०२८ ई० १०६५ ई०) के राज्यकाल में हुई। "दशावतारचरित" इनका अन्तिम ग्रन्थ है, जिसका निर्माण अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश के राज्यकाल में १०६६ ई० में किया। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध और इस प्रकार ये मम्मट के समकालीन हैं।

कविकण्ठाभरण—कवि शिक्षाविषयक एक साधारण ग्रन्थ है। परन्तु "औचित्य विचार चर्चा" एक नवीन सिद्धान्त का पोषक मान्य ग्रन्थ है। इसमें "औचित्य" को काव्य का सर्वस्व माना गया है, तथा उसके अनेक भेद दिखलाये गये हैं। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस आदि के साथ भली भाँति दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य का महत्त्व काव्य में दिखलाया है। "सुवृत्ततिलक" छन्दःशास्त्र से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का एक मार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें छन्द के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें बतलाई गई हैं।

(१७) रुय्यक (१२वीं शती का पूर्वार्ध)—

ये भी काश्मीर के निवासी थे, तथा कश्मीर नरेश राजा जयसिंह (११२८-४९ ई०) के सन्धिविग्राहिक महाकवि मंखक के काव्यगुरु थे। अतः इनका समय १२वीं शती का मध्यभाग है। इनके पिता "राजानकतिलक" स्वयं आलंकारिक थे, तथा इन्होंने उद्भट के ग्रन्थ के उपर "विवेक-या उद्भट विचार नामक टीका लिखी थी, रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर टीका लिखी है। तथा मंखक के महाकाव्य "श्रीकण्ठचरित" (११४५ ई०) से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं। मंखक को कई दाक्षिणात्य पण्डित "अलंकारसर्वस्व" का वृत्तिकार मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। रुय्यक ने ही सूत्र तथा वृत्ति दोनों का प्रणयन किया है।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है, जिसमें "अलंकारसर्वस्व" महत्त्वपूर्ण है। यह एक मौलिक रचना है, जिसमें अलंकारों के विभाजन का मूल खोज निकाला गया है। रुय्यक ने ७५ अर्थालंकारों का तथा ६ शब्दालंकारों

का निरूपण किया है, जिनमें से "विकल्प" तथा "विचित्र" जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना इनकी मौलिक सूझ का फल है।

विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं, तथा अप्पय्य दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकायें प्रकाशित हैं—(१) जयरथकृत विमर्शिणी तथा (२) विद्याधर चक्रवर्ती कृत अलंकार सञ्जीवनी। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ कहीं-कहीं जयरथ के मत को उद्धृत करते हैं, और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

(१८) हेमचन्द्र (१२वीं शती का उत्तरार्ध)—

गुजरात के राजा कुमारपाल (१२वीं शती उत्तरार्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य "हेमचन्द्र" ने साहित्यशास्त्र पर "काव्यानुशासन" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनव गुप्त व मम्मट के विशेष ऋणी हैं। ये संकलनकर्ता ही अधिक है। काव्यानुशासन के रस प्रकरण में इन्होंने अभिनव भारती से रस प्रसङ्ग का पूरा अक्षरशः उदाहरण ही दे दिया है, जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने में तथा पाठ निर्धारण में आज भी सहायता देता है।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है—"नाट्यदर्पण"। इन दोनों शिष्यों के नाम हैं—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र। रामचन्द्र—"प्रबन्धशतकर्ता" की उपाधि से मण्डित हैं। ये गुजरात के अनेक नरेश सिद्धराज, कुमारपाल तथा अजयपाल के समय में वर्तमान थे। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

नाट्यदर्पण—नाट्यशास्त्र के विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ हैं। छोटा होने पर भी उपादेय है। ग्रन्थकारों ने इस पर व्याख्या भी लिखी है, जिसमें आज अज्ञात और अनुपलब्ध अनेक नाट्यग्रन्थों के नाम ही मिलते, प्रत्युत उनके महत्त्वपूर्ण लम्बे-लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं। ऐसे ही कई उद्धरणों से "रामगुप्त" के ऐतिहासिक रूप का परिचय इतिहास प्रेमियों को मिलता है, और इतिहास की एक विस्तृत कड़ी इसी ग्रन्थ की कृपा से उनके हाथ लगी है।

(१९) शारदातनय (१३वीं शती का मध्य भाग)—

शारदा तनय के व्यक्तिगत नाम से हम अपरिचित ही हैं। ये कश्मीर के निवासी थे अपने को शारदा का पुत्र मानते थे। भोज के शृङ्गार प्रकाश से और मम्मट के काव्यप्रकाश से यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। सिंहभूपाल (१४वीं शती का प्रथम चरण) ने "रसार्णव सुधाकर" में

शारदातनय के मत का उल्लेख किया है। अत: इन्हें मम्मट तथा सिंहभूपाल के मध्यकाल में १२५० ई० के लगभग होना चाहिए।

इनके ग्रन्थ का नाम "भावप्रकाशन" है। यह प्रधानतया नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इनमें दश अधिकार हैं जिसमें भाव, रसरूप, रसभेद, नायक-नायिका-भेद, शब्दार्थ-सम्बन्ध नाट्यशरीर, दशरूपक, नृत्यभेद, तथा नाट्यप्रयोग इन दश बिषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह नाट्य के सिद्धान्त के साथ ही साथ नाट्य के व्यवहार का भी सुन्दर विवेचन करता है। रस विषयक सामग्री अपूर्व है। रस के विषय में अनेक अज्ञात रसाचार्यो के जैसे नारद, वासुकि, व्यास आदि के मतों का ही निर्देश नहीं मिलता, प्रत्युत अभिनव गुप्त के भी मत का सुन्दर रूप से विस्तृत विवरण इसे नितान्त उपयोगी बना रहा है। कतिपय आचार्यों के मत को तो यहीं पहली बार उपन्यास किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ नाट्य की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए बहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

(२०) पीयूष वर्ष जयदेव (१३वीं शती उत्तरार्ध)—

जयदेव मिथला के निवासी थे, ये गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव से तो भिन्न हैं, परन्तु "प्रसन्नराघव" नाटक के कर्ता जयदेव यहीं हैं या पक्षधर मिश्र न्यायशास्त्र के विद्वान हैं, इस विषय में अभी तक विद्वानों में सन्देह है।

पीयूष वर्ष जयदेव विश्वनाथ कविराज से तो प्राचीन हैं, क्योंकि इन्होंने जयदेव का एक पद्य साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अत: इनका समय १ वीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए।

"चन्द्रालोक" इनका अलंकार शास्त्र का सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रंथ है। यह पूरा ग्रंथ दश मयूखों में विभक्त है। इसमें ३५० अनुष्टुब् श्लोक हैं, इसमें काव्य के समस्त विषयों का संक्षिप्त वर्णन है। इनकी शैली बड़ी सुन्दर है, पद्य के पूर्वार्ध में लक्षण हैं, उत्तरार्ध में उदाहरण। इसी ग्रन्थ को अप्पय्यदीक्षित ने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" के लिए उपजीव्य माना है। चन्द्रालोक की टीकाओं में "शारदागम" प्राचीन तथा पाण्डित्यपूर्ण टीका है। राजा जसवन्तसिंह का "भाषाभूषण" इसी चन्द्रालोक का हिन्दी अनुवाद है, यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवर्जक है।

(२१) शोभाकर मिश्र (१४वीं शती)—

इनके ग्रन्थ "अलंकाररत्नाकर" का उल्लेख "रत्नाकर" के नाम से अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ने किया। इसके मतका संकेत जयरथ ने विमर्शिणी के अनेक स्थलों पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१५शती) से प्राचीन हैं। अत: इनका समय १४वीं शती मानना उचित है। ये कश्मीर

के निवासी प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मित्र था। तथा काश्मीरी कवि यशस्कार ने इन्हीं के अलंकारों के उदाहरण के लिए "देवी-स्तोत्र" नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका "अलंकाररत्नाकर" सूत्र-वृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रंथ है। इनमें इन्होंने लगभग एक सौ अलंकारों का निरूपण किया है जिसमें कुछ अलंकार इनकी मौलिक कल्पना हैं तथा कतिपय अलंकार प्राचीन अलंकारों के नाम बदलकर आये हैं। अलंकारों के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रंथ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने "रत्नाकर" के आधार पर "असम" तथा उदाहरण" नामक नवीन अलंकारों की कल्पना की है जिसे अप्पय्य दीक्षित नहीं मानते।

पण्डितराज ने "असम" के उदाहरण में दोष भले ही दिखलाया हो परन्तु उसकी कल्पना को मान्यता दी।

(२२) विश्वनाथ कविराज (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

ये उत्कल के राजा के सन्धिविग्रहिक थे। इनका वंश पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित "पुष्पमाला" तथा "भाषार्णव" के उल्लेख मिलते हैं। इनके पितामह के अनुज "चण्डीदास" ने "काव्यप्रकाश" पर "दीपिका" नामक टीका लिखी थी। इन्होंने "रुय्यक" के अलंकार सर्वस्व" के कई नये अलंकारों का निर्देश अपने ग्रंथ में किया है। तथा गीत-गोविन्द (११वीं शती) और नैषध काव्य (१२वीं शती का उत्तरार्ध) से पद्यों को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक में इन्होंने "अलाउद्दीन नृपति" का उल्लेख किया है जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन ही मालूम पड़ता है। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध मानना उचित है।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है। परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भ-दीप है—"साहित्यदर्पण" जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। तथा आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों के जिज्ञासु पुरुषों के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन है। षष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी संक्षिप्त विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रंथ में काव्य तथा नाट्य दोनों का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। यह काव्य प्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढता इसमें नहीं है। विश्वनाथ आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक हैं। इसीलिए उदाहरणों के रूप में सुन्दर पद्यों का उपन्यास इस ग्रन्थ में किया गया है। विश्वनाथ के पुत्र "अनन्तदास" की टीका प्राचीन है पर इस ग्रन्थ पर रामचन्द्र तर्कवागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है।

(२३) विद्याधर (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

विद्याधर का ग्रन्थ "एकावली" काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में आठ उन्मेष (अध्याय) हैं। जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालङ्कार तथा अर्थालंकार का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह काव्यप्रकाश तथा अलंकार-सर्वस्व पर आधारित है। इसके रचियता "विद्याधर" ने समस्त उदाहरणों को अपने आश्रयदाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय, (शासन काल-१२८०-१३-१४ ई०) की स्तुति में स्वयं लिखा है। विद्याधर ने रुय्यक तथा नैषधकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है, तथा इसके ऊपर एक ही टीका "तरला" है, जिसके लेखक कालिदास के सञ्जीवनीकार मल्लीनाथ सूरि (१४वीं शती का अन्तिम चरण) हैं, फलतः इनका समय १३वीं शती का अन्त तथा १४वीं शती का आरम्भ है।

(२४) विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

विद्यानाथ के ग्रन्थ "प्रतापरुद्रयशोभूषण" की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में बहुत ही अधिक है। ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश "प्रतापरुद्र" की स्तुति में दृष्टान्त के लिए पद्यों की रचना की है। साथ ही साथ नाटकीय परिभाषा के समझने के लिए इनकी स्तुति में "प्रतापकल्याण" नामक नाटक भी इसमें सन्निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र की राजधानी एकशिला (वारंगल) आन्ध्र में पड़ती थी जो वहाँ के सप्तम नरेश से अभिन्न माने जाते थे। इनके शिलालेख (१२९८-१३१७ ई०) तक के मिलते हैं। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं जिनमें काव्य के अङ्गों के साथ-साथ नाट्य के अङ्गों का भी पूरा विवरण मिलता है। मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का विशेष ऋणी है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर "रत्नापण" नामक टीका लिखी है।

(२५) अप्पय्य दीक्षित (१६वीं शती का अन्तिम भाग)—

अप्पय्य दीक्षित दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे, ये द्रविड़ थे। कुवलयानन्द में इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम वेंकरपति लिखा है जो विजयनगर का राजा वेंकट न होकर पेन्नकोण्डा का राजा वेंकट प्रथम था जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं। फलतः इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण है।

इनके तीन ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र विषयक वृत्तिवार्तिक चित्रमीमांसा व कुवलयानन्द हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का खण्डन "रसगङ्गाधर" में कस कर किया है तथा इनकी खिल्ली उड़ाई हैं। तुच्छ शब्द के प्रयोग से ये

पराङ्मुख नहीं हुए। तथ्य यह है कि अप्पय्य दीक्षित वेदान्ती तथा मीमांसक हैं। साहित्य इनका अपना विषय ही प्रधानरूप से नहीं था। तथापि अलंकारों के विकास के अध्ययन के लिए इनका "कुवलयानन्द" नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है।

(२६) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती का मध्य भाग)—

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपना यौवन काल "दिल्ली बल्लभ" की संरक्षकता में विताया। यहाँ "दिल्ली बल्लभ" से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का संकेत माना जाता है। यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य रखता है कि शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उनके जेठी दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली आये। और दारा का ही वर्णन इन्होंने अपने काव्य में किया है। फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है। ये जात्या तैलङ्ग ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम पेरुमह तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी था।

इनका साहित्यशास्त्र विषयक प्रौढ ग्रन्थ रसगङ्गाधर है। ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे। ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है उसे पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्हीं के स्वयं निर्मित पद्य हैं। इनकी शैली प्रौढ तथा विचारोत्तेजक है। ग्रन्थ पूरा नहीं कहा जा सकता परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वों का विवेचन किया गया है। रस तथा अलंकारों के विवेचन में इन्होंने नयी सूझ से काम लिया है। ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द तथा अर्थ गुण ध्वनि भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है। द्वितीय आनन में संलक्ष्य क्रमध्वनि शक्ति, व लक्षणा तथा सत्तर अलंकारों का विशेष विवेचन है।

इस प्रसङ्ग में इन्होंने प्राचीन मान्य आलंकारिकों का उल्लेख खण्डन या मण्डन की दृष्टि से किया है। रस तथा अलंकारों के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं।

इन्होंने अप्पय्य दीक्षित के "चित्रमीमांसा" के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की ही रचना की है जिसका नाम है—चित्रमीमांसा-खण्डन, इनकी प्रतिभा काव्य क्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती थी।

(२७) विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शती का पूर्वार्ध)—

विश्वेश्वर पण्डित पर्वतीय ब्राह्मण थे। अल्मोड़ा जिले के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे। ये साहित्यिक ही न होकर वैय्याकरण तथा तार्किक भी थे। इसीलिए इन्होंने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की "अवच्छेदकावच्छिन्न वाली" शैली में अलंकारों का परिष्कृत

लक्षण प्रस्तुत किया है। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है "अलंकार-कौस्तुभ" जिसकी रूपक अलंकार के प्रकरण तक स्वयं व्याख्या लिखी है।

इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था, जो स्वयं प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे। इनके भाई का नाम उमापति था जिनके मत का संकेत "कौस्तुभ" में किया गया है।

"अलङ्कारकौस्तुभ" का एक उद्देश्य यह भी था कि अलङ्कारों की बढ़ती हुई संख्या रोकी जाय, और इसी लिए इन्होंने मम्मट के द्वारा उपन्यास ६१ ही अलङ्कारों का वर्णन यहाँ किया है। तथा अन्य अलंकारों का उन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया है। नव्य न्याय की शैली इस ग्रन्थ की भूयसी विशेषता है, तथा अलङ्कारों के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है। उपमालङ्कार का विवेचन यहाँ डेड़ सौ बड़े पृष्ठों में किया गया है। इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय में ये हैं—

अलङ्कार मुक्तावली, रसचन्द्रिका, अलंकार प्रदीप तथा कवीन्द्रकण्ठाभरण।

आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलंकारिक माने जाते हैं।

———

प्रथम उल्लास

काव्यप्रकाश का प्रतिपाद्य विषय
"मङ्गलाचरण"

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।१।।

नियति के द्वारा निर्धारित, नियमों से रहित, केवल आनन्दमात्रस्वभाव वाली काव्य-रूपी-जगत् का निर्माण करने वाली कवि की भारती (वाणी-सरस्वती) सर्वोत्कृष्टशालिनी है ।।१।।

प्रारब्ध कार्य की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्ट देवता 'वाणी' को नमस्कार करते हैं ।

उक्त मङ्गलाचरण में ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि ब्रह्मा की सृष्टि (निर्मिति) की अपेक्षा कवि-भारती की रचना (सृष्टि) कहीं अधिक उत्कर्ष शाली है । क्योंकि ब्रह्मा की कृति की अपेक्षा इसमें चार विशेषतायें, जो व्यतिरेकमुख से प्रदर्शित की गई है, वे सहृदय हृदयों को सर्वदा प्रतीत होती हैं ।

(१) सृष्टि के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं । मीमांसक सृष्टि का मूलकारण कर्म (धर्माधर्म विशेष) को मानते हैं, तो सांख्यदर्शन सृष्टि का मूलकारण सत्व, रज व तमोगुणस्वरूपा प्रकृति को मानता है और न्यायदर्शन सृष्टि का मूल कारण परमाणु को मानता है । पर ये सब नियतिकृत नियम से सहित हैं । पर कवि की सृष्टि नियतिकृत नियम से रहित है । कवि की सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा यह पहली विशेषता है । कहने का अभिप्राय यह है कि "नियति" शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं "नियम्यन्ते सौरभादयो धर्माः अनयेति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिकरूपः अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है वे पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म नियति पद से कहे जाते हैं । उसके द्वारा किया गया नियम है—"यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः" जहाँ पद्मत्व होता है, वहाँ विशेष प्रकार का सौरभ होता है । इस प्रकार की व्याप्ति को "नियतिकृतनियम" कहा जाता है । ब्रह्मा की सृष्टि इस नियतिकृतनियम से युक्त है । क्योंकि उसकी सृष्टि में इसप्रकार व्याप्ति पाई जाती है । परन्तु कवि की सृष्टि में इस प्रकार का कोई नियम

नहीं है। क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि को स्वयं प्रजापति कहा है और काव्य जगत् को कवि का संसार कहा है—

> **अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।**
> **यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥१॥**

इस काव्य-सृष्टि में कवि के लिये कोई बन्धन नहीं है। यहाँ कान्ता के मुखकमल में भी कवि प्रतिभा से सौरभ उद्भासित हो जाता है। नियत शब्द का दूसरा अर्थ, अदृष्ट या धर्माधर्म है। ब्रह्मा की सारी सृष्टि "अदृष्ट" के सिद्धान्त पर स्थिर है। प्राणियों के पूर्वकृत धर्माधर्म के निमित्त तदनुसार सुखदुःख रूप फल को भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि सृष्टि का निर्माण होता है।

परन्तु कवि की सृष्टि इन सब बन्धनों से परे हैं। कवि केवल अपनी कल्पना के बल पर अपने पात्र को स्वर्गीय ऐश्वर्य से संयुक्त करा देता है। उसके लिए देहान्तर या अपूर्व देह की आवश्यकता नहीं है।

अतः कविसामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है।

(२) कवि सृष्टि की दूसरी विशेषता यह है कि वह आनन्दमय है। जबकि सांख्य-दर्शन के अनुसार यह संसार सुख-दुःख, मोहमय है। क्योंकि इस संसार का मूल कारण प्रकृति है, और वह सत्वरजतमो गुणस्वरूपा है। कहा भी है—**"सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"**। **"कारण गुणाः कार्यगुणानारभन्ते"** इस नियम के अनुसार प्रत्येक जागतिक पदार्थ सत्त्वरज और तमोगुण के कार्यस्वरूप सुखदुःखमोह वाला होगा।

काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका की व्याख्या प्रभा में इस बात का और भी स्पष्टीकरण किया है—**"एकस्या एव कामिन्या कंचित् प्रति सुखात्मकसत्त्वसमुद्भूतत्वम्, सपत्नीं प्रति दुःखात्मकरजः समुदभूतत्वम्, स्वमलभमानं प्रति तमोरूपमोहसमुद्भूतत्वमिति रीत्या सर्वपदार्थानां सुखदुःखमोहात्मकत्वमिति सांख्यमतानुसारेणेदम्"**।

अर्थात्—किसी पदार्थ में किसी के प्रति सत्त्वगुण समुत्कट तो उसके लिए वह सुखस्वरूप है, यदि रजोगुण है तो वह दुःखस्वरूप है, और यदि तमोगुण समुत्कट है तो वह मोहस्वरूप है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक है।

परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का अस्तित्त्व ही नहीं है। उसकी सृष्टि में तो महाकवि भवभूति के अनुसार **"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"** अपनी सहृदयतावश या **कविप्रतिभाजन्यपरितापस्फुरित स्वयं प्रस्तर**

भी आँसू गिराते हैं, और वज्र का भी हृदय पिघल जाता है। पर ये ही पदार्थ अपने पाठक को कितना आनन्द प्रदान करते हैं, इसको तो केवल सहृदय ही जानता है।

कवि की कृति में तो रुदन और क्रन्दन से भरा हुआ करुण भी आनन्दानुभूति स्वरूप ही है—

साहित्यदर्पणकार का भी यही कहना है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥१॥

इसलिए कवि की सृष्टि ह्लादैकमयी—केवल सुखमयी है।

(३) कवि सृष्टि की तीसरी विशेषता है, उसका "अनन्यपरतन्त्रा" होना। **अर्थात्**—वह कवि की प्रतिभा के सिवाय और किसी के परतन्त्र नहीं हैं। जब कि ब्रह्मा की सृष्टि, परमाणु आदि उपादान (समवायि) कारण, और ईश्वरेच्छा द्वारा जो परमाणुओं में स्पन्दनादि कर्म है, ऐसे निमित्त व असमवायि कारणों के परतन्त्र है।

कहने का तात्पर्य यह कि—न्यायदर्शन के अनुसार सृष्टि का मूल उपादान कारण परमाणु है, परिमाणुओं में ईश्वरेच्छावश जब आपस में स्पन्दन होता है तो परमाणुद्वय संयोग से आगे द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है, पुनः तीन द्व्यणुओं द्वारा त्रसरेणु, इस प्रकार क्रमशः स्थूल पृथिवी की उत्पत्ति होती है। पर यह सब तभी हो सकता है, जब परमाणुओं के स्पन्दन निमित्त ईश्वरेच्छा हो, और ईश्वरेच्छा तत्तत् प्राणियों के धर्माधर्म "अदृष्ट" पर निर्भर है। न तो वह स्वेच्छया परमाणुओं का ही निर्माण कर सकता है और न बिना प्राणियों के अदृष्ट को देखे स्पन्दनादि व्यापार में ही समर्थ है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि प्राणियों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही एक मात्र उनके भोगानुकूल परमाणुओं के निर्माण में तथा उनके आरम्भ के कारण हैं, तदनुकूल पुनः ब्रह्मा को सृष्टि करनी पड़ती है। इसीलिए लिखा है कि ब्रह्मा की परमाण्वादि-उपादान-सामग्री के परतन्त्र है। पर प्रतिभाशील कवि के विषय में इतनी झञ्झट नहीं है।

(४) ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि की चौथी विशेषता यह है कि—ब्रह्मा की सृष्टि केवल मधुर-अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त ये छै ही रस हैं, ये भी सभी रस सबके लिए प्रिय नहीं हैं, पर कवि की सृष्टि में शृङ्गारादि—नौ रस हैं। जैसा कि कहा है—"**नवरसरुचिराम्**" इत्यादि। एक तो ये संख्या में अधिक हैं दूसरा सभी के सभी हृद्य है। सभी आनन्दस्वरूप हैं।

इसलिए भी कविसृष्टि नवरसा तथा रुचिरा होने के कारण ब्रह्मा की सृष्टि से उत्कृष्ट है।

अतः इस मङ्गलश्लोक में उपमानभूत ब्रह्मसृष्टि की अपेक्षा उपमेयभूत कविसृष्टि में उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार व्यंग्य है।

पुनश्च शिल्प के उत्कर्षमुख से शिल्पी के उत्कर्षरूप वस्तु की भी अभिव्यञ्जना होती है।

पर्यन्त में "भारती कवेर्जयति" इत्यादि पदों के द्वारा जहाँ कवि का काव्यरूप भारती (वाणी) के प्रति जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, और दूसरे पक्ष में आराध्य-देवता (सरस्वती) के प्रति आराध्य-आराधक सम्बन्ध है।

पुनश्च—ग्रन्थकार का वाणी की अधिष्ठात्री (भारती) देवी सरस्वती के लिए नमस्कार का आपेक्ष होगा—अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति द्वारा सरस्वती के प्रति ग्रन्थकार का नमन अभिव्यक्त है।

अतः मम्मटनिष्ठ भारती विषयकभाव के अभिव्यक्त होने से भावध्वनि भी है।

भगवती श्रुति भी उस अखण्डब्रह्माण्डनायक (ईश्वर) को कवि के नाम से पुकारती है, न तो उसे शाब्दिक कहती है और न तार्किक।

इस जगत् का निर्माता तथा नियन्ता न वैय्याकरण कहा गया है, और न नैय्यायिक परन्तु कहा गया है कवि। **"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंम्भूः"** इत्यादि उपनिषद् वाक्य इसके यथार्थ पोषक हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह कवि के लिए गौरव की बात है—

> **स्तोतुं प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वरं हि।**
> **न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा॥**
> **ब्रूते हि तावत् कविरित्यभीक्ष्णम्।**
> **काष्ठा परा सा कविता ततो नः॥ (शिवलीलार्णव १।१६)**

काव्य का प्रयोजन

संसार में किसी भी कृति का कोई न कोई प्रयोजन (उद्देश्य) अवश्य होता है। अतः कवि की कृति (काव्य-रचना) में भी कोई न कोई प्रयोजन अन्तर्निहित अवश्य होगा, जिसका प्रतिपादन अवश्य है, अन्यथा—यदि प्रयोजन का प्रतिपादन ग्रन्थ के प्रारम्भ में न किया जाय तो, पाठकों को अभिलषित वस्तु (इष्टसाधनता) का ज्ञान नहीं होगा, उस अभीप्सित (इष्ट) के ज्ञान के

अभाव में पाठकों, की ग्रन्थ पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं होगी। अत: ग्रन्थकार प्रयोजन के अभिमुख प्रवृत्ति दिखलाते हुए काव्य के प्रयोजन का निरूपण करते हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

काव्य का निर्माण यश की प्राप्ति के लिए है। जैसे—कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों के द्वारा ही विपुल कीर्ति को अर्जित किया। कालिदास व भवभूति आदि महाकवियों को इस धराधाम को छोड़े हुए न मालूम कितने वर्ष बीत गये पर उनके काव्यग्रन्थ उनका विमल यश अभी तक फैला रहे हैं। रससिद्ध कवियों का यश चिरस्थायी होता है, इस बात को महामनीषी महाराजा भर्तृहरि ने कितने सुन्दर ढंग से कहा है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥१॥

(२) धन प्राप्ति के निमित्त भी काव्य रचना की जाती है। कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें उपहार में काफी धनराशि मिलती थी। धावक तथा बाण ने भी अपने आश्रयदाता "श्रीहर्ष" से काव्यरचना द्वारा अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। तात्कालिक इतिहास इसका साक्षी है।

(३) व्यवहारज्ञान कराने के लिए भी काव्य की रचना की जाती है। काव्य के द्वारा ही हमें राजदरबारों का और तत्सम्बन्धी मन्त्रि अमात्यादियों के व्यवहार का उचित ज्ञान होता है, और भी काव्य के अनुशीलन से ही हम किसी युग विशेष के लोगों का या समाज का आचरण तथा व्यवहार भलीभांति जान सकते हैं।

(४) अमङ्गल का निवारण या शिवेतरक्षति के लिए भी काव्य का निर्माण किया जाता है। कवि अपनी रचना द्वारा कभी विशिष्ट देवताओं की स्तुति करता है, जिससे प्रसन्न होकर वे देवता रचयिता के अमंगल (संकट) को दूर कर देते हैं।

साहित्य में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि मयूरभट्ट कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गये थे। उन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के लिए भगवान् भास्कर की स्तुति में सूर्यशतक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। मयूर की इस भव्य-स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् भास्कर ने उन्हें कुष्ठ रोग से निवृत्त कर दिया। अन्य कवियों के विषय में भी ऐसी ही कथायें प्रचलित हैं।

(५) इन प्रयोजनों में सद्यः परमानन्द की प्राप्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। काव्य-पाठ में तल्लीन हुआ पाठक कभी अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। इस समय वह सांसारिक-प्रपञ्च से जल में कमल की भांति कुछ पृथक् सा रहता है। अर्थात्-उस समय पाठक सहृदय को (वेद्यान्तर) किसी अन्य वस्तु का ज्ञान ही नहीं होता है। यह आनन्दानुभूति ही काव्य का "सकल प्रयोजन मौलिभूति" प्रयोजन है।

(६) कान्ता के समान उपदेश दान भी काव्य के मुख्य प्रयोजनों में अन्यतम है। यह कान्तासम्मित उपदेश-राजाज्ञा के तुल्य शब्द प्रधान वेदादि शास्त्रों से, और मित्र के तुल्य अर्थ प्रधान पुराणेतिहासादियों से विलक्षण भावना प्रधान होता हुआ सरस तथा मधुर शब्दों द्वारा असन्मार्ग में स्थित व्यक्ति को "रामादि की तरह आचरण करना चाहिए, न कि रावण की तरह" इस प्रकार के उपदेश से सन्मार्ग की ओर अभिमुख करा देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपदेशक शब्द तीन प्रकार के होते हैं। प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित, तथा कान्तासम्मित शब्द।

प्रभुसम्मित शब्द—वेदादि वाक्य हैं, जो राजाज्ञा की तरह हैं, इनको अक्षरश: पालन करना पड़ता है और इनके शब्दों को जरा भी इधर-उधर नहीं किया जा सकता अर्थात्-शब्दावली-या वाक्य विन्यास के आनुपूर्वी को किसी स्थिति में भी शिथिल नहीं किया जा सकता है। वेद वाक्यों का अन्यथा उच्चारण में या आज्ञा न मानने में एक "प्रत्यवाय" नामक दोष लग जाता है। विना किसी ननु न च किए आज्ञा पालन करना, और उसी क्रम से उच्चारण करने में वेद पढ़ने का पुण्य। अत: वेदादिवाक्य शब्द प्रधान हैं।

दूसरे उपदेशक शब्द है मित्रसम्मित—मित्र अपने मित्र को उचित कार्य करने के लिए तथा अनुचित कार्य के परित्याग के लिए उपदेश करता है। पर मित्र का उपदेश राजाज्ञा या वेद वाक्य की तरह उसे उस कार्य के अनुष्ठान के लिए मजबूर भी नहीं करता, और न इस उपदेश की शब्द में ही प्रधानता रहती है अपितु अर्थ में इसका तात्पर्य रहता है, यह शैली इतिहास पुराणादि की शैली है। इसी शैली को ग्रन्थकार ने "सुहृत्सम्मित" या मित्रतुल्य उपदेश कहा है।

इन दोनों प्रकारों से भिन्न काव्य की उपदेश शैली का नाम है—कान्तासम्मित शब्द या कान्ता के समान उपदेश दान—इस प्रकार के उपदेश में शब्द व अर्थ दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, अपितु रसाङ्गभूत—जो व्यञ्जना व्यापार, इसी व्यापार की महिमा से सरसतापूर्ण-उपदेश, पाठक व श्रोता के चित्त को एकाएक आकृष्ट करके सत्कार्य की ओर प्रवृत्त करा देता है। अन्य शास्त्रों से यही काव्य का वैशिष्ट्य है।

धारणायें.

विभिन्न-धारायें

काव्य के प्रयोजन के प्रसङ्ग में विभिन्न विद्वानों की अनेक तरह की धारणायें है। संक्षेप में दिग्दर्शन किया जाता है—

आचार्य वामन के मत में काव्य दृष्ट (ऐहलौकिक) तथा अदृष्ट (पारलौकिक) दोनों तरह के फल को देता है। जीवन काल में आनन्द और मृत्यु के बाद यश देता है।

अर्थात्—काव्य-रचना की प्रतिष्ठा को यशः प्राप्ति का मार्ग कहा है—

काव्यं सद् दृष्टाऽदृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥५॥

काव्यं सत्=चारुदृष्ट प्रयोजनं, प्रीति हेतुत्वात्। अदृष्टं प्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वाद्।

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणि विदुः" ॥ इत्यादि।

वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक की सम्मति में—

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले सहृदयों के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

आगे स्वयं उन्होंने इसके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहा है—जो चतुर्वर्गफल प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने के कारण सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कलामात्र के साथ भी किसी प्रकार की बरावरी नहीं कर सकता है। (वह) सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में मुश्किल आदि अनेक दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुखःदायी शास्त्र संदर्भ हैं। पढ़ने के साथ ही अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी (स्पर्धा) किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से प्रतीत होती है।

अतः शास्त्र कड़वी औषधि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाश करता है, और काव्य आनन्ददायक-अमृत के समान अज्ञानरूप रोग का नाश करता है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृत रसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अयमभिप्रायः—योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्ट पुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कार कलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हति, दुःश्रवदुर्भण-दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसरः एव

सुदुःसहदुःखदायी, शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथञ्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ।।७।।

आचार्य भामह ने काव्यफलों निरूपण करते हुए कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ।।

ये फल भामह ने केवल काव्य-रचना करने वाले कवि के लिए ही कहे हैं न कि पाठक के लिए, परन्तु कीर्ति को छोड़कर अन्य सभी फल तो पाठक को भी प्राप्त हो सकते हैं; इसीलिए विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्य दर्पण में कुछ पाठ परिवर्तन के साथ इस श्लोक को रखा है, "साधु काव्यनिबन्धनम्" की जगह पर "साधु काव्यनिषेवणम्" यह पाठ रखा है ।

मम्मट की सद्यः परा निर्वृत्ति ही कुन्तक की "अन्तश्चमत्कार" है। यही आनन्दानुभूति काव्य का परम प्रयोजन है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार भी इसी परम पुरुषार्थ आनन्दावाप्ति स्वरूप मोक्ष के लिए ही सभी प्राणियों की प्रवृत्ति होती है । पर यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति प्रपञ्च पराङ्मुख रहे, या सांसारिक पदार्थों में आसक्ति छोड़ दे । उपनिषदों में लिखा है कि मानव की तीन एषणायें होती हैं । (१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा और (६) लोकैषणा, अन्य शब्दों में इन्हें काम, अर्थ और धर्म कह सकते हैं । यही संसार में समस्त मानव प्रवृत्तियों की मूल मानी जाती है । परन्तु इन तीन पुरुषार्थों के अतिरिक्त एक मोक्ष नाम का परमपुरुषार्थ भी है, जहां आत्मा की साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तन (शास्त्र द्वारा) या रसात्मक प्रेरणा द्वारा होती हैं । इसी स्थिति की प्राप्ति के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य निरन्तर प्रवृत्त है । इसी के लिए कवियों की काव्य में प्रवृत्ति कभी कभी स्वान्तःसुखाय भी होती है । इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ फल है ।

"आत्मानं विजानीहि ।। इति ।।

काव्य का कारण

काव्य की रचना करने वाले व्यक्ति को कवि कहते हैं, राजशेखर के अनुसार कवि शब्द की निष्पत्ति "कवृवर्णे—इस धातु से ई प्रत्यय लगाने से हुई है, कवि का अर्थ है वर्णनकर्त्ता—अर्थात्—रसभावादि का विमर्शक इस प्रकार लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि के कर्म को काव्य कहते हैं । यशः प्रभृति फल से सम्पन्न काव्य सर्वथा उपादेय व उपेय हैं—

इसी के समुल्लास के लिए आचार्य मम्मट उपायों का वर्णन करते है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

काव्य के समुल्लास-उद्भव में शक्ति-प्रतिमा-अर्थात्-कवित्व बीजरूप-संस्कारविशेष, और लोक-व्यवहार शास्त्र एवं काव्यादि के पर्यालोचन से व्युत्पत्ति-निपुणता, और काव्यज्ञ विद्वानों की शिक्षा का अभ्यास, ये तीनों-शक्ति-निपुणता-व-अभ्यास सम्मिलित (समष्टि) रूप से कारण हैं ।

"इति हेतुस्तदुद्भवे" में **"हेतु र्न तु हेतवः"** ऐसी व्याख्या वृत्ति में की है, इसका अभिप्राय यही है कि यहां काव्य की उत्पत्ति में उक्त शक्ति-निपुणता अभ्यास की सम्मिलित हेतुता है न कि पृथक्-पृथक् । अत एव हेतु शब्द में एकवचन का ही प्रयोग किया, वहुवचन का प्रयोग नहीं किया ।

अर्थात्—जैसे तृण से, मणि से, व अरणि से सहायान्तरनिरपेक्ष रूप में अलग-अलग अग्निरूपी कार्य उत्पन्न होता है वैसे यहाँ सहायान्तरनिरपेक्ष-काव्योत्पत्ति कार्य नहीं होता है, इस प्रकार के हेतु जो पृथक रहकर कार्योत्पत्ति के कारण होते हैं—उनमें तृणारणीमणि न्याय चरितार्थ होता है । परन्तु यहाँ काव्योल्लास शक्ति निपुणता व अभ्यास की सम्मिलित हेतुता होने के कारण दण्डचक्रचीवरादि न्याय चरितार्थ होगा ।

अर्थात्—घटरूपी कार्य में जैसे दण्डचक्र व चीवर ये सभी कारण अपेक्षित है इनमें से एक की भी अनुपस्थिति वाञ्छनीय नहीं होती, उसी प्रकार काव्योत्पत्ति-कार्य में भी उक्त तीनों हेतुओं की सम्मिलितावस्था अपेक्षित है, इनमें एक की भी यदि अनुपस्थिति हुई तो अनुपहसनीय काव्य का निर्माण नहीं हो सकता, यही "हेतुः" इस एकवचन का स्वारस्य है ।

काव्य की कारणता के विभिन्न पक्ष

संस्कृत आलोचनाशास्त्र में काव्य की कारणता के प्रसङ्ग में अनेक प्रकार के मत मतान्तर दिखाई देते हैं, अधिकतर आचार्य कारण-त्रितय पक्ष के ही समर्थक दिखाई देते हैं, पर उनके कारणों की संज्ञा में केवल भेद मालूम पड़ता है ।

आचार्य दण्डी के मत में भी प्रतिभा, शास्त्रज्ञान व निरन्तर अभ्यास ही काव्य की साधना है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्, ।
अमन्दश्चाभियोगश्च कारणं काव्यसम्पदः ॥ (१।१०३ का० द०)

आचार्य वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी हैं। वे प्रतिभा-शब्द को "प्रतिभानम्" शब्द से कहते हैं, और इसी को कवित्व का बीज मानते हैं। यह प्रतिभा या प्रतिभान, जन्मजन्मान्तर का संस्कार विशेष है, इसके अभाव में कवित्व का स्फुरण ही नहीं होता है, इसके अतिरिक्त वे लोकवृत्त-लोकव्यवहार तथा प्रकीर्ण-काव्यत्र-वृद्ध-सेवा को भी आवश्यक मानते हैं। लिखा भी है—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ।।१।। इत्यादि

इनके सहायक कारण हैं, चित्त की एकाग्रता, विविक्तदेशसेवित्व, अथवा ब्राह्ममुहूर्त—प्रातः चार बजे का समय, और पदों अवापोद्वाप अर्थात् पदों का परिवर्तन, काव्य के परिपाक के लिए उचित पदों का विन्यास व अनुरूप पदों का अपसारण पुनः उनका निरीक्षण भी आवश्यक है—

आधानोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः ।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ।।
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्ति सहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ।।१५।।

आचार्य रुद्रट ने भी काव्यकारणों के प्रसङ्ग में प्रतिभा व्युत्पत्ति व अभ्यास को एक साथ कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे शक्ति का प्रयोग करते हैं—और उनका लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं—एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का जहाँ अनेक प्रकार से स्फुरण होता है, कमनीय पद कवि के सामने स्वयं उपस्थित हो जाते हैं उसे शक्ति या प्रतिभा कहते हैं।

उनके शब्दों में शक्ति का लक्ष्य यह है—

मनसि सुसमाधिनी सदा, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ।। (१।१५)

आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखने वाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है; प्रतिभा के प्रबल समर्थक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है—

अव्युत्पत्ति कृतो दोष शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्ति कृतस्तस्य झटित्येवावभासते ।।१।।

आचार्य कुन्तक के मत में कवि का स्वभाव ही काव्य का मूल कारण है, इस स्वभाव के अनुसार ही कवि की व्युत्पत्ति होगी, और तदनुसार ही कवि

का अभ्यास भी होगा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तो केवल प्रतिभा के परिपोषक मात्र हैं। वस्तुत: काव्य बन्ध तो कवि स्वभाव पर आश्रित हैं, यद्यपि कुन्तक ने स्वतन्त्र काव्य हेतुओं पर विचार नहीं किया फिर काव्य मार्ग के प्रसङ्ग में वे कवि स्वभाव की व्याख्या करते हुए कहते हैं।

"कविस्वभावभेदनिबन्धत्वेन काव्यप्रस्थानभेद: समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्ति: समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् तथा च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमावध्नाति।"

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्य-कर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु "समाधि" है अर्थात्—"चित्त की एकाग्रता", आचार्य मलंग "अभ्यास" को ही अधिक उपयोगी मानते हैं। परन्तु राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न है, वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं।

समाधि तथा अभ्यास तो शक्ति के उद्भासक मात्र हैं। काव्य-कला के उन्मीलन में साक्षात् हेतु तो शक्ति ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ भी केवल प्रतिभावादी हैं। उनके शब्द इन प्रकार हैं—**"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा"** प्रतिभा का लक्षण करते हैं—काव्यरचनानुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति, और उस प्रतिभा में रहने वाली एक प्रतिमात्व जाति विशेष है। अर्थात्—काव्य निष्ठ कार्यता के प्रति समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतिभा में रहने वाली जो कारणता है, वह किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न रहेगी, अत: प्रतिभावृत्ति कारणता भी प्रतिभात्व धर्म से अवच्छिन्न होती रहेगी, क्योंकि यह नियम है जो जो कारणता होती है वह किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न होती हैं, अत: प्रतिभा में रहनेवाली कारणता भी प्रतिभात्व धर्मावच्छिन्ना होगी, इसीलिए प्रतिभा को जाति विशेष कहा है।

इस प्रतिभा के फिर दो कारण मानते हैं—

एक अदृष्ट—अर्थात् जन्मान्तरीय कवित्वबीजरूप संस्कार विशेष—और दूसरा—व्युत्पत्ति एवं अभ्यास।

अदृष्ट का अर्थ पुण्य—मन्त्र तन्त्र जन्य भी माना है। कहा भी है—

"मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥"

जैसे श्रीहर्ष के विषय में कहा गया है—**"तच्चिन्तामणि मन्त्रचिन्तनफले-काव्ये महाचारुणि"** इत्यादि मन्त्रानुष्ठान जन्म महाफल उनका नैषधीय चरित महाकाव्य है। और कहीं लोक-शास्त्र व काव्यादि के अनुशीलन भी काव्य या प्रतिभा का कारण माना गया है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना और काव्य निष्ठ कार्यता निरूपित कारणता का अवच्छेदक प्रतिभात्व होगा।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में काव्य कारणता के विषय में सम्मिलित कारणतावाद तथा केवल कारणतावाद का कौतुक काव्य रसिकों के आलोचना चक्षु के लिए अत्यन्त रमणीय आस्वाद्य तथा मननीय है।

वस्तुतः कवित्व के आधार स्तम्भ दो ही हैं दर्शन और वर्णन। इन दोनों के परिपूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। दर्शन का सम्बन्ध आन्तरिक प्रतिभा से और वर्णन का सम्बन्ध शब्दार्थ की समुचित उपस्थिति से है।

बाल्मीकि महर्षि तत्त्वों के द्रष्टा थे, परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत-आन्तरिक-प्रतिभा ज्ञान को शब्दों के माध्यम से नहीं प्रकाशित किया तब तक उन्हें आदिकवि या महाकवि की महनीय संज्ञा नहीं प्राप्त हुई। क्रौञ्च पक्षी के निधन से उत्पन्न हुए करुण स्वर ने जब उनके कारुणिक हृदय को पिघला दिया तब उनका आन्तरिक शोक ही

मा निषाद प्रतिष्ठात्वमगमः शाश्वती समा ।।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।।

इत्यादि श्लोक में परिणत हुआ। इसीलिए मौत की यह उक्ति भी सत्य ही है कि कवि ऋषि ही होता है, अनृषि नहीं होता।

"**ऋषयोमन्त्रद्रष्टारः**" अतः दर्शन व वर्णन ये दोनों कवि के मुख्य पाथेय हैं।

काव्य का लक्षण

"**लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**" किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण अथवा प्रमाण से होती है इस नियम के अनुसार काव्य के प्रयोजन व कारण के निर्वचनानन्तर काव्य पद प्रवृत्ति निमित्यर्थक या काव्य के व्यवहार के लिए उसके लक्षण का निरूपण करते हैं—

"**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि**"

दोषरहित और गुणरहित कहीं कहीं अलङ्कारों से रहित भी शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य कहलाते हैं।

अर्थात्—काव्य शब्द और अर्थ के मञ्जुल समन्वय में विराजमान हैं, जिस प्रकार "अर्धनारीश्वर"—शिव और पार्वती का नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी काव्य में नित्य समभाव से रहते हैं। पर ये शब्दार्थ तीन विशेषणों से विशिष्ट होने चाहिए।

(क) दोषों से रहित (ख) गुणों से सहित (ग) अलंकार रहित भी यदि कहीं कहीं हो तो क्षति नहीं है।

(१) रस के विघातक कतिपय प्रबल दोष, जो रस के प्रतीति के प्रतिबाधक हों वे दोष काव्य में नहीं होने चाहिए। यद्यपि दोष सामान्याभाव या निर्दुष्ट काव्य सर्वथा दुर्लभ है, फिर साक्षात् या परम्परया-शब्दार्थ द्वारा जो दो उद्देश्य प्रतीति के प्रतिबन्धक हों उन दोषों से रहित हो।

(२) **गुणों की सम्पत्ति**—शब्दार्थ को गुणों से सहित-युक्त होना आवश्यक है। काव्य के मुख्य तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये गुण काव्य के आत्मभूत रस के नित्य धर्म हैं। रस के धर्म होने के कारण ही रस के साथ इनका साक्षात् सम्बन्ध है और अप्रधान रूप से परम्परया ये शब्द और अर्थ में भी रहते हैं। जिन शब्द और अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है, उनमें गुणों की स्थिति आवश्यक है।

(३) **अलंकार की वैकल्पिक स्थिति**—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वथा अलंकार से युक्त होना बहुत जरूरी नही हैं। परिस्थिति विशेष में ही अलंकार की अपेक्षा है। इस प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने अपनी प्रौढ़ टीका प्रदीप में एक मार्मिक टिप्पणी दी है—जिसका सार यह है—प्रदीपकार का कहना है कि चमत्कार सार ही तो काव्य है। और वह चमत्कार या तो रस के द्वारा अभिव्यक्त होगा, अथवा अलंकार के द्वारा जहाँ रस की स्थिति है वहाँ किसी अन्य अलंकार की अपेक्षा नहीं है। इस बात को स्वयं ध्वनिकार ने भी कहा है कि निबन्ध का वाक्यार्थ जहाँ स्वतः रसानुकूल हो ऐसी स्थिति में अलंकार की अनुपस्थिति में भी प्रबन्ध किसी अनिर्वचनीय विच्छित्ति को परिपुष्ट करता ही है।

परन्तु ऐसी स्थिति में जहाँ शब्दार्थ नीरस हों वहाँ भी यदि अलंकार न हो तो चमत्कार की अनुभूति कहाँ से होगी? इस स्थिति में स्फुटालंकार की भी आवश्यकता है। इसीलिए काव्यलक्षण में "**अनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि**" न देकर अलंकार की सामान्यतः वैकल्पिक स्थिति न रखकर "**स्फुटालंकाररसान्यतरत्वम्**" यह विशेषण देना चाहिए। अर्थात् शब्दार्थ के साथ केवल अलंकार वैकल्पिक स्थिति न देकर रस व अलंकार के विकल्प को रखना चाहिए था।

उक्त लक्षण की कविराज विश्वनाथ कृत आलोचना—

विश्वनाथ कविराज ने अपने "साहित्यदर्पण" नामक ग्रन्थ में मम्मट उक्त काव्य लक्षण की प्रतिपद आलोचना की है। दर्पणकार ने मम्मट के इस काव्य लक्षण को चिन्तनीय बतलाया है। सर्वप्रथम उन्होंने "अदोषौ" इस विशेषण पर कटाक्ष किया है कि काव्यप्रकाशकार का यह काव्य लक्षण अव्याप्त है।

अर्थात् लक्ष्य के एक देश में सङ्गत नहीं होता है क्योंकि **"न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः"** इत्यादि ध्वनिकाव्य के उदाहरण हैं, परन्तु यहीं पर **"अयमेव न्यक्कार"** इस प्रकार पदों के परस्पर उद्देश्य विधेय भाव का विपर्यय होने से विधेया विमर्श दोष है। फलतः उक्त दोष से दुष्ट होने के कारण आपका लक्षण यहाँ व्याप्त नहीं है, अतः आपका लक्षण अव्याप्ति दोषग्रस्त है! इस प्रकार निर्दुष्ट काव्य का मिलना अत्यन्त ही असम्भव है। इसलिए काव्य के शब्दार्थ के लिए यह दोषाभाव की शर्त नहीं रखनी चाहिए।

इसी प्रकार सगुणौ का भी खण्डन किया। विश्वनाथ का कहना है कि जब गुण रस के धर्म हैं न कि शब्दार्थं के तब काव्य तो सरस होगा ही, धर्मी रस की सत्ता में उसके धर्म गुणों की स्वतः सत्ता है, इसके लिए पुनः 'सगुणौ' यह विशेषण देना सर्वथा अनुचित है, जब रस की सत्ता शब्दार्थ नहीं रहे उस स्थिति में शब्दार्थ के सगुण विशेषण आवश्यक है इस तरह यदि समाधान किया जाए तो रस के अभाव में तो शब्दार्थ में काव्यत्व ही नहीं फिर गुणों की चर्चा करना ही व्यर्थ है। अतः रसाभावदशा में भी 'सगुणौ' यह विशेषण उचित नहीं है।

अनलंकृती पुनः क्वाऽपि—के उदाहरण में भूल—

मम्मट ने अनलंकृती पुनः क्वाऽपि का अर्थ किया है सर्वत्र सालङ्कार शब्दार्थ काव्य है यदि कहीं स्पष्ट अलंकार न भी रहे तो उस दशा में भी काव्य माना जाता है। जैसे—**"यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः"** इत्यादि पद्य में किसी स्वाधीन पतिका का यह कथन है।

यहाँ प्रकृत सामग्री के सद्भाव में भी उत्कण्ठा की निवृत्ति नहीं हो रही है। इसमें विश्वनाथ का कथन है कि यहाँ विभावना तथा विशेषोक्ति दोनों अलंकार प्रतीत होते हैं एक ही वाक्य में दोनों की स्थिति होने से उनके गुण-प्रधान भाव में सन्देह होने के कारण सन्देह संकर स्पष्ट ही है। अतः मम्मट का यह कथन कि यहाँ स्पष्ट अलंकार नहीं है यह सरासर भूल है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के ऊपर विश्वनाथ के आक्षेप आपाततः यथार्थ प्रतीत होते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कोर्ट के कोई वकील हैं, और मम्मट के ऊपर एक से एक पोइन्ट पकड़ कर बहस कर रहे हों, और प्रतिपद दोषारोपण कर रहे हों।

पर मम्मट की काव्य परिभाषा पर थोड़ा भी गम्भीर चिन्तन करने से विश्वनाथ की ये दलीलें कपूर की तरह उड़ जाती हैं।

अदोषी का अर्थ है दोषरहित शब्दार्थ काव्य के उपयुक्त हैं। **यह** दोष दो तरह के होते हैं दोष सामान्य व दोष विशेष। दोष सामान्य के रहने पर भी यदि

काव्य की आत्मा रस की प्रतीति में कोई बाधा नहीं आती है, तो वे दोष सामान्य हैं दोष नहीं माने जाते हैं।

कुछ दोष विशेष होते हैं। वे रस दोष कहलाते हैं। या शब्दार्थ निष्ठ ऐसे दोष हैं जो परम्परया अर्थात् शब्दार्थ को दूषित करते हुए रस प्रतीति के भी विघातक हैं। ऐसे दोषों का परिहार काव्य में आवश्यक है। ऐसे ही दोषों का परित्याग ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अतः अदोषौ यह विशेषण सार्थक ही है। इसी तरह काव्य के लिए गुणों की सम्पत्ति भी आवश्यक है। गुण यद्यपि रस के धर्म हैं परन्तु स्वाश्रया व्यञ्जकत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से वे शब्दार्थ में भी रहते हैं। यहां स्व शब्द से गुणों का ग्रहण होगा। उन गुणों का आश्रय रस है और उस रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ है। स्वयं मम्मट ने भी अष्टम उल्लास में कहा है—**गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता:"** अर्थात् गौण-रूप से वे गुण शब्द और अर्थ में भी रहते हैं।

आनन्दवर्धन का **"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्"** तथा कुन्तक का **"सालंकारस्य काव्यता"** आदिवाक्य अलंकार को उपलक्षक मानकर गुणों की ओर भी संकेत करते हैं। वामन ने तो साफ ही कहा है "विशेषो गुणात्मा' अर्थात्—काव्य में वह वैशिष्ट्य गुणों द्वारा ही है। रस जहाँ काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व है, वहाँ अलंकार व गुण शब्दार्थ को संस्कृत करने वाले बहिरङ्ग तत्त्व हैं। किसी वस्तु के पूर्ण परिचय के लिए उसके अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग तत्त्वों का वर्णन सर्वथा आवश्यक है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लव-कुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्॥ (वा० ४।१७)

अहो! इस गायन में विशेष कर श्लोकों में कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल में होने वाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है। इस पद्य में माधुर्य गुण व भाविक अलंकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि—काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रदर्शित उक्त अस्फुटालंकार के उदाहरण **"यः कौमारहरः"** इत्यादि पद्य में विभावना, व विशेषोक्ति मूलक सन्देह संकर की कल्पना कर जो आपत्ति विश्वनाथ ने दिखलाई है उसका निराकरण इस प्रकार है।

यहाँ उत्कण्ठारूप कार्य का वर्णन किया गया है, (पर प्रकृत सामग्री की सत्ता में) उसका कारण नहीं है इसलिए विभावना है, ठीक इसके विपरीत

जहाँ सब वस्तुएँ उपभुक्तचर हैं, अर्थात् कारण सामग्री विद्यमान है पर उत्कण्ठाभाव रूप कार्य नहीं है, इसलिए विशेषोक्ति है। और किसी एक अलङ्कार की स्वीकृति में साधक बाधक कोई सामग्री न होने से सन्देह संकर है; विश्वनाथ ने विशेषोक्तिमूलक संन्देह संकर माना है। परन्तु ये अलंकार यहाँ भावमुखेन नहीं, अपि तु अभावमुखेन निकलते हैं, इसीलिए वे स्पष्ट नहीं हैं प्रत्युत बहुत खींचा तानी से निकलते हैं। अतः अस्फुटालङ्कार का यह उदाहरण ठीक ही है।

कुन्तक की काव्य परिभाषा और वक्रोक्ति—

आचार्य कुन्तक के अनुसार सालंकार शब्द और अर्थ काव्य है इनके मत में अलंकार काव्य का मूल तत्त्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं। काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्द-अर्थ के अवयव रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

काव्य मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर कवि व्यापार युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहितरूप में) काव्य कहलाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें शब्द का सम्पूर्ण सौन्दर्य और अर्थ के सम्पूर्ण चमत्कार दोनों का सम्यक् सामञ्जय या विशिष्ट सहभाव जहाँ रहता है वह काव्य है। पहले सरलतया काव्य की पहिचान के लिए "**सालंकारस्य काव्यता**" कहकर पुनः काव्य व्यवहार के प्रयोजक-लक्षण को प्रदर्शित करते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि ।।७।।

काव्य मर्मज्ञों के आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

कुन्तक की वक्रोक्ति की परिभाषा—

प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही (वक्रोक्ति) है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि कर्म कौशल उसकी भङ्गिमा या छटा (शोभा) उसके द्वारा उक्ति (विचित्र अभिधा) या (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है। संक्षेप में इस पद्य में इसका स्वरूप दिखाते हैं।

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति कथ्यते ।।१०।।

यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलङ्कार्य होते हैं और चतुरता पूर्ण-कथन प्रकार विशेष रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों (शब्द और अर्थ) का अलङ्कार होती है। अर्थात् विचित्राऽभिधान व्यापार रूप अलंकार ही वक्रोक्ति है। इसी से शब्दार्थ अलंकृत होते हैं। यही काव्य की आत्मा है या जीवन है।

काव्य के विषय में विश्वनाथ का मत—

विश्वनाथ कविराज काव्य के उपस्कारक बाह्य उपकरणों की उपादेयता के विषय में किञ्चित् उदासीन से प्रतीत होते हैं। इसीलिए इनका महान् संरम्भ मम्मट के काव्य लक्षण के विशेषणों के खण्डन के लिए रहा। यहाँ तक कि वक्रोक्तिजीवितकार के "काव्यजीवित के रूप में प्रतिष्ठित "वक्रोक्ति" को भी सहजरूप में अलङ्कार स्वरूप मानकर फिर उसके युक्ति के लिए कोई प्रयास भी नहीं करते।

ये काव्य के कला पक्ष से प्रभावित न होकर भाव पक्ष से प्रभावित हैं— इसीलिए बाह्य झञ्झटों में पड़कर काव्य के अन्तस्तल का स्पर्श करते हुए— **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** रसात्मक वाक्य को ही काव्य का लक्षण मानते हैं। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस के अभिव्यञ्जक वाक्य को काव्य कहते हैं। यहाँ रस शब्द व्यापक अर्थ में है। अर्थात्-रस से-भाव रसाभास-भावाभास आदि रस के समीवर्त्ती सभी भावनायें गृहीत हो जाती हैं। पर पण्डितराज को विश्वनाथ का यह काव्य लक्षण अत्यन्त संकीर्ण प्रतीत होता है। एक तो यह महाकवियों के विरुद्ध है, क्योंकि लक्ष्यानुसार लक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि काव्यात्मा जो ध्वनि है, उसके वस्तु ध्वनि अलंकार ध्वनि आदि जो महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं उनमें यह लक्षण अव्याप्त है। अतः काव्य के क्षेत्र में यह लक्षण अत्यन्त संकुचित मालूम पड़ता है।

काव्य के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का विचार—

पण्डितराज जगन्नाथ—काव्य में रमणीयार्थ के पक्षपाती हैं—उनका प्रख्यात काव्य लक्षण है—**"रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"**। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य में शब्दों द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमें चित्त-रमण करे, आनन्द का अनुभव करे। इस रमणीयता का ही पर्याय वाचक शब्द चमत्कार भी है। यहाँ चमत्कार का अर्थ व्यापक है—

अर्थात्—जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक चमत्कार या आनन्द का संचार करती है वह "काव्य" कहलाती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य प्रकाशकार के काव्य लक्षण की कड़ी आलोचना की है—

इनका कहना है कि—काव्यप्रकाशकार ने जो **"शब्दार्थौ काव्यम्"** अर्थात् शब्द और अर्थ को काव्य माना है उस पर जरा विचार करना है—

क्या काव्यत्व धर्म उभयनिष्ठ है—शब्द तथा अर्थ में **"व्यासज्यवृत्ति"** है। अर्थात् शब्द अर्थ दोनों में रहने वाला धर्म है अथवा प्रत्येकपर्याप्त ?

अर्थात्—"शब्द में अलग काव्यत्व और अर्थ अलग काव्यत्व"। इसमें पहला पक्ष अर्थात् **"व्यासज्य-वृत्ति"** वाला पक्ष नहीं बन सकता है। क्योंकि उस दशा में **"एको न द्वौ"** इस व्यवहार के समान यह श्लोक वाक्य तो है, परन्तु काव्य नहीं है। इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व संख्या दोनों में मिलकर ही रहती है। अलग-अलग नहीं इसी लिए द्वित्वसंख्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्य-वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं, तभी "द्वौ" ये दो हैं, इस प्रकार का व्यवहार होता है। और जब उनमें से एक ही उपस्थित होता है, उस समय "यह दो नहीं, एक है, इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यह श्लोक वाक्य है, काव्य नहीं" यह व्यवहार होने लगेगा। अतः **काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति** नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार "काव्यत्व" को प्रत्येकपर्याप्त अर्थात् शब्द तथा अर्थ में दोनों में अलग-अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उस दशा में एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व आ जायेगा, इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। अतः न तो व्यासज्यवृत्ति काव्यत्व बनता है और न प्रत्येकपर्याप्त। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है।

नागेश द्वारा मम्मट का समर्थन—

रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशभट्ट ने अपनी रसगङ्गाधर की टीका "मर्मप्रकाश" में पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन कर मम्मट के ही मत का समर्थन किया है। उनका उत्तर इस प्रकार है—

काव्यत्व का प्रयोजक जो रसास्वाद व्यञ्जकत्व है वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है। काव्य पढ़ा—यहाँ पाठ शब्द है। काव्य को समझा यहाँ बोध अर्थ का है। ये उभयविध व्यवहार लोक में देखे जाते हैं। अतः काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति धर्म-अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में मानने में कोई क्षति नहीं है। इसलिए चमत्कार बोध जनक ज्ञान विषयतावच्छेदक धर्मत्व रूप लक्षण शब्द और अर्थ दोनों में रहने से प्रकाशोक्त काव्य अनुपहसनीय है।

काव्य के भेद—

मम्मट ने काव्य के मुख्य तीन भेद माने हैं।

(१) ध्वनि-काव्य (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा (३) चित्र काव्य।

(१) ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य कहते हैं—

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्य-अर्थ में अधिक चमत्कार रहे उसे उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य कहते हैं।

मम्मट के शब्दों में ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) का लक्षण इस प्रकार है—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।।४।।

अर्थात्—वाच्यार्थ की अपेक्षा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार रहे, वह उत्तम काव्य होता है, विद्वानों ने इसे ध्वनि या ध्वनि काव्य कहा है।

यहाँ ध्वनि शब्द के परिचय हेतु कुछ बातें आवश्यक हैं।

साहित्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना आनन्दवर्धनाचार्य ने की है। सर्वप्रथम वैय्याकरणों ने स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया था, उन्हीं की कल्पना को ग्रहण कर ध्वनि पण्डित-आनन्दवर्धनाचार्य ने शब्द-अर्थ-शब्दार्थ-व्यापार व व्यंग्य तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। वैय्याकरणों ने केवल स्फोट-रूप व्यङ्ग्य के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि का प्रयोग किया था।

संक्षेप वैय्याकरणों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

स्फोट भाट वैय्याकरणों का मुख्य सिद्धान्त है। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है, स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोटः जिससे अर्थ की प्रतीति हो। इन्होंने वाक्यार्थ-बोध के लिए एक नित्य-स्फोट की कल्पना की है।

इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि रूप शब्द से होती है। इस लिए जैसे वैय्याकरणों ने अपने यहाँ प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनि पण्डितों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण—

निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।२।।

किसी विदग्धोत्तम नायिका की अपनी दूति के प्रति यह उक्ति है—जिसे उसने अपने नायक को बुलाने के लिए भेजा था, परन्तु यह दूती स्नान कार्य के बहाने से अपने व नायक के सम्पर्क को छिपा रही थी, इसी के उत्तर में दूती के स्नाय कार्य द्वारा, उसके रहस्योद्घाटन को सुन्दर शब्दों में कर रही है कि स्नान के ही कारण तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन बिलकुल छूट गया है, अधर की लालिमा भी लुप्त सी है. आँखों में अब अञ्जन भी नहीं है, अरी परवेदना को न जानने वाली दूती ! तू यहाँ से सीधे स्नान के लिए बावली को चल दी, उस अधम (नायक) के पास नहीं गयी।

यहाँ वक्ता व बोधव्य की विशेषता से (अर्थात् रहस्य को जब दोनों जानती हैं) तब अधम पद की सहायता से—लक्षणा शक्ति द्वारा वापी गमन का निषेध होने से, दूति का नायक के पास जाना ही प्रधान व्यङ्ग्य है। यहाँ वाच्यार्थ—"वापीस्नान" की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ "तदन्तिकगमनरूप" अधिक चमत्कार युक्त है, अतः यह ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण है।

(२) गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य—(मध्यम काव्य)

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त न हो, उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं—

अतादृशि गुणीभूत-व्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ॥

अर्थात्—वाच्य से अधिक चमत्कार व्यङ्ग्य में न होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य कहलाता है—

उदाहरण—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥३॥

किसी कारणवश संकेतित स्थान में न पहुँच सकने के पश्चात्ताप का सुन्दर वर्णन है।

ग्राम तरुण के हाथ में नवीन वेवस मञ्जरी को हाथ में लिए हुए देखकर ग्राम-तरुणी का मुख कुम्हला जाता है, अर्थात् उसके मुख की कान्ति मलिन हो जाती है—

यहाँ यद्यपि संकेत करके भी निश्चित स्थान में नहीं जा सकी, यह व्यङ्ग्य अंश है, पर मञ्जरी को देखते मुख्य मलिन हो गया इस वाच्यार्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य की अपेक्षा कहीं अधिक होने से यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य या मध्यम काव्य है।

चित्र-काव्य—(अधम काव्य)

जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव हो या व्यग्याथ अस्पष्ट हो केवल शब्दालंकार या अर्थालंकार की ही प्रधानता हो उसे अधम काव्य या चित्र काव्य कहते हैं।

चित्र शब्द का अर्थ अलंकार है—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

व्यङ्ग्य अर्थ से रहित शब्दचित्र या अर्थचित्र (दो प्रकार का होता है) को अधम काव्य कहते हैं।

उदाहरण—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा ।
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ॥
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम
द्रोहो द्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥

प्रस्तुत पद्य में कोई भक्त भागीरथी से प्रार्थना कर रहा है कि—

भगवती भागीरथी-गङ्गा-आपकी मन्दता अर्थात् अज्ञान को शीघ्र दूर करे। स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, निर्मल किनारे के कच्छ-गह्वरों में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा है, जिसमें, आनन्द पूर्वक स्नान व नित्यकृत्य करने वाले महर्षियों का मोह नष्ट हो चुका है। जिसमें बड़े-बड़े मेंढक दिखाई पड़ रहे हैं ऐसे कन्दरा हैं जिस मन्दाकिनी में, और प्रबलवेग के कारण, जिसने अपने तटस्थ शाखापत्रों से सम्पन्न बड़े भारी द्रुमों को गिरा दिया है, ऐसी उत्कट वेग वाली मन्दाकिनी आपके अज्ञान या पाप को तुरन्त नष्ट करे।

यद्यपि इस पद्य में भक्त में रहने वाला मन्दाकिनी विषयक-पूज्य-भाव प्रतीत होता है, तथापि वह अनुप्रास की छटा के सामने तिरोहित हो जाता है, प्रधानतया कवि प्रयत्न अनुप्रयास की तरफ ही है।

अतः यह शब्दचित्र का उदाहरण है।

अर्थचित्र का उदाहरण—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥५॥

शत्रुओं के मान को खण्डन करने वाले, और मित्रों को सम्मान देने वाले जिस हयग्रीव को विना किसी उद्देश्य से केवल भ्रमण के लिए अपने महल से

निकला हुआ सुनकर, स्वर्ग में इन्द्र ने स्वयं नगर के प्रधान द्वार को अर्गला सहित बन्द कर दिया, उस समय ऐसा मालुम पड़ता था मानो इन्द्र की राजधानी अमरावती मारे भय के आँख मूँद रही हो।

उक्त पद्य में यद्यपि हयग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन होने से वीर रस की अभिव्यक्ति हो सकती है, "**निमीलिताक्षीव भियामरावती**" इस उत्प्रेक्षाजन्य चमत्कार से वह वीर रस ओझल सा हो जाता है। मालूम पड़ता है कि कवि का सरम्भ उत्प्रेक्षा की ओर ही अधिक था। अतः यह अर्थचित्र का उदाहरण है।

"**केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यमिच्छन्ति**" कह कर विश्वनाथ ने काव्य प्रकाशकार की तरफ संकेत किया, और स्वयं तृतीय काव्य—चित्रकाव्य में अरुचि प्रकट की, और अपने पक्ष की पुष्टि में उन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के "**प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते उभे काव्ये**" इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य के चार भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अधम।

॥ प्रथम उल्लास समाप्त ॥

———

द्वितीय उल्लास

शब्दार्थ विभाग

प्रथम उल्लास में काव्य-स्वरूप विवेचन के अवसर पर "शब्दार्थौ काव्यम्' कहा था, अब द्वितीय उल्लास में शब्दार्थ का विभाग करते हैं—

प्रथम उपस्थिति का विषय होने से और अर्थ का उपजीव्य होने से शब्द का पहिले निरूपण करते हैं—

"स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा" (सू० ५)

यहां (काव्य में) वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार का होता है। अन्य शास्त्रों में व्यञ्जक शब्द नहीं माना जाता है, परन्तु काव्य में तो व्यञ्जक के बिना चमत्कार ही नहीं आता, अत: काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं, वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक।

यहां यह विभाग केवल उपाधिकृत है, शब्दों का नहीं क्योंकि एक ही गङ्गा शब्द वाचक भी है, लाक्षणिक भी और व्यञ्जक भी।

अर्थ का विभाग

जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार अर्थ भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

"वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः" (६ सू०)

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य उन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के अर्थ (भी तीन प्रकार के) होते हैं।

इन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्य ये अर्थ हैं, जिस प्रकार ये वाच्यादि पदार्थव्यञ्जनावृति के आश्रय होते हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय है, पर वाक्यार्थ (परार्थावयरूप) के बोध के लिए किसी वृत्ति विशेष का निरूपण करना चाहिए, इसी न्यूनता के परिहार के लिए मम्मट प्राचीन नैय्यायिकों के द्वारा स्वीकृत अथवा कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों के द्वारा प्रतिपादित, तात्पर्यावृत्ति प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ का भी निर्देश कर रहे हैं—

'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'

किन्हीं कुमारिलभट्ट आदि के मत में वाच्यादि अर्थों के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ भी होता है—

अर्थात्—कुमारिलभट्ट आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसक पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध बोध के लिए तात्पर्या नाम की एक अलग वृत्ति मानते हैं। इस तात्पर्यावृत्ति का प्रतिपाद्य वाक्यार्थ है, और वाक्य इसका बोधक अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट आदि मीमांसकों का कहना हैं कि—अभिधा तो केवल पदार्थ के बोध में समर्थ है वाक्यार्थरूप जो पदार्थों का परस्पर अन्वय-सम्बन्ध विशेष है उस संसर्ग का बोध तो तात्पर्या नाम की वृत्ति से ही हो सकता है। इसलिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को भी मानना चाहिए।

इसके विपरीत कुमारिलभट्ट के शिष्य प्रभाकर गुरु और उनके मतानुयायी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को नहीं मानते। वे अन्वित पदों में ही शक्ति मानते हैं। इनके अनुसार पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है—

"वाच्य एव वाक्यार्थः" इति **"अन्विताभिधानवादिनः।"**

अर्थात्—अन्वित का ही अभिधान होता है, वाक्यार्थ अभिधा का ही विषय है, इसके लिए पृथक् तात्पर्या नाम की वृत्ति मानना आवश्यक नहीं है। मीमांसा दर्शन प्रभाकर का मत गुरुमत से प्रसिद्ध है।

अभिहितान्वयवाद—

अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि सर्वप्रथम पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है, अर्थात् पहिले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित-अभिधा शक्ति द्वारा बोधित हो जाते हैं। (बाद में आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि वश इसके सहयोग से अभिहित पदार्थों का अन्वय-संसर्ग होता है)। जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, इसी अन्वयांश के बोध के लिए जिसे कुछ लोग संसर्ग मर्यादा से भासित मानते हैं तात्पर्या वृत्ति को मानते हैं। इस प्रकार अभिहित पदार्थों के अन्वय मानने के कारण इन्हें अभिहितान्वयवादी कहते हैं—**पदानि अभिहितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं बोधयन्तीति ये वदन्ति ते अभिहितान्वयवादिनः।** अभिप्राय यह है कि—**"घटं करोति"** इस वाक्य का अर्थ है—**"घट वृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिः"** इसमें घट पद का कम्बुग्रीवादिमान व्यक्ति विशेष घट का अर्थ है, अम् प्रत्यय का अर्थ कर्मता, करोति का अर्थ कृति है। परन्तु वाक्यार्थ में संसर्गमर्यादा से या अन्वयबोध से भासित होने वाले वृत्तित्व व अनुकूलत्व तो किसी पद के अर्थ नहीं हैं। इन्हीं की वाक्यार्थ में उपस्थिति के लिए तात्पर्या वृत्ति की आवश्यकता होती है।

वृत्ति-ग्रन्थ में **"अभिहितान्वयवादिनां मतम्"** इस बहुवचन से ग्रन्थकार की इसी मत में (आदर) सम्मति है, यह बात ध्वनित होती है।

अन्विताभिधानवाद—

अन्विताभिधान वाद के प्रतिपादक आचार्य प्रभाकर हैं। इनके मत में पदार्थ पहिले अभिहित हों फिर उनका परस्पर अन्वय होता हो, यह बात नहीं अपितु पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध हो जाता है। अन्वय पूर्व सिद्ध होने के कारण इसके लिए पुनः तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

प्रभाकर का कहना है सर्वप्रथम बालक को संकेतग्रह या पदार्थों ज्ञान वाक्य से ही होता है। क्योंकि बालक को तत्तत् पदार्थों ज्ञान या संकेतग्रह व्यवहार से होता है। और यह व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता है क्योंकि प्रयोजक वृद्ध को जो कुछ भी उपदेश देता है वह वाक्य द्वारा ही देता है, और बालक चुपचाप इनकी चेष्टाओं या व्यवहार का अनुशीलन करता है। जैसे किसी वृद्ध ने किसी को आज्ञा दी कि "गाय ले आओ" या कलम ले आओ" बालक को इनमें से किसी भी पद का ज्ञान नहीं है, न वह कलम जानता है न ले आओ ही इसी प्रकार संस्कृत में "गामानय" यह वाक्य है। बालक को गौ पद के भी अर्थ का ज्ञान नहीं है, और आनय इस पद का भी अर्थ ज्ञान नहीं है। परन्तु जब बालक व्यवहार को देखता है कि अमुक शब्द के उच्चारण करने से मध्यम वृद्ध-अमुक अमुक वस्तु को ला रहा है, तो अन्वित पद या वाक्य से ही सर्वप्रथम बालक को ज्ञान होता है पश्चात् पद-पदार्थ बोध होता है। इसीलिए यह संकेतग्रह केवल पदार्थ होकर (किसी के साथ) अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसीलिए इस मत का नाम अन्वित का अभिधान—अर्थात् अन्वित पद ही अभिधा का विषय है। फिर से अन्वय भान के लिए तात्पर्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, संक्षेप में प्रभाकर के मत का यही सार है।

अर्थों की व्यञ्जकता

शब्द शक्तियों का विवेचन प्रायः सभी शास्त्रों में हुआ है। शास्त्रकारों ने अपने-अपने विचार से इसका विवेचन किया है। शक्ति के स्वरूप के विषय में भी विभिन्न शास्त्रकारों के परस्पर भिन्न मत हैं।

क्योंकि शक्ति का सम्बन्ध शब्द से है इसीलिए पद-प्रमाण व वाक्य की जिन शास्त्रों में विशेष चर्चा की गई है, उन्हीं में शब्द-शक्ति के विषय में भी विशेष ऊहापोह किया गया है इनमें व्याकरण को पद शास्त्र कहते हैं क्योंकि पदसाधुत्व का अधिक दायित्व व्याकरण पर आता है और न्याय को प्रमाण शास्त्र कहते हैं, यह शास्त्र प्रत्यक्ष या अनुमानादि के द्वारा पदार्थोंपरीक्षण

करता है, और वाक्य के विषय विचार करने वाले शास्त्र को भीमांसा शास्त्र कहते हैं, मीमांसा विशेषत: वेद वाक्यों पर विचार करती है प्रसङ्गत: लौकिक वाक्यों से सम्बन्धित पद-पदार्थों पर भी विचार करती है। अत: प्राधान्येन शब्द शक्ति का विषय इन्हीं शास्त्रों का विषय है, पर प्रसङ्गानुसार अन्य शास्त्रों में भी आनुषङ्गिक रूप से इस विषय की चर्चा होती है। अत: इन्हीं के अनुसार अन्यत्र भी पद-पदार्थ कल्पना की जाती है।

वैय्याकरण—पद-पदार्थ के सम्बन्ध विशेष को ही शक्ति मानते हैं। पद में वाचकता शक्ति है और अर्थ में वाच्यता रूप शक्ति है, एक में बोधजनकता है तो दूसरे में बोध विषयता। यह वाच्य वाचक भाव शब्दार्थोभय निष्ठ होगा जो शब्द—है वही अर्थ और जो अर्थ है वही शब्द इस प्रकार इतरेतराध्यास मूलक तादात्म्य इसी को संकेत कहते हैं। प्राचीन वैय्याकरण-केवल बोधजनकता को ही शक्ति मानते हैं। जैसे इन्द्रियों की अनादि काल से अपने अपने विषय रूपादि ग्रहण की योग्यता है, इसी प्रकार शब्दों की भी अर्थ के साथ जो बोध जनकता है वही शक्ति है।

नैय्यायिकों के मत में—ईश्वर संकेत ही शक्ति है अर्थात् यह पद इस अर्थ का बोधक हो इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा है वही संकेत या शक्ति है। या इसी वृत्ति के द्वारा अर्थ बोधक पद वाचक और उससे बोध्य गोत्वादिविशिष्ट अर्थ वाच्य है, इसी को मुख्यार्थ भी कहते हैं।

मीमांसक—शब्द की बोधकता शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं जिस प्रकार वह्नि में दाहकता शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में भी एक अर्थ बोधकता शक्ति है, यही संकेत है, इसीलिए ये लोग शक्ति को पदार्थान्तर मानते हैं।

आलङ्कारिको के मत में—शब्दार्थ का परस्पर प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव लक्षण सम्बन्ध विशेष ही शक्ति है। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने लिखा है—**"शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगत: शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा"** वे तीन हैं—अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना। आशाधर भट्ट ने अपने त्रिवेणिका नामक ग्रन्थ में इन शक्तियों का सरल शब्दों में सुन्दर विचार किया है। शक्ति को ही वृत्ति भी कहते हैं। शक्ति-वृत्ति ये पर्याय वाचक शब्द हैं। उन्होंने उक्त ग्रन्थ के वृत्ति प्रकरण में वृत्ति का विवेचन इस प्रकार किया है—

वर्तते-शब्दोऽर्थे प्रवर्तते, अनयेति वृत्ति:।

जिस माध्यम से शब्द की अर्थ की ओर प्रवृत्ति होती है, वही वृत्ति है। यहाँ वृतु वर्तने इस धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय लगाकर वृत्ति शब्द की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अन्यत्र—जैसे अन्त:करण वाचक बुद्धि शब्द में भी क्तिन्

प्रत्यय ही है, और भगवद् प्रेम-सूचक भक्ति शब्द में भी क्तिन् प्रत्यय करण में ही है, जैसा कि भागवत-सुबोधिनी में लिखा है—**अत्र धात्वर्थः सेवा। प्रत्ययार्थः प्रमेत्युक्तम्।** इसीलिए मल्लिनाथ ने भी रघुवंश की टीका "**भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते**" में भक्ति की व्याख्या करते हुए "**पूज्येष्वनुरागो भक्तिः**" ऐसा कहा है। साहित्यदर्पणादि ग्रन्थों में वृत्ति के स्थान में शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और लक्षणा के स्थान पर कहीं-कहीं भक्ति शब्द का प्रयोग है तथा व्यञ्जना के स्थान पर व्यक्ति का शब्द का प्रयोग मिलता हैं।

अतः साहित्यशास्त्र में ये शक्ति-भक्ति-व्यक्ति क्रमशः गङ्गा, यमुना, सरस्वती की तरह हैं—

"शक्यते-साक्षादभिधीयतेऽनययेति-शक्तिः" "करणे क्तिन्"

साक्षात् जिससे अर्थ का प्रतिपादन किया जाए वह शक्ति है—

भज्यते—शक्यार्थः खण्ड्यतेऽनयेति भक्तिर्लक्षणा, भञ्जो आमर्दने इस धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय। अथवा—

भज्यते-सेव्यतेऽर्थान्तिरमनयेति भक्तिः" भज **सेवायाम् इस धातु से क्तिन् प्रत्यय।**

अर्थात्—मुख्यार्थ का खण्डन-बोध हो जिसमें उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं। या अर्थान्तर का जहाँ बोध हो उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं।

व्यज्यते-प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनयेति व्यक्तिर्व्यञ्जना।

व्यङ्ग्यार्थ जिस व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाए उसे व्यक्ति या व्यञ्जना कहते हैं।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इन शक्तियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षण्या मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥३॥

वाचक-शब्द का स्वरूप—

इस प्रकार वाचक, लक्षण व व्यञ्जक के अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा क्रमशः वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होते हैं।

यह नियम है कि वृत्ति के बिना किसी भी शब्द से अर्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता है अतः तत्तत् शब्दों से तत्तत् वृत्ति के द्वारा तत्तत् अर्थों का प्रकाशन होता है। आचार्य मम्मट सर्वप्रथम वाचक शब्द निरूपण करते हुए कहते हैं—

साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्त स वाचकः॥ (सू० ९)

जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ कहता है, वह वाचक शब्द कहलाता है।

लोक व्यवहार में संकेत सहायक शब्द ही अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है, इसलिए जिस शब्द का जिस अर्थ में साक्षात्-विना किसी व्यवधान के संकेत-ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। यह संकेत-ग्रह अनेक प्रकार से होता है—व्याकरण से भी संकेत-ग्रह होता है जैसे धातु पाठ में पढ़ा है कि भू धातु सत्ता अर्थ में है, और सूत्र से जैसे **"साधकतमं करणम्"** आदि साधकतम का करण अर्थ में संकेत-ग्रह हुआ इसी प्रकार पाचक व पाठक आदि का भी निर्णय व्याकरण के द्वारा ही होता है, इसी प्रकार उपमान—जैसी गाय है वैसा ही गयव भी होता है। इसी तरह कोश, आप्तवाक्य व व्याख्या आदि संकेत ग्रह के उपाय हैं।

इन सबमें मुख्यरूप से व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दों का या सबसे पहिले बालक को संकेत ग्रह का व्यवहार से ही ज्ञान होता है जैसा कि अन्विताभिधानवादी आचार्य प्रभाकर आदि का मत है।

संकेतग्रह का विषय—

यह एक समस्या है कि सांसारिक पदार्थों की तो कोई सीमा नहीं है, फिर कहाँ-कहाँ इनमें संकेत किया जाए क्योंकि जिस पदार्थ या व्यक्ति में संकेत किया जायेगा, उसी पदार्थ का ज्ञान होगा, तदतिरिक्त पदार्थ का तो ज्ञान होगा नहीं, जैसे—यदि कहा जाए कि "घट पदात् कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ-विशेषो बोधव्य:" घट पद से कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ का बोध हो, तो अस्मात् पदादयमर्थो बोधव्य के नियम से घट का ही बोध होगा न कि पट का।

यदि प्रत्येक व्यक्ति में संकेत ग्रह किया जाए तो यह असम्भव है। क्योंकि दुनियाँ के अनन्त व्यक्तियों में संकेतग्रह सम्भव नहीं है।

इसीलिए किसी व्यक्ति विशेष में संकेतग्रह नहीं हो सकता, अनन्त व्यक्तियों यों एकत्र या एक समय में उपस्थिति तो हो नहीं सकती है। इसलिए व्यक्ति पक्ष में यह आनन्त्य दोष आ जाता है। और दूसरा दोष आता है व्यभिचार नियम का उल्लंघन रूप। मान लिया जाए एकत्र दो चार व्यक्तियों में संकेत ग्रह हो भी गया तो शेष व्यक्तियों का बिना संकेत ग्रह से ही व्यवहार होता रहेगा, इस तरह से यह नियमभङ्गरूपी दूसरा दोष भी आ जाता है, अतः व्यक्ति पक्ष में तो कथमपि संकेतग्रह बनता नहीं है। इसलिए हमें अब दुनिया के पदार्थों का उपयुक्त विभाजन करना पड़ेगा, जिससे तत्तत् वर्ग के सभी पदार्थ आ जायें और सरलतया सबमें संकेतग्रह भी हो जाए, इसमें एकतो व्यक्ति में संकेत ग्रह न करके व्यक्ति की उपाधि या जाति में संकेतग्रह किया जाए—जैसे गो व्यक्ति में न करके गोत्व जाति या उपाधि में संकेत ग्रह किया जाय। और यह संकेतित जात्यादि अर्थ भी चार प्रकार का होता है—जाति गुण, क्रिया, और द्रव्य-यदृच्छाशब्द। आचार्य मम्मट के शब्दों में यह इस प्रकार है—

संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जाति रेव वा।

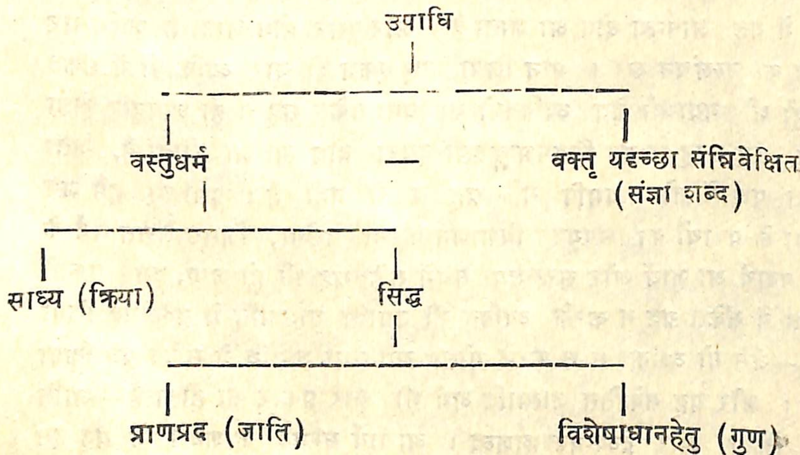
संकेतिन अर्थ (पदार्थ) जाति आदि अर्थात्—जाति, गुण, क्रिया, और द्रव्य (यदृच्छा) भेदों से चार प्रकार का होता है। यह मम्मट का जात्यादि पक्ष है मीमांसकों का पक्ष है, केवल जाति में ही संकेत ग्रह मानना।

अर्थात्—केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त—व्यवहार का प्रयोजक मानना न कि गुण क्रिया, द्रव्य को भी।

कहने का तात्पर्य यह है कि—जैसे—गोत्व जाति में आप संकेतग्रह करते हैं, इसी प्रकार गुण क्रिया व द्रव्य में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है। जैसे अनेक गो व्यक्ति में रहने वाला अनुगत प्रत्यय हेतु सामान्य (एकाकार प्रतीति में कारण जाति) गोत्व एक ही है, इसी प्रकार गुणादि में भी अनेक शुक्ल व्यक्तियों रहने वाला शुक्लत्व सामान्य और अनेक पाकादियों में रहने वाला पाकत्व सामान्य, अनेक द्वित्वादियों में रहने वाला द्वित्वत्व सामान्य एक ही है, अतः केवल जाति में ही संकेत मानना चाहिए। यह मीमांसकों का जाति पक्ष है।

पर ग्रन्थकार को यह पक्ष अभीष्ट नहीं है। उन्होंने जाति-गुण-क्रिया व द्रव्य (यदृच्छाशब्द) में ही संकेतग्रह माना है। इस विषय में उन्होंने व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी वचन प्रमाण रूप से उद्धृत किया "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" इति महाभाष्यकारः। इस प्रकार जाति-गुण क्रिया और-द्रव्य (संज्ञा शब्द) इन चारों को प्रवृत्ति निमित्त माना है। यह उपाधि या जाति भी दो तरह की है—वस्तु धर्म और वक्तृ यदृच्छा सन्निवेक्षित (संज्ञा शब्द) वस्तु धर्म भी दो प्रकार का है—सिद्ध और साध्य यह सिद्ध भी दो प्रकार का है—पदार्थ का प्राणप्रद, और विशेषाधन हेतु।

उपाधि का विषय विभाग इस प्रकार है—



संकेतग्रह के विषय में नैय्यायिकों का मत—

नैय्यायिकों के मत में संकेतग्रह केवल जाति में भी नहीं माना जाता और केवल व्यक्ति में भी नहीं माना जा सकता है। यद्यपि अर्थक्रियाकारित्व केवल व्यक्ति में ही है न कि जाति में तथापि व्यक्ति पक्ष में संकेतग्रह मानने से वही पूर्वोक्त दो दोष—आनन्त्य व व्यभिचार दोष आ जाते हैं और केवल जाति में संकेतग्रह करके यदि व्यक्ति का आक्षेपात् ज्ञान कर लें तो भी **"शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते"** इस नियम के अनुसार अर्थात्—शब्द शक्ति से लक्ष्य अर्थ का ही शाब्द बोध में अन्वय होता है। आक्षेपलभ्य अर्थ का शाब्द बोध में अन्वय नहीं होता है। इसलिये—**"व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः"** इस नियम के अनुसार "तद्वान्" अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए।

संकेतग्रह के विषय में बौद्ध मत—

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ होता है अपोह। अपोह का अर्थ होता है, अतद्व्यावृत्ति, या तद्भिन्न-भिन्नत्व, है। दश घट व्यक्तियों में घटः घटः इस प्रकार की एकाकार प्रतीति (अनुवृत्तिपत्यय) का कारण नैय्यायिक जैसे "घटत्व" सामान्य को मानते हैं इसी प्रकार बौद्ध भी दश घट व्यक्तियों में जो घटः घटः इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण अपोह या अघट व्यावृत्ति या "**घटभिन्नभिन्नत्व**" को मानते हैं।

अर्थात्—घट से भिन्न सारा जगत् और उसका भेद घट में है। इस प्रकार बौद्धों के मत में अपोह ही शब्द का अर्थ है या संकेतग्रह का विषयीभूत पदार्थ अपोह ही है।

अभिधाशक्ति या व्यापार—

संकेतग्रह का विषयीभूत अर्थ ही शब्द का मुख्यार्थ है।

इस मुख्यार्थ में शब्द का जो व्यापार होता है उसे अभिधा कहते हैं।

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

अर्थात्—वह साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ है, उस मुख्यार्थ के बोधन कराने में शब्द का जो व्यापार है उसे "अभिधा" व्यापार या "अभिधा शक्ति" कहते हैं।

लक्षणाशक्ति या व्यापार—

जहाँ किसी प्रसिद्धि या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ अपने से सम्बद्ध किसी अन्यार्थ की प्रतीति कराता है उस अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं, और उस लक्ष्यार्थ की बोधिका शक्ति का नाम लक्षणा शक्ति है।

इसमें तीन शर्तें हैं (१) मुख्यार्थ का बोध होना, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ कोई न कोई सम्बन्ध होना, (३) रूढि (प्रसिद्धि) अथवा प्रयोजन का होना।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

मुख्यार्थ का बाध (अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति) होने पर उस मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन विशेष से, जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह मुख्यरूप से अर्थ में रहने वाला परम्परया शब्द में आरोपित व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा के सम्बन्ध में विभिन्न मत—

नैय्यायिकों का मत है कि—शक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है। इनमें प्राचीन नैय्यायिक अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं, और नव्य नैय्यायिक-तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। विश्वनाथपञ्चानन ने न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में लिखा है—

"लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ॥"

मीमांसकों का सिद्धान्त है कि शक्यार्थ सम्बन्ध के ज्ञान होने से जो अशक्य अर्थ की उपस्थिति है वही लक्षणा है, जैसे गङ्गा पद से शक्यार्थ प्रवाह का ज्ञान हुआ उससे पुनः (एक सम्बन्धी ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है) इस न्याय के अनुसार तीर की स्मृति हो जाती है; यही लक्षणा का स्वरूप है।

वैय्याकरणों के मत में—शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्षणा है। वे संकेतित अर्थ के धर्म का असंकेतित अर्थ में आरोप कर लेते हैं।

इसी का नाम अन्य के धर्म का अन्य में अभ्यास है। **गङ्गायां घोषः** इत्यादि स्थलों में शक्यतावच्छेदक धर्म प्रवाहत्व या गङ्गात्व का तीर रूप अर्थ में अभ्यास कर लेते हैं और यह तीर रूप अर्थ की उपस्थिति अभिधा द्वारा ही हो जाती है अतः अभिधा का ही एक भेद लक्षणा है जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है—**"अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्द स्वार्थे व्यवस्थितः"** अर्थात् अर्थ मात्र ही बदल जाता है, शब्द अपने रूप में व्यवस्थित ही है।

कुछ आलंकारिकों की लक्षणा के विषय में असहमति जैसे वैय्याकरण लक्षणा के पृथक् वृत्ति के विषय में उदासीन हैं। अभिधा के ही प्रसिद्ध व अप्रसिद्ध भेद मानकर, अप्रसिद्ध भेद को लक्षणा मान लेते हैं, इसी प्रकार कुछ आलंकारिक भी लक्षणा को स्वतन्त्र वृत्ति न मानकर अलंकारों में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं—

जैसे—वामनाचार्य ने सादृश्य हेतुक लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार में अन्तर्हित कर दिया—**"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः"** (४-३-८) अलंकार रत्नाकर में शोभाकर मित्र ने तो यहाँ तक कहा है कि—सादृश्य प्रयुक्त या सम्बन्धान्तर प्रयुक्त जितना भी उपचार का विषय है वह सब रूपक में आ जाता है।

"सादृश्य प्रयुक्तः सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामानाधिकरण्य-निर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम् ।"

काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षण के भेद—

लक्षणा के भेदक हेतु हैं—रूढि और प्रयोजन। अर्थात् लक्षणा के रूढिगत भेद और प्रयोजनगत भेद होंगे।

रूढि का उदाहरण है **"कर्मणि कुशलः"** (चित्रकर्म या किसी कार्य में कुशल) यहाँ कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (व्याकरण के द्वारा निकलने वाला अर्थ) है **"कुशान् लाति आदत्ते"** इति कुशलः। (कुशों को लाने वाला) प्रकृत में "कुशों को लाने वाला" इत्यादि अर्थ का कोई सम्बन्ध न होने से मुख्यार्थ का बोध होता है। तदनन्तर विवेचकत्वादि सम्बन्ध से कुशल पद दक्ष अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) होने से मुख्य से अन्य अर्थ दक्ष या चतुर अर्थ लक्षित होता है। अतः कर्मणि कुशलः यह रूढि का उदाहरण है।

प्रयोजन का उदाहरण—"गङ्गायां घोषः" है।

यहाँ गङ्गा पद का मुख्यार्थ भगीरथरथखातावच्छिन्न जलप्रवाह है। घोष का अर्थ है कुटिया (कौटेज) जलप्रवाह कुटिया का आधार नहीं बन सकता है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है। गङ्गा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध होने पर, **"गङ्गातटे घोषः"** इत्यादि पदों के प्रयोग से अलभ्य शैत्य पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति स्वरूप प्रयोजन से मुख्य गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ से अमुख्य तीरादि जो लक्षित होते हैं वह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा का रहस्य—

तात्पर्य यह है कि काव्य नाटकादि साहित्यिक ग्रन्थों में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनसे प्रकाशित होने वाला अर्थ ज्ञान तीन प्रकार का होता है—(१) सुन्दर, (२) सुन्दरतर, (३) सुन्दरतम।

सामान्यजनों की बोलचाल के शब्दों से होने वाला अर्थज्ञान सामान्यतः सुन्दर है। जैसे—देवदत्त गांव को जाता है। यह मुख्यार्थ-विषयक अभिधा-व्यापारजन्य है, इसमें खास चमत्कार नहीं है। लक्षणाजन्य चमत्कार चारुतर या सुन्दरतर है—किसी ने अपने मित्र से पूछा आपका निवास स्थान कहाँ है ?

उसने उत्तर दिया गङ्गा के पास है। तो मित्र ने समझ लिया कि गङ्गा के आसपास कहीं होगा, इसलिए इसके घर जाने से क्या फायदा, न तो वहाँ शीतलता है और न पवित्रता। फिर दूसरे मित्र से पूछा कि आपका निवास स्थान कहाँ है तो उसने उत्तर दिया—गङ्गा में ही मेरी कुटिया है। अब इसे विश्वास हो गया कि गङ्गा से ज्यादा दूर नहीं है, अवश्य यहाँ शीतत्त्वपावनत्वातिशय की प्राप्ति हो सकती है। अतः मित्र उसके घर चलने को राजी हो गया।

यह शब्द प्रयोग की विशेषता है कि एक जगह अभीष्ट प्रयोजन की प्रतीति हो जाती है, और एक जगह नहीं हो रही है, प्रथम मित्र का कथन अभिधा का विषय है, जिसमें शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति नहीं होती है।

दूसरे मित्र का कथन—लक्षणा का विषय है, जिसमें श्रोता को सुनते ही अपने अभीष्ट प्रयोजन पर विश्वास हो जाता है। वाचक व लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में यही अन्तर है। अन्यथा शब्द प्रयोग तो स्वायत्त है, क्यों अवाचक शब्दों का प्रयोग किया जाय ?

"गङ्गायां घोषः" गङ्गा में कुटिया है इत्यादि स्थलों में यद्यपि लक्षणाशक्ति का विषय तट ही है, क्योंकि लक्षणा की पहुँच ही तट तक है, उससे अधिक जो शैत्यपावनत्वातिशय का ज्ञान तो व्यञ्जना व्यापार का विषय ही है, पर यह व्यञ्जना यहाँ लक्षणामूला है। इसीलिए इस प्रयोजन को लक्षणा का फल भी कहते हैं। यह प्रयोजन या फल हमेशा व्यङ्ग्य ही होता है। अतएव यह लक्षणा का उदाहरण सुन्दरतर है। निरुढा लक्षणा या रूढि लक्षणा में कोई प्रयोजन न होने से अभिधा व्यापार की तरह वह पद सामान्यरूप होने से सुन्दर है।

लक्षणा के अवान्तर भेद—

यह लक्षणा उपादान लक्षणा व लक्षणलक्षणा के भेद से पुनः दो प्रकार की होती है।

उपादान लक्षणा—जहाँ वाक्य में स्थित पद अपने सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का "उपादान" ग्रहण करते हुए, अन्य अर्थ का भी आक्षेप किया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। **"कुन्ताः प्रविशन्ति"** इसका उदाहरण है।

यहाँ कुन्त (भाले) अपने प्रवेशन क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप होता है, और स्वयं कुन्तों का भी उपादान ग्रहण होता है। इसीलिए यह उपादान लक्षणा का उदाहरण है।

कुन्तों की अतिगहनता ही यहाँ प्रयोजन है।

लक्षणलक्षणा—वाक्य में दूसरे की अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ अपने मुख्यार्थ का परित्याग करना पड़ता है, उसे "लक्षणलक्षणा" कहते हैं। इसका उदाहरण—**"गङ्गायां घोषः"** है।

यहाँ गङ्गा शब्द पर घोष की आधारत्व सिद्धि के लिए अपने प्रवाहरूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से अन्य तटार्थ का बोध कराता है अतएव यह लक्षणलक्षणा का उदाहरण है, शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति प्रयोजन है।

ये दोनों उदाहरण—**"स्वसिद्धये पराक्षेपा"** रूप उपादान लक्षणा का **कुन्ताः प्रविशन्ति** यह और परार्थं स्वसमर्पण रूप लक्षणालक्षणा का **गङ्गायां घोषः** यह। ये दोनों शुद्धा के ही भेद हैं, क्योंकि यहाँ उपचार का मिश्रण नहीं है।

जहाँ सादृश्यमूलक कोई सम्बन्ध होता है, वहीं उपचार होता है। उक्त स्थलों में तो समीप्यादि सम्बन्ध है अतः ये शुद्धा के भेद हैं। विभिन्न पदार्थों का किसी सादृश्यातिशय के द्वारा जहाँ परस्पर भेद प्रतीति का स्थगन हो जाय उसे उपचार कहते हैं। जैसे—**"अग्निर्माणवकः"** इत्यादि स्थल में। **"उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थान-मात्रम्। (साहित्यदर्पण)**

मुकुलभट्ट के उपादान लक्षणा के उदाहरणों का खण्डन—

मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ **"अभिधावृत्ति मातृका"** में उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिखलाये हैं। एक—**"गौरनुबन्ध्यः"** दूसरा—**"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।"**

प्रथम उदाहरण—**"गौरनुबन्ध्यः"** यहाँ पर मुकुलभट्ट का कहना है कि श्रुतिचोदित अनुबन्धन यहाँ गोत्व जाति का तो हो नहीं सकता है, अतः उपादान लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ जाति से अन्यार्थ व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है, इस पर मम्मट का कहना है कि यहाँ उपादान लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलों में तो आक्षेप या अनुमान से ही व्यक्ति का लाभ हो जाता है, प्रयोजन व रूढि के न होने के कारण यहाँ लक्षणा की कोई गुञ्जाइश ही नहीं है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" यह भी उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता, यह श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति का विषय है।

शुद्धा तथा गौणी विषयक मुकुलभट्ट का सिद्धान्त—

मुकुलभट्ट के अनुसार गौणी लक्षणा में तो सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य तथा लक्षक की अभेद प्रतीति होती है—**जैसे—"गौर्वाहीकः"** में गौ तथा

वाहीक अर्थों में अभेद प्रतीति होती है, तभी उन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होने से समान विभक्ति में प्रयोग होता है। परन्तु शुद्धा लक्षणा में तो अर्थात् उपादान लक्षणा व लक्षण लक्षणा में "**गङ्गायां घोषः**" इत्यादि स्थलों में लक्ष्य तट तथा लक्षक गङ्गादि शब्दों में तो अभेद नहीं अपितु भेद रूप ताटस्थ की ही प्रतीति होती है। अतः शुद्धा तथा गौणी का भेदकधर्म यही है। एकत्र शुद्धा में लक्षक लक्ष्य में भेद प्रतीति तथा अन्यत्र गौणी में लक्षक व लक्ष्य में अभेद की प्रतीति। यही इन दोनों में अन्तर है।

मम्मट द्वारा ताटस्थ्य सिद्धान्त का निराकरण—

मम्मट को मुकुलभट्ट का शुद्ध व गौणी के विषय में यह ताटस्थ्य सिद्धान्त अभिमत नहीं है। उनका कहना है कि शुद्धा के भेदों में भी लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति ही होती है, फर्क सिर्फ इतना ही है कि एकत्र गौणी में उपचार का मिश्रण रहता है, और अपरत्र शुद्धा में उपचार का मिश्रण नहीं रहता है। यदि शुद्धा के उदाहरण "**गङ्गायां घोषः**" इत्यादि स्थलों में लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति नहीं मानोगे तो तट में गङ्गात्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी। तट के साथ केवल गङ्गा का सम्बन्ध मात्र मानने से तो "**गङ्गायास्तटे घोषः**" गङ्गा के किनारे घोष है, इस मुख्य शब्द के कथन से लक्षणा का भेद ही क्या रह जायेगा।

शुद्धा तथा गौणी के भेद—

जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोप विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथितः होते हैं वहाँ दूसरी (गौणी) सारोपा लक्षणा होती है—

"सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ॥

और आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा यहाँ (आरोप विषय) उपमेय को निगीर्ण किया जाय, अर्थात् उपमान वाचक पद के द्वारा ही उपमेय का भी बोध कराया जाय उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं।

विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

यदि यह आरोप वा अध्यवसान सादृश्यमूलक हो तो गौणी के लक्षणा होगी, यदि किसी सम्बन्धान्तर से होय तो शुद्धा लक्षणा होगी।

उपादान गौणी सरोपा का उदाहरण है "**गौर्वाहीकः**" यहाँ गौ तथा वाहीक दोनों के समान गुणों के आश्रयरूप से वाहीक अर्थ ही लक्षणा द्वारा उपस्थित होता है।

यहाँ गौ आरोप्यमाण उपमान है और आरोप विषय उपमेय है वाहीक दोनों में जाड्यमान्द्यादि गुणों की समानता के कारण वाहीक में गौ का आरोप किया है। दोनों का निर्देश शब्दतः होने से सारोपा गौणी का उदारहण है। लक्षणलक्षणा—गौणी साध्यवसाना का उदाहरण—गोरयम् है।

यहाँ आरोप्यमाण गौ के द्वारा आरोप विषय उपमेय वाहीक का निगीर्ण हो चुका है। साथ ही साथ पूर्वोक्त जाड्यादि गुणों के द्वारा सामानाधिकरण्य भी है, अतः यह उदाहरण गौणी साध्यवसाना लक्षणा का है।

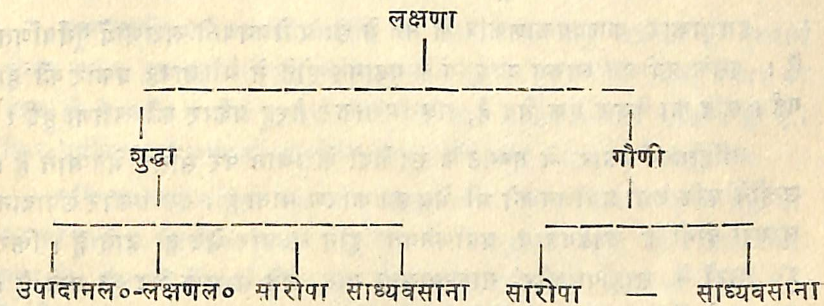
शुद्धा सारोपा का उदाहरण—"आयुर्घृतम्" घी आयु है। यहाँ आरोप्यमान उपमान आयु व आरोप विषय उपमेय घी दोनों का शब्दतः निर्देश है, और यहाँ सादृश्य से अतिरिक्त कार्यकारण सम्बन्ध है अर्थात् घी कारण है और आयु कार्य है, घी खाने से अवश्य आयु बढ़ती है यही इसका प्रयोजन भी है।

शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण—"आयुरेवेदम्" यह (घी) आयु ही है। यहाँ आरोपविषय घी का आरोप्यमाण उपमान आयु के द्वारा निगीर्ण हो चुका है अतः यह उदाहरण शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का है। निश्चित रूप से आयु बढ़ाना समप्रयोजन पूर्ववत् है—

लक्षणा तेन षड्विधा

इस प्रकार पूर्व भेद उपादान लक्षणा, व लक्षणलक्षणा, सारोपा व साध्यवसाना ये शुद्धा के चार भेद हैं, और गौणी के केवल दो भेद—सारोपा व साध्य वसाना, सब मिलकर छः भेद हुए—

इनका विषय विभाग इस प्रकार है—



पुनः व्यङ्ग्य की दृष्टि से लक्षणा का विभाग—

यह लक्षणा पुनः अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या, अगूढव्यङ्ग्या तीन प्रकार की होती है। रूढि में—"**कर्मणि कुशलः**" इत्यादि स्थलों में व्यङ्ग्या से रहित होगी और प्रयोजनवती लक्षणा व्यङ्ग्य सहित होगी।

वह प्रयोजन भी कहीं गूढ होगा और कहीं अगूढ।

गूढ (व्यङ्ग्य), प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

"**मुखं विकसितं स्मितम्**" इत्यादि हैं।

यह किसी इन्दुवदना की तरुणिमा का सुन्दर वर्णन है।

इस सुन्दरी का मुख स्मित इषद्हास्य से विकसित है ।

यहाँ विकास पुष्प का धर्म है, इसको स्मित में बाध होने से लक्षणा के द्वारा स्मित की सातिशयता लक्षित होती है, इससे मुख में सौरभादि व्यङ्ग्य है, यह व्यङ्ग्य सर्वजनवेद्य न होने के कारण गूढ है ।

अगूढ व्यङ्ग्य प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं, (पुनः अर्थान्तर न्यास से इसका समर्थन करते हैं) जैसे यौवन मद ही कामिनियों को ललित उपदेश कर देता है ।

यहाँ "उपदिशति" यह पद अगूढ व्यङ्ग्य है, क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापन रूप उपदेश तो चेतन का धर्म है न कि जड यौवन मद का, अतः मुख्यार्थ का बाध होने से सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध से उन चेष्टाओं का आविष्कार मात्र लक्ष्य है, अनायास ललित चेष्टाओं का ज्ञान यह व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की तरह स्पष्ट मालूम पड़ता है ।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के मत से छः प्रयोजनवती लक्षणायें पूर्ववर्णित हैं । इसके प्रयोजन स्वरूप व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने से ये बारह प्रकार की हो गई । रूढि का केवल एक भेद है, सब मिलाकर तेरह प्रकार की लक्षणा हुई ।

साहित्यदर्पणकार ने मम्मट के छः भेदों के स्थान पर सोलह भेद माने हैं । उन्होंने रूढि तथा प्रयोजन को भी भेद का कारण माना है । इस प्रकार उपादान लक्षणा दोनों के रूढिगत व प्रयोजनगत होने से चार भेद हो जाते हैं । फिर इन चारों में सारोपा और साध्यवासना मान लेने से आठ भेद हो जाते हैं । इन आठों में शुद्धा तथा गौणी के भेद से सोलह प्रकार की लक्षणा हो जाती है पुनः इन भेदों के व्यङ्ग्य के गूढ़ागूढ़ होने से और धर्म गत होने से पद व वाक्य गत लक्षणा के मानने से अस्सी प्रकार के भेदों के विश्वनाथ ने दिखलाया हैं ।

लाक्षणिक शब्द—

इस प्रकार लक्षणा के अवान्तर भेदों का निरूपण करके अब पूर्व प्रसङ्ग से अनुकृष्ट लाक्षणिक शब्द का विवेचन करते हैं—

इस लक्षणा शक्ति का आश्रयभूत यह "गङ्गादि" शब्द लाक्षणिक कहलाता है । तात्पर्य यह है कि प्रवाहरूप अर्थ का वाचक-गङ्गादि शब्द लक्षणा शक्ति

की परिधि में आ जाने से उपचारवश लाक्षणिक कहलाता है। **"तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।"**

उस लाक्षणिक शब्द के द्वारा जब शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन का प्रतिपादन करना पड़ता है तो व्यञ्जनात्मक व्यापार की आवश्यकता होती है।

अर्थात्—प्रयोजन केवल व्यञ्जना व्यापार का ही विषय है।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जना वृत्ति की अपरिहार्यता—क्योंकि—

जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है, केवल उसी लाक्षणिक शब्द द्वारा गम्य उस फल (प्रयोजन) के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त (शब्द) का अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥१४॥

उक्त प्रयोजन की प्रतीति न तो अभिधा वृत्ति से हो सकती है, क्योंकि पावनत्वादि प्रयोजनों के प्रतिपादक गङ्गादि शब्दों में इस प्रकार का संकेत ग्रह नहीं किया गया है, और मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के न होने से लक्षणावृत्ति का भी विषय नहीं है।

लक्षणावृत्ति प्रयोजन की प्रतीति तब कराती जब यहाँ लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ माना जाता, पर यहाँ तो तट रूप मुख्यार्थ नहीं है, न उसमें किसी प्रकार का बाध ही है, और न शैत्य पावनत्वादि फल के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही है। फिर प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में आगे कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं है।

यदि प्रयोजन सहित तट को लक्षणा का विषय माना जाए तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि विषय और फल में भेद होता, जैसे ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, उसी प्रकार लक्षणा ज्ञान का विषय तट है और लक्षणा ज्ञान का फल पावनत्वादि ये दोनों परस्पर भिन्न है।

अतः प्रयोजन विशिष्ट तट लक्षणा व्यापार का विषय नहीं हो सकता। क्यों कि **"ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्"**।

अर्थात्—ज्ञान का विषय (घटादि) अलग और ज्ञान का फल (नैय्यायिकों) के मत में अनुव्यवसाय और मीमांसकों के मत में ज्ञातता (प्रकटता) अलग कहे गये हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

न्याय सिद्धान्त के अनुसार पहिले घट या नीलादि पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा हो जाता है, **"अयं घटः"** इस प्रकार का ज्ञान। पश्चात्

"घटविषयक ज्ञानवानहम्" या "घटमहं जानामि" इस प्रकार का यह दूसरा ज्ञान अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहा जाता है। पहला ज्ञान विषय-घट से उत्पन्न होता है इसलिए यह व्यवसायात्मक ज्ञान है, दूसरा ज्ञान घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहलाता है इसी को दूसरे शब्दों में संवित्ति भी कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान घट ज्ञान का फल हुआ।

अर्थात्—घट ज्ञान के विषय घट से उस घट ज्ञान का फल "अनुव्यवसाय" भिन्न है इसीलिए विषय और फल दोनों की समकालीन उपस्थिति नहीं होती है।

मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त—

मीमांसकों के मत में अयं घट इस प्रकार के ज्ञान होने के बाद "ज्ञातो मया घटः" इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट में रहने वाला ज्ञातता या प्रकटता नामक धर्म भासता है। यह धर्म घटज्ञान के पहिले घट में नहीं था, घट ज्ञान के बाद आया, अतः वह ज्ञान से उत्पन्न होने से ज्ञान उसका कारण है। अन्यथा ज्ञातता की अनुपपत्ति है, इसी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है।

नैय्यायिकों का अनुव्यवसाय जैसे आत्मा में रहने वाला धर्म है, वैसे ही मीमांसकों का यह ज्ञातता धर्म घटादि विषय में रहने वाला धर्म है यही इन सिद्धान्तों में भेद है—

दोनों ही मतों में ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, क्योंकि विषय ज्ञान का कारण है इसलिए उसकी स्थिति ज्ञान के पहिले रहती है। फल ज्ञान का कार्य है इसलिए यह ज्ञान के बाद होता है। इसलिए लक्षणा जन्य ज्ञान के विषय तटादि का उसके फल (प्रयोजन) पुण्यत्व मनोहरत्वादि या शैत्य पावनत्वादि की स्थिति भी अलग अलग है उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए विशिष्ट अर्थात् प्रयोजन सहित तट में लक्षणा नहीं हो सकती है। हाँ लक्षित तटादि में विशेष शैत्यपावनत्वादि हो सकते हैं।

यह लक्षणामूला व्यञ्जना का प्रकरण समाप्त हुआ।

अभिधामूला व्यञ्जना—

अनेकार्थक शब्दों का संयोगादि द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी उसी शब्द से यदि पुनः अन्यार्थ की प्रतीति होती हो तो उस प्रतीति का कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा मूला-व्यञ्जना के नाम से कहा जाता है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१९॥

अनेकार्थक शब्दों के विषय में जहाँ यह सन्देह हो कि किस अर्थ को लिया जाए तो ऐसी स्थिति में ये संयोगादि चौदह तत्त्व नियामक होते हैं—

(१) **जैसे संयोग—"शंख चक्र के सहित हरि"** यदि कहा जायेगा तो यहाँ हरि शब्द अनेकार्थक—विष्णु इत्यादि वाचक होता हुआ भी संयोग के द्वारा विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि शंख चक्र का संयोग विष्णु में ही रहता है।

(२) इसी प्रकार वियोग भी नियामक होता है, यदि अशंखचक्रो हरि कहेंगे तो वियोग के द्वारा भी हरि शब्द विष्णु का ही वाचक होगा, क्योंकि संयोगपूर्वक ही वियोग होता है।

(३) **साहचर्य**—"रामलक्ष्मणौ" में साहचर्य सदभाव के कारण दोनों दशरथ पुत्र के वाचक होंगे।

(४) **विरोधिता—"रामार्जुनगतिस्तयोः"** इत्यादि स्थल विरोध नियामक है। राम और अर्जुन इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्थ होगा।

(५) **अर्थ अर्थात् प्रयोजन**—संसार से मुक्ति के लिए "स्थाणु" का भजन करो यहाँ स्थाणु शब्द (प्रयोजन विशेष मुक्ति अर्थ के कारण शिव इस अर्थ में नियन्त्रित हो जायेगा।

(६) **प्रकरण—"देवो जानाति"** "देव" यह शब्द अनेकार्थक है पर प्रकरणवश "आप" इस अर्थ में नियमित हो जायेगा।

(७) **लिङ्ग**—"मकरध्वज कुपित हो रहा है" इत्यादि स्थलों में कोप चिह्न के द्वारा मकरध्वज शब्द कामदेव अर्थ में ही नियन्त्रित हो जायेगा।

(८) **अन्य शब्द की सन्निधि—"पुरारि देव का"** यहाँ पुरारि शब्द के सान्निध्य से देव शब्द शंकर अर्थ ही होगा।

(९) **सामर्थ्य**—"कोकिल मधु से मत्त हो रहा है" यहाँ कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से मधु शब्द का वसन्त अर्थ होगा।

(१०) **औचिती**—"पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे" इसमें अनेकार्थक मुख शब्द औचित्य के कारण साम्मुख्य—आनुकूल्य अर्थ में नियन्त्रित होगा।

(११) **देश**—"यहाँ परमेश्वर शोभित है" इसमें राजधानी रूप देश विशेष के कारण अनेकार्थक परमेश्वर शब्द का राजा अर्थ होगा।

(१२) **काल**—"चित्रभानु चमक रहा है" यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द का दिन में सूर्य अर्थ और रात में कालविशेष के कारण अग्नि अर्थ होगा।

(१३) **व्यक्ति**—'मित्रं भाति' में नपुंसक लिङ्ग होने के कारण मित्र शब्द का सुहृत् सखा आदि और पुल्लिङ्ग में 'मित्रो भाति' होने से सूर्य अर्थ लिया जायेगा।

(१४) "इन्द्र शत्रु वर्धस्व" इत्यादि स्थलों में ही स्वर का उपयोग होता है।

अर्थात्—वेद में ही स्वर विशेष से अर्थ विशेष का बोध होता है, काव्य में स्वरों का विशेष उपयोग नहीं होता है।

इसी तरह चेष्टादि से भी किसी विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार संयोगादि से जब अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है, पुनः यदि उसी शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति होती है तो उसमें अभिधा व्यापार न होकर व्यञ्जना व्यापार ही होता है—इसी को अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं—

उदाहरण—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥१२॥

इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की जा रही है, अतः इन अनेकार्थक शब्दों का भद्रात्मनो "सुन्दर आत्मा वाले" हाथी के पक्ष में भद्रजातीय हाथी इत्यादिकों का प्रकरण द्वारा जब राजा के अर्थ नियमित हो जाता है, पुनः उन्हीं शब्दों से हाथीपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति और प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेयभाव की भी प्रतीति होती है, राजा के सारे विशेषण हाथी के पक्ष में भी लगते हैं। यह द्वितीय अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा ही होती है।

इस व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक कहलाता है। इसमें अर्थ की भी सहकारिता रहती है—

अर्थात्—शाब्दी व्यञ्जना में शब्द की प्रधानता व अर्थ की सहकारिता रहती है, और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की प्रधानता व शब्द की सहकारिता रहती है, इसीलिए ये शब्दार्थ काव्य में एक दूसरे के पूरक के रूप में है।

काव्य प्रकाश में शब्द अर्थ का निरूपण नामक
द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ।

———

तृतीय उल्लास

आर्थी व्यञ्जना

द्वितीय उल्लास में शब्द अर्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए वाचक लक्षण व व्यञ्जक, शब्द और वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्य अर्थ का भी प्रतिपादन किया, साथ ही साथ लक्षणाशक्ति पर विचार कर लक्षणा के प्रयोजन के प्रतिपादन के अवसर पर प्रयोजन को व्यञ्जना व्यापारगम्य ही मानते हुए लक्षणामूलाशाब्दी व्यञ्जना व अभिधामूलाशाब्दी इन दोनों प्रकार की शाब्दी व्यञ्जना का निरूपण कर, अब इस उल्लास में आर्थी व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—"अर्थव्यञ्जकतोच्यते" इत्यादि कारिका द्वारा।

जैसे—लक्षणामूला व्यञ्जना के लिए मूल में लक्ष्यार्थ का होना आवश्यक है, और अभिधामूला व्यञ्जना में "संयोगादि नियामक तत्त्वों द्वारा प्राकरणिकादि अर्थों का नियमन आवश्यक है, उसी प्रकार इस आर्थी व्यञ्जना में भी वक्तृ बोधव्यादि का ज्ञान आवश्यक है, जिनकी विशेषता से अर्थ, अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है—

उन वक्तृ बोधव्यादि का निर्देश इस प्रकार है—

वक्तृबोधव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

(१) वक्ता, (२) बोधव्य, (३) काकु, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्यसन्निधि, (७) प्रस्ताव, (८) देश, (९) काल, (१०) आदि के वैशिष्ट्य से (प्रतिभाशीलों) सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है वह आर्थी व्यञ्जना ही है।

(१) वक्ता के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

अति पृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥१३॥

कोई सखी अपनी सखी से कहती है, कि बहुत भारी जलकुम्भ लाई हूँ, इसलिए परिश्रम से थक गई हूँ अब क्षण मात्र विश्राम करूँगी॥

यहाँ प्रतिभाशाली सामाजिकों को प्रमाणान्तर से जिसका असतीत्व ज्ञात था, उन्हें उस वक्त्री सखी के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ के द्वारा उक्त सखी का चौर्यरत गोपन अभिव्यक्त होता है।

बोधव्य के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

औभिद्यं दौर्वल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति।।१४।।

कोई नायिका अपनी सखी को कहती है, ये चिन्ता, दुर्बलता आदि जो मुझे परेशान कर रहीं हैं, मेरे लिए परिश्रम करने वाली तुमको भी ये परेशान कर रहीं हैं।

यहाँ बोधव्य सखी हैं। उसी के वैशिष्ट्य से उसका काकुभविषयक अपराध प्रकाशन किया जा रहा है।

काकु के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

गुरुःखेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।१५।।

यहाँ भीम युधिष्ठर के प्रति कहते हैं उस प्रकार की अवस्था का अनुभव करके भी, खिन्न मेरे उपर युधिष्ठिर नाराज होंगे, न कि कौरवों पर?

इस काकु (एक प्रकार की ध्वनि विशेष) "मेरे उपर नाराज होना उचित नहीं कौरवों पर नाराज होना उचित है—यह व्यंग्य विशेष प्रकाशित होता है।

वाक्य के वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टि नानैसीरन्यत्र।
इदानीं सैवाहं तौ स्व कपोलो न च सा दृष्टिः।।१६।।

कपोल प्रतिविम्बित सखी को देखने वाले के प्रति किसी नायिका की यह उलाहना है कि तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता का क्या कहा जाय, यह व्यङ्ग्य इस सारे वाक्य की विशेषता से मालूम पड़ता है।

वाच्य (अर्थ) की विशेषता का उदाहरण—

"**उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी**" इत्यादि यह प्रदेश सरस कदली कुञ्ज से मण्डित है" इत्यादि वाच्यार्थ की विशेषता से कुञ्जादि विशेषण से विशिष्ट प्रदेश रूप वाच्य से सुख पूर्वक भ्रमण योग्य यह देश है, यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है।

अन्य सन्निधि की विशेषता का उदाहरण—

नुदत्यनाद्रमनाःश्वश्रूर्मा गृहभरे सकले।
क्षणमात्रं यदि संध्यायां विश्रामो भवति न वा भवति।।

सन्निहित उपनायक के प्रति "संध्या संकेत" काल की सूचना सामाजिकों को उक्त सन्निहित व्यक्ति की विशेषता से मालूम पड़ता है।

प्रकरण की विशेषता का उदाहरण—

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण । इत्यादि

यहाँ प्रकरण के भाता सामाजिकों को किसी के अभिसरण निषेधादि व्यङ्ग्य प्रस्ताव विशेष से मालूम पड़ता है।

देश की विशेषता का उदाहरण—

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाऽहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

यहाँ कुसुमावचय को उद्देश्य करके सखियों का अन्य देशाधिकरण का विधानरूप विविक्त देश विशेष से उपपति-समागम रूप व्यङ्ग्य प्रकाशित होता है।

काल के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

गुरुजनपरवश प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥२१॥

यहाँ अद्य पद प्रयुक्त वसन्त काल की विशेषता से प्रिय के प्रति अनुरक्त किसी का जीवन मुश्किल है यह अभिव्यक्त होता है।

आदि से चेष्टाविशेष से भी व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है। शब्द प्रमाण से वेद्य अर्थ अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए आर्थी व्यञ्जना में शब्द की भी सहकारिता है।

शाब्दी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में यह कहा था कि शब्द ही यहाँ मुख्यरूप से व्यञ्जक होता है, पर अर्थ भी उसका सहायक होता है। इसी प्रकार आर्थी-व्यञ्जना में यद्यपि अर्थ ही मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है तथापि शब्द की भी सहकारिता रहती ही है।

काव्य प्रकाश में अर्थ व्यञ्जकता निर्णय नामक
तृतीय उल्लास समाप्त हुआ

———

चतुर्थ उल्लास

यद्यपि प्रथम, द्वितीय व तृतीय उल्लास में काव्य स्वरूप "शब्दार्थौ काव्यम्" इत्यादि और शब्दार्थ का निर्णय, इसी प्रसङ्ग में अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना व्यापार का भी निर्णय हो चुका है, अब काव्य के धर्म-दोष-गुण अलंकारों का स्वरूप कथन अवशिष्ट था, पर धर्मी काव्य के प्रतिपादन किये बिना उसके धर्मों की हेयोपादेयता का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। इसलिए पहले उत्तम काव्य-ध्वनिकाव्य के मुख्य भेदों का निरूपण करते हैं—

ध्वनि के मुख्य भेद—

ध्वनि मूलतया दो प्रकार की होती है—

अभिधामूलाध्वनि तथा लक्षणामूला ध्वनि।

द्वितीय उल्लास में जिस लक्षणा का विवेचन किया है, उसी का प्रयोजन व्यङ्ग्य होता है, और वाच्य विवक्षित नहीं होता, अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होता है। अतएव इस लक्षणामूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं—

इसके भी पुनः अर्थ के कभी अर्थान्तर में संक्रिमित हो जाने से, और मुख्यार्थ को बिल्कुल छोड़ देने से दो भेद होते हैं।

एक अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि।

लक्षणामूला ध्वनि

अविवक्षितवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि — अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समुदायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥२३॥

अपने शिष्य के प्रति किसी विद्वान की यह उक्ति है—

मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है, अतः जरा सोच समझकर (बोलना) या रहना।

यहाँ जब वक्ता और बोधव्य जब आमने सामने हैं, तो "अस्मि त्वां वच्मि" यह पद अनुपयुक्त होते हुए अर्थान्तर-उपदेश्य तुमको हितभावना से

उपदेश देता हूँ। इस अर्थ में वाच्य परिणत हो जाता है, शिष्य के प्रति उसका हित सम्पादकत्व व्यङ्ग्य है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण—

> **उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।**
> **विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखित मास्व ततः शरदां शतम्॥२४॥**

अपकारी मित्र के प्रति किसी की यह उक्ति है—

आपने बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक प्रशंसा की जाय? हे मित्र! सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष तक सुखी रहो।

यहाँ उपकृतादि शब्द अपने अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत करते हुए अपकृतम् अपकार में परिणत हो जाते हैं। अपकारातिशय प्रकाशन व्यङ्ग्य है।

अभिधामूला ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि।

जहाँ वाच्यार्थ बाधित न होते हुए अन्य परक—व्यङ्ग्य परक होता है।

अर्थात्—वाच्यार्थ अपने स्वरूप का बिना किसी रुकावट के प्रकाशन करता हुआ व्यङ्ग्य में पर्यवसित होता है।

यहाँ वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ के बीच जो क्रम है वह कहीं लक्षित हो जाता है, और कहीं वाच्यार्थ से इतनी जल्दी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है कि वहाँ बीच में क्रम लक्षित नहीं होता है।

इसी क्रम के लक्षित और अलक्षित के कारण पुनः विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—

(१) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का जो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि नामक भेद हैं, इसी भेद के अन्तर्गत-रस भाव रसाभास व भावाभास भावशान्ति आदि सभी आ जाती हैं। रसादि की जहाँ पर प्राधान्येन स्थिति होगी अन्य वाक्यार्थ या अलङ्कार जहाँ उपस्कारक होंगे वहीं पर रस भावादि को विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि का भेद माना जायेगा। अन्यथा इसके विपरीत स्थिति में तो यदि कहीं अन्य वाक्यार्थ प्रधान हो और रसादि अङ्गभूत उसके उपस्कारक हों तो ऐसी स्थिति में क्रमशः रस के अङ्ग होने पर रसवत् अलङ्कार और भाव के अङ्ग होने पर प्रेयोऽलङ्कार और रसाभास व भावाभास के अङ्ग होने पर उर्जस्वि अलङ्कार होंगे। भाव शक्ति के अङ्ग होने पर समाहितादि अलङ्कार होते हैं—

जैसा कि ध्वन्यालोककार का कथन है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।। इति।।

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उक्त कारिका द्वारा अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का विषय विभाग व्यवस्थित किया था।

उनका कहना था कि रसादि उसी स्थिति में अलंकार्य हो सकते हैं, जब वे प्राधान्येन अभिव्यक्त होते हैं, अन्य वाक्यार्थ या अलंकार उनके उपस्कारक हों, यदि इससे विपरीत स्थिति रसभावादि की कहीं देखी जाय तो वे रसवदादि अलंकार ही माने जायेंगे अर्थात् वे प्रधान ध्वनि के भेद न होकर गुणीभूत-व्यङ्ग्य के ही भेद होंगे।

कुन्तक का विरोध

पूर्वोक्त आनन्दवर्धन की अलंकार्य तथा अलंकार के विषय विभाग व्यवस्था के प्रतिकूल कुन्तक की मान्यता है।

कुन्तक ने अनेक तर्क व वितर्कों के द्वारा स्वभावोक्ति तथा रसवत् अलंकार का जोरदार शब्दों से खण्डन किया है। वे इन दोनों अलंकारों के विषय में प्राचीन दण्डी आदि आलंकारिकों के मत से सहमत नहीं हैं—

स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।।११।।

जिन दण्डी सदृश आलंकारिकों के मत में स्वभावोक्ति भी अलंकार है, उनके मत में फिर अलङ्कार्य क्या रह जाता है। अर्थात् कुन्तक के अनुसार स्वभाव ही अलंकार्य है, उसको अलंकार मान लेने पर पुनः "अलंकार्य" किसको कहा जाएगा।

इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का मत भी कुन्तक के ही अनुकूल है—उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत-विधान-अर्थात् वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है। स्वभावोक्ति प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है अलंकार वर्णन-प्रणाली है, अतएव स्वभावोक्ति अलंकार नहीं हो सकती।

(२) स्वभावोक्ति की अलंकारता इसी से प्रसिद्ध है कि उसका कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलता, किसी ने उसे स्वक्रिया-रूप-वर्णन कहा है, किसी ने अवस्था वर्णन और किसी ने उसे सूक्ष्म-स्वभाव-वर्णन।

(३) मम्मट की परिभाषा में निर्दिष्ट बालक आदि पद का आशय अत्यन्त अस्पष्ट है, स्वयं बालकों की रूप-चेष्टा का वर्णन वात्सल्य रस के अन्तर्गत आता है। वह रस का अङ्ग है अलंकार नहीं, और यदि डिम्भादेः की व्याप्ति सृष्टि की नाना वस्तुओं के रूप और व्यापार तक मान ली जाय तो वह वर्ण्य वस्तु ही है वर्णन प्रणाली नहीं है।

स्वभावोक्ति की ही भांति कुन्तक ने रसवत् अलंकार को भी अलंकार की श्रेणी से हटाकर अलंकार्य पदवी से भूषित किया।

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥११॥

रसादि की प्रतीति के स्थल में रस के अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रतीति न होने से और रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग करने पर भी शब्द तथा अर्थ की सङ्गति न होने से रसवत् अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य है।

कुन्तक के मत से—

(१) रसवत् अलंकार अलंकारों का चूड़ामणि है।

(२) नीरस व जड़ पदार्थों में सरसता लाने के लिए यह सत्कवियों का अद्भुत साधन है।

(३) यह अलंकार प्रतीयमान ही होता है।

कुन्तक के शब्दों में इसका मौलिक स्वरूप यह है—

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥३।१४॥

पर आनन्दवर्धन की स्थापना उनके ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल ही है, जहाँ रसाभावादि अन्य वस्तु या अलङ्कार रूप व्यङ्ग्य का उत्कर्ष करेगा, वहाँ रस उपस्कारक होने से अलंकार का कार्य करता है, ऐसी स्थिति में रसत्व प्रमुक्त चमत्काराधायक होने पर भी प्राधान्य के न रहने से भृत्य के विवाह में प्रवृत्त राजा की तरह उसकी स्थिति होती है। राजा जैसे उस भृत्य के बारात का अङ्ग बनकर शोभा बढ़ाता है, रसवत् अलंकार में भी रस स्वयं अङ्ग बनकर अन्य वाक्यार्थ की शोभाधायक होता है, अतः यह ध्वनि का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है।

स्वभावोक्ति अलंकार के विषय में जो कुन्तक का आक्षेप है, वह किसी वस्तु के सामान्य विशेष भाव को बिना देखे ही है, मम्मटादि आलंकारिकों का

अभिप्राय: विशिष्ट स्वभाव वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है। महिमभट्ट ने भी वस्तु के दो रूप माने हैं और अलंकार के लिए वे इसका विशिष्ट रूप ही उपयुक्त मानते हैं। आगे हेमचन्द्र ने तो अपने काव्यानुशासन ग्रन्थ में साफ ही कहा है कि वस्तु का सामान्य स्वरूप भले ही अलंकार्य हो, पर लोकोत्तर अर्थ अलौकिक उस वस्तु का जो सौन्दर्य है वह अलंकार है, वही कवि के वर्णन का विषय है।

नाट्यशास्त्र में, अङ्गज-हावभाव, अयत्नज-शोभा कान्ति आदि स्वभावज-लीलाविलासादि को जिस प्रकार नाट्यालङ्कार के रूप में माना है इसी प्रकार किसी बालक या मृग के भी उसकी सहज या आहार्य जो चेष्टायें हैं वे भी अलङ्कार हैं, यह स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में एक हेतु है।

रस निरूपण—

लोक में रति आदि (स्थायी भाव) के जो कारण कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही काव्य व नाटक में वर्णित हों तो क्रमश: विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उन विभावादियों से अभिव्यक्त वह रति (स्थायी भाव) ही "रस" कहलाता है।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्ययो: ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण:।
व्यक्त: स तै विभावाद्यै: स्थायीभावो रस: स्मृत: ॥२८॥

(१) **स्थायी भाव**—यद्यपि ये रत्यादि सब अन्त:करण की वृत्ति रूप हैं, वृत्ति विशेष होने के कारण आशुविनाशी अस्थिर हैं, इन्हीं को अन्यशास्त्रकार या मनोवैज्ञानिक भाव शब्द से कहते हैं, ये भाव कभी अनुकूल होते हैं और कभी प्रतिकूल, समुद्र की लहर की तरह ये चञ्चल हैं, पर इनका संस्कार जिसे वासना कहते हैं वह स्थिर है। यही वासना सूक्ष्मरूप स्थिर होने के कारण स्थायी कहा जाता है। आधुनिक भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

मनुष्य के अवचेतन मन के अन्तराल में बहुत समय तक सूक्ष्म-रूप से छिपने वाले भाव को ही स्थायीभाव कहते हैं।

यही प्रसुप्त संस्कार उपयुक्त-विभावादि-सामग्री को प्राप्त कर जब अभिव्यक्त होता है, तब "रस" इस संज्ञा को प्राप्त करता है।

इसीलिए मम्मट ने भी कहा—

"व्यक्त: स तै विभावाद्यै: स्थायीभावो रस: स्मृत:।"

(२) **विभाव**—वासनारूप में वर्तमान रत्यादि स्थायिभावों की आस्वाद योग्यता को जो कारण प्रदान करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। "**विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्तीति विभावा**" ये विभाव भी दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव, जैसे—सीता को देखकर राम के मन में, और राम को देखकर सीता के मन में "रति" भाव या अनुराग की उत्पत्ति होती है, और इन दोनों को देखकर (नाटक में या काव्य में पढ़कर) सामाजिक के मन में भी आनन्द की अभिव्यक्ति होती हैं। अतः सीता रामादि श्रृङ्गार रस के आलम्बन विभाव हैं। और चन्द्र चाँदनी उद्यानादि रति के उद्दीपन विभाव हैं।

(३) **अनुभाव**—अन्तःकरण में अवस्थित विभाव द्वारा उद्‌बुद्ध उस रति जो उपादान दर्शकों के अनुभव में ला देते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। "अनुभावयन्ति, अनुभव विषयी कुर्वन्तीति अनुभावाः" स्मितादि लोक में इन्हें कार्य कहते हैं।

(४) **व्यभिचारी भाव**—उदबुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि या उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं, उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। "**विशेषेण अभितः रत्यादीन् कामे चारयन्तीति संचारयन्तीति व्यभिचारिणः सञ्चारिणो वा**" विविधरूप से स्थायीभाव के अनुकूल संचरण करने वाले भाव, हर्ष-विषाद, चिन्ता, जड़ता आदि ये ३३ हैं।

रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की प्रतिष्ठा सबसे पहले अपने नाट्यशास्त्र में की, इस विषय में इनका प्रसिद्ध सूत्र है—जिसको मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में अविकलरूप में रखा है—"**उक्तं हि भरतेन**"—"**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ॥**

अर्थात्—विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार में उतना ही सारगर्भित है—अतः अनेक आचार्यों ने इस सूत्र पर अपने अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या की है, अभिनव गुप्त द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती में, बड़े विस्तार के साथ कई मतों का उपन्यास किया है। पर वहां का व्याख्यान अत्यन्त कठिन व विस्तृत है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में उसी का संक्षिप्त सार उपस्थित किया है। जिसके प्रमुख व्याख्याता-भटटलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त ये चार

हैं। ये चारों आचार्य क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य व साहित्यशास्त्र के प्रकाश में अपना अपना रस विषयक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विभाव—आलम्बन व उद्दीपन ललना-उद्यानादि रति आदि उत्पन्न होती है, उसी स्थायी रति के कार्यभूत-कटाक्षादि अनुभावों से प्रतीति योग्य किया गया, (रत्यादिमान्), निर्वेदादि सञ्चारी भावों से पुष्ट किया गया रत्यादि स्थायीभाव मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि में रहता है, पर उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में भी प्रतीत होता है, अर्थात्—नट में भी उसका आरोप होता है। यहीं नट में आरोप्यमाण या प्रतीयमान रत्यादि ही रस है।

सूत्र में आये हुए संयोग व निष्पत्ति इन दो शब्दों के विषय में आचार्यों की अपने अपने सिद्धान्तानुकूल अलग-अलग व्याख्या है।

भट्टलोल्लट मीमांसक हैं, अतः उन्होंने विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोग से अनुकार्य-रामादि में रस की निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति माना। विभावादि उत्पादक सामग्री है। स्थायी भाव उत्पाद्य है, जैसे मीमांसा दर्शन में यागादि उत्पादक सामग्री से अपूर्व द्वारा स्वर्ग उत्पाद्य है, उसी प्रकार यहां रस भी उत्पाद्य है। अतः विभाव का स्थायीभाव रत्यादि के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध होगा, और अनुभाव का गम्य-गमकभाव सम्बन्ध, और सहचारी भावों का पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध है। यही संयोग शब्द का अर्थ है। और निष्पत्ति शब्द का क्रमशः उत्त्पति, प्रतीति व पुष्टि ये अर्थ होते हैं।

भट्टलोल्लट के मत में अरुचि—

भट्ट लोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह है कि वे रसानुभूति को सामाजिक में न मानकर मुख्य रूप अनुकार्य रामादि में मानते हैं। और उसका आरोप या अप्रधानरूप से नट में मानते हैं। इन दोनों में भी अभिव्यक्ति न मानकर, उत्पत्ति मानते हैं।

शंकुक का अनुमितिवाद—

यह राम ही है, यही राम है। यह राम नहीं है, यह राम है या नहीं यह राम के समान है। इस तरह क्रमशः सम्यक प्रतीति, मिथ्याप्रतीति, संशय प्रतीति तथा सादृश्यप्रतीति, इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न प्रतीति "चित्रतुरगन्याय" वाली प्रतीति नट में होती है। अर्थात्-चित्र में अङ्कित घोड़े को बालक जैसे घोड़ा ही समझता है, उसी प्रकार ग्राह्य पक्ष नट में राम बुद्धि होती है वह भी इन चार प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। "यह राम

सीता विषयक रति वाला है, तद् विषयक कटाक्षादि युक्त होने से इस नट पक्ष में कटाक्षादि हेतुओं से सीताविषयक राम की रति का अनुमान किया जाता है। यहाँ विभावादि का रत्यादि के साथ जो संयोग-सम्बन्ध विशेष है वह गम्यगमकभाव है। विभावादि गमक हैं, और रत्यादि गम्य अनुमेय है। वस्तु सौन्दर्य की विशेषता से यह अनुमान अत्र अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण है। रस की निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है।

नट में वास्तविक रूप से न रहने वाले रत्यादि का सामाजिक अपने वासना के बल से नट पक्ष में अनुमान कर लेता है। वस्तुतः अनुमित रस न सामाजिक में रहता है और न कृत्रिम राम (नट) में ही रहता है, केवल वासना मात्र से सामाजिक को उसका आस्वाद होता है। शंकुक की यह रस की अनुमिति न्याय दर्शन के अनुसार है, न्यायशास्त्र अनुमिति प्रधान शास्त्र है, इसीलिए इसमें पक्ष हेतु व साध्य की कल्पना की गई है।

शंकुक के मत में अरुचि—

यद्यपि शंकुक ने सामाजिक में रस प्रतीति सम्पादन करने का अच्छा प्रयत्न किया है, परन्तु उस रस प्रतीति को अनुमेय बनाकर अनुमान द्वारा रस निष्पत्ति उपपादन किया है, जब कि सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। साक्षात्कारात्मक नहीं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने रस की व्याख्या में सबसे पहले दर्शक या सामाजिक के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनका कहना है कि रस की निष्पत्ति न तो अनुकार्य रामादि में होती है और न अनुकर्त्ता नटादि में ही होती है। ये दोनों अनुकार्य और अनुकर्त्ता तटस्थ हैं। अतः इसमें रसानुभूति नहीं हो सकती। ये रस की न तो उत्पत्ति मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस को भुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोज्य और विभावादि हैं भोजक अतः रस और विभावादि का परस्पर भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध है। भट्ट नायक काव्य में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त दो अन्य नये व्यापारों की कल्पना करते हैं। इनके नाम हैं—भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार।

काव्य में अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की उपस्थिति होती है। इसके बाद भावकत्व व्यापार द्वारा उन विभावादि अर्थों का साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात्—नाटकस्थ या काव्यस्थ प्रतिपाद्य विषयीभूत पात्र का व्यक्तिगत उसके विशेष सम्बन्धों का परित्याग हो जाता है। इस भावकत्व व्यापार के बल से रङ्गमञ्च में शकुन्तलादि पात्र अपने व्यक्ति विशेष्यांश का परिहार कर सामान्य नायिकात्वेन रूप सामाजिक को दृष्टि में उपस्थित होते हैं, यही

विभावादि का साधारणीकरण है। यहाँ व्यक्ति अपने स्व के सम्बन्ध विशेष से परिच्छिन्न न होकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे अपरिमित भाव से संवलित हो जाता है। फिर वहाँ स्व पर की कोई परिधि नहीं होती है। एक तरह से यह साधारणीकरण व्यापार साहित्यशास्त्र में व्यक्ति के अन्तःकरण का उदात्तीकरण व्यापार है। जहाँ चित्त रागद्वेषोपेक्षादि परिमित प्रपञ्च से ऊपर रहता है। यह सब कार्य है भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार का जिसके बल से हनुमानादि राम सेवकों को समुद्र लङ्घनादि जैसा अपरिमित उत्साह हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि पात्र का यहाँ परिमित भाव विगलित होकर सामान्य अपरिमित भाव का उदय हो जाता है।

तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक या सामाजिक रस का भोग करता है। इस अवस्था में प्रमाता के अन्तःकरण में स्थित रजोगुण व तमोगुण सत्त्व—सत्व गुण की अधिकता के कारण दब जाते हैं। सत्त्व के समुद्रेक के कारणचित्त निर्मल हो जाता, साथ ही साथ उसमें चैतन्य का भी प्रतिफलन होता है। यद्यपि ये भाव रत्यादि चित्त में ही हैं चैतन्य से उनका सम्बन्ध नहीं है, पर चिच्छायापत्ति से वहाँ चित्त व चैतन्य की एकरूपता मालूम पड़ती है। उस रति का भोग तो बुद्धि या अन्तःकरण अथवा चित्त में होने पर भी "**बुद्धेर्भोग इवात्मनि**" के अनुसार आत्मा में भोग का आरोप किया जाता है। अतः भट्ट नायक का यह भुक्तिवाद सांख्य सिद्धान्त के अनुसार है। इस दर्शन के अनुसार सुख दुःख वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म हैं न कि आत्मा के। पुरुष आत्मा में तो उनकी औपाधिक प्रतीति होती है।

इस भट्ट नायक के मत के अनुसार सूत्र में आये हुए संयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध है तथा निष्पत्ति शब्द का अर्थ भुक्ति है।

भट्टनायक के मत में अरुचि—

यद्यपि भावकत्व व भोजकत्व व्यापार की कल्पना कर भटटनायक ने रस सिद्धान्त को समझाने का एक स्तुत्य प्रयास किया है, और भावकत्व व्यापार की नई उद्भावना से साहित्य शास्त्र की बहुत सी सङ्कीर्णताओं को दूर करने का सफल प्रयास किया है, और साधारणीकरण की इस प्रक्रिया की प्रतिष्ठा करके अपने मनोवैज्ञानिक परिशीलन का परिचय भी दिया है। भावी आलंकारिकों ने जिसका यथेच्छ उपयोग भी किया है, परन्तु जो दो नये भावकत्व व भोजकत्व नामक व्यापारों की कल्पना की है, इस पर अधिक विद्वानों की सम्मति नहीं रही।

अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद—

साहित्य शास्त्र में अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं। वे आनन्दवर्धन के ध्वनि तत्त्व के व्याख्याता हैं और भरत मुनि के रसतत्त्व के भी व्याख्याता हैं, रस ध्वनि के प्रभेदों में अन्यतम प्रभेद है।

यह अभिधा का विषय नहीं है, और न लक्षणा से ही लक्षित है अपितु व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार रस तथा विभावादिकों में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है।

अभिनवगुप्त का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में श्रोता या वक्ता में राग, द्वेष, शोक, क्रोधादि भाव विद्यमान रहते हैं। ये भाव अपनी उपयुक्त सामग्री को पाकर प्रबुद्ध हो जाते हैं। अन्यथा चित्त शय्या में प्रसुप्त ही रहते हैं। प्रति दिन के संघर्ष से इनका सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरण में घर कर लेता है। यही वासना रूप में हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इन्हीं को स्थायी भाव भी कहते हैं। यही वासना जिसमें परिपूर्ण है वही रस का अनुभव करता है। तत्तत् भावनाओं तत्तत् उद्बोधक सामग्री की सहायता से अपना उपचय करती हैं। इन्हीं भावनाओं के उन्मीलन व विकास का क्रम यदि काव्य व नाट्य में वर्णन किया जाता है तो वे कुछ अलौकिक आनन्द को प्रदान करते हैं। काव्य में इस उत्पादक सामग्री का वर्णन कार्य-कारण सहकारी कारण न होकर विभाव अनुभाव व सञ्चारी भाव के नाम किया जाता है। यही विभावादि उक्त वासनारूप में स्थित स्थायी की अभिव्यक्ति करते हैं। और व्यंजना व्यापार के द्वारा इन विभावादिकों का साधारणीकरण तथा रत्यादियों का रसरूप में अभिव्यंजन होता है। रसाभिव्यक्ति की दशा में सभी वस्तुओं का साधारणीकरण हो जाता है और सामाजिक भी अपने को सामान्य रूप में ही पाता है। वह रस को केवल अपने स्व व्यक्ति तक न मानकर सभी सामाजिकों को रस का अनुभवकर्ता मानता है। यह आनन्द सामान्य लौकिक आनन्द से विलक्षण ब्रह्मानन्द सहोदर है। यही रस के अलौकिकत्व का रहस्य है कि अन्य आनन्द जो कि अपने कारण पर निर्भर रहते हैं। वे सुख दुःखादि के भी जनक होते हैं, पर यह तो दुःख कारणों से समुत्पन्न हुआ भी सुख की ही अनुभूति कराता है। जैसे शोक बुद्धि या भय स्थायिभावों से अभिव्यक्त करुण रौद्र या भयानक प्रमाता को आनन्दानुभूति ही कराता है। इसीलिए कहा है **"रसो वै सः। रसं ह्येवं लब्ध्वाऽयमानन्दी भवति"।**

रस की अलौकिकता—

अभिनवगुप्त ने रस को "अलौकिक" कहा है, अर्थात् वह अन्य वस्तुओं से भिन्न है, मम्मट ने अपने शब्दों में इसे इस प्रकार कहा है—लोक में पायी जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक कार्य रूप और दूसरी ज्ञाप्य-रूप। घट-पट आदि पदार्थ कार्य-रूप हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसीलिए कार्य हैं। और इनका जनक कारण "कारक" कहलाता है, दूसरे प्रकार के विषय ज्ञान के विषय या ज्ञाप्य होते हैं। जैसे दीपक के प्रकाश में

घट का ज्ञान होता है, इसलिए दीपक के द्वारा घट ज्ञाप्य है, पूर्व सिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह ज्ञाप्य कहा जाता है। जो पूर्व सिद्ध नहीं है कारण व्यापार से निष्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है। संसार के सारे पदार्थ इन्हीं दो वर्गों में (कार्य और ज्ञाप्य) आते हैं। परन्तु रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य ही। कार्य इसलिए नहीं है कि कार्य तो निमित्त नाश होने पर भी बना ही रहता है जैसे घटादि कार्य निमित्त कारण कुम्हार के मर जाने पर भी बने रहते हैं पर रस तो अपने निमित्त विभावादि अवधि तक है। अत: कार्य नहीं है। रस ज्ञाप्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्वसिद्ध नहीं है। अनुभव से पूर्व रस की सत्ता नहीं है अपितु अनुभव काल में ही व्यंजना व्यापार द्वारा वह अभिव्यक्त होने वाला है। इन दोनों वर्गों में न आने से रस लोक विलक्षण ही कोई आनन्द है।

पुनश्च यह वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है—अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के जितने प्रकार हैं उन सबसे विलक्षण अलौकिक साक्षात्कारात्मक या अलौकिक-अपरोक्षानुभूति स्वरूप रस है। अस्मदादि का साक्षात्कारात्मकज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा हीं होता है और मितयोगी-सविकल्पक समाधि में स्थित युञ्जानपदवाच्य का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना भी केवल योगज सामर्थ्य से भी हो जाता है, तीसरे परिमितेतर योगी-परिपक्व-निर्विकल्पसमाधि में स्थित योगी का ज्ञान, वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित केवल आत्मानुभूति मात्र होता है, रस की अनुभूति इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण हैं। वह न तो अस्मदादि के प्रत्यक्ष के समान, प्रत्यक्ष प्रमाणों से उत्पन्न होती है, न प्रमाणताथ्य वाले मितयोगी के ज्ञान का विषय है, और न निर्विकल्प समाधि में स्थित योगियों की वेद्यान्तर-स्पर्श रहित आत्मानुभूति ही है, इस प्रकार इन तीनों प्रकार की अनुभूति से विलक्षण होने के कारण वह अलौकिक ही है, और इसलिए भी वह अलौकिक है कि उसका ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है, और न निर्विकल्पक ज्ञान से, क्योंकि रस की प्रतीति में विभावादि के परामर्श की प्रधानता होने से निर्विकल्पक-ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है, और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय रस के स्व संवेदन सिद्ध होने से सविकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है तथा उभयाभावस्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रस का) उभयात्मकत्व भी पहले के समान लोकोत्तरता को ही बोधित करता है, यही श्रीमान् महामाहेश्वर अभिनव गुप्त पदाचार्य का मत है।

विभावादि की सम्मिलित रूप से कारणता व्याघ्रादि विभाव, भयानक रस के समान वीर अद्भुत तथा रौद्र रस के प्रति भी हो सकते हैं, अश्रुपात

आदि अनुभाव श्रृङ्गार के समान करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव श्रृङ्गार के समान वीर करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं। इसलिए उनके अलग-अलग अनैकान्तिक होने से (अर्थात् किसी एक ही रस के साथ निश्चित न होने से) सूत्र में उनको सम्मिलित रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

विभावादि के मध्य में तीनों में से एक या दो के अनुक्त होने पर भी आक्षेप द्वारा उनका बोध—**जैसे—"वियदलिमलिनाम्बु गर्भ मेधम्"** इत्यादि में दयिता रूप आलम्बन व वर्षाकाल उद्दीपन विभाव मात्र का वर्णन है।

"परिमृदित मृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः"

इत्यादि में मालती के अङ्गग्लानि पाण्डुता आदि केवल अनुभावों का वर्णन है और **"दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितम्"** इत्यादि में केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावों का ही वर्णन किया गया है फिर भी इनके प्रकृत रति के बोध में असाधारण ज्ञापक होने से, शेष दो का आक्षेप हो जाता है अतः तीनों के सम्मिलित रूप से रस निष्पत्ति-सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता है।

रसों के भेद—

श्रृङ्गार हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
वीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥२२॥

(१) श्रृङ्गार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) वीभत्स और (८) अद्भुत ये आठ रस नाट्य में माने जाते हैं।

भाव के भेद—

भाव दो प्रकार के होते हैं एक वे हैं जो स्थिर रहने की योग्यता रखते हैं, ये स्थायीभाव कहलाते हैं।

दूसरे वे हैं जो कई क्षणों तक ही स्थिर रहते हैं। इसी अस्थायिता के कारण इन्हें संचारी भाव या व्यभिचारीभाव कहते हैं, संचारी भावों की संख्या ३३ है परन्तु स्थायी भावों के विषय में बड़ा मतभेद है।

अभिनवगुप्त व मम्मट इनकी संख्या नौ ही मानते हैं और इनसे उत्पन्न होने वाले रसों की संख्या भी नौ ही मानते हैं।

स्थायीभाव	रस	वर्ण	देवता
(१) रति	शृङ्गार	श्याम	विष्णु
(२) हास	हास्य	श्वेत	प्रमथ
(३) शोक	करुण	कपोत	यम
(४) क्रोध	रौद्र	रक्त	रुद्र
(५) उत्साह	वीर	हेम	महेन्द्र
(६) भय	भयानक	कृष्ण	भूत
(७) जुगुप्सा	वीभत्स	नील	महाकाल
(८) विस्मय	अद्‌भुत	पीत	गन्धर्व
(९) शम	शान्त	इन्दुवर्ण	नारायण

आगे चलकर स्थायी भावों की तथा रसों की संख्या बढ़ती गई। विश्वनाथ कविराज ने "वात्सल्य भाव" तथा "वात्सल्यरस" की प्रतिष्ठा की, तथा रूपगोस्वामी ने माधुर्यरस (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा की, इसका विस्तृत विवेचन इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "उज्ज्वलनीलमणि" में किया।

इस भक्तिरस का भी स्थायीभाव रति ही है, परन्तु अन्तर इतना है कि यहाँ दिव्या कृष्णविषयक रति ही भक्तिरस के लिए स्थायीभाव मानी गई है।

शान्त रस के विषय में भी मतभेद है। धनञ्जय नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानते हैं।

व्यभिचारी भाव या सञ्चारी भाव ३३ हैं—

(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) (शंका) (४) श्रम (५) धृति (६) जड़ता (७) हर्ष (८) दैन्य (९) उग्रता (१०) चिन्ता (११) त्रास (१२) ईर्ष्या (१३) अमर्ष (१४) गर्व (१५) स्मृति (१६) मरण (१७) मद (१८) सुप्त (१९) निद्रा (२०) विबोध (२१) क्रीड़ा (२२) अपलाप (२३) मोह (२४) मति (२५) आलस्य (२६) आवेग (२७) वितर्क (२८) अवहित्था (२९) व्याधि (३०) उन्माद (३१) विषाद (३२) औत्सुक्य (३३) चापल इत्यादि हैं।

शृङ्गार रस और उसके भेद—

इन रसों में सर्वप्रथम शृङ्गार रस है।

(१) **स्थायी भाव**—रति (नायक तथा नायिका का अनुराग)

(२) **आलम्बन विभाव**—परस्पर एक दूसरे के।
(३) **उद्दीपन विभाव**—चन्द्र-चाँदनी, उद्यानादि।
(४) **अनुभाव**—अनुरागपूर्व चेष्टा में परस्परावलोकनादि।
(५) **व्यभिचारी भाव**—हर्ष, चिन्ता, मद, उत्कण्ठादि।

शृङ्गार के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) सम्भोग शृंगार तथा (२) विप्रलम्भ शृंगार।

एक दूसरे में अनुरक्त नायक नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृंगार सम्भोग शृंगार है—

उदाहरण—

> **शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-**
> **र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।**
> **विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं**
> **लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥१॥**

नायक यहाँ आलम्बन विभाव है, शून्यवासगृह उद्दीपन विभाव है, मुख निर्वर्णन चुम्बनादि अनुभाव हैं, लज्जा, हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे अभिव्यक्त रति की चर्वणा ही शृंगार रस है।

विप्रलम्भ-शृंगार—

विप्रलम्भ शृंगार उसे कहते हैं, जहाँ उत्कट अनुराग होने पर भी प्रिय समागम न हो सके—

यह अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शाप हेतुओं के भेद से पांच प्रकार का होता है।

साहित्य दर्पणकार आदि कुछ आचार्यों ने इसे चार ही प्रकार का माना है—

> **पूर्वानुराग-मानाख्य-प्रवास-करुणात्मना।**
> **विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृंगारं स्याच्चतुर्विधः ॥**

पूर्वानुराग, मान, प्रवास, करुणविप्रलम्भ के भेद से यह चार ही प्रकार का माना है।

विप्रलम्भ सामान्य का उदाहरण—

> **त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया,**
> **मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।**

अस्त्रै स्तावन्मुहुरूपचितै र्दृष्टिरालुप्यते मे,

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ।।२।।

यह पद्य महाकवि कालिदास के मेघदूत का है। प्रिया को उद्देश्य कर वियोगी यक्ष का विलाप इस प्रकार है—

पत्थर की शिला पर गसे आदि धातु के रंङ्गों से तुम्हारा चित्र बनाकर, मैं जब तक चित्र में अपने को तुम्हारे चरणों में गिराना चाहता हूं, तब तक आँसू बढ़कर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर देते हैं। और मैं उस चित्र को पूरा नहीं कर पाता हूं, निष्ठुर दैव उस चित्र में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है, यहाँ नायिका आलम्बन है, उसका प्रणय कोप उद्दीपन है, चरणपातादि अनुभाव हैं। कृतान्त विषयक असूयादि सञ्चारी भाव हैं, इससे अभिव्यक्त विप्रलम्भ रति की चर्वणा ही विप्रलम्भ शृंगार है।

(२) हास्य रस—

विकृत आकार, वेष, चेष्टादिव्यवहार के वर्णन से हास्य रस होता है।

(१) **स्थायी भाव**—हास

(२) **आलम्बन विभाव**—विकृत वेष या विकृत चेष्टायुक्त व्यक्ति

(३) **उद्दीपन विभाव**—अनुपयुक्त वचन, वेषविन्यासादि

अनुभाव—मुख फैलना, आंखों का मींचना आदि

व्यभिचारी भाव—निद्रा, आलस्य, चपलतादि

उदाहरण—

सीस पर गंगा हंसै भुजनि भुजंगा हंसै,

हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में ।।

पद्माकर कविकृत इस पद्य में महादेव जी के विवाह का प्रसङ्ग है, यहाँ महादेवजी आलम्बन हैं, नंगारूप उद्दीपन है, लोगों का लोटपोट कर हँसना अनुभाव है, उत्सुकता चपलता आदि सञ्चारी भाव हैं, इससे अभिव्यक्त हास स्थायी भाव है।

(३) करुण रस—

(१) **स्थायी भाव**—शोक

(२) **आलम्बन विभाव**—कोई मृत व्यक्ति या दीनहीन व्यक्ति,

(३) **उद्दीपन विभाव**—मृतव्यक्ति के दाहविलापादि;

(४) **अनुभाव**—भाग्य को कोसना, रोना इत्यादि;

(५) **सञ्चारी भाव**—निर्वेद, मोह, विषादादि।

उदाहरण—

विपिने क्व जटा निबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ।।३।।

वनवास के लिए उद्यत हुए राम के प्रति दशरथ की यह उक्ति है, यहाँ राम आलम्बन हैं, उनका वनगमनादि उद्दीपन है, दैवनिन्दा अनुभाव है, ग्लानि-विषादादि सञ्चारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त शोक स्थायीभाव की चर्वणा करुण है ।

(४) रौद्र रस—

(१) स्थायी भाव—क्रोध ।
(२) आलम्बन विभाव—अपकारी व्यक्ति या शत्रु
(३) उद्दीपन विभाव—मत्सर या शत्रु कृत अपकारादि ।
(४) अनुभाव—डींगें मारना, शस्त्र चमकाना आदि ।
(५) व्यभिचारी भाव—अमर्ष, मद, उग्रता आदि ।

उदाहरण—

"कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्" इत्यादि—

द्रोणाचार्य का निधन सुनकर अश्वत्थामा की अर्जुनादियों के प्रति यह उक्ति है । यहाँ अपकारी अर्जुनादि आलम्बन हैं, पितृवधादि उद्दीपन हैं, प्रतिज्ञा अनुभाव है गर्वादि सञ्चारी भाव है, इनसे अभिव्यक्त क्रोध स्थायी भाव है ।

(५) वीर रस—

(१) स्थायी भाव—उत्साह
(२) आलम्बन विभाव—शत्रु जिस पर अधिकार प्राप्त करना है ।
(३) उद्दीपन विभाव—शत्रु का प्रताप, शौर्य आदि ।
(४) अनुभाव—हथियारों का चलाना, नेत्रों का लाल होना इत्यादि ।
(५) सञ्चारी भाव—मति, गर्व, धृति इत्यादि ।

इनसे अभिव्यक्त उत्साह स्थायी की चर्वणा ही वीर रस है ।

उदाहरण—

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भाः ।
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।।
सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः ।
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ।।५।।

यह पद्य हनुमन्नाटक का है, लङ्का के युद्ध के समय मेघनाद की यह उक्ति है।

यहां प्रतिपक्षी राम आलम्बन हैं, किञ्चित् भ्रूभङ्ग की ही लीला से समुद्र बन्धन कर देना उद्दीपन है, क्षुद्रावसरों की उपेक्षा और प्रतापशाली राम का अन्वेषण अनुभाव है। ऐरावत हाथी के गण्डस्थल को भेदन करने वाले बाणों का वानरों के शरीर में गिरने से लज्जा का अनुभव करना इससे अभिव्यक्त गर्व सञ्चारी भाव है, राम से लड़ने का उत्साह स्थायी से वीर रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

(६) भयानक रस—

(१) स्थायी भाव—भय।
(२) आलम्बन—शेर आदि भयानक जन्तु या वस्तु विशेष।
(३) उद्दीपन—भयानक वस्तु या जन्तु की चेष्टादि।
(४) अनुभाव—कम्पनादि किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाना।
(५) सञ्चारी भाव—दैन्य, संगम, सम्मोह, त्रासादि।

उदाहरण—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्थावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुत्तत्वाद् वियति वहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥६॥

यह पद्य अभिज्ञान शाकुन्तल का है—राजा दुष्यन्त के रथ से भयभीत आश्रम की ओर भागते हुए मृग का वर्णन है—यहां पीछा करने वाला राजा या रथ, आलम्बन है, बाण लगने का भय या और अनुसरण उद्दीपन है, गर्दन मोड़ कर भागना आदि अनुभाव, और त्रास-श्रम आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त भयस्थायी भयानक रस सामाजिकों के चर्वणा का विषय है।

(७) वीभत्स रस—

(१) स्थायी भाव—जुगुप्सा
(२) आलम्बन—दुर्गन्धमय मांसादि।
(३) उद्दीपन—मांसादि सड़ना, उनमें दुर्गन्ध का आना आदि
(४) अनुभाव—नाक भौं सिकोड़ना आदि
(५) सञ्चारी भाव—आवेग, व्याधि, मोहादि

उदाहरण—

"उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसनि" इत्यादि

यह पद्य मालती माधव नाटक का है, इसमें श्मशान का वर्णन है। श्मशान में किसी प्रेत को मांस भक्षण में लगे हुए देखकर उसकी वीभत्स चेष्टाओं का वर्णन माधव कर रहा है—यहां दरिद्र प्रेत आलम्बन है, मांस नोंचना, खाना आदि उद्दीपन हैं, इस चेष्टा को देखने वाले का नाक भौं सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव है, उद्वेगादि सञ्चारी भाव हैं। जुगुप्सा स्थायी भाव है, इससे सामाजिक में जुगुप्सा प्रकृतिक वीभत्सरस अभिव्यक्त होता है।

(८) अद्भुत रस—

(१) स्थायी भाव—विस्मय।

(२) आलम्बन—कोई अलौकिक या आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ

(३) उद्दीपन—अलौकिक वस्तु का दर्शन, श्रवण या कीर्तन।

(४) अनुभाव—प्रशंसा करना, गद्‌गद् हो जाना।

(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, आवेग, धृति।

उदाहरण—

चित्रं महानेष वतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः, काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥८॥

वामनावतार को देखमर राजा बलि की यह उक्ति है—यहां चित्र शब्द लोकोत्तर वाचक है, इसलिए स्वशब्द वाच्यता दोष नहीं है। वामन आलम्बन हैं, कान्ति तथा गुणों का अतिशय उद्दीपन है, स्तुति आदि अनुभाव हैं, मति, धृति, हर्षादि भाव सञ्चारी हैं, इनसे अभिव्यक्त विस्मय स्थायिक अद्भुत रस है।

(९) शान्त रस—

(१) स्थायी भाव—"शम" (चित्त का शान्त होना) या "निर्वेद" (संसार के प्रति वैराग्य)

(२) आलम्बन—परमात्मा का चिन्तन या जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान।

(३) उद्दीपन—सत्सङ्ग, पुण्याश्रम, तीर्थस्थानादि का दर्शन

(४) अनुभाव—रोमाञ्चित या गद्‌गद् हो जाना,

(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, स्मृति आदि।

उदाहरण—

अहोवा हारे वा कुसुमशयने वा हृषदि वा।
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा॥
वृषे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः।
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलयतः ॥९॥

किसी भगवद्भक्त का अपनी जीवन चर्या का यह वर्णन है—सांप और मुक्ताहार में, फूलों की सेज और पत्थर की शिला में, मणि तथा ढेले में, बलवान शत्रु तथा मित्र में, तिनके में अथवा स्त्रियों के समूह में, समान बुद्धि रखने वाले मेरे दिन किसी पवित्र तपोवन में शिव शिव जपते हुए व्यतीत होते हैं। यहां मिथ्याप्रतीत होने वाला जगत्-आलम्बन है, तपोवनादि उद्दीपन हैं, सर्प व हारादि में समभाव अनुभाव है, धृति, प्रबोध मति, हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त निर्वेद स्थायी भाव से सामाजिक में शान्त रस की अनुभूति होती है।

आचार्य मम्मट के शब्दों में—

"निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः" । इस प्रकार है।

शान्त रस के विषय में आचार्यों की भिन्न भिन्न धारणायें हैं। धनञ्जय ने अपने दशरूपक में तथा धनिक ने उसकी टीका में शान्त रस के विरुद्ध अनेक मतों का उल्लेख किया है।

(१) **शान्त रस प्रस्थान विरुद्ध है।**

साहित्य संसार में भरत मुनि के ही वचन प्रमाण माने जाते हैं, उन्होंने शान्त रस का विशेष विवेचन नहीं किया है, अतःएव भरत द्वारा विशेष अनुभव न होने से शान्त रस नहीं है।

(२) **शम का व्यवहारिक क्षेत्र में अभाव—**

दूसरे आचार्य शम स्थायिक शान्त की सत्ता ही नहीं मानते हैं। प्रथम मत में शम की केवल काव्य और नाटक में मान्यता स्वीकार नहीं है, परन्तु द्वितीय मत ने तो व्यवहारिक क्षेत्र में भी उसकी मान्यता स्वीकार नहीं की। क्योंकि रागद्वेष का प्रवाह मनुष्यों में अनादिकाल से चला आता है, जिसका सर्वथा नाश असम्भव है, ऐसी स्थिति में शान्त रस का उदय ही कैसे हो सकता है।

(३) **तृतीयमत—अन्तर्भाववाद—**

इस मत के आचार्य चित्त की शमप्रधान वृत्ति को तो अवश्य मानते हैं, परन्तु इसका अन्तर्भाव वीरादि रसों में कर देते हैं। शमप्रधान चित्त में परम तत्त्व को पाने के लिए जो प्रयत्न होता है, वह उत्साहमय होने से शान्तरस वीर में ही अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। जब इसमें संसार के विषयों से जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल रहता है, तब इसका अन्तर्भाव वीभत्स रस के भीतर हो जाता है, यह मत व्यवहार में शम का अपलाप तो नहीं करता परन्तु तज्जन्य शान्तरस को स्वतन्त्र नहीं मानता है।

(४) **चतुर्थ मत**—नाटक में शान्त रस का निषेध—

इस मत के अनुसार शान्त रस की स्थिति अवश्य है। परन्तु इनका प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता, व्यापार के विराम होने पर शान्त रस होता है। शान्त रस वहीं होता है। जहां दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है, न द्वेष है, और न चिन्ता, न राग—

न यत्र दुःख न सुखं न चिन्ता,
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः,
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

यह स्थिति तो मोक्षावस्था में ही सम्भव है। नाटक में तो अभिनय होने से व्यापार की ही प्रधानता है। सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि मनोभावों का प्रदर्शन नाटक में अभीष्ट हैं। ऐसी दशा में तो शान्तरस का अभिनय होना ही मुश्किल है।

शान्तरस अनिर्वचनीय होता है। अतः रसिकों के आस्वाद के योग्य न होने से, शान्तरस का प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता यह दशरूपककार का मत है।

(५) **पञ्चम मत**—(शान्त रस की सार्वत्रिक स्थिति)—

अभिनव गुप्त का मत है कि शान्त रस काव्य में तथा नाटक में दोनों में रहता है। पर इसके स्थायी भाव के विषय में मतभेद है, शान्तरस की सत्ता के विषय में मतभेद नहीं है, बल्कि अभिनव गुप्त के मत में तो शान्त रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। यही प्रकृति रस है, शृंगारादि तो इसकी नाना विकृतियां हैं कश्मीर के शैवाचार्य अभिनव गुप्त का शान्त रस का प्राधान्य बोधक यह मत उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल ही है।

(१०) **वात्सल्य रस**—

विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" में इसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है, हिन्दी साहित्यिकों में तुलसी और सूरदास ने इस रस की कविताओं की रचना कर हिन्दी साहित्य को उज्जवल किया है।

इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **स्थायी भाव**—अपने से छोटों में जो प्रेम किया जाता है जैसे—भाई-बहिन-पुत्र-कन्या-शिष्यादि में उसे "वात्सल्य" कहते हैं। यही स्थायी है।

(२) आलम्बन—भाई-बहिन-पुत्र-कन्या आदि ।
(३) उद्दीपन—तोतली बोली आदि उनकी ललित क्रीड़ादि ।
(४) अनुभाव—आलिङ्गन, चूमनादि ।
(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, गर्व, उत्सुकता इत्यादि ।

उदाहरण—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥१०॥

रघुवंश में रघु के शैशवावस्था का यह वर्णन है—यहाँ बालक रघु आलम्बन है, धाई के अनुसार तोतली भाषा में उसकी उक्ति उद्दीपन है। आलिङ्गन चुम्बनादि अनुभाव हैं। हर्षादि सञ्चारीभाव है। इनसे अभिव्यक्त दिलीपनिष्ठ वात्सल्य सामाजिकों के चर्वणा का विषय है ।

(११) भक्ति रस—

भक्ति रस के विषय में आचार्यों में बड़ा मत भेद है। प्राचीन आचार्य इसे देवता विषयक रति मानकर केवल भाव कोटि में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं ।

परन्तु गौडीय वैष्णवों ने इसे रस ही नहीं माना बल्कि सर्वश्रेष्ठ आदि रस माना है। श्रीरूप गोस्वामी के "भक्तिरसामृतसिन्धु" तथा "उज्वलनीलमणि" ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं।

(१) स्थायी भाव—श्री कृष्ण विषयक रति ।

अन्य देव विषयक रति तो केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा ही हैं। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" अतः परमात्मस्वरूप कृष्ण विषयक रति, देवविषयक रति से भिन्न पदार्थ है। वही यहाँ स्थायी भाव है।

(२) आलम्बन—श्रीकृष्ण रामादि
(३) उद्दीपन—भक्तों समागम, तीर्थसेवनादि
(४) अनुभाव—भगवान् के नाम व लीलाओं का कीर्तनादि ।
(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, वितर्क, आदि ।

उदाहरण—

गणिकाऽजामिल मुख्यानवता भवता वताऽहम् ।
सीदन् भवमरुगर्ते करुणा मूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः ॥११॥

अथवा

व्याध हूँ ते बेहद असाधु हों अजमिल लों ।
ग्राह ते गुमाही कैसे तिनमों गिनाओगे
..................कैसे अपनाओगें, इत्यादि ।

यहां कवि या भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करता है और क्षमा की याचना के अभिप्राय से विनती कर रहा है। भगवान् आलम्बन विभाव हैं तथा भगवद् विषयक रति स्थायीभाव है, पूर्णभक्ति चर्वणा का विषय है।

मूल रस—

इस प्रकार रसों की संख्या आठ से लेकर ग्यारह तक पहुँच चुकी है। किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से अलग अलग मूल रसों की कल्पना की है। स्वयं भरत मुनि ने आठ रसों का मूल शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को माना है। इन चारों को प्रधान मानकर शेष रसों की उत्पत्ति भी इन्हीं से मानी है—

शृङ्गादि भवेद्हास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः ॥१॥

एकरसवाद—

इसके अतिरिक्त अपनी अपनी दृष्टि से किसी एक रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्य शास्त्र में पायी जाती है।

इस विषय में निम्नलिखित मतों का उल्लेख किया जा सकता है।

(१) महाकवि भवभूति ने करुणरस को ही एक मात्र रस मानकर अन्य रसों को उसी का विवर्त माना है।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् ।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान् ।
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥२॥

(२) भोजराज ने अपने "शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है—

शृङ्गार वीर-करुणाद्‌भुत-रौद्र-हास्य ।
वीभत्स-वत्सल-भयानक शान्त नाम्नः ॥

आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु ।
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥३॥

(३) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्वज नारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का निर्देश किया है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥४॥

(४) अभिनव गुप्त ने शान्त रस को ही एक मात्र मूल रस प्रतिपादन करते हुए अभिनव भारती में लिखा है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥५॥

रसों की सुख-दुःखरूपता—

रसों की अलौकिकता के साथ साथ उनकी सुखदुःखरूपता का भी प्रश्न प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय में प्रायः तीन प्रकार के मत हैं।

(१) अभिनव गुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक माना है उनका कहना है, शृङ्गारादि चार रसों में सुख की मात्रा अधिक है और शेष रौद्र, भयानक वीभत्स, व करुण में इनमें दुःख की प्रधानता हैं। पर आंशिक रूप में सुख भी रहता है। केवल शान्त रस पूर्ण सुखात्मक है।

(२) नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र व ग्रणचन्द्र का मत विभज्यवादी है, उन्होंने शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत, और शान्त रस को सर्वथा सुखात्मक माना है, और शेष चार रसों को सर्वथा दुःखात्मक माना है।

(३) धनिक धनञ्जय विश्वनाथ मम्मटादि सभी रसों को नितान्त सुखरूप मानते हैं। इन लोगों ने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक माना है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ (सा० दण्ड) ॥

भाव का लक्षण—

भवन्तीति या भावयन्तीति भावाः दो प्रकार से भाव की व्युत्पति हो सकती है।

मम्मट ने इसका लक्षण किया है—

रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥३५॥

भावः प्रोक्तः।

देवादि विषयक रति तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी (३३) भाव कहलाते हैं।

उदाहरण—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वा चरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

नारद जी के आने पर श्रीकृष्ण उनका स्वागत करते हुए कह रहे हैं—

आपका दर्शन प्राणियों की "वर्तमान, भूत, भविष्यत्" तीनों कालों में योग्यता को प्रकट करता है। क्योंकि वर्तमान काल में पाप का नाश करता है, भविष्य में प्राप्त होने वाले कल्याण का कारण बनता है, और पूर्व के पुण्य से प्राप्त होता है।

यहाँ श्रीकृष्ण निष्ठ मुनि विषयक रति होने से भाव ध्वनि है।

इसी प्रकार गुरु राजा, पुत्रादि विषयक रति भी भाव ही होते हैं।

यही रस और भावों का यदि अनुचित वर्णन किया जाए तो क्रमशः रसाभास व भासाभास कहलाते हैं।

प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारिभावों में यदि अन्य पदार्थ से यदि किसी भाव की निवृत्ति हो जाय तो वहाँ भाव की शान्ति होती है।

उसी प्रकार अन्य भाव के अपसरण परस्पर प्रधान भाव का जहाँ उदय होता है उसे भावोदय कहते हैं। अभिव्यक्त दो भावों के सम्मिलन में भावसन्धि होती है। अभिव्यक्ति बहुत से भावों के समुदाय को भावशबलता कहते हैं।

रस ब्रह्म अलंकार—

मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी कभी कभी ये भाव शान्त्यादि भी अङ्गित्व को प्राप्त करते हैं—

ऐसी स्थिति में रसवत् अलङ्कार होता है। **मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।**

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि के भेद—

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि तीन प्रकार का होता है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि	अर्थ श० उ० ध्वनि	उभय श० उ० ध्वनि
१	२	३

(१) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—

प्रधानतया जहाँ शब्द शक्ति के द्वारा वस्तु और अलंकार अभिव्यक्त होय उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं—

शब्दशक्ति के द्वारा वस्तु की अभिव्यक्ति—

चिर जीवों जोरी जुरे क्यों न सनेह गम्भीर।
को धरि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर॥

विहारी का यह दोहा शब्द शक्ति ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है। वृषभानुजा और हलधर इन शब्दों के सामर्थ्य से दूसरा अर्थ गाय बैल वाला भी अभिव्यक्त होता है यही इन शब्दों से अभिव्यक्त वस्तु है।

शब्द शक्ति के द्वारा अलंकार ध्वनि अभिव्यक्ति—

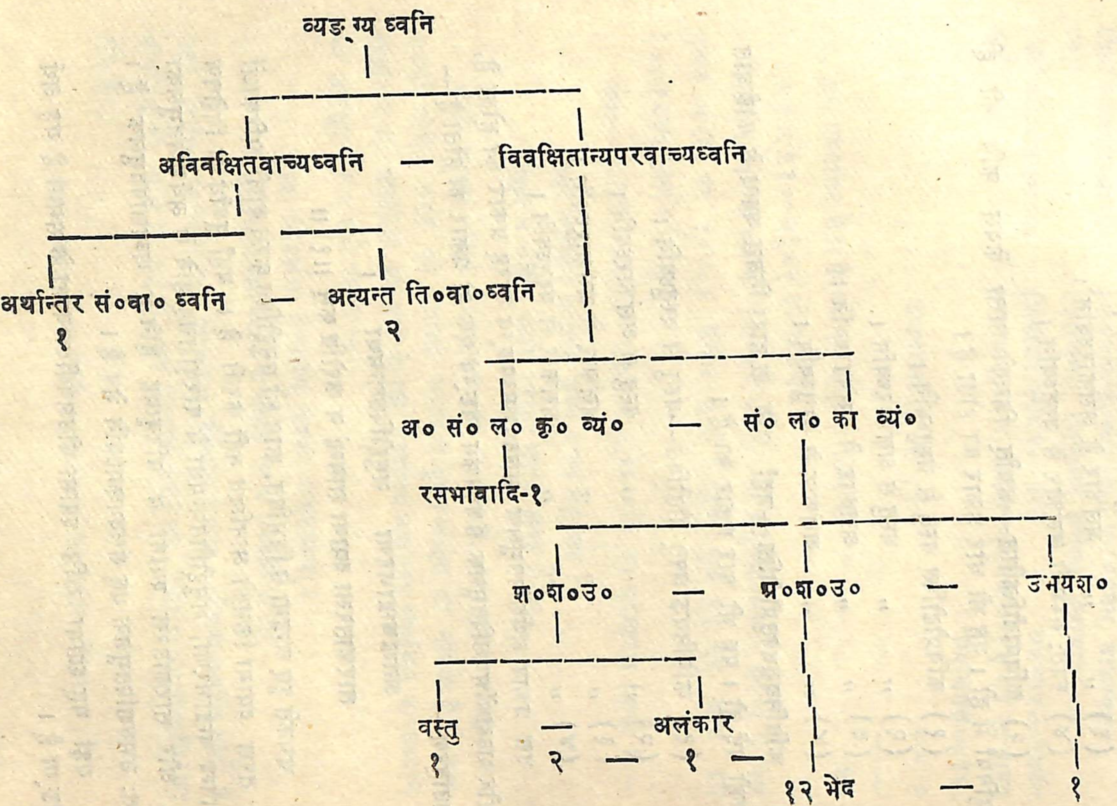
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्यै कलाश्याध्याय शूलिने॥

विना सामग्री और विना आधार भित्ति के नाना प्रकार के जगत् रूप चित्र का निर्माण करने वाले (अन्यचित्रकारों से विलक्षण) शिरस्थित चन्द्रमा की कला से श्लाघनीय उस शिव को नमस्कार है।

अन्य कलाकार तूलिका रंग आदि सामग्री से ही चित्र तैयार करता है, परन्तु यहाँ भगवान् शिव बिना किसी आधार व बिना किसी सामग्री के ही जगत् रूपी चित्र को उत्पन्न कर देते हैं अतः निरुपादान, "अभित्तौ" इत्यादि शब्दों से शिव का व्यतिरेक अभिव्यक्त होता है।

अतः यहाँ शब्दशक्तिसमुत्थ अलंकारध्वनि है। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूलक भेद दो हुए, और अर्थशक्तिमूलक भेद बारह होते हैं और उभयशक्तिमूलक भेद एक है।

संक्षेप में मुख्य ध्वनि भेद इस प्रकार दिखलाये जा सकते हैं—


व्यङ्ग्य ध्वनि
अविवक्षितवाच्यध्वनि — विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि
अर्थान्तर सं०वा० ध्वनि — अत्यन्त ति०वा०ध्वनि
१ २
अ० सं० ल० क्र० व्यं० — सं० ल० का व्यं०
रसभावादि-१
श०श०उ० — अ०श०उ० — उभयश०
वस्तु — अलंकार
१ २ — १ —
१२ भेद — १

यह अर्थशक्तिमूलक बारह प्रकार का ध्वनि भेद इस प्रकार है—

(१) स्वतः सम्भवी अर्थशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—

जिस अर्थ की लोक में भी सत्ता हो उससे अभिव्यक्त व्यङ्ग्य यह चार प्रकार का होगा—

(१) स्वतःसम्भवी—वस्तु से वस्तुध्वनि।
(२) ,, ,, वस्तु से अलंकारध्वनि।
(३) ,, ,, अलंकार से अलंकारध्वनि।
(४) स्वतः सम्भवी अलंकार से वस्तुध्वनि।

(२) **कविप्राढोक्तिसिद्ध**—अर्थात् जिसकी सत्ता केवल कवि की ही दुनियाँ में हो। यह भी चार प्रकार का होता है।

(१) कविप्रोढोक्ति वस्तु से वस्तुध्वनि।
(२) ,, ,, वस्तु से अलंकारध्वनि।
(३) ,, ,, अलंकार से अलंकारध्वनि।
(४) ,, ,, अलंकार से वस्तुध्वनि।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति—जहाँ कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता से कोई बात कही गई हो। यह भी चार प्रकार का है।

(१) कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति—वस्तु से वस्तुध्वनि।
(२) ,, ,, ,, वस्तु से अलंकारध्वनि।
(३) ,, ,, ,, अलंकार से अलंकारध्वनि।
(४) ,, ,, ,, अलंकार से वस्तुध्वनि।

इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य बारह प्रकार का होता है, और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एक ही प्रकार का होता है—

उदाहरण—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥१५॥

चमकते हुए चन्द्रमा से विभूषित, काम को समुद्दीपित करने वाली तारिकाओं से तरल श्यामा किसको आनन्दित नहीं करती है। यहाँ पूर्वार्ध के विशेषण आनन्द चन्द्राभरणा, समुद्दीपितमन्मथा ये परिवृत्तिसह होने से अर्थशक्तिमूलका हैं, और तारकातरल श्यामा ये परिवृत्यह होने से शब्दशक्तिमूलक हैं। अतः उभयशक्तिमूलक यह संलक्ष्यक्रमध्वनि भेद है।

यहाँ यह श्यामा रात्रि श्यामा षोडशवर्षीया बाला के समान है यह अर्थ व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार सब मिलाकर ध्वनि के अठारह भेद हुए।

अष्टादशध्वनि का विस्तार—५१ भेद।

अविवक्षित वाच्यध्वनि—{अर्थान्तर सं० वाच्य—पदगत-वाक्यगत-२
अत्यन्ततिर० वाच्य—पदगत-वाक्यगत-२

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि —{असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—रस पदगत, वाक्यगत, पदांशगत, रचनागत, वर्णगत, प्रबन्धगत = ६

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि —{शब्दशक्त्युद्भव—वस्तु व अलंकार = पदगत वाक्यगत = ४, अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद पद वाक्य प्रबन्धगत = ३६,

उभयशक्त्युद्भव = १— —१

इन एक्यावन भेदों के परस्पर संसृष्टि होने से = ५१

५१ × ५१ = २६०१ हो जायेंगे।

तीन प्रकार के संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि = चार प्रकार से फिर गुणन करने पर १०४०४ संख्या होगी। पुनः शुद्ध ५१ भेद जोड़ देने से = १०४५५ध्वनि भेद हुए।

यथा—पदद्योत्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण हिन्दी में—

राधा अतिगुन आगरी स्वर्न वरन तनु रंग।
मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥१॥

यहाँ पहला मोहन शब्द कृष्ण का वाचक है, पर दूसरा मोहन शब्द सबको मोहित करने की सामर्थ्य आदि से युक्त मोहन का बोधक है। अतः अर्थान्तर में संक्रमित हो जाने से यह पदद्योत्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण है। इसी प्रकार—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥२॥

यहाँ द्वितीय मित्रादि शब्द अश्वस्त, नियन्त्रणीयत्व, स्नेहपात्रत्वादि अर्थों में संक्रमित हो जाने से यह भी पद प्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का भेद है।

॥ काव्यप्रकाश में ध्वनिनिरूपण नामक चतुर्थ उल्लास ॥

———

पञ्चम उल्लास

गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद (मध्यमकाव्य)—

ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों का भेद सहृदयों के अनुभव के आधार पर किया जाता है। सहृदयमात्र संवेद्य व्यङ्ग्य होने पर ही ध्वनि काव्य कहलाता है। सहृदय से भिन्न सामान्य व्यक्ति भी जिस व्यङ्ग्य को अनायास ग्रहण कर ले वह अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण वाच्यार्थ के समान ही हो जाता है, कहीं-कहीं व्यङ्ग्य का चमत्कार वाच्य की अपेक्षा मन्द पड़ जाता है। ऐसी दशा में जहाँ व्यङ्ग्य अगूढ स्पष्ट वाच्यवत् रहे, या वाच्य से न्यून रहे, अथवा व्यङ्ग्य की प्रतीति सहृदयों को सरलता से न हो सके इन सभी दशाओं में गुणीभूत व्यङ्ग्य मध्यम काव्य ही होता है।

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्य सिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ॥

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्, (२) अपरस्य—दूसरे का अङ्ग व्यङ्ग्य, (३) वाच्यसिद्धि का अङ्गभूत व्यङ्ग्य, (४) अस्फुट व्यङ्ग्य, (५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य, (६) तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य, (७) काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्य, (८) असुन्दर व्यङ्ग्य।

(१) **अगूढ व्यङ्ग्यम्—असहृदयैरपि झटिति संवेद्यम्**=अत्यन्त स्पष्ट होने से असहृदयों को भी वाच्यवत् प्रतीत हो।

(२) **अपराङ्ग व्यङ्ग्यम्—अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा अङ्गम्**—ऐसा व्यङ्ग्य जो रस भाव रसाभास भावाभासादि का या वाच्य का भी अङ्ग साधक उपकारक हो।

(३) **वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्यम्—वाच्यसिद्धेरङ्गं निदानं वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तदिति यावत्**—अर्थात् ऐसा व्यङ्ग्य जिसके अधीन वाच्यार्थ की सिद्धि हो, जिसकी सहायता के बिना वाच्यार्थ ही सम्पन्न न हों, व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष वाच्यार्थ।

(४) **अस्फुटव्यङ्ग्यम्—सहृदयानामपि दुःखसंवेद्यम्**, जिसका समझना सहृदयों के लिए भी कठिन है, ऐसा व्यङ्ग्य।

(५) **सन्दिग्ध प्राधान्यव्यङ्ग्यम्—सन्दिग्धं चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्योः सन्देहविषयभूतं प्राधान्य यत्र तत्।** वाच्य और व्यङ्ग्य के चमत्कार की प्रधानता में जहाँ सन्देह हो।

(६) **तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्यम्—तुल्यमर्थाद् वाच्येन तुल्यं प्राधान्यं यत्र तत्।** जहाँ वाच्य का व व्यङ्ग्य का चमत्कार बराबर रहे।

(७) **काक्वाक्षिप्तं व्यङ्ग्यम्—काकुर्ध्वनेर्विकारः, तया आक्षिप्तं झटिति प्रकाशितम्, यया काक्वा विना वाच्यार्थ एव नात्मानंलभते तया प्रकाश्यमिति।**

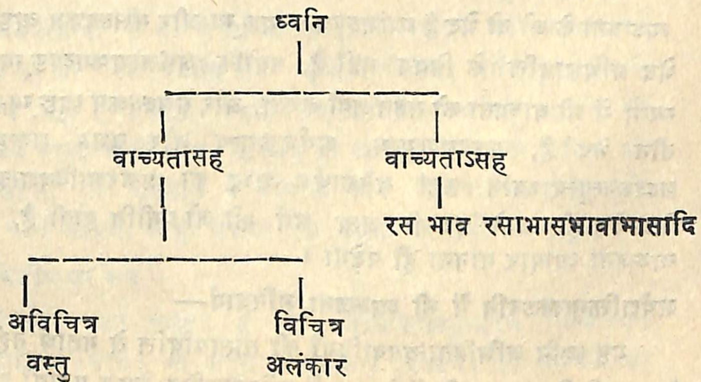
जिस काकु के बिना वाच्यार्थ ही सङ्गत न हो।

(८) **असुन्दरं व्यङ्ग्यम्—स्वभावादेव वाच्यापेक्षयाऽचारु।** वाच्य की अपेक्षा जिस व्यङ्ग्य का चमत्कार सुन्दर न हो।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के मुख्य भेद ये ही हैं। ध्वनि के भेदों की तरह इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की भी संकर व संसृष्टि के द्वारा गणना करने से भेद संख्या बहुत अधिक हो सकती है। प्रकृत में उसका कोई अधिक उपयोग नहीं है। अतः निरर्थक गणना का परिश्रम नहीं करना है। यदि कहीं वस्तु से अलङ्कार की अभिव्यञ्जना हो तो ऐसा काव्यभेद, गुणीभूत व्यङ्ग्य का न होकर ध्वनि का होगा। यह आनन्दवर्धनाचार्य का मत है—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गतां तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

संक्षेप में व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। इसमें रसादि रूप व्यङ्ग्य वाच्यता को सहन नहीं करता। अन्य वस्तुरूप और अलंकार रूप व्यङ्ग्य, कभी-कभी अन्य दशा में वाच्य भी हो सकता है।



व्यञ्जना की स्थापना—

अभिधा व लक्षणा की चर्चा तो अन्य शास्त्रों में भी यत्र तत्र होती ही रहती है। प्रायः शास्त्रीय चर्चा में सर्वत्र अपने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अभिधा वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। कहीं-कहीं अत्यावश्य प्रमेय के प्रतिपादन के लिए, यदि अभिधावृत्ति विवक्षित तात्पर्य को समझाने के लिए समर्थ न हो तो वहाँ लक्षणा वृत्ति का भी आश्रय लिया जाता है।

इन्हीं प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध वृत्तियों की परिधि में शास्त्र चर्चा चलती है, परन्तु साहित्यशास्त्र में तो केवल अभिधा या लक्षणा वृत्ति से ही काम नहीं चलता है। साहित्यिक गोष्ठी या कवि गोष्ठी में तो इन वृत्तियों को उतना सम्मान नहीं दिया जाता है, जितना कि व्यञ्जना वृत्ति का सम्मान है, जहाँ न गतासि का अर्थ अवश्यमेव गतासि हो जाता है, भ्रम का अर्थ मा भ्रम हो जाता है, अर्थात्—विधि का निषेध में पर्यवसान और निषेध का विधि में पर्यवसान हो जाता है, ऐसे स्थलों में बेचारी इस प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध वृत्तियों की पहुँच ही कहाँ।

जहाँ व्यङ्ग्य वस्तु के ही विषय में, (जोकि ध्वनि का स्थूल भेद है, साथ ही साथ दशाविशेष में वाच्यतासह भी है,) ही यह बात है, वहाँ वाच्य वृत्ति से जो अत्यन्त दूर रसभावादिध्वनि है, उसके विषय में तो कहना ही क्या, रसादिध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं है, फिर उस रसादि लक्षण अर्थ का बोधन कराने में अभिधादि वृत्तियाँ कहाँ तक समर्थ हो सकती हैं। अतः रसादि अर्थ के बोध के लिए अभिधा लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना को अवश्य मानना चाहिए जैसा कि विश्वनाथ कविराज का कहना है—

"वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा तात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्यावृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥१॥

शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि, अभिधा से गतार्थ नहीं हैं—अभिधामूला व्यञ्जना के जो दो भेद हैं असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ये दोनों भेद अभिधावृत्ति के विषय नहीं हैं, क्योंकि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्यता को सहन नहीं करता, और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनि के जो तीन भेद हैं, शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ, इसमें शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि जहां अनेकार्थक शब्द का प्रकरणादिवशात् एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी अन्य अर्थ की जो प्रतीति होती है, उसके लिए व्यञ्जना व्यापार मानना ही पड़ेगा।

अर्थशक्तिमूलकध्वनि में भी व्यञ्जना अनिवार्य—

यह ध्वनि अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति से गतार्थ नहीं हो सकती है। अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधाशक्ति केवल पदार्थों की उपस्थिति

कराती है। पदार्थों के परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए एक तात्पर्या नाम की वृत्ति माननी पड़ती है। जब वाक्यार्थ ज्ञान के लिए ही अलग से तात्पर्या नाम की वृत्ति माननी पड़ती है, तो वाक्यार्थ के बाद में प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के लिए तो अवश्य ही व्यञ्जना वृत्ति माननी पड़ेगी। अर्थात् जाति में संकेतग्रह होने से सामान्यरूप पदार्थों का परस्पर संसर्गरूप विशेष, जहाँ पदों से उपस्थित न होकर "आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधि रूप तात्पर्यावृत्ति से उपस्थित होता है, वहाँ वाक्यार्थ बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की तो बात ही क्या ?

अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जना आवश्यक—

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर आदि जो संकेतग्रह का प्रधान साधन व्यवहार को मानते हैं, क्योंकि उत्तम मध्यमादि वृद्धों के "गामानय" इत्यादि वाक्यों के व्यवहार से ही सर्वप्रथम बालक को संकेत ज्ञान होता है।

इनके मत में "गां, अश्वं" ये पद विशेष होते हुए भी दोनों में रहने वाले सामान्य "कर्मत्व" रूप से ही "आनय" के साथ अन्वित होते हैं। यह उनका सामान्य विशेष हुआ, पर गोत्व और अश्वत्व या गौ और अश्व आदि अति विशेष हैं। यह अति विशेषरूप अर्थ भी वाक्यार्थ में प्रतीत होता है, पर इसमें संकेतग्रह नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति में सङ्केतग्रह करने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनके मत में यहाँ तीन चीजें हैं— (१) सामान्य=गाम्—अश्वम् आदि सामान्यरूप से अन्विततत्वमात्र; (२) सामान्यविशेष का अर्थ है, कर्मत्वादिरूप से अन्वितत्व "गामानय" इत्यादि। (३) अतिविशेष का अर्थ है, गो अश्वादि व्यक्ति विशेष के साथ अन्वितत्व।

अन्विताभिधानवादी के मत में अन्वित में शक्ति मानने से अन्वित वाक्यार्थ के भासित होने पर भी "अतिविशेष अर्थ" (व्यक्तिविशेष) असंकेतित होने के कारण वाच्यार्थ नहीं हो सकता, उसके लिए अतिरिक्त शक्ति मानने की जरूरत है। जब वाक्यार्थ के बोध के लिए ही अभिधा से भिन्न शक्ति की आवश्यकता होती है, तो वाक्यार्थ के बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा से हो सकेगा ऐसा कहना तो सर्वथा असङ्गत है।

मीमांसक एक देशीय का मत—

किसी मीमांसक का कहना है कि **"नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"** नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की

जाती है। अतः व्यङ्ग्यार्थ जो नैमित्तिक (या कार्य) है, वह किसी न किसी शब्द से ही प्रतीत होता है, अतः शब्द को ही उस प्रतीति में निमित्त मानना पड़ेगा और निमित्त दो ही प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक।

व्यङ्ग्यार्थ के प्रति शब्द का निमित्तत्व कारकत्वरूप नहीं हो सकता है अपितु ज्ञापकत्व या बोधकत्वरूप ही होगा। व्यङ्ग्यार्थ के साथ इसका बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा, यह बोध्यबोधक-सम्बन्ध अभिधाशक्ति ही है, क्योंकि शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा ही है। जब अभिधा व्यापार से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध हो जाता है तो फिर अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है।

व्यञ्जनावादी की तरफ से उत्तर—

आपके मतानुसार शब्द से जो व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसमें शब्द केवल ज्ञापकत्व निमित्तत्व है, परन्तु यह ज्ञापकत्वरूपनिमित्त शब्द तब बन सकता है, जब उस अर्थ में उस शब्द का सङ्केतग्रह हो।

आपके सिद्धान्तानुसार सङ्केत केवल सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही गृहीत होता है। विशेष में सङ्केतग्रह नहीं होता, इसलिए निमित्तरूप शब्द का जब तक व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थ के साथ निश्चितरूप से सम्बन्ध या संकेतग्रह न हो तब तक अभिधा से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकती है।

क्योंकि कहीं भी व्यंग्यार्थ में संकेतग्रहण नहीं है। इसलिए निश्चित संकेतग्रह के अभाव में **"नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"** यह कथन भी अविवेकपूर्ण है।

भट्टलोल्लट का पूर्वपक्ष—

भट्टलोल्लट भी मीमांसानुयायी हैं, वे भी व्यंजना वृत्ति को नहीं मानते। उनके मत में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधाव्यापार से ही हो जाती है, इस पर इन्होंने एक बाण का दृष्टान्त दिया है **"सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः"** यह अभिधाव्यापार भी बाण की तरह दीर्घ दीर्घतर होता जाता है। जैसे किसी बलवान के द्वारा प्रयुक्त एक ही बाण शत्रु का वर्म भेदन, चर्म भेदन तथा मर्म भेदन कर देता है, अभीप्सित कार्य करने तक बीच में विश्राम नहीं करता है, इसी प्रकार एक ही अभिधा व्यापार पदार्थोपस्थिति, अन्वय बोध व व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी करा सकता है। जहां तक वक्ता का तात्पर्य हो वह सब अभिधा वृत्ति द्वारा ही बोधित हो जाता है, और यह तात्पर्य अभिधेय तक ही सीमित रहे यह बात भी नहीं।

आचार्य धनिक की भी यही सम्मति है, कि तात्पर्य कोई तराजू से तोली हुई चीज नहीं है, अपितु जहाँ वक्ता को अर्थ की जरूरत रहती है, वहां तक उन शब्दों का तात्पर्य समझा जाय।

तात्पर्य व्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।
यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुला धृतम् ।। इति ।।

क्योंकि जिस अर्थ में जिस शब्द का तात्पर्य रहता है, वही उस शब्द का अर्थ है कहा भी है "**यत्परः शब्दः स शब्दार्थः**" इति । अतः "**निश्शेषच्युतचन्दनमिति**" इत्यादि शब्दों का "नायकान्तिकगमनरूप" जो विधि है, वह तात्पर्य विषय होने के कारण वाच्य ही है न कि व्यङ्ग्य ।

व्यञ्जनावादी का समाधान—

पूर्वपक्षी ने "**यत्परः शब्दः स शब्दार्थः**" इस वैदिक वाक्य का तात्पर्य जो यह निकाला है कि लक्ष्य व्यङ्ग्य आदि सभी अर्थों को वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिए, वस्तुतः वह मीमांसा शास्त्र के नियमों के अनुसार उक्त वाक्य के तात्पर्य का अनभिज्ञ ही है, क्योंकि उक्त वाक्य—"**यत् परः शब्दः स शब्दार्थः**" इस न्याय का अर्थ मीमांसकों ने इस प्रकार किया है—

"**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**" इत्यादि वैदिक वाक्यों में कहीं केवल होम क्रिया का विधान होता है, कहीं 'दध्ना जुहोति' जैसे वाक्यों में होम के पूर्व वाक्य से प्राप्त होने के कारण केवल दधिरूप साधनद्रव्य का विधान अभिप्रेत होता है, कहीं "सोमेन यजेत" जैसे वाक्यों में सोम और याग दोनों के अप्राप्त होने से दोनों का विधान अभिप्रेत होता है ।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्यों में जहां जितना अंश प्रमाणान्तर से अप्राप्त होता है, उतने अंश का विधान अभिप्रेत होता है, जैसे अग्नि अदग्ध का ही दहन करता है, उसी प्रकार वैदिक वाक्य या विधिवाक्य भी अप्राप्त का ही विधान करते हैं । ऐसी स्थिति में जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का विधेय या तात्पर्य अथवा प्रतिपाद्य होता है यही "**यत्परः शब्दः स शब्दार्थः**" का अर्थ है ।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ सब शब्द का वाच्यार्थ ही होता है, यह अर्थ "**यत्परः शब्दः स शब्दार्थः**" इस वाक्य का कदापि नहीं है । यदि यही अर्थ इस वाक्य का होता तो कुमारिलभट्ट आदि मीमांसक भी लक्षणावृत्ति को क्यों मानते, अतः भट्टलोल्लटादि जो मीमांसक इस तात्पर्य वाचोयुक्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही सिद्ध करना चाहते हैं, वे उस वाक्य का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते हैं, स्वयं अपने शास्त्र के अर्थ को न समझने के कारण मम्मट ने इनको 'देवानां प्रियः' (मूर्ख) कहा ।

उक्त "**यत्परः शब्दः स शब्दार्थः**" इस वाक्य का अभिप्राय ग्रन्थकार इस प्रकार समझाते हैं—

"भूतं भव्याय उपदिश्यते" भूत का अर्थ है सिद्ध कारकादि पदार्थ। भव्य का अर्थ है साध्य क्रियारूप। इन दोनों का जहां सहोच्चारण हो वहां भूत सिद्ध का भव्य साध्य के लिए उपदेश होता है। अर्थात् सिद्ध-भूत भव्य साध्य के अङ्गरूप में उपदिष्ट होता है, क्योंकि **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"** इस नियम के अनुसार वेद के क्रियापरक विधि निषेध परक होने से अक्रिया स्वरूप जो सिद्ध भाग है वह क्रियारूप साध्य का अंश बन जाता है, अतः क्रियारूप विधि अंश की ही प्रधानता रहती है।

यही 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' इस वाक्य का अर्थ है। जैसे **"लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति"**—यह वाक्य श्येन याग के प्रकरण में आया है, श्येन याग एक विकृति याग माना जाता है, ज्योतिष्टोम याग इसका प्रकृति याग है, **"यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः"** इसी को प्रधान याग कहते हैं। प्रकृति याग के साथ अनेक विकृति याग भी वर्णित होते हैं। इन विकृति यागों में विशेष नवीन अङ्गों का ही वर्णन होता है, **"प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या"** इस नियम के अनुसार शेष सारी विधियां प्रकृति की तरह की जाती हैं।

ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति याग में **"सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति"** इस वाक्य के द्वारा ऋत्विक्-प्रचरण का विधान किया हुआ है, श्येन याग में **"प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या"** इस नियम के अनुसार यहां ऋत्विक् प्रचरण स्वयं प्राप्त है, न तो यहां उष्णीष का विधान है और न ही प्रचरण का विधान है ये तो सब ज्योतिष्टोम वाले वाक्य से प्राप्त ही हैं। केवल यहां उष्णीष के लौहित्य (लालरङ्ग) का विधान अभिप्रेत है। इतना ही इस वाक्य का अर्थ है, अतः **"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः"** यह वाक्य इसी अर्थ को सूचित करता है।

इसी प्रकार **"दध्ना जुहोति"** इत्यादि वाक्य में भी दधि-द्रव्य है, द्रव्य सिद्ध होता है, साध्य नहीं, पर कभी कभी यह भी साध्य की तरह प्रतीत होता है।

अङ्गरूप से विधान किये गये इस सिद्ध पदार्थ का भी प्रधान क्रिया से सम्बन्ध होने से साध्य की तरह प्रतीति होती है, प्रकृत में हवन का अन्य प्रभाव से विधान हो जाने से केवल दधि का करणत्वमात्र से विधान किया गया है। इसी प्रकार कहीं दो या तीन पदार्थों का भी विधान होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका विधान किया जाता है, उसी में शब्द का तात्पर्य रहता है, और जो शब्द वाक्य में आये हैं उन्हीं उपात्त शब्दों में ही किसी के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रहता है।

मीमांसक की ओर से पुनः शङ्का—

मीमांसक पुनः आशङ्का करता है कि यदि वाक्यान्तर्गत उपात्त शब्दों के अर्थ में ही यदि वाक्य का तात्पर्य है तो फिर **"विषं भक्षय मा चास्य गृहे**

भुङ्क्था:"—"विष खा ले, पर इसके घर भोजन मतकर" अर्थात् इसके घर का भोजन विष से भी भयंकर है, अत: नहीं खाना चाहिए यह तात्पर्य उपात्त शब्दों में नहीं हैं, आपने कैसे कह दिया कि वाक्य में उपात्त शब्दों में ही तात्पर्य रहता है।

व्यञ्जनावादी का समाधान—

यहाँ **"विषं भक्षय"** इत्यादि वाक्य को यदि अलग-अलग वाक्य माना जाय तो इस वाक्य का अर्थ असङ्गत हो जायेगा क्योंकि यह किसी मित्र का वाक्य है, कोई मित्र अपने मित्र को विष खाने की सलाह नहीं देगा, इसलिए विषभक्षण का आदेश देने वाला यह वाक्य स्वयं में अपूर्ण है, इसलिए **"मा चास्य गृहे भुङ्क्था:"** इस दूसरे वाक्य के साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक है, अत: विषभक्षण वाक्य स्वयं अनुपपन्न होने के कारण दूसरे वाक्य का अङ्ग बन जाता है, और अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से दोनों की एकवाक्यता हो जाती है। एक वाक्यता हो जाने पर उपात्त शब्द में ही तात्पर्य आ जाता है, अतः 'उपात्तस्यैव शब्दास्यार्थे तात्पर्यम्' इस नियम की सङ्गति हो जाती है।

यदि यह कहा जाय कि शब्द श्रवण के बाद जितने भी अर्थ की प्रतीति होती है वह सब अभिधा व्यापार का ही विषय है, तो किन्हीं वाक्यों के श्रवणानन्तर मुखादि का विकास व सङ्कोच होता है, वह भी अभिधा व्यापार का ही विषय क्यों नहीं माना जाता है, क्यों वह अनुमान का विषय माना जाता है। फिर दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार से ही सारे अर्थों की सिद्धि हो जाने पर, लक्षणा व्यापार की भी क्या आवश्यकता है, जिसको आपने भी स्वीकार किया है। और आपके मीमांसादर्शन में माने हुए "श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्या" इन छ: प्रमाणों की पूर्वपूर्व की बलवत्ता क्यों मानी जाती है? अर्थात् यदि शब्द श्रवण के बाद प्रतीत होने वाले सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है तो न लक्षणा की आवश्यकता है, और न श्रुति आदि प्रमाणों की प्रबलता-दुर्बलता का निश्चय ही हो सकता है। इसीलिए अन्विताभिधान वाद में भी **नि:शेषच्युतचन्दनम्** इत्यादि स्थलों में निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीति होने वाले विधि की व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

नित्यानित्य दोष की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जना-वृति आवश्यक है।

वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव यदि नहीं माना जाय तो असाधुपदत्व (च्युतसंस्कारत्व) आदि नित्य दोषों का, और कष्टत्व (श्रुतिकटुत्व) आदि अनित्य दोषों का विभाग भी नहीं बन सकता है।

वाच्यवाचक भाव से पृथक् व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को स्वीकार करने पर तो व्यङ्ग्य के अनेक प्रकार होने से कहीं किसी के औचित्य के कारण (अर्थात् श्रुतिकटुत्वादि की क्वचित् शृङ्गारादि रसों में ही वर्जनीयता रहेगी, अन्यत्र तो उनकी उपादेयता होगी) विभाग व्यवस्था बन ही जाती है। इसी लिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को मानना ही चाहिए।

गुणों की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जना जरूरी—

यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव न माना जाय तो कुमारसम्भव में आये हुए **"समागम प्रार्थनया कपालिनः"** इस पद्य में शिव के वाचक पिनाकीन, आदि पदों की अपेक्षा कपाली आदि पदों का काव्यानुगुणत्व तथा अभिमतरसाभिव्यञ्जकत्व कैसे माना जा सकता है।

महाकवि कालिदास निर्मित कुमारसम्भव का यह पद्य इस प्रकार है—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।

इस पद्य में शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाली पार्वती के परीक्षा करने के लिए ब्रह्मचारी का वेष धारण करके आए हुए शिव जी, पार्वती की शिव-समागम की इच्छा का उपहास करते हुए कह रहे हैं, पहिले अकेली चन्द्रकला ही शोचनीय थी, अब तुम दोनों की दशा शोचनीय हो गयी है। यहाँ कवि ने शिव के वाचक पिनाकी आदि शब्दों को छोड़कर "कपाली" शब्द का ही विशेष रूप से जो प्रयोग किया है, उससे जिन दरिद्रता, वीभत्सता आदि अनेक गुणों का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, वह शिवजी के वाचक "पिनाकी" आदि शब्दों से व्यक्त नहीं होता है। उसी के आधार पर शोचनीयता का औचित्य व्यक्त होता है। यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं माना जाएगा तो वाचक रूप से सभी शब्दों का समान स्थान होने से विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होगा। इसलिए वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अवश्य मानना चाहिए।

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में भी महान् अन्तर—

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में संख्या, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, कार्य तथा विषय आदि के भेद होने से भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार ने इन भेदों का संग्रह इस प्रकार किया है—

स्वरूप-संख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम्।
आश्रय विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥

दूसरी बात यह है कि "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" वाला नियम सर्वत्र लागू नहीं हो सकता है, असुन्दर-व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यंग्य के भेद में 'वानीर कुञ्ज······सीदन्त्यङ्गानि" इत्यादि स्थल में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ चमत्कार युक्त होने के कारण उसी में तात्पर्य का पर्यवसान भी होता है, ऐसे स्थलों में जहाँ व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यविषयीभूत है ही नहीं तो व्यञ्जना व्यापार के न मानने में वह अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ किस व्यापार का विषय बनेगा ?

लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में भेद होने से लक्षणा शक्ति से भी व्यञ्जना गतार्थ नहीं हो सकती—

यद्यपि व्यङ्ग्य की ही तरह लक्ष्यार्थ भी अनियत रहता है जैसे—रामोऽस्मि सर्वं सहे; रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णप्रिये नोचितम्, रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्, इत्यादि स्थलों में दुःख सहिष्णुत्व, निष्करुण, खरदूषणादिहन्ता इत्यादि एक ही राम शब्द के लक्ष्यार्थ हैं। फिर भी लक्षणीय अर्थ के नाना होने पर भी अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान नियतरूप ही होता है। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ तो प्रकरणादि के द्वारा कहीं नियतसम्बन्ध और कहीं अनियत सम्बन्ध और कहीं परम्परित सम्बन्ध वाला होता है। अतः लक्ष्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता है और न लक्षणा से व्यञ्जना गतार्थ हो सकती है।

व्यञ्जना का विशेष आदर—

व्यञ्जना के विषय को लेकर ग्रन्थकार का यहाँ तक का सारा संघर्ष मीमांसकों से रहा। उन्हीं के विरोध का उत्तर देते हुए व्यञ्जना की प्रतिष्ठा की परन्तु इतने से उनका कार्य पूर्ण नहीं हुआ, अभी आगे उन्हें वैय्याकरणों, वेदान्तियों तथा नैय्यायिकों का भी सामना करना है। इस उल्लास में व्यञ्जना की प्रतिष्ठा का भगीरथ प्रयत्न ग्रन्थकार का है। व्यञ्जना का चतुर्दिक् विरोध है, साहित्यशास्त्र में भी केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय ही इसे स्वीकार करता है, शेष बड़े बड़े दार्शनिक व साहित्यिक तो इसका विरोध ही करते हैं। मीमांसक, वेदान्ती, नैय्यायिक और वैय्याकरण करीब करीब सभी व्यञ्जना के विरोधी हैं। पर ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार साहित्यशास्त्र की गाड़ी व्यञ्जना के बिना एक पग भी आगे नहीं चल सकती है। इस शास्त्र में तो अभिधा शक्ति की कोई कदर नहीं है। सीधी साधी बात कहना तो एक तरह गवांजीपना है। जिस उक्ति में कोई चमत्कार नहीं, कथन की कोई शैली नहीं या जिसमें कोई रस नहीं ऐसी नीरस शुष्क उक्ति सहृदयों के हृदय को अच्छी नहीं लगती है। मीमांसक नैय्यायिक आदि भले ही नग्न यथार्थवाद से सन्तुष्ट हो जायें पर साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी को तो उन वाक्यों से कथमपि सन्तोष नहीं होता है। इसीलिए आशाधर भट्ट ने कहा है—

शक्ति भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ॥

साहित्यशास्त्र तो रसप्रधान शास्त्र है, रसास्वाद के बिना सहृदय की तृप्ति नहीं होती है, उसी रसाभिव्यक्ति के लिए व्यञ्जना आवश्यक है ।

कवित्व की कसौटी और काव्य का प्राण व्यञ्जना है इसलिए आचार्य मम्मट ने इसकी सिद्धि के लिए इतना आग्रह और इतना प्रयास किया है ।

वैय्याकरणों या वेदान्तियों का अखण्डार्थवाद जो (वेदान्ती या वैय्याकरण यह कहते हैं कि अखण्डबुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है, और अखण्ड वाक्य ही उसका वाचक होता है । उनको भी अविद्या की स्थिति में (व्यवहार सत्ता में) आकर, पद पदार्थ की कल्पना करनी ही होगी, इसलिए उनके पक्ष में भी उक्त (निःशेषच्युतचन्दनम् इत्यादि) उदाहरण में विधि आदि को व्यङ्ग्य मानना ही होगा ।

न्यायाचार्य महिमभट्ट का विरोध—

व्यञ्जनावृत्ति के सबसे कट्टर विरोधी महिमभट्ट हैं जिन्होंने काव्य जगत् में समाहृत इस व्यञ्जना वृत्ति की साथ ही साथ व्यञ्जना परिवार के समष्टिभूत ध्वनितत्त्व की कठोर समीक्षा की है । आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धान्त को ध्वंस करने के लिए इस महात्मा ने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाला, जिसका नाम है—"व्यक्तिविवेक" अर्थात्—"व्यञ्जना का विचार" ग्रन्थ के आरम्भ में ही इनकी प्रतिज्ञा भी बड़ी भयंकर है—

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए महिमा नामक आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर "व्यक्ति विवेक" नामक ग्रन्थ की रचना करते हैं । कहना नहीं होगा कि बहुत कुछ अंश में इनकी प्रतिज्ञा सफल हुई है, सर्व प्रथम ये ध्वन्यालोक के ध्वनि लक्षण पर टूट पड़े, उनके लक्षण का प्रतिपद खण्डन करके यह दिखाया कि ध्वनि का तो कोई लक्षण ही नहीं बनता, फिर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दिखलाते हुए व्यञ्जनावृत्ति की समीक्षा करने लगे । इनके मत में शब्द और अर्थ का यदि कोई सम्बन्ध है तो वह वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है बस इसके लिए तो फिर अभिधा से अन्य किसी व्यापार को मानने की आवश्यकता ही नहीं है यदि कहीं उपचार वश कोई व्यङ्ग्यादि अर्थ की प्रतीति होती है तो वह सब अनुमान के द्वारा ही गतार्थ हो जाती है ।

इसके लिए अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। बड़े संरम्भ के साथ इन्होंने अपने ग्रन्थ में अनुमान में ही पूरे ध्वनि प्रपञ्च को सम्हालने का साहसिक प्रयास किया है। इस पर इन्हें पूरा भरोसा है कि मेरे जैसे पण्डित अवश्य मेरी बातों का समादर करेंगे और बड़े गर्व के साथ कहते हैं—

युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो।
नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्।
केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमीलन्त्य-
न्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

जो मेरे जैसे हैं उन्हीं के लिए यह मेरा प्रयास है, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सबका मन आकृष्ट करे, भुवन को प्रकाशित करने वाले भगवान् भास्कर के उदयोन्मुख होने पर कुछ (सूर्यकान्त मणि) जलते हैं, कुछ (कमल) खिलते हैं और कुछ (उल्लू-कमुद आदि) संकुचित हो जाते हैं ॥२॥

व्यक्तिविवेक की प्रौढ़ तथा तर्क कर्कश विचार चातुरी से ध्वनि के सारे अङ्गों को बहुत बड़ी ठेस लगी है इसमें कोई सन्देह नहीं, ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का वह निर्मल यश शायद कब का खतम हो जाता, यदि एकादश शती के उत्तरभाग में मम्मट जैसे अद्भुत् विद्वान् का उदय नहीं होता।

महिमभट्ट का मत मुख्यतः न्यायदर्शन की अनुमान प्रक्रिया पर आधारित है। इसलिए इस मत को हम न्याय मत कह सकते हैं। इनका कथन इस प्रकार है—

वाच्य से असम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है, यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती तो, फिर जिस किसी शब्द से जो कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार जब व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ का आपस में व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध अवश्य (किसी प्रतिबन्ध) व्याप्ति के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्तियुक्त और नियत धर्मी (पक्ष) पर्वतादि में रहने से (अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त होने से पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप) तीनों रूपों वाले (धूमादि हेतु के समान) लिङ्ग से, लिङ्गी (अर्थात् वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान किया जाता है, उसी रूप में (व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का भी) पर्यवसान हो जाता है।

यहाँ **"त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्"** यह कहकर, व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त एवं त्रिरूप (पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष व्यावृतत्वरूप) विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के बिना नहीं होती, इसी

लिए व्यङ्ग्य प्रतीति अनुमिति ही है, और व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव एक प्रकार का अनुमान ही है—

उदाहरण के द्वारा इसे और स्पष्ट कर रहे हैं—

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

हे पण्डित जी (धार्मिक) अब आप निडर होकर भ्रमण करें, गोदावरी के तीर के कुञ्ज में रहने वाले उस दुष्ट सिंह ने आज उस कुत्ते को (जो आपको तंग किया करता था) मार डाला है।

इस गाथा का प्रकरण इस प्रकार है—गोदावरी नदी के किनारे किसी उद्यान में किसी स्त्री ने अपना निवास स्थान बनाया हुआ था, जहाँ उसका प्रिय उससे मिलने के लिए आता था, कोई दूसरे पण्डित जी अपने पूजापाठ के लिए फूल तोड़ने उसी उद्यान में आया करते थे, इनके आने मे उस स्त्री के कार्य में विघ्न पड़ता था, इसीलिए उसने इस प्रकार का उपाय निकाला कि जिससे पण्डित जी का उधर आना बन्द हो जाय, इसी दृष्टि से उसने इस पद्य द्वारा पण्डित जी को सिंह द्वारा कुत्ते को मारे जाने की सूचना दी, वह जानती है कि पण्डितजी जब कुत्ते से ही बहुत डरते थे तो सिंह का नाम सुनते तो वे यहाँ आना ही भूल जायेंगे।

भ्रम धार्मिक इत्यादि श्लोक में—(गोदावरी तीर स्थित) घर में रहने वाले कुत्त के अभाव में विहित भ्रमण (हेतु या लिङ्ग) गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान द्वारा भ्रमण के अभाव (साध्य) का अनुमान कराता है।

जहाँ-जहाँ भीरुओं का भ्रमण होता है, वहाँ-वहाँ भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक होता है। यह व्याप्ति है, और गोदावरी के तीर में (भय का कारण) सिंह की उपलब्धि (अर्थात् साधनाभाव) है। इसलिए साध्य भीरुभ्रमण की व्यापिका जो भयकारण के अभाव की उपलब्धि, उसके विरुद्ध जो भय कारण है उसकी उपलब्धि, (अर्थात् अभावसाधक सिंहोपलब्धिरूप) व्यापक विरुद्ध, (व्यतिरेक व्याप्ति) की प्रतीति होती है।

इसलिए व्यतिरेकि अनुमान के द्वारा भ्रमणनिषेध की प्रतीति हो जाती है, उसके लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है।

इसका अनुमानाकार इस प्रकार बन सकता है—

(१) **गोदावरी तीरं भीरुभ्रमणायोग्यम्** (प्रतिज्ञा वाक्य)।

(२) भयकारणोपलब्धेः (हेतु या साधन)।

(३) यद्यत् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत्।

यथा गृहम्—(व्यतिरेक व्याप्ति उदाहरण सहित)।

(४) न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत्, सिंहोपलब्धेः (उपनय वाक्य)

(५) तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यं तीरम् (निगमन)।

इस प्रकार पञ्चावयव वाक्य से अनुमान द्वारा ही व्यञ्जनावादी के व्यङ्ग्य—मा भ्रम अर्थात् मत घूमो—अर्थात् भ्रमण निषेध को" गतार्थ कर देते हैं।

अतः व्यङ्ग्यार्थ के लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। यह पूर्व पक्ष है—

मम्मट द्वारा महिमभट्ट के इस अनुमान का खण्डन—

यहाँ महिमभट्ट ने "सिंहोपलब्धि" को "**भीरुभ्रमणायोग्यत्व**" सिद्ध करने के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यह हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात् **साध्याभाववद्वृत्ति** है। जहाँ जहाँ भीरुभ्रमण होता हो, वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव हो, इस प्रकार की कोई व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि युद्धादि में राजाज्ञा से भीरु सैनिक भी भय के कारण के रहते हुए भी जाता ही है, इसी प्रकार प्रभु की आज्ञा से या गुरु की आज्ञा से शिष्य, अथवा प्रिया के अनुराग से भय के कारण रहते हुए भी जाता ही है। इसी बात को समझाते हैं—

भीरु भी प्रभु या गुरु की आज्ञा से अथवा प्रिया के अनुराग से अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से भी भय के कारण रहते हुए भी घूमता ही है। इसलिए यह सिंहोपलब्धिरूप हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात्—सव्यभिचार हेत्वाभास है और कुत्ते से डरने पर भी वीर होने से सिंह से नहीं डरता है, इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास भी है। (तीसरा दोष यह है कि) गोदावरी के किनारे सिंह का सद्भाव प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से निश्चित नहीं है। अपितु वचन से, अर्थ के साथ वचन उस नायिका के शब्द का कोई प्रतिबन्ध नियत सहचार न होने से, वचन का प्रामाण्य भी नहीं है। इसलिए पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है। इस प्रकार त्रिदोषग्रस्त हेतु से साध्य की सिद्धि किस तरह हो सकती है?

अर्थात्—अनुमान द्वारा भ्रमण निषेधरूप साध्यव्यङ्ग्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार "**निःशेषच्युतचन्दनम्**" इत्यादि स्थलों में भी चन्दनच्यवनादि के द्वारा जो अनुमान महिमभट्ट करते हैं, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।

अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास है, अर्थात् चन्दनच्यवन को अनुमापक मानकर नायकान्तिकगमनादि को अनुमेय नहीं मान सकते हैं। स्नानादि कार्यों से भी चन्दनादि की उपपत्ति हो जाती है।

व्यञ्जनावादी ने तो अधम पद की सहायता से उक्त विधि "नायकान्तिकगमनादि" रूप व्यङ्ग्य माना है, परन्तु अनुमानवादी के यहाँ तो अधमत्व की किसी प्रमाण से सिद्धि न होने के कारण अनुमान नहीं हो सकता है।

व्यञ्जनावादी यहाँ तो व्याप्ति के बिना भी इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित होता है। सामान्यरूप से कथन होने से व्यञ्जनावादी के यहाँ यह दोष नहीं है।

पूर्वोक्त विचार को ही मम्मटानुयायी कविराज विश्वनाथ ने इन शब्दों से कहा है—

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥९॥

काव्य प्रकाश में व्यञ्जना स्थापन नामक

पञ्चम उल्लास समाप्त

षष्ठ उल्लास

चित्रकाव्य या अवर काव्य का निरूपण—

ध्वनिप्रधान उत्तम काव्य का गुणीभूत व्यङ्‌ग्य वाले मध्यम काव्य का निरूपण कर अब व्यङ्‌ग्यार्थरहित चित्रकाव्य या अधम काव्य के भेदों का निरूपण षष्ठ उल्लास में कर रहे हैं।

शब्द चित्र तथा अर्थचित्र के नाम से जो दो प्रकार के (अधम काव्य के) भेद प्रथम उल्लास में दिखलाये गये हैं, उनमें शब्द चित्र और अर्थ चित्र शब्दों का प्रयोग गुण प्रधान भाव से होता है।

अर्थात्—दोनों में दोनों प्रकार की चित्रता की सम्भावना हो सकती है, पर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है, उसी के आधार पर व्यवहार होता है। जैसे प्रथम उल्लास में वर्णित शब्द चित्र के उदाहरण **"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छ"** इत्यादि पद्य में अन्य नदियों से अधिक उत्कर्ष का वर्णन होने से व्यतिरेक अर्थालङ्कार होने से अर्थ चित्रता भी है, और **"विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्"** इत्यादि पद्य में जो अर्थ चित्र का उदाहरण है। मकार की असकृत् आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास शब्दालंकार के होने से शब्द चित्रत्व भी है, पर **"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"** इस नियम के अनुसार जहाँ जिसकी प्रधानता ह वहाँ उसी से व्यवहार किया जाता है—

> **शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।**
> **गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिचित्रार्थशब्दयोः ॥१॥**

शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र के विषय में प्राचीन आचार्यों का मत—

किन्हीं आचार्यों का मत है कि रूपकादि अर्थालङ्कार ही प्रधान अलंकार हैं, शब्दालङ्कारों के या शब्द चित्र में इस प्रकार का चमत्कार नहीं रहता है।

क्योंकि सुन्दर होने पर भी जैसे बिना अलङ्कार के कामिनी का मुख शोभित नहीं होता, उसी प्रकार बिना अर्थालङ्कारों के सुन्दर शब्दों वाला काव्य भी शोभित नहीं होता है।

दूसरे आचार्य रूपकादि अर्थालङ्कारों को बाह्य अलंकार मानते हैं, अर्थात्—सुबन्त और तिङ्‌न्त पदों की व्युत्पत्ति (**विशेषेणानुप्रासादिरूपेण**

उत्पत्ति सन्निवेश:) को ही वाणी का वास्तविक अलंकार मानते हैं। क्योंकि काव्य के सुनते ही शब्दालङ्कारों का चमत्कार चित्त को चमत्कृत कर देता है। अत: शब्दालङ्कार ही प्रधान है।

भामह का मत—

भामह का मत है कि काव्य में उभयविध अलङ्कारों का वर्णन होने से उन्हें शब्दालंकार व अर्थालङ्कार दोनों ही इष्ट हैं। यही ग्रन्थकार का भी मत है।

अभिप्राय यह है कि शब्द में स्वरूपत: कोई अलंकार नहीं है, यदि शब्द में स्वरूपत: अलंकार होता तो फिर निरर्थक शब्द में भी अलंकार की प्रसक्ति हो जाती है। इसी प्रकार अर्थ में भी स्वरूपत: कोई अलंकार नहीं है अर्थ के सर्वदा रहने से सालंकृत अर्थ की ही प्रतीति होने लगती, परन्तु शब्द बोधित अर्थ में, और अर्थबोधक शब्द में चित्रता है। अत एव शब्दार्थोभय सम्मिलित काव्यपद वाच्य है। दोनों में परस्परोपकार्योपकारकभाव है। दोनों ही कवि प्रयत्न के विषय होने से शब्दार्थोभय की चित्रता सर्वसम्मत है।

शब्द चित्र का उदाहरण—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्तत: कनकप्रभ: ।
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युति: ॥
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षम: क्षणदामुखे ।
सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छन: ॥२॥

(उदय होते समय) चन्द्रमा पहले लाल रङ्ग का, उसके बाद सोने के समान पीत कान्तिवाला, उसके बाद विरहपीड़िता सुन्दरी के कपोल की श्वेत कान्तिवाला, उदय होता है, इसके बाद रात्रि के प्रारम्भ में ताजे मृणालदण्ड के समान अत्यन्त श्वेत कान्तिवाला होकर अन्धकार का नाश करने में समर्थ होता है ॥२॥

इस पद्य में मकार तकार व ककारों की आवृत्ति होने से अनुप्रास शब्दालंकार है।

यद्यपि यहाँ स्वभावोक्ति तथा उपमा के अर्थ चित्र की भी सत्ता है, परन्तु कवि के विवक्षा का विषय शब्दालंकार ही है अत एव उसी की यहाँ प्रधानता है।

अर्थ चित्र का उदाहरण—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलका: खलाश्च ॥

नीचा सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ।।३।।

सघन पलकों वाली सुन्दरियों के केश, और दुष्ट पुरुष, जो विलासपूर्वक सदैव अलीक (केशपक्ष में ललाट, खल पक्ष में मिथ्याभाषण) में लगे हुए हैं, और कुटिलता (केशपक्ष में टेढ़ापन और खल पक्ष में दुष्टता) के समान कालेपन को नहीं छोड़ते हैं। देखते ही किसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर देते ? अर्थात् कामिनियों के काले और कुन्तल केश और उन्हीं के समान कुटिल वृत्ति वाले दुष्ट पुरुष देखने वालों के हृदय को क्षुब्ध कर देते हैं।

यहाँ क्षोभरूप एक कार्य के प्रति अलक व खल का युगपत् कथन होने से समुच्चयालंकार है। श्लेष तथा उपमा आरम्भ से समाप्तिपर्यन्त इसी समुच्चय के निर्वाहक होने से इसी के अङ्ग हैं। प्रधानता समुच्चयालङ्कार की ही है। काव्यप्रकाश के आदर्श टीका के रचयिता महेश्वर भट्टाचार्य का कथन है कि उक्त पद्य में प्रकृत खल व अप्रकृत अलक का क्षोभरूप एक धर्म के साथ अन्वय होने से दीपकालंकार है।

अलीक शब्द के परिवृत्यसह होने से शब्द श्लेष तथा अनुप्रास का भी सम्भव है, पर अर्थालङ्कार की ही प्रधानता होने से यह अर्थ चित्र का उदाहरण है।

यद्यपि सर्वत्र काव्यों में वर्णित पदार्थ विभावादिरूप पर्यवसित होते हैं, तथापि चित्र काव्य में स्पष्ट रूप से रसादि की प्रतीति न होने से इन दोनों काव्यों को व्यङ्ग्य रहित तथा अधम काव्य कहा गया है।

काव्य प्रकाश में चित्र काव्य प्रभेद निरुपणात्मक
षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ।

———

सप्तम उल्लास

काव्य दोषों का निरूपण—

जैसे दोष की कालिमा किसी व्यक्ति उत्कर्ष में विघातक होती है, उसी प्रकार काव्य-दोष भी काव्यार्थ के मुख्य प्रतीति के उत्कर्ष के विघातक होते हैं।

स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥

किसी कामिनी का शरीर चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो परन्तु उसके अङ्ग में यदि कुष्ठ का छोटा सा भी दाग है तो वह सौन्दर्य सदा के लिए निरर्थक हो जाता है।

कविता कामिनी का भी यही हाल है कितनी ही सुन्दर कविता क्यों न हो, यदि थोड़ी भी व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि दिखाई देती है तो वह सारी कविता फीकी (नीरस) मालुम पड़ती है।

एक भी कर्ण कटु शब्द श्रोता को उद्विग्न कर देता है। इसलिए कवि और लेखक को हमेशा इन काव्यगत दोषों से बचना चाहिए। अतः दोषों के परिहार के लिए सर्वप्रथम दोषों का ज्ञान आवश्यक है।

दोष सामान्य का लक्षण काव्य प्रकाश में इस प्रकार किया है—

"मुख्यार्थहतिर्दोषः"

मुख्यस्यार्थस्य हतिरपकर्षो यस्मात्स दोष इत्यर्थः।

अथवा

मुख्यार्थो हन्यतेऽपकृष्यतेऽनेनेति करणसाधनो हति शब्दः एवञ्च—मुख्यार्थापकर्षकत्वं दोषत्वमिति दोष सामान्यलक्षणम्।

अर्थात्—मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है, उसको दोष कहते हैं। मुख्यार्थ का मतलब यहाँ रस है।

"रसश्च मुख्यः"

इसलिए मुख्यार्थ विषयक रसविषयिणी जो प्रतीति, उस प्रतीति के अपकर्षक कारण को दोष कहते हैं।

रस का आश्रय होने से वाच्य (अर्थ) को भी मुख्यार्थ कहते है। इसलिए रस के साथ चमत्कारी वाच्य के अपकर्षक को भी दोष कहते हैं। यह अर्थ दोष है।

"तदाश्रयाद्वाच्यः"

अर्थ रस का आश्रय है, इसलिए वह दोष अर्थगत भी होगा।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥१॥

शब्दादि रस तथा वाच्य (अर्थ) दोनों के बोधन में उपकारक (सहायक) होते हैं, इसलिए इनमें भी यह दोष रहता है।

अतः दोष पाँच प्रकार का होता है—

(१) पददोष (२) प्रदांशदोष (३) वाक्यदोष, (४) अर्थदोष, और (५) रसदोष,

विस्तार के भय से समग्र दोषों का वर्णन लक्षण उदाहरण द्वारा उनका विवेचन यहाँ असम्भव है। अतः मुख्य मुख्य काव्य दोषों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

पददोष—

(१) **श्रुतिकटु दोष**—कठोर व कर्णकटु वर्णों से जो पद रस का अपकर्ष करे, उसे श्रुतिकटु दोष कहते हैं।

उदाहरण—

"कार्तार्थ्यं लभते कदा"

यहाँ यह **कृतार्थस्य भावः कार्तार्थ्यम्** यह शब्द कर्णकटु है। प्रायः रेफ घटितसंयुक्त वर्ण कविता के माधुर्य का अपहरण करते हैं। अतएव किसी विद्वान् ने कहा भी है—

"स्वायत्ते शब्दप्रयोगे कर्णोपतापकप्रयोगेण श्रोतुरुद्वेगो रसापकर्षाय भवति" जैसे हिन्दी का यह पद्यांश—

"पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता"।

यहाँ **"विषयोत्कृष्टता और विचारोत्कृष्टता"** इन पदों के अक्षरों का योग, संयोग व रेफ के कारण कानों के लिए कर्णकटु है।

(२) **च्युतसंस्कृति दोष**—व्याकरण के संस्कार से हीन पद च्युतसंस्कृति दोष से दुष्ट होता है।

उदाहरण—

"दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृत्तं मा कृथाः ॥

याचनार्थक नाथ धातु परस्मैपदी है, "आशिषिनाथः" इस सूत्र से केवल आशीः अर्थ में ही आत्मनेपद का विधान है, अतः अनुनाथते यह पद च्युतसंस्कृति दोष से दुष्ट है।

(३) **अप्रयुक्त दोष**—कोषादि में उस अर्थ में होने पर भी कवियों के द्वारा उस अर्थ में प्रयुक्त न हो। जैसे "दैवतः" शब्द कोष की दृष्टि से उभय लिङ्ग-पुलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग में पठित है, पर कवियों के द्वारा इसका प्रयोग पुलिङ्ग में नहीं किया जाता है अतः 'दैवतः' यह पद अप्रयुक्त दोष से दूषित है।

(४) **निहतार्थ दोष**—दो अर्थ वाले पद को अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ दोष कहलाता है। जैसे "शोणित" पद का रुधिर रूप अर्थ ही प्रसिद्ध है, न कि रक्त या लाल रंग, अतः शोणित पद का लालरंग के अर्थ में प्रयोग दोष ही है।

(५) **अनुचितार्थ**—अनुचित अर्थ वाले पद,

(६) **निरर्थक**—जिसका पादपूर्ति के लिए प्रयोग किया जाए।

(७) **अवाचक**—कवि विपक्षित अर्थ का जो वाचक न हो जैसे भारवि के 'अवन्ध्यकोपस्या' इत्यादि पद्य में "जन्तु" पद का अदाता अर्थ में प्रयोग किया, परन्तु यह पद इस अर्थ का वाचक नहीं है। अपितु अमर्षशून्य व्यक्ति की तुच्छता का सूचक है।

(८) **अश्लील दोष**—तीन प्रकार का होता है, व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमंगल के भेद से, काव्य में हमेशा शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। व्रीडा व्यञ्जक या जुगुप्सा और अमङ्गल व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(९) **ग्राम्य दोष**—यह भी एक प्रकार का अशिष्ट या अशिक्षित प्रयुक्त दोष है, काव्य में नागरिक भाषा का ही अधिक प्रयोग होना चाहिए।

(१०) **संदिग्ध दोष**—ऐसे पद या वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे उसके अर्थ में या प्रकृति पद में सन्देह हो, यह दोष पद, वाक्य तथा अर्थ गत है।

(११) **अविमृष्टविधेयांश**—वाक्य में विधेय अंश की प्रधानता होती है, पर कभी कभी ऐसा होता है कि विधेय अंश का मुख्यरूप से प्रतिपादन नहीं होता है। तब एक गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है, जिसका नाम है—अविमृष्टविधेयांश और "यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः" इस नियमानुसार यत् पद यदि उद्देश्य हो तो बाद में तद् पद से उसका विधान करना चाहिए, ऐसा न करने से दोष होता है। जैसा कि काव्यप्रकाश की वामनी टीका में लिखा है—

"इदमन्नोद्देश्य विधेयभावविषयेऽवगन्तव्यम्।"

"यच्छब्दप्रतिपाद्यं सिद्धत्वेन प्रतीयमानमनुवाद्यमुद्देश्यम्, तदादि शब्द प्रतिपाद्य-मुद्देश्यसम्बन्धितया अपूर्वबोधविषयीभूतं विधेयम् यथा—"यः क्रियावान् स

पण्डितः" इत्यादौ **क्रियावन्तमुद्दिश्याभेदेन पण्डितः स्वरूपसम्बन्धेन पण्डितत्वं वा विधीयते।**

"जिसे हमने कल बुलाया था वही राम अब आया है।" इस वाक्य में जिसे तथा वही का प्रयोग ठीक हुआ है। यदि यत् और तत् शब्द को पास रख दिया जाए तो वह विधेय अंश की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं करा सकता है।

समास के अन्दर आ जाने से भी किसी पद का प्राधान्य लुप्त हो जाता है ऐसी स्थिति में विधेय अंश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना नितान्त अनुचित है—

उदाहरण—पार्वती के समक्ष यह शिवजी का वर्णन है—"**वपुविरुपाक्षम-लक्ष्यतन्मता**" अर्थात् शरीर विरूप आँख (तीन आँख) वाला है तथा अदृष्ट जन्म भाव वर्तमान है। विवक्षित अर्थ है कि शिव जी का जन्म अलक्षित है। परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया, और प्राधान्य नष्ट हो गया, यह अनुचित है।

वाक्यदोष

ऊपर जिन प्रधान पद दोषों का उल्लेख किया गया है इसमें से कतिपय दोष पदांश में भी विद्यमान रहते हैं। प्राय: समस्त पद दोष वाक्यों में भी रहते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट वाक्य दोष भी होते हैं, जिनकी स्थिति केवल वाक्य में होती है।

(१) **प्रतिकूलवर्णता**—जहाँ वर्ण प्रकृत-रस के पोषक नहीं होते वहाँ प्रतिकूल वर्णता दोष होता है। जैसे—शृङ्गार रस में "**अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमा-कण्ठं कलकण्ठि माम्**" इत्यादि पद्य में कवि ने ट वर्ग का प्रयोग किया है, जब कि ट वर्ग शृङ्गार रस का परिपन्थी है।

(२) **न्यूनपदता**—जहाँ पदों की कमी हो, वहाँ न्यून पदता नामक दोष होता है—**जैसे**—

नृप तिहारे खड्ग ते प्रकट भयो जस फूल।

हे राजन् तुम्हारे तलवार से यश रूपी फूल प्रकट हुआ। यहाँ यश को फूल कहा गया है, अत: खड्ग को लता कहना चाहिए था, लता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष है।

(३) **अधिकपदता**—अभीष्ट अर्थ से अधिक पद हो जाने से अधिकपदता दोष होता है, वैसे नियम तो यह है कि जितना अर्थ हो उतना ही शब्द प्रयोग भी होना चाहिए। जैसे—

डसैं तिहारे शत्रु को खड्गलता अहिराज—तुम्हारी तलवार लतारूपी सर्प शत्रुओं को डस रहा है। यहाँ लता पद बिना किसी प्रयोजन के रखा गया है। अतः अधिकपदता दोष है।

(४) **अभवन्मत योग**—वाक्य में अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध का न होना।

वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नहीं बनता, "**गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्**" अप्रधान प्रधान के लिए होते हैं, दो या अधिक अप्रधानों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता है। मीमांसा के इस नियम के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त अवान्तर पदों का सम्बन्ध मुख्य वाक्य से ही होना चाहिए।

जैसे—"विद्यालय के जो अध्यक्ष गणित विद्या में पारङ्गत हैं, तथा जिनके ऊपर इस नगर को पूरा अभिमान है, आज उन्हीं की अभ्यर्थना है"

यहाँ आरम्भ में दो अवान्तर वाक्य हैं, तथा अन्त में हैं मुख्य वाक्य, इन तीनों वाक्यों में अध्यक्ष पद का सम्बन्ध अभीष्ट है, परन्तु उसे प्रथम अवान्तर वाक्य में ही अन्तर्निविष्ट होने के कारण अभिमत सम्बन्ध बनता नहीं है, अर्थात् उसका सम्बन्ध दो अन्य वाक्यों के साथ सिद्ध नहीं होता है।

(५) **कथितपदता**—बार-बार एक पद का प्रयोग करना, यह दोष कवि के शब्द दारिद्रय को प्रकट करता है।

उदाहरण—

रतिलीला श्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ॥
रतिलीला श्रम को हरत लीला युत चलि पौन ॥

यहाँ लीला शब्द का प्रयोग दो बार किया है।

(६) **भग्न प्रक्रमता**—निबन्ध अथवा कविता जिस क्रम से प्रारम्भ की जाए उसी क्रम या तत्सम्बन्ध वाक्यों को उसी क्रम में समाप्त करना चाहिए, ऐसा जहाँ नहीं किया जाए वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तं गते हन्त निशाऽपि याता ॥

दैववश निशा नायक चन्द्र के अस्त हो जाने पर निशा भी चली गयी। यहाँ प्रारम्भ गम् धातु से "अस्तङ्गते" कह कर "याता" या धातु से उपसंहार किया, अतः यह प्रक्रम भङ्ग है। "गता निशाऽपि" यह पाठ उचित था।

यहाँ एक ही पद का दो बार प्रयोग करने से कथितपदता दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह पुनरुक्त या कथितपदता दोष तो उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य से भिन्न स्थलों में होता है।

जहाँ उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यभाव हो वहाँ तो पदान्तर से प्रतिपादित वह अर्थ प्रकृत प्रतीति का स्थगन कर देता है।

उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य का उदाहरण—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥१॥
उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहिं होवत अस्त।
संपत्ति और विपत्ति में सज्जन होत न व्यस्त ॥१॥

अर्थ दोष—

अर्थ की रुचिरता के लिए कतिपय नियमों का पालन किया जाता है, जिससे अर्थ की स्वच्छता व रुचिरता बनी रहती है। यदि उन नियमों का उल्लंघन किया जाए तो अर्थ में अस्वच्छता आने लगती है यही अर्थगत-अस्वच्छता ही अर्थ दोष है। जिनमें मुख्यत: ये हैं—

(१) **कष्टार्थता**—अर्थ के समझने में जहाँ कष्ट हो जैसे—

तौं पर वारों चार मृग चारविहंग फल चार

तुम पर मैं चार पशु निछावर करती हूँ। नयन पर मृग, घूंघुट पर हय, गति पर हाथी, तथा कटि पर सिंह, वचन पर कोकिला को, ग्रीवापर कपोत को, केशपर मयूर को, तथा नासिका पर शुक को, इस प्रकार चार पक्षियों को मैं निछावर करती हूं। और चार फल को भी दन्त पर दाडिम को, कुच पर श्रीफल को, अधर पर विम्बफल को, तथा कपोल पर मधूक को वारती हूँ। स्पष्ट ही इसका अर्थ करना अत्यन्त कठिन है।

(२) **व्याहतता**—जहाँ किसी वस्तु का महत्त्व दिखलाकर फिर हीनता दिखलाई जाए, या पहले हीनता दिखलाकर फिर महत्त्व दिखलाया जाय वहाँ व्याहतत्व दोष होता है। जैसे—

औरन के मनहरन को चन्द्रकलादि अनेक।
मोहि सुखद दृगचन्द्रिका प्रिया वही है एक ॥१॥

यहाँ पूर्वार्ध में चन्द्र की निन्दा की और उत्तरार्ध में उसी चन्द्रकला को अपने लिए सुखद माना है।

(३) **प्रसिद्धिविरुद्ध**—"कवि समय ख्याति" के विरुद्ध अर्थ का जहाँ वर्णन हो। जैसे—

उपपरिसरं गोदावर्य्या परित्यजताध्वगाः ?
सरणिमपरो मार्गस्तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इहहि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया,
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥१॥
भूलि न जइयो पथिक ? तुम तिहि सरिता पथ ओर।
तरुणि पदाहत अङ्कुरित नव अशोक उहि ओर ॥१॥

पथिक को कोई उस नदी की ओर बढ़ने से रोक रहा है, जहाँ के नवीन अशोक वृक्ष तरुणी के पैरों के आघात से अंकुरित हो उठे हैं। यहाँ कवि समय का विरोध है। तरुणी के पैरों की चोट से अशोक खिलता है, अंकुरित नहीं होता, अतः प्रसिद्ध विरुद्धि है।

(४) **अनवीकृतत्व**—जहाँ अर्थों में नवीनता नहीं लाई गयी हो। बल्कि अर्थ एक सा हो वहाँ यह दोष होता है।

सदा करत नभ गौन रवि, सदा चलत है पौन।
सदा धरत भुवि शेष सिर, धीर सदा रहे मौन।

चारों चरणों में "सदा" के प्रयोग से अर्थ में नवीनता नहीं आई है, अतः यहाँ अनवीकृत दोष है।

(५) **साकाङ्क्षता**—जिस अर्थ की पूर्ति होने में कुछ शब्दों की आकाङ्क्षा बनी रहती है, वहाँ यह दोष होता है।

परम विरागी चित्त निज पुनि देवन को काम।
जननी रुचि पुनि पितु वचन, क्यों तजि हैं वन राम ॥

रामचन्द्र का चित्त तो स्वयं परम वैराग्य युक्त है। फिर देवताओं का काय भी करना है, जननी कैकई की इच्छा, और पिता दशरथ का वचन ठहरा, ऐसी स्थिति में राम वन को क्यों छोड़ेंगे ? अभिप्राय यह है कि वन का जाना क्यों छोड़ेंगे। इस दोहे में तजिहें की जगह "जाँय" इस पद की आकाङ्क्षा है। तब "क्यों न जाँय वन राम" ऐसा वाक्य होगा।

(६) **प्रकाशितविरुद्धता**—जहाँ किसी विरुद्ध अर्थ का प्रकाशन हो, वहाँ यह दोष होता है।

कुमारस्ते नराधीशःश्रियं समधिगच्छतु।
राज्यलक्ष्मि को प्राप्त हो नृपतव जेष्ठ कुमार ॥

हे राजन् ! आपका ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करे इस वाक्य में राजा के मरने का अर्थ प्रकाशित होता है, क्योंकि जब राजा का देहान्त होगा तब ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करेगा।

अतः प्रकाशित अर्थ से विरुद्ध अर्थ के प्रकाशन होने से यह दोष है।

रस दोष—

रस दोष ही काव्य का मुख्य दोष है, रसोन्मीलन की प्रक्रिया में काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने कतिपय आधारभूत नियमों का निर्देश किया है। जिनके अनुपालन से काव्य सरस सुन्दर तथा सहृदयावर्जक होता है और इन नियमों का तिरस्कार करने से काव्य नितान्त दुष्ट तथा उपहास्यास्पद होता है। अतः आधार भूत इन नियमों का अनुशीलन अपेक्षित है—

(१) **"व्यभिचारिरसस्थायिभावनां शब्दवाच्यता" दोषाय भवतीत्यर्थः।**

रस सर्वदा व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा उन्मीलित होता है। अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता है। यही नियम स्थायिभाव तथा व्यभिचारी भावों के लिए भी है, इस नियम का उल्लंघन करने से "स्वशब्द वाच्यता" नामक रस का उदय होता है।

यथा—"तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो न कोप्यजायत" इत्यादि शृङ्गार रस के प्रकरण में रस को रस शब्द से अभिहित कर देने से स्व शब्द वाच्यता दोष है। "उस योद्धा को देखकर हमारे हृदय में वीररस उमड़ पड़ा।" इस वाक्य में वीररस स्व शब्द वाच्य होने से रस की सत्ता नितान्त अनुचित है, किन्तु यहाँ वीररस की अभिव्यक्ति उसके विभाव व अनुभावों के द्वारा ही होनी चाहिए।

(२) **कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।**

किसी पद्य में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। यदि इनकी अभिव्यक्ति कष्ट कल्पना से करनी पड़े तो रस दोष माना जाता है।

यथा—"परिहरति रतिं मतिं लुनीते" इत्यादि पद्य में वर्णित नायिका की बेचैनी आदि अनुभाव, न केवल शृङ्गार रस में अपि तु करुण रस में या भयानक वीभत्स आदि रसों में भी पाये जाते हैं अतः कामनी रूप आलम्बन विभाव यहाँ कठिनाई से प्रतीत होता है

(३) **प्रतिकूलविभावादिग्रहः।**

विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे—शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में प्रकृत के प्रतिकूल शान्त रस के विभाव का वर्णन करना—

"न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः" इत्यादि ।

(४) पुनः पुनः दीप्तिः

पुनः पुनः उसी रस की दीप्ति दोष माना जाता है । जैसे—कुमारसम्भव में "रति विलाप" के समय करुण की बार बार दीप्ति अनुचित है ।

(५) अकाण्डे प्रथनच्छेदौ

अचानक न तो रस का प्रस्तार करना चाहिए और न प्रासङ्गिक रस का सहसा उच्छेद ही करना चाहिए ।

(६) अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः

अङ्गी मुख्य रस का ही काव्य में विशेष वर्णन उचित है, अङ्ग का अत्यन्त विस्तार कभी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से अङ्गातिविस्तृति नामक रस दोष होता है।

(७) अङ्गिनोऽननुसन्धानम्

काव्य या नाटक में अङ्गी पदार्थ नायक का ही वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है। उसका तिरस्कार कर उसे बिलकुल भुला देना नितान्त अनुचित है।

(८) प्रकृतीनां विपर्ययः

नाटक में चित्रित पात्रों के कर्म तथा व्यवसाय उनके स्वरूप के अनुसार ही ही होना चाहिए, प्रकृति—अर्थात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं । (१) दिव्य—स्वर्गीय देव अप्सरा आदि । (२) अदिव्य—पृथ्वीचारी जीव मर्त्यलोकस्थ । (३) दिव्यादिव्य—दोनों गुणों से मिश्रित पात्र ।

इनके स्वरूपों के अनुसार ही इनके कर्म व व्यवहार का काव्य या नाटक में चित्रण करना कवि का परम धर्म है । तभी तो दर्शकों के मन में इनका यथार्थ प्रभाव पड़ता है, अन्यथा तो प्रकृति विपर्यय नामक दोष होता है ।

काव्य के दोषों में रस दोष ही अन्तरङ्ग दोष माना गया है, अन्य दोष तदपेक्षया बहिरङ्ग हैं। दोषों का विभाजन आचार्यों ने इस प्रकार भी किया है, कुछ दोष नित्य होते हैं, और कुछ अनित्य ।

(१) नित्य दोष—जो हमेशा दोष ही बने रहते हैं । वे नित्य दोष कहलाते हैं । जैसे च्युतसंस्कृतत्यादि ।

(२) **अनित्य दोष**—जो किसी अवस्था विशेष में दोषत्व को छोड़कर गुण हो जाते हैं वे अनित्य दोष कहलाते हैं।

जैसे—श्रुतिकटुत्व दोष—यह श्रृङ्गार रस में ही दोष होगा, परन्तु वीर, वीभत्स व रौद्र रस में गुण बन जाता है। इसी तरह "अधिकपदता" यह भी दोष हैं, और कथितपदता, परन्तु भय तथा हर्ष की स्थिति में यह वक्ता के मुख से अधिक पदों का प्रयोग उचित ही है।

दोषों का प्रतिप्रसव—

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।

प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारिभाव अनुभाव तथा विभाव आदि का बाध्यत्वेन कथन करना, दोष नहीं अपितु गुणाधायक ही है।

यथा—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ।।१।।

यह सच है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, और यह भी सच है कि सम्पत्ति भी बड़ी रमणीय होती है। परन्तु उन सबके भोग करने का साधनभूत यह जीवन तो मदमत्त स्त्री के कटाक्ष के समान क्षणभङ्गुर है।

इस पद्य में शान्तरस मुख्य है, परन्तु मनोरमा रामाओं की चर्चा करके कवि ने श्रृङ्गार रस के आलम्बन विभावरूप अङ्ग का उसमें समावेश कर दिया है। फिर भी इन मनोरमाओं की चर्चा से पाठक के हृदय में श्रृङ्गाररस की अनुभूति नहीं होती है और मत्ताङ्गनापाङ्गरूप श्रृङ्गाररस का अनुभाव भी श्रृङ्गार रस की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है, बल्कि इससे जीवन की क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंग से हो रहा है। इसलिए विषयों से विमुख होने की शिक्षा इस पद्य से सरलता से मिल जाती है, साथ ही साथ कोरे शान्तरस चर्चा में श्रृङ्गार का पुट भी सौन्दर्य ला देता है। इसलिए यहाँ दोष नहीं है, यह ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ।। (ध्वन्यालोक)

परन्तु यहाँ काव्यप्रकाशकार का समीक्षण सिद्धान्त इस प्रकार है—यहाँ विरोधी रसाङ्ग के बाध्यत्वेन कथन में दोष नहीं होता है। यह सिद्धान्त जब स्थिर हो चुका है तो उसी से यहाँ काम चल जायेगा। फिर मताङ्गनापाङ्गरूप

अनुभाव को उपमान बनाकर जीवन की अस्थिरता को उपमेयरूप में प्रस्तुत किया है। अतः अधिक गुण वाले उपभूत मताङ्गनापाङ्ग की अस्थिरता उपमेयभूत जीवन की अस्थिरता से अधिक है यह उचित ही है। अतः मताङ्गनापाङ्ग के साथ जीवन की अस्थिरता का उपमानोपमेयभाव तदवत् जीवन की क्षणभङ्गुरता को प्रस्तुत करते हुए शान्तरस को ही पुष्ट कर रहा है। शृङ्गाररस को नहीं। इसलिए उक्त स्थल में विरोध परिहार के लिए किसी नये नियम की आवश्यकता नहीं है।

काव्यप्रकाश में दोष दर्शन नामक

॥ सप्तम उल्लास समाप्त ॥

अष्टम उल्लास

गुण निरूपण—

शारीरिक दोषों के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है जितना मानसिक दोषों के कारण, उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति समाज में आदर पाता है।

काव्य जगत् की भी ठीक यही दशा है, दोषों के कारण यदि कोई काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वही माधुर्य या श्रवणपेशलता के कारण प्रसंशनीय होता है, तथा श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करता है।

इस प्रकार गुण काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अन्तरङ्गधर्म होते हैं। अलंकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि— काव्य में सदा विद्यमान रहने वाले, शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म को गुण कहते हैं। जैसा कि आचार्य मम्मट का कथन है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥१॥

अर्थात्—शूरता, वीरता, उदारता आदि गुण जैसे आत्मा के उत्कर्षाधायक होते हैं, उसी प्रकार अङ्गीरस नित्यधर्म, माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण भी अङ्गीरस के उत्कर्षाधायक होते हैं।

गुण और अलंकार के भेद—

ग्रन्थकार के मत में गुणरस के उत्कर्षाधायक, रस के अव्यभिचारी (अचल नित्य) और रस मात्रनिष्ठ धर्म हैं, जबकि अलंकार उनसे भिन्न है। वे रस के बिना रह भी सकते हैं, और रसनिष्ठ होने पर कभी रस के पोषक भी हो सकते हैं, और कभी रस के पोषक नहीं भी हो सकते हैं।

एवं च— रसोत्कर्षकत्वे सति, रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्, अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वञ्चेति गुणसामान्यलक्षणम् तथा च रसोत्कर्षकत्वे सति रस व्यभिचारीस्थितित्वम्। अनियमेन च रसोपकारकत्वमलङ्कारसामान्यलक्षणम् ॥

यही गुण और अलंकार में भेद है।

भामह विवरण के लेखक भट्टोद्भट्ट का मत—

भट्टोद्भट्ट के मत में गुण तथा अलंकारों में कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलंकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलंकारों का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध है, और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है, इसलिए लौकिक गुण तथा अलंकार में भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिए काव्य में अनेक भेद का उपपादान नहीं किया जा सकता है।

वामन का मत—

दूसरा मत काव्यालङ्कारसूत्र के निर्माता वामन का है। यह भेदवादी मत है। वामन गुण और अलंकार में भेद मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

अर्थात्—काव्य शोभा के उत्पादक धर्म गुण हैं, और विद्यमान उस शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले धर्म अलंकार हैं। जैसे युवती के अन्दर सौन्दर्यादि गुणों के रहने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा के अभिवर्द्धक होते हैं। वास्तविक शरीर सौन्दर्य न होने पर धारण किये हुए भी सुन्दर अलङ्कार व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रसादादि गुणों के रहने पर ही यमक, उपमा आदि अलंकार उसके शोभावर्धक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहित प्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥२॥

वामन के अनुसार गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं, जिनके बिना काव्य की निष्पत्ति ही नहीं होती है। वामन के इसी बात से प्रभावित होकर मम्मट ने काव्य के लक्षण में "सगुणौ" कहकर गुणों की अपरिहार्यता का उल्लेख तथा "अनलंकृती पुनः क्वापि" यह लिखकर अलङ्कारों का वैकल्पिक विधान किया।

आनन्दवर्धनाचार्य का मत—

गुण तथा अलंकार के भेद के विषय में ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का मत इस प्रकार है—इन्होंने इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत् ।।१।।

अभिप्राय यह है कि काव्य के आत्मभूत रसादिरूपध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण हैं, और काव्य के अङ्गभूत शब्द व अर्थ के धर्म अलङ्कार हैं।

मम्मटाचार्य का मत—

मम्मट ने वामन के शोभाजनकत्व के स्थान पर उत्कर्षाधायकत्व हेतु को ही गुण और अलंकारों के लिए ग्रहण किया, शेष सारा सिद्धान्त ध्वन्यालोककार का ग्रहण किया। जैसे गुणों की रसधर्मता व अलंकारों की शब्दार्थ धर्मता आदि।

इसी के आधार पर इन्होंने अलंकार का भी लक्षण किया—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।३।।

गुणों की संख्या में मतभेद—

गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है, आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की संख्या दश मानी है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) समाधि (५) माधुर्य (६) ओज (७) सुकुमारता (८) अर्थव्यक्ति (९) उदारता (१०) कान्ति। दण्डी के मत में भी गुणों की संख्या दश ही है, और उनके नाम भी ये ही हैं, सिर्फ इनके स्वरूप के विषय में कुछ फर्क है। वामन ने इन गुणों शब्दगत तथा अर्तगत भेद से द्विगुणित कर दिया। फलतः वामन के मत में गुणों की संख्या बीस हो गई।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वभोजः कान्तिसमाधयः ।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा मताः ।
इति वामनोक्ता दशशब्दगुणाः दश अर्थगुणाश्च ।।

परन्तु मम्मट ने इस सभी गुणों का माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन ही गुणों में कर दिया। उन्होंने लिखा है—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।।

ये दश शब्द गुण व दश अर्थगुण जो वामन द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं, वे कुछ इन्हीं तीन गुणों में समा जाते हैं, और कुछ दोषाभावरूप हैं। कुछ दोष

के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार तीन ही गुण हैं न कि दश शब्द और दश अर्थगुण।

गुणों का स्वरूप

माधुर्य गुण का स्वरूप—ट वर्ग को छोड़कर, वर्ण का अन्तिम वर्ण संयुक्त हो, और फ से लेकर भ पर्यन्त स्पर्श संज्ञक वर्ण ह्रस्वरेफ और णकार, अल्पसमास वाली रचना माधुर्य गुण की अभिव्यञ्जक है।

ओजो गुण का स्वरूप—वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ द्वितीय और चतुर्थ वर्ग का योग हो, ऊपर नीचे या दोनों जगह रेफ हो, ट वर्ग, श ष, दीर्घसमास वाली रचना ओजो गुण की अभिव्यञ्जिका है।

प्रसाद गुण का स्वरूप—जिस शब्द या रचना के श्रवणमात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह समस्त वर्णों व रचनाओं में रहने वाला गुण प्रसाद गुण है।

विशेष लक्षण

माधुर्य गुण—चित्त के द्रुति (द्रवीभाव) का कारण है आह्लादकस्वरूप है, और यह शृङ्गार में रहने वाला है। क्रमशः—करुण, विप्रलम्भ व शान्त में उत्तरोत्तर द्रुति का आधिक्य है।

ओजोगुण—चित्त विस्तार में कारणीभूत दीप्ति ओज कहलाती है।

यह ओज सामान्यतः वीररस में रहता है, परन्तु वीभत्स व रौद्र में दीप्ति उत्तरोत्तर अधिक रहेगी।

प्रसादगुण—स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल के समान जो चित्त को शीघ्र ही व्याप्त कर लेता है, यह सर्वत्र सभी रसों में सभी रचनाओं में रहता है।

माधुर्य गुण का उदाहरण—

अनङ्गरङ्गप्रतिभं यदङ्गम्। इत्यादि

ओजो गुण का उदाहरण—

"मूर्ध्नामुद्वृत्तकृतेत्यादि"

प्रसाद गुण का उदाहरण—

परिम्लानं पीनस्तन जघान संघादुभयतः। इत्यादि।

काव्यप्रकाश में गुण विवेचन नामक

॥ अष्टम उल्लास समाप्त ॥

नवम उल्लास

शब्दालङ्कार—

प्रायः सभी आचार्यों में "शब्दार्थौ काव्यम्" कहकर शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है और अलंकार काव्यशरीर के शोभाधायक तत्त्व हैं। इसलिए काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्त्व को अलंकार कहते हैं, जैसा कि विश्वनाथ ने भी कहा है **"उत्कर्ष हेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः"**।

अर्थात्—शब्द और अर्थ अलंकार के आधार हैं। इसी के आधार पर शब्दालंकार अर्थालङ्कार और उभयालंकार की कल्पना की जाती है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में भेद शब्दपरिवृत्ति सहत्वासहत्व के ऊपर निर्भर है। या शब्दालंकार में शब्द का अलंकार के साथ अन्वय व्यतिरेक विधान भी है, **'यत्शब्दसत्वे यदलंकारसत्ता यच्छब्दाभावे यदलंकाराभावः'**, पर अर्थालंकार शब्द परिवृत्ति को सहन करता है, अर्थात् पर्यायवाचक शब्दान्तर की सत्ता में भी अर्थालङ्कार में कोई क्षति नहीं होती।

शब्दालंकारों की संख्या—

वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास ये छः शब्दालंकार हैं।

काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर ने इन्हीं छः शब्दालंकारों को एक श्लोक में गिना दिया है।

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेष चित्रके।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकृतयस्तु षट् ॥१॥

यद्यपि पुनरुक्तवदाभास केवल शब्दालंकार न होकर शब्दार्थोभयालंकार हैं, पर चिरन्तनों ने इसे शब्दालंकार में ही गिनाया है, जैसा कि कविराज विश्वनाथ ने भी लिखा है—

"शब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह इत्यादि।

(१) वक्रोक्ति

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥१॥

वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से कहा हुआ वाक्य दूसरे श्रोता या बोद्धा के द्वारा श्लेष या काकु से अन्य अभिप्राय से लगाया जाय तो श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति होती है।

उदाहरण—

काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ॥
उत्कण्ठितासि तरले नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्था ।

अत्र "अपतितया" इति पतिं विनेत्यभिप्रायकं स्ववचनं पतनाभावेनेत्यर्थे स्वेनैवान्यथा कृतम् ।

हिन्दी में—

गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा तुमहीं इक इष्ट अहो।
हौं न गऊ, नहि ही अवशा, अलिनी हौं नहि अस काहे कहो।

इस पद्य में शिव पार्वती का संवाद है।

पद्य का पूर्वार्ध शिव का वचन है, इसमें शिवजी ने पार्वती को गौरव-शालिनी प्रिया कहा है।

उत्तरार्ध पार्वती का उत्तर है, "गौरवशालिनी" इसका पदच्छेद कर पार्वती ने इसका दूसरा ही अर्थ किया। पदच्छेद इस प्रकार है—गौ+अवशा +अलिनी। अतः दूसरा अर्थ लेकर पार्वती कह रही हैं—न तो मैं गऊ हूं और न अवशा ही हूं तथा न मैं अलिनी ही हूं ऐसा क्यों कह रहे हो।

(२) अनुप्रास—

वर्ण साम्यमनुप्रासः ।

स्वरों के भेद होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता (रसानुकूल प्रकृष्ट सन्निवेश) को अनुप्रास कहते हैं।

छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

वह अनुप्रास दो प्रकार का है। छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास।

छेकानुप्रास—

अनेक व्यञ्जनों की एक बार साम्य (आवृत्ति) को छेकानुप्रास कहते हैं।

उदाहरण—

"ततोऽरुण परिस्पन्द मन्दीकृत वपुः शशी"

यहाँ पकार तथा न्द आदि अनेक वर्णों का एक बार साम्य है।

हिन्दी में—

> **राधा बर के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाय।**
> **दाख दुःखी मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय ॥**

यहाँ अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

वृत्यनुप्रास—

"एकास्याप्यसकृत् परः"

एक वर्ण का या अनेक वर्णों का अनेक बार साम्य (आवृत्ति) होने पर वृत्यनुप्रास होता है।

उदाहरण—

> **अपसारय धनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।**
> **अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥**

इस पद्य में रकार, ककार, लकार और मकार की बार-बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास नामक अलंकार है।

वृत्यनुप्रास में गुण, वृत्ति, रीति आदि का समन्वय—

वृत्यनुप्रास के प्रसङ्ग में वृत्ति शब्द की व्याख्या आवश्यक है। वृत्ति रीति मार्ग, सङ्घटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं।

उद्भट ने अपने "काव्यालङ्कारसारसंग्रह" नामक ग्रन्थ में उपनागरिका, परुषा, तथा कोमला तीन प्रकार की वृत्तियों का वर्णन किया है। इन तीन प्रकार की वृत्तियों को वामन ने तीन प्रकार की रीतियों के नाम से, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के "मार्गों" के रूप में और आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार की "सङ्घटना" के रूप में माना है।

उद्भट ने इन तीनों वृत्तियों में वर्ण के साम्य को वृत्यनुप्रास कहा है—

> **सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।**
> **पृथक्-पृथकानुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ (उद्भट)**

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति, तथा प्रवृत्ति में पार्थक्य है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, (२) विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः। (३) वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

अर्थात्—राजशेखर के अनुसार वेष का के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है। विलास का विन्यास वृत्ति है, तथा वचनों का विन्यास क्रम रीति है।

मम्मट यहाँ उद्भट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन कर रहे हैं—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते

माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका है।

ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति परुषावृत्ति है।

कोमला परैः

शेष वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला वृत्ति कहलाती है। कोई आचार्य इसी को ग्राम्या वृत्ति भी कहते हैं। ये तीनों वृत्तियाँ वामन आदि के मत में क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक रीतियाँ मानी गई हैं।

लाटानुप्रास—

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः

शब्द गत यह अनुप्रास लाटानुप्रास कहलाता है। शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अन्वय (तात्पर्य) मात्र के भेद से और लाट देश के विदग्धों को प्रिय होने से यह लाटानुप्रास कहलाता है।

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

जिसके समीप में दयिता नहीं है, उसके लिए (तुहिनदीधिति) चन्द्रमा दावानल के समान है, और जिसके समीप में दयिता है उसके लिए दावानल भी चन्द्रमा के समान (शीतल) होता है।

यहां अनेक पदों की आवृत्ति है, पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति में दवदहनत्व विधेय है, और उत्तरार्ध में तुहिनदीधितित्व विधेय है, इसलिए तात्पर्य भेद-उद्देश्य-विधेय भाव के भेद होने से यह लाटानुप्रास है।

(२) **यमक**—

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः॥
यमकम्

अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से श्रवण, (पुनरावृत्ति) यमक नामक अलङ्कार कहलाता है।

उदाहरण—

नव पलाश पलाश वनं पुरः स्फुटपराग परागत-पङ्कजम् ।
मृदुलतान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥

यह पद्य शिशुपालवध महाकाव्य के छठे सर्ग का है—भगवान् श्रीकृष्ण ने सुन्दर सुमनों से भरे हुए वसन्त को देखा, जिसमें पलाश वन नूतन किसलयों से परिपूर्ण था, और कमल पराग से व्याप्त थे, कोमल लतायें फैली हुई थी। यहां पलाश-पलाश और सुरभि-सुरभि इन दोनों जगह पदों की सार्थक आवृत्ति है, और उत्तरार्ध में लतान्त-लतान्त में प्रथम निरर्थक और द्वितीय सार्थक है।

(४) श्लेष—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दा यत्रोऽसौ श्लेषः ॥

भिन्न भिन्न अर्थों के बोधक, भिन्न भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण, जब परस्पर मिल जाते हैं तब वह श्लेष अलंकार होता है।

उदाहरण—

विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ।

समस्त देवताओं के मान्य गुरु शिवजी की भी (बाल) टेढ़े (चन्द्रमा) (या भाग्य) के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुरावस्था है, तब (क्षुद्र अत्यन्त तुच्छ) हमारी तो गिनती ही क्या है।

यहां "विधौ" इस शब्द में विधु शब्द चन्द्रमा का वाचक, और विधि शब्द भाग्य का वाचक, दोनों ही प्रविष्ट हैं, विधु और विधि दोनों शब्दों का सप्तमी के एकवचन में विधौ यह रूप बनेगा अतः यहां शब्द श्लेष है।

(५) चित्रालंकार—

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृति हेतुता ।

जहां (जिस बन्ध में) वर्णों की रचना खड्ग आदि की आकृति का हेतु, बने वह चित्र नामक अलंकार है।

उदाहरण—

भासते प्रतिभासार, रसा-भावा-हता-विभा ।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभावत ते सभा ॥१॥

हे प्रतिभासार, (अत्यन्त प्रतिभावान् राजन्!) श्रृङ्गारादि अथवा प्रीति रूप रसों से आपकी सभा अत्यन्त शोभित है। जिसमें आत्मचिन्तन होता है,

या संयमपूर्वक तत्त्वकथा में निपुण होने से आपकी सभा देव सभा की तरह है।

(६) **पुनरुक्तवदाभास (उभयालङ्कार)—**

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकार शब्दगा, एकार्थतेव।

विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहनेवाली (समानार्थक न होने पर भी) समानार्थता सी जो प्रतीत होती है वह पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार है। यह अलंकार शब्द, अर्थ व शब्दार्थोभयनिष्ठ है—

उदाहरण—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखटनखरः।
तेजो धाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥१॥

कृश शरीर (तनुवपु) होने पर भी (अजघन्य) श्रेष्ठ, बड़े श्रेष्ठ हाथियों के रक्त से रंगे हुए तीक्ष्ण नखोंवाला तेज का धाम, यह उदार मनवालों का राजा और सिंह विजयशील है।

इसमें (तनु कुञ्जर, रक्त) इत्यादि कुछ पदों के परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रहता है, उस अंश में शब्दाश्रित है, और वपुः कटि रुधिर इत्यादि के परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार हानि नहीं होती है। इसलिए उस अंश में अर्थनिष्ठ है।

अतः यह उभयालंकार है।

काव्यप्रकाश में शब्दालंकार निरूपण नामक
नवम उल्लास समाप्त हुआ।

———————

दशम उल्लास

अर्थालङ्कार—

अर्थालंकारों का विभाजन कुछ विशेष आधारों पर किया जाता है। जैसा कि नीचे दिखाया जाता है—

(१) सादृश्यमूलक (२) विरोधमूलक (३) शृङ्खलाबन्धमूलक (४) तर्क न्यायमूलक (५) लोकन्यायमूलक (३) वाक्यन्यायमूलक (७) गूढार्थ प्रतीतिमूलक। प्रत्येक वर्ग के मुख्य-मुख्य अलंकारों की विशेषता दिखलाने का प्रयास यहाँ किया जायेगा।

(१) सादृश्यमूलक अलंकार—

ये अलंकार सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते हैं। किसी अज्ञात वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अज्ञात विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वर्ग के अलंकारों में मुख्य है—उपमा, कविता के उदय के साथ साथ ही उपमा का भी उदय हो गया था।

भारतीय वाङ्मय के निधान वेदों में या वेद मन्त्रों में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता से पाठकों के मन को मुग्ध करती है।

कविता का तो प्राण ही उपमा है।

अप्पय्यदीक्षित ने उपमा की तुलना एक नटी (शैलूषी) के साथ की है। रंगमञ्च के ऊपर नटी नाना वेशभूषा से सज्जित होकर नाना रूपों में आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप में अवतीर्ण होती है, तो कभी किसी अन्यरूप में उपस्थित होती है। उसके बाहरी रूप अनेक हैं, परन्तु आवरण को हटाकर देखा जाए तो एक ही रूप उसका सर्वत्र दिखाई देगा। ठीक यही दशा उपमा की भी है, वह काव्य के रंगमञ्च पर कभी रूपक, कभी दीपक, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरञ्जन करती है।

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ (चित्र मी०)

सादृश्य की कल्पना का विवर्त अन्यान्य अलंकारों का आभास है। जैसा कि चित्रमीमांसाकार अप्पय्यदीक्षित का कहना है—

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा।
सैवोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालंकारभावं भजते ॥

तथाहि—चन्द्रइव मुखं मुखमिव चन्द्रः इत्युपमेयोपमा मुखं मुखमिव इत्यन्वयः। मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम्। मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति, इति परिणामः। किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः इति सन्देहः, चन्द्र इति चकोरादनन्मुख-मनुधावन्ति, चन्द्रोऽयं न मुखम् इत्यपह्नुयः, नूनं चन्द्रः इत्युत्प्रेक्षा चन्द्रोऽयम्, इत्यतिशयोक्तिः, इत्यादि उक्तानेकालंकारविवर्तवतीयमुपमा।

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा ॥

इस प्रकार सभी अलंकार विवर्त्तों की अधिष्ठानभूता यह उपमा है। जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से विश्व ज्ञात हो जाता है, ज्ञातव्य और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है,इसी प्रकार एक उपमा के ज्ञान से सारा अलंकार वर्ग ज्ञात हो जाता है।

आचार्य मम्मट के अनुसार उपमा अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

"साधर्म्यमुपमा भेदे"

भेदे (उपमानोपमेययोः) भेदे सति साधर्म्यम् उपमा। समानः, एक, तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययोः ॥

अर्थात्—उपमानोपमेययोः, तौ सधर्माणौ तयोर्भावः साधर्म्यम्। उपमानोपमेययोः समानधर्मेण सह सम्बन्धः, उपमा इति सूत्रार्थः।

उदाहरणम्—चन्द्रइव मनोज्ञं मुखम्।

अर्थात्—उपमा अलंकार में (१) उपमान (२) उपमेय (३) साधारण धर्म (४) उपमा वाचक शब्द इन चार पदार्थों का उपयोग होता है, दो सदृश पदार्थों में प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ उपमान होता है, और न्यून गुणवाला पदार्थ उपमेय होता है। "मुख" चन्द्रमा के समान सुन्दर है। यहाँ अधिक गुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान है, और न्यून गुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है।

सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनों में रहने वाला साधारण धर्म है और यथा इव इत्यादि शब्द उपमा के वाचक शब्द होने हैं। इस प्रकार उपमान और उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है।

परन्तु उपमा अलंकार में उपमान तथा उपमेय में भेद होना आवश्यक है। अन्यथा **"राम रावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव"** इत्यादि अनन्वयालंकार में भी

सादृश्य का वर्णन होने से लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है। इसलिए उपमा के लक्षण में भेद पद देना आवश्यक है अनन्वय में उपमान और उपमेय भिन्न नहीं रहते हैं। अतः "भेदे सति उपमानोपमेययोः साधर्म्यमुपमा", ऐसा लक्षण करने से अनन्वयालंकार में लक्षण की व्याप्ति नहीं होती है।

यह उपमा पूर्णोपमा और लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है।

उपमान, उपमेय, साधारण, और उपमावाचक इवादि पद, इन चारों का ग्रहण होने पर पूर्णा उपमा होती है, और इन चारों में से एक या दो या तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा कहलाती है।

पूर्णोपमा के छः भेद—

पूर्णोपमा—प्रथम श्रौती और आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। यह दोनों श्रौती तथा आर्थी उपमा वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत होने से छः प्रकार की होती है—

श्रौती उपमा—जहाँ उपमान के बाद उपमा वाचक—यथा, इव वा इत्यादि शब्द आयें, वहाँ श्रौती उपमा होती है। यद्यपि ये उपमा वाचक शब्द यथा इव वा, उपमान के विशेषण बनकर आते हैं, परन्तु (शब्द शक्ति की महिमा से) सुनते ही श्रवणमात्र से साधारण धर्म के सम्बन्ध रूप सादृश्य का भी बोध करा देते हैं। श्रवणमात्र से सम्बन्ध का बोध करा देने से "श्रौती उपमा" कहते हैं "तत्र तस्येव" इस सूत्र से इवार्थ में विहित वति प्रत्यय में तद्धितगा श्रौती उपमा होती है।

आर्थी उपमा—जहाँ तुल्य, सदृश, संकाश आदि उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ कभी उपमेय के साथ या कभी दोनों के साथ अन्वित होते हैं, वहाँ आर्थी उपमा होती है ये उपमा वाचक तुल्य, सदृश, निभ, इत्यादि शब्द यद्यपि साक्षात् सादृश्य के वाचक होते हैं न कि साधारण धर्म रूप सम्बन्ध विशेष साम्य या साधर्म्य के पर अर्थ के पर्यालोचन के बाद उक्त सम्बन्ध की भी प्रतीति कराते हैं, इसलिए इनके प्रयोग में आर्थी उपमा होती है, और "तेन **तुल्यक्रियाचेद्वति**" इस सूत्र से विहित वति प्रत्यय होने पर तद्धितगा आर्थी उपमा होती है।

यह उभयविध पूर्णोपमा—वाक्यगत, तद्धितगत तथा समासगत होने से छः प्रकार की होती है।

श्रौती वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

स्वप्नेऽपि समरेषु विजयश्रीस्त्वां न मुञ्चति ॥
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥१॥

यहाँ स्वाधीनपतिका उपमान है, विजयश्री उपमेय है, न मुञ्चति (अपरित्याग) साधारण धर्म है, यथा—

यह उपमा प्रतिपादक शब्द है। असमस्त यह वाक्य यथा शब्द द्वारा उपमा का प्रतिपादन होने से यह वाक्यगा श्रौती उपमा है।

आर्थी वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि संमदं विधत्ते॥

यहाँ सरसिज उपमान है आनन उपमेय है, अरुणसदृश कान्तिमत्व साधारण धर्म है। सम शब्द उपमा प्रतिपादक है। यहाँ "सरसिजमाननं च समम्" इस पर सर्व प्रथम 'सादृश्यवदभिन्नमिदं द्वयं, यह बोध होता है, पश्चात् अर्थ पर्यालोचन से या व्यञ्जना से परस्पर निरूपित साधारण धर्म सम्बन्ध की प्रतीति होती है। अतः यह वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा है।

श्रौती समासगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुछताना दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार॥

श्रीकृष्ण जिस प्रकार (विष्णुरूप में अपनी) चार भुजाओं से संसार को धारण करते हैं, उसी प्रकार यह राजा भी (साम दान दण्ड भेद रूप) चार उपायों से सदा संसार का पालन करता था। यहाँ भुजैः उपमान हैं, और उपायैः उपमेय है!

आयतत्वादि साधारण धर्म तथा इव उपमा प्रतिपादक शब्द है। **"इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च"** इस वार्तिक से भुजैः इस उपमान वाचक पद के साथ 'इव' इस उपमा वाचक पद का नित्य समास होने से यह समासगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

आर्थी समासगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर न कस्य॥

अव्यर्थ मनोरथ मार्गों के विस्तार में प्रकृष्ट गुण गरिमा के कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है, इसलिए कल्पवृक्ष के समान है।

हे राजन्? आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं! इसमें सुरतरु उपमान, क्षितीश्वर उपमेय, प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व साधारण धर्म है, सदृश

उपमावाचक शब्द है। सुरतरुसदृश में उपमान तथा उपमावाचक पदों का समास होने से यह समासगा आर्थी पूर्णोपमा है।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण—

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत्।
दुरालोकः स समरे निदाधाम्बररत्नवत् ॥१॥

उस राजा के गाम्भीर्य की गरिमा सचमुच समुद्र के समान है। युद्ध भूमि में ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान वह बड़ी कठिनाई से देखा जा सकता है।

यहाँ पूर्वार्ध में गङ्गाभुजङ्ग अर्थात् समुद्र उपमान है, तस्य उपमेय है, गाम्भीर्य गरिमा साधारण धर्म है, "**गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्**" इस विग्रह में "तत्र तस्यैव" इस सूत्र द्वारा इवार्थ में वति प्रत्यय है। अतः यहां तद्धितगा श्रौति पूर्णोपमा है।

उत्तरार्ध में निदाधाम्बर रत्न उपमान है, सः उपमेय है, दुरालोकत्व साधारण धर्म है तथा "**निदाधाम्बर रत्नवत्" में निदाधाम्बर रत्नेन तुल्यं इति निदाधाम्बर रत्नवत्**" इस विग्रह में "**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति**" इस सूत्र द्वारा तुल्यार्थ में वति प्रत्यय होने से तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा—

पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द ये चारों शब्दतः उपात्त होते हैं, इस प्रकार उपमा की सारी सामग्री शब्दतः उपस्थित होने के कारण ही इसको पूर्णोपमा कहते हैं।

लुप्तोपमा में यह सारी सामग्री शब्दतः उपात्त नहीं होती हैं, उपमान आदि चारों में से किसी न किसी का लोप अवश्य रहता है, इसलिए इसे लुप्तोपमा कहा जाता है। काव्यप्रकाश में लुप्तोपमा के १९ भेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

विभाजक हेतु	**नाम**	**उदाहरण**
धर्म लुप्ता	१. समासगता-श्रौती	वाचः सुधा इव।
साधारण धर्म के लोप	२. वाक्यगता- ,,	मुखमिन्दुर्यथा।
होने पर	३. तद्धितगता-आर्थी	मनोज्ञमवत्।
५	४. समासगता- ,,	ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः।
	५. वाक्यगता- ,,	पल्लवेन समः पाणिः।

वाचकलुप्ता	१. समासगा	कामिनी गण्डपाण्डुना ।
६	२. कर्मणः क्यचि	सुतमिवाचरति सुतीयति ।
	३. आधारात् क्यचि	अन्तःपुरे इवाचरति अन्तःपुरीयति ।
	४. क्यङ् कर्त्तरि	नारी इव आचरति नारीयते ।
	५. कर्मणि णमुलि	निदाघधर्मांशुदर्शं पश्यति
	६. कर्तरि णमुलि	पार्थं सञ्चारं सञ्चरति ।
उपमान लुप्ता	१. वाक्यगा	तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते ।
२	२. समासगता	न वा नयनतुल्यं रम्य-मास्ते ।
साधारण धम व वाचक के लोप में	१. क्वप्प्रत्ययगा	विधवति मुखब्जमस्याः ।
२	२. समासगता	मुखाब्जमस्याः ।
धर्म व उपमान के लोप में	१. समासगता	लोकेन वा नयनतुल्य-मास्ते ।
२	२. वाक्यगा	तस्या मुखेन सदृशं नास्ते ।
वाचक तथा उपमेय के लोप में १	१. कर्मणः क्यचि	सहस्रायुधीयति ।
उपमान वाचक शब्द व सामान्य धर्म तीनों के लोप होने पर १	१. समासगता	राजते मृगलोचना ।

इस प्रकार लुप्तोपमा के १९ भेद होते हैं,

अनन्वयालङ्कार—

एक ही वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय होने पर अनन्वय नामक अलङ्कार होता है।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वयः......... ।

उदाहरणम्—

राम रावणयोर्युद्धं राम रावणयोरिव ।

उपमेयोपमा—

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥

उन दोनों (अर्थात् उपमान और उपमेय) का परिवर्तन हो जाना (उपमान का उपमेय, और उपमेय का उपमान रूप में वर्णन) उपमेयोपमा नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

"कमलेव मतिर्मतिरिव कमला"

यहाँ प्रथम कमला उपमान मति उपमेय है, द्वितीय बार मति उपमान् और कमला उपमेय है।

उत्प्रेक्षा—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

प्रकृत-वर्ण्य उपमेय की सम (उपमान) के साथ सम्भावना (अर्थात् उत्कट एक कोटिक सन्देह) उत्प्रेक्षा कहलाती है।

उदाहरण—

लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुष सेवेवदृष्टि र्विफलतां गता ॥

इस पद्य में तम अन्धकार का व्यापन आदि उपमेय की लेपनादि उपमान रूप से सम्भावना की गई है।

ससन्देह—

ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।

उपमेय का उपमान के साथ समान कोटिक संशय होने पर सन्देह नामक अलंकार होता है। यह एकत्र भेद कथन तथा अपरत्र भेद के अकथन से दो प्रकार का होता है।

उदाहरण—

उपमान व उपमेय दोनों का भेद कथन—

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः।

यह (राजा) सूर्य है क्या ? (यह संशय हुआ,) परन्तु सूर्य तो सात घोड़ों से युक्त होता है, (यह भेद कथन है)।

भेद की अनुक्ति अकथन—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।

इस (नायिका) के निर्माण में क्या कान्ति को देने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था, अर्थात् क्या स्वयं चन्द्रमा ने अपनी कान्ति से इसका निर्माण किया है।

इस पद्य में उर्वशी के निर्माण में प्रकृत प्रजापतिरूप उपमेय में चन्द्रमदन वसन्तादि नाना कोटिक अप्रकृत उपमानों का सन्देह है, अतः यह सन्देहालङ्कार है।

रूपकालङ्कार—

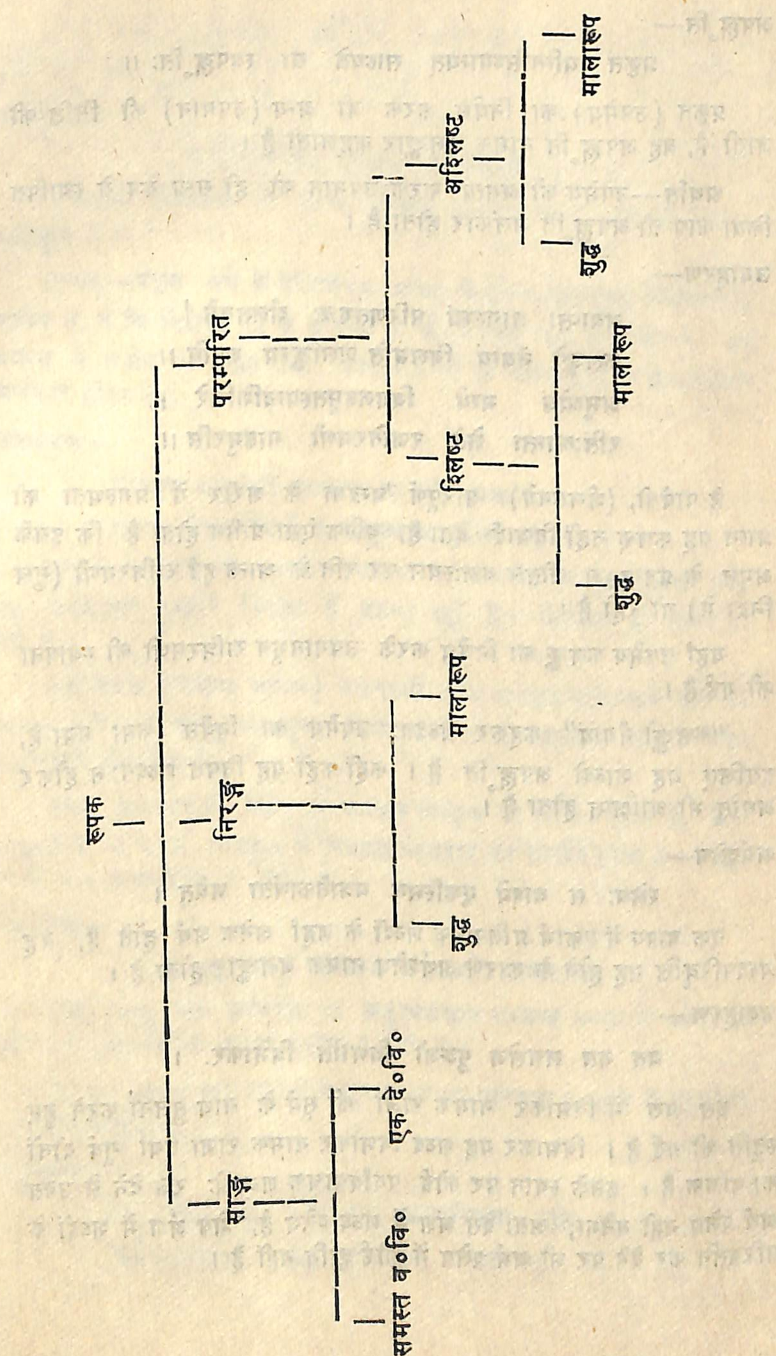
तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

उपमान और उपमेय (जिसका भेद प्रसिद्ध है, उनका सादृश्यातिशय) का जो अभेद वर्णन है वह रूपक नामक अलङ्कार है।

उदाहरण—

"विद्वन्मानसहंस"

हे राजन् आप विद्वानों के मनरूपी मानसरोवर के हंस हैं। यहाँ मन में मानसरोवर का तथा राजा में हंस का आरोप किया गया गया है। रूपक के भेद इस प्रकार हैं—


रूपक
साङ्ग
निरङ्ग
परम्परित
समस्त व०वि०
एक दे०वि०
शुद्ध
मालारूप
श्लिष्ट
अश्लिष्ट
शुद्ध
मालारूप
शुद्ध
मालारूप

अपह्नुति—

प्रकृतं यन्निसिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः ॥

प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके जो अन्य (उपमान) की सिद्धि की जाती है, वह अपह्नुति नामक अलङ्कार कहलाता है।

अर्थात्—उपमेय को असत्य करके उपमान को ही सत्य रूप से स्थापित किया जाय तो अपह्नुति अलंकार होता है।

उदाहरण—

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ॥
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे ।
रतिःश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥

हे पार्वती, (शैलतनये) परिपूर्ण चन्द्रमा के शरीर में प्रगल्भता को प्राप्त यह कलंक नहीं दिखाई देता है, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि इसके अमृत के प्रवाह से शीतल वक्षःस्थल पर रति से श्रान्त हुई रात्रिरमणी (सुख निद्रा में) सो रही है।

यहाँ उपमेय कलङ्क का निषेध करके उपमानभूत रात्रिरमणी की स्थापना की गई है।

"कलङ्को नैवायं" कहकर शब्दतः उपमेय का निषेध किया गया है, इसलिए यह शाब्दी अपह्नुति है। कहीं-कहीं यह निषेध शब्दतः न होकर अर्थात् भी आक्षिप्त होता है।

अर्थश्लेष—

श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ।

एक वाक्य में एकार्थ प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ होते हैं, वह शब्दपरिवृत्ति सह होने के कारण अर्थश्लेष नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

वत वत लसत्तेज पुञ्जो विभाति विभाकरः ।

इस पद्य में विभाकर नामक राजा की सूर्य के साथ तुलना करते हुए स्तुति की गई है। विभाकर यह शब्द विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनों का वाचक है। इसके स्थान पर कोई पर्यायवाचक शब्द के रख देने से उक्त अर्थ श्लेष नहीं बनेगा, अतः इस अंश में शब्द श्लेष है, शेष अंश में शब्दों के परिवर्तन कर देने पर भी अर्थ श्लेष में कोई हानि नहीं है।

यहाँ अभिधा का नियन्त्रण नहीं होने से विभाकर शब्द से सूर्य तथा राजा दोनों अर्थ वाच्य ही हैं।

समासोक्ति—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।

श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा अप्रकृत का कथन समासोक्ति नामक अलङ्कार है।

अर्थात्—प्रकृत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से, न कि विशेष्य पद के सामर्थ्य से जो अप्रकृत अर्थ का कथन है, वह समास से संक्षेप से प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का कथन होने से समासोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

लब्ध्वा बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्वला दुर्बला ननु सा॥

तुम्हारे बाहुस्पर्श को पाकर, जिसको अनिर्वचनीय प्रसन्नता होती थी, वह जयलक्ष्मी तुम्हारे वियोग में प्रसन्न नहीं है। निश्चय ही दुर्बल हो गई है।

यहाँ केवल (विशेष्य वाचक) जयलक्ष्मी शब्द अप्रकृत कान्तारूप अर्थ का वाचक नहीं है। अपितु श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा जयलक्ष्मी शब्द नायिका का बोधक भी होता है।

रूपक अलंकार में प्रकृत पर अप्रकृत विशेष्य का आरोप होता है, और समासोक्ति में प्रकृत व्यवहार में अप्रकृत व्यवहार का आरोप होता है। यही रूपक और समासोक्ति में भेद है।

निदर्शना—

अभवन् वस्तु सम्बन्ध उपमापरिकल्पकः॥

जहाँ वस्तु का असम्भव या अनुपपद्यमान सम्बन्ध उपमा में पर्यवसित होता है, वह निदर्शना नामक अलङ्कार होता है।

निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त बनाने वाला, उपमा परिकल्पक होने से निदर्शना यह सार्थक संज्ञा है।

उदाहरण—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुवंश) और कहाँ क्षुद्रविषयों में संचरणशील मेरी बुद्धि, इन दोनों में महान् अन्तर है, अर्थात् इतने बड़े सूर्य वंश का वर्णन मेरी क्षुद्र मति के द्वारा असम्भव है। तथापि मेरा यह सूर्य वंश के वर्णन का साहस, अज्ञानवश छोटी सी नौका से दुस्तर समुद्र को पार करने की तरह है।

इस पद्य में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वाक्यों का उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है, इसलिए यह वाक्यार्थ निदर्शना है, यहाँ निदर्शना का आकार इस प्रकार है—"मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्य वंश का वर्णन, छोटी सी नौका से सागर पार करने के समान है," वाक्यार्थ इस उपमा में पर्यवसित होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप है वहा अप्रस्तुतप्रशंसा है।

कहीं-कहीं वाच्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप से भी अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

कस्त्वं भो! कथयामि दैवदृतकं मां विद्धि शाखोटकम्।
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते।।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते।
नच्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे।।

अरे तू कौन है? बतलाता हूँ कि मुझको अभागा शाखोटक (श्मशान की अग्नि से जले हुए पत्ते आदि से रहित सिहोरा का वृक्ष) समझो।

कुछ वैराग्य से यह बात कह रहे हो, (ऐसा प्रतीत होता है) आपने ठीक समझा।

प्रश्न—ऐसा क्यों कह रहे हो?

उत्तर—यह बायीं ओर बड़ का पेड़ है, पथिक लोग उसका ही सब तरह से आश्रय लेते हैं, और मैं मार्ग में खड़ा हुआ हूँ, फिर भी मेरे पास परोपकार करने के लिए (फल आदि तो दूर रहे) छाया भी नहीं है, इसलिए मैं अपने को अभागा कहकर अपना परिचय दे रहा हूँ।

यहाँ इस अप्रस्तुत वाच्य से किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति हो रही है, जो किसी न किसी प्रकार से दूसरों की सहायता करने के लिए उत्सुक है, परन्तु या तो वह धनादि से हीन हो गया है अथवा नीच जाति का है, जिसकी सेवा लोग पसन्द नहीं करते, इसलिए वह न सहायता कर पाता है, और न लोग उसकी सहायता ही स्वीकार करते हैं, इसलिए वह दुःखी है।

यहाँ शाखोटक वृक्ष के साथ वार्तालाप सम्भव नहीं है, इसलिए उस वाच्यार्थ के ऊपर प्रतीयमान नीच जाति अथवा धनहीन दाता आदि प्रतीयमान अर्थ का आरोप करके ही अर्थ की सङ्गति होती है। इसलिए यह अध्यारोप-मूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अतिशयोक्ति—

निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा।

प्रकृत (उपमेय) का (परेण) उपमान के द्वारा निगरण करके जो (आहार्य अभेद निश्चय-कल्पित) अभेद कथन रूप अध्यवसान है, वह प्रथम अतिशयोक्ति है।

प्रस्तुत अर्थ का अन्यरूप से वर्णन द्वितीय अतिशयोक्ति है। यदि के समानार्थक शब्द द्वारा कल्पना करना तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति है, और कार्यकारण का जो पौर्वापर्य विपर्यय है वह चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति है।

उदाहरण—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

किसी सुन्दरी को देखकर किसी का कथन है—

बिना जल के कमल (नायिका का मुख) कमल में दो नील कमल (नेत्र) और वे सोने की लता में लगे हुए हैं, और वह सोने की लता (नायिका का शरीर) सुकुमार तथा सुन्दर है, यह कैसी अनर्थ परम्परा है।

यहाँ उपमान रूप कमल आदि के द्वारा उपमेयभूत मुख, नयन, शरीर का निगरण करके, कमल आदि से अभेद निश्चय (अध्यवसान) किया गया है, इसलिए यह प्रथम अतिशयोक्ति या अतिशयोक्ति सामान्य का उदाहरण है।

प्रतिवस्तूपमा—

प्रतिवस्तूपमा तु सा।
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यं द्वये स्थितिः।

जहाँ एक ही साधारण धर्म को दो वाक्यों में दो बार (भिन्न-भिन्न शब्दों (से कहा जाय वह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

देवीभावंगमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा !
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ।।

इस पद्य में उत्तरार्ध का वाक्यार्थ उपमानरूप है तथा पूर्वार्ध का वाक्यार्थ उपमेयरूप है। इसलिए वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान उपमेय होने से, उनके एक ही अनौचित्य रूप धर्म को पूर्वार्ध में "कथं भजतु" पदों से तथा उत्तरार्ध में "न खलु परिभोगयोग्यम्" इन पदों से कहा गया है। अतः यह प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।।

इन उपमान उपमेय और उनके विशेषण व साधारण धर्म आदि का भिन्न होते हुए भी औपम्य प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में पृथक् उपादानरूप (बिम्बप्रविम्बभाव) होने से दृष्टान्तालङ्कार होता है।

उदाहरण—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ।।

यहाँ नायक तथा चन्द्रमा का नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसुम का मनोभव सन्तप्त तथा सूर्यसन्तप्त का निर्वाण तथा विकास का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्तालंकार है।

दीपकालङ्कार—

सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।

प्रकृत उपमेय प्राकरणिक तथा अप्रकृत उपमान अप्राकरणिक के क्रियादि रूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय, या बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण किया जाय तो दीपकालङ्कार होता है।

उदाहरण—

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराःसिंहानाम् ।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ।।

कृपणों के धन, सर्पों के फणकी मणि, सिंहों के केसर और कुलीन बालिकाओं के स्तनों को उनके जीते जी कैसे छुआ जा सकता है।

यहाँ "स्पृश्यन्ते" यह एक क्रियापद है, इसी के साथ धन, फणमणि, केशर और स्तन आदि अनेक कारिकों का सम्बन्ध होने से यह क्रिया दीपक का उदाहरण है।

तुल्ययोगिता—

नियतानां सकृद् धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

नियत (केवल) प्रकृत या अप्रकृत का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥

हे सखि ! तेरा पीला पड़ जाना, सूखा चेहरा, स्नेह से भरा हुआ हृदय और अलसाया हुआ शरीर तेरे हृदय के असाध्य रोग को सूचित करता है ।

यहाँ विरह के अनुभावरूप में मुख की पाण्डुता तथा क्षामता, हृदय की सरसता तथा शरीर की अलसता आदि ये सभी वर्ण्य या प्रकृत अर्थ हैं । उनके साथ आवेदयति, रूप एक क्रिया का सम्बन्ध है, इसलिए यह तुल्ययोगिता अलंकार है ।

व्यतिरेक--

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

उपमान से अन्य उपमेय का जो आधिक्य (का वर्णन) वह ही व्यतिरेक अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

जन्मसिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ॥

क्षीरसागर से समुत्पन्न, कुमुदबन्धु, दिन में मलीन रहने वाला सकलङ्क बेचारा चाँद, क्या सीता जी के मुख की तुलना कर सकता है ?

यहाँ उपमान चन्द्र से सीता जी के मुख का आधिक्य वर्णन होने से व्यतिरेकालङ्कार है ।

अर्थान्तरन्यास—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥

सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न (अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार, साधर्म्य तथा वैधर्म्य से होता है ।

उदाहरण—

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशि शुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥

अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है, उसको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी (विपरीत) बुरी जान पड़ती है, पित्त से पीड़ित (पाण्डु या कामला रोग से ग्रस्त पुरुष) को चन्द्रमा के समान शुभ्र शङ्ख भी पीला दिखलाई देता है यहां अपने मन में दोष होने पर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है—इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन "पीलिया के रोगी को शङ्ख भी पीला दिखलाई देता है" इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है, यह साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है।

वैधर्म्य द्वारा विशेष का समर्थन—

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृषम्।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्य दृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः॥

अरे मेरी लम्बी आयु ने यह बड़ा अपराध किया है कि जिससे मुझे इस प्रकार का (सुहृद विनाश का) अप्रिय समाचार कहना पड़ रहा है, वे ही वास्तव में धन्य हैं जो संसार में सुहृदय के पराभव को देखे बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है।

विरोधमूलक अलङ्कार

विरोध या विरोधाभास—

विरोधः सोऽविरोधेऽपि बिरुद्धत्वेन यद्वचः।

वास्तव में विरोध न होने पर भी, जो दो विरुद्धों का कथन करना है, वह विरोध या विरोधाभास नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

इयं विशालाऽपि च भूरिशाला विराजते संस्कृतपाठशाला।

यहाँ 'विगताः शालाः यस्यां सा' इत्यादि विग्रह से जहां शाला ही नहीं, यहां भूरि बहुत शालायें भवन कैसे होंगे, इस आपाततः प्रतीयमान विरोध का परिहार विशाला बहुत बड़ी इस अर्थ से हो जाता है।

अथवा

"वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अंखियान लुनाई",

यहां आंखों की लुनाई (नमकीनपना) को मीठा बताया है, विरोध स्पष्ट है, परन्तु यहां लुनाई का दूसरा अर्थ है लावण्य—सुन्दरता, इससे इसका परिहार हो जाता है।

विभावना—

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।

क्रियतेऽनयेति क्रिया इस व्युत्पति के अनुसार यहां क्रिया शब्द का अर्थ हेतु या कारण है।

हेतु रूप क्रिया का निषेध होने पर भी फल (कार्य) की उत्पत्ति विभावना नामक अलंकार है।

उदाहरण—

कुसुमित लताभिरहताऽप्यधत्तरुजमलिकुलैरदष्टाऽपि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनी लहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ॥

खिली हुई लताओं से ताड़ित न होने पर भी (वह नायिका) पीड़ा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमर कुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी, और कमलिनियों से युक्त लहरों के चक्कर में पड़े बिना भी वह चक्कर खा रही है।

यहां लताओं का ताडनादि पीडादि में हेतु हो सकता है, परन्तु उन कारणों के निषेध करने पर भी कार्य का प्रकाशन किया गया है, इसलिए यह विभावना नामक अलङ्कार है।

विशेषोक्ति—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फल का (कार्य का) न कहना विशेषोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्य वीर्याय तस्मै मकर-केतवे ॥

जो (कामदेव) कपूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन जन में शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है।

यहां भस्म हो जाना शक्ति के क्षय में कारण है, परन्तु इस कारण के रहते हुए भी शक्तिक्षय रूप कार्य का अभाव होने से यह विशेषोक्ति अलंकार है।

असङ्गति—

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्याति सा स्यादसङ्गतिः ॥

जहां कार्यकारण वस्तुभूत दो धर्मों की किसी विशेषता के कारण भिन्न देश में एक साथ प्रतीति होती है उन दोवों की स्वभाव जन्य परस्पर सङ्गति के त्याग देने से असङ्गति अलंकार होता है।

उदाहरण—

यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले बध्वाः वेदना सपत्नीनाम् ।

जिसके घाव होता है उसी को वेदना होती है, (यह बात जो लोग कहते हैं) यह सब झूठ है। क्योंकि पति के द्वारा दन्तक्षत वधू के गाल में है, और सपत्नियों के हृदय में वेदना होती है।

यहां कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना भिन्नाधिकरण में होने से असङ्गति है, क्योंकि कार्यकारण का एकाधिकरण्य ही प्रसिद्ध है, इसी भिन्नाधिकरणरूप असंगति में ही चमत्कार भी है अतः यह असङ्गति अलंकार है।

विषमालंकार—

क्वचित् यदति वैधर्म्यान् न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एव विषमो मतः ॥

कहीं सम्बन्धियों के अत्यन्त वैधर्म्य के कारण उनका परस्पर सम्बन्ध न बनना प्रतीत हो, वह एक प्रकार का विषमालंकार होता है।

उदाहरण—

शिरीषादपि मृदवङ्गी केयमायतलोचना ।
अयं क्व च कुकूलाग्नि कर्कशो मदनानलः ॥

शिरीष के फूल से भी अधिक कोमल अङ्गों वाली कहां यह दीर्घलोचना, और कहां तुषाग्नि के समान असह्य यह कामाग्नि।

यहां मदनानल व नायिका दोनों के अत्यन्त विलक्षण होने से उनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत होता है, इसलिए यह विषमालंकार है।

शृङ्खलाबन्ध मूलक अलंकार

मालादीपक—

मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ॥

पूर्व पूर्व की वस्तु द्वारा यदि उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार (गुणाधान) किया जाए तो वह मालादीपक अलंकार होता है,

उदाहरण—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते ।
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत् समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनाऽपि भूमण्डलम्,
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

हे राजन् ? संग्राम भूमि में आये हुए आपके धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ाने पर, जिस जिस ने जो सहसा प्राप्त किया सो सुनो, (सबसे प्रथम) आपके

धनुष ने बाण को प्राप्त किया, बाणों ने शत्रुओं के शिर को प्राप्त किया, और शत्रु के शिर ने भूमण्डल पृथ्वी प्राप्त की, पृथ्वी ने आपको प्राप्त किया आपने अतुल कीर्ति प्राप्त की और कीर्ति ने तीनों लोकों को प्राप्त किया।

यहाँ पूर्व पूर्व वस्तु द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार होता है और एक ही आसादन क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध होने से मालादीपक है।

कारणमाला—

यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ॥

जहाँ अगले अगले अर्थ के प्रति पहिले पहिले अर्थ हेतु (रूप में वर्णित) हों तो वहाँ कारणमाला नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः॥

जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है, और विनय से गुणों का प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणों के प्रकर्ष से लोगों का अनुराग होता है, और जनानुराग से सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

यहाँ उत्तर उत्तर के प्रति पूर्व पूर्व की हेतुता मानकर कारणमाला अलंकार होता है, यद्यपि यहाँ अनेक कार्यों का वर्णन होने से कार्यमाला भी हो सकती है, परन्तु कारण के ऊपर ही कवि का विशेष संरम्भ होने के कारण इसे कारण माला अलंकार कहते हैं।

एकावली—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥

जहाँ पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु विशेषण रूप रखी जाए, अथवा हटायी जाय वह दो प्रकार का एकावली नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासम् अस्त्रं विलासा कुसुमायुधस्य॥

जिस (उज्जयिनी नगरी) में घर वराङ्गनाओं से युक्त हैं, और वराङ्गनायें रूप से युक्त हैं, और रूप से हाव भाव प्रकट हो रहे हैं, और वे विलास काम के अस्त्र का काम कर रहे हैं।

यहाँ पूर्व पूर्व के प्रति विशेषण रूप में उत्तर उत्तर के स्थापित किये जाने से पहिले प्रकार के एकावली का उदाहण है।

सार—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः ।

जहाँ पराकाष्ठा पर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन किया जाय वह सार नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

मखमल ते कोमल महा, कदलि-गरभ को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम तिहारे गात ॥१॥

यहाँ मखमल, केला-गर्भ का पात, और राम के गात एक दूसरे से (उत्तरोत्तर) कोमलता में बढ़कर बतलाये गये हैं।

इसलिए यहाँ सार नामक अलंकार है।

तर्क न्याय मूलक अलंकार

काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ।

हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कथन करना काव्यलिङ्ग नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा।
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक् ।
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥

हे शिवजी महाज ? इस शरीर के उत्पन्न होने से यह अनुमान होता है कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्रायः कभी नमस्कार नहीं किया, अब इस जन्म में नमस्कार करता हुआ मैं मुक्त हो जाऊँगा, इसलिए शरीर न रहने से आगे भी आपको नमस्कार नहीं कर सकूँगा, सो मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा करना।

इस पद्य में "पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्" और "अग्रेऽप्यनतिभाक्" इन वाक्यों का अर्थ अपराधद्वय का हेतु है। यद्यपि अनमन स्वयं अपराध है, इसलिए उसमें साधारणरूप हेतु हेतुमद्भाव नहीं है, परन्तु अनमन को हेतु और उससे उत्पन्न दुरित या अदृष्ट को हेतुमान कहा जा सकता है।

अनुमान--

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः

जहाँ साध्य साधन का कथन (कुछ चमत्कार पूर्ण) हो वह अनुमानालंकार कहलाता है।

अनुमान में—पक्षधर्मत्व (पक्षसत्व) अन्वयित्व (सपक्षसत्व) तथा व्यतिरेकित्व (विपक्ष व्यावृत्तत्व) रूप से तीन धर्मों से युक्त त्रिरूप हेतु, साधन कहलाता है। और धर्मी अर्थात्-पक्ष में व्यापक वह्नि आदि के अभाव का निषेध अयोग व्यवच्छेद--अर्थात्—अभाव का अभाव—अवश्य सत्ता ही उसका साध्यत्व है। (आयोग व्यवच्छेद का अर्थ यहाँ अन्यूनातिरिक्त विषयत्व भी है)।

उदाहरण—

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो, व्यापारयन्ति भ्रुवं।
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः॥
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो।
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः॥

जलतरङ्गों के समान अत्यन्त चञ्चल नेत्रों वाली ये (प्रसिद्ध तरुणियाँ) जहाँ जिस पर अपनी आंख चला देती हैं, वहीं ये (कामदेव) मर्मवेधी वाण जो निरन्तर गिरने लगते हैं, इससे विदित होता है कि धनुष को चढ़ाये हुए और बाण के ऊपर ही हाथ रखे हुए, उनका आज्ञाकारी क्रोध युक्त कामदेव सचमुच सदा इनके आगे आगे ही दौड़ता रहता है।

यहां पूर्वार्ध में कहा हुआ अर्थ साधनरूप है, और उत्तरार्ध में कहा हुआ अर्थ साध्यरूप है, इसलिए यहां अनुमान अलंकार है, यत् और तत् शब्दों से उन दोनों धर्मों की व्याप्ति सूचित की जाती है।

कहीं कहीं पहले साध्य तथा बाद में साधन का भी कथन होता है, जैसे भर्तृहरि का निम्नाङ्कित पद्य इसका उदाहरण है—

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम्।
अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते॥

वाक्य न्याय मूलक अलंकार

समुच्चय—

तत्सिद्धि हेतावेकास्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्
समुच्चयोऽसौ

उस (प्रकृत) कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य हेतु भी उसका साधक हो जाय, वह समुच्चय अलंकार कहलाता है।

उदाहरण—

> **दुर्वाराः स्मर मार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं;**
> **गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्म्मलम् ।**
> **स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो,**
> **नो सख्यश्चतुराः कथन्नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ।।**

कामदेव के बाणों से बचना ही कठिन है, उस पर भी पति दूर परदेश गये हुए हैं, मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा है, प्रेम अत्यन्त प्रगाढ़ हो रहा है, नया यौवन है, प्राण बड़े कठोर हैं, (निकलते नहीं), कुल निर्मल हैं, स्त्रीत्व धैर्य का विरोधी है, काम का परम मित्र वसन्त समय है, यमराज भी इस विषय में कुछ नहीं कर सकते, सखियां भी चतुर नहीं हैं, ऐसी दशा में इस दुष्ट विरह को कैसे सहन किया जाय ।

यहाँ केवल कामबाण ही जब असह्य हैं, तब फिर ऊपर से प्रिय विरहादि का युगपत् समापतन का वर्णन समुच्चयालङ्कार है ।

पर्याय—

एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः ।

एक वस्तु क्रम से अनेक में हो या की जाय तो वह पर्याय अलंकार होता है ।

उदाहरण—

> **नन्वाश्रय स्थितिरियं तव कालकूट ? केनोत्तरोत्तर विशिष्ट पदोपदिष्टः ।**
> **प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वरुसि वाचि पुनः खलानाम् ।**

हे कालकूट ! (विष) तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पद वाले आश्रय में रहने की स्थिति किसने बतलायी है, पहले तुम समुद्र के (हृदय) भीतर रहते थे, फिर शिवजी के कण्ठ में आये, और अब दुष्टों की वाणी में रहते हो ।

यहाँ कालकूट के अनेक स्थानों पर रहने का वर्णन किया गया, इसलिए पर्याय अलंकार का उदाहरण है ।

परिसंख्या—

> **किंचित् पृष्ठमपृष्ठं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।**
> **तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।।**

कोई पूछी गयी या बिना पूछी गई, कही गयी बात जो उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, वह परिसंख्या कहलाया है ।

अन्य प्रमाण से ज्ञात वस्तु भी जब (अनुवादरूप में) शब्द से प्रतिपादित होकर, (उस प्रतिपादन का) अन्य प्रयोजन न होने से अपने सदृश अन्य वस्तु के निषेध में परिणत हो जाता है, वह परिसंख्या अलंकार होता है ।

उदाहरण—

> किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः।
> किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः॥
> किमाराध्यं ? पुण्यं, किमभिलषणीयं ? च करुणा।
> यदासक्त्यां चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति॥

मनुष्यों को किसका सेवन करना चाहिए ? (उत्तर) गङ्गा के उत्तम तट का। एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिए ? (उत्तर) कौस्तुभ धारी भगवान् विष्णु के चरण युगल का। किसकी आराधना करनी चाहिए ? (उत्तर) पुण्य की। किसकी कामना करनी चाहिए ? (उत्तर) करुणा की। जिन गङ्गातटादि की सेवा से चित्त सदा के लिए मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

यहाँ गङ्गातट, विष्णु के चरणयुगल, आदि का सेव्यत्व तो पुराणादि में प्रसिद्ध ही है, अतः उनके सेव्यत्व का प्रतिपादन करने में इस पद्य का प्रयोजन नहीं है, अपितु इन उक्त पदार्थों का अनुवाद कर, उनसे भिन्न मुक्ति के प्रतिकूल स्त्रीनितम्बादि हिंसादि अन्य सांसारिक विषयों की सेव्यता के निषेध में ही इस पद्य का तात्पर्य है, इसलिए यह परिसंख्या का उदाहरण है।

यथासंख्य—

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।

क्रम से कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय होने पर यथासंख्य अलंकार होता है।

उदाहरण—

> एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र।
> देवद्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च॥
> तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्।
> शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च॥

हे देव ! आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों, तथा मृगनयनाओं के मन में शौर्य की गरमी से सन्ताप को उत्पन्न करते हुए, (विद्वानों के मन में) विनय से आनन्द रस को बढ़ाते हुए, और सौन्दर्य से मृगनयनाओं के मन में रति को उत्पन्न करते हुए तीन रूपों में रहते हैं, यह आश्चर्य की बात है।

इस पद्य में द्वितीय चरण में कहे हुए क्रम से ताप सम्मदरस और रति के साथ तथा तृतीय चरण में कहे हुए शौर्योष्मणा, विनयेन और लीलया का उसी क्रम से अन्वय होता है, इसलिए यह यथासंख्य अलंकार का उदाहरण है।

लोक-न्याय-मूलक अलंकार

सामान्य—

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ।।

प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु के अन्य अप्रस्तुत के साथ सम्बन्ध से दोनों के गुणों की समानता प्रतिपादन करने की इच्छा से जो उन दोनों के एकात्म्य-अभेद का वर्णन है, वह सामान्य नामक अलंकार कहलाता है ।

अर्थात्—सदृश गुणों के कारण प्रकृत का अप्रकृत के साथ जो तादात्म्य है, वह सामान्यालंकार है, जैसा कि विश्वनाथ का कथन है—

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ।।

उदाहरण—

मल्लिकाचितधम्मिलाश्चारुचन्दनचर्चिताः ।
अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभि सारिकाः ।।

मल्लिका पुष्पों से केशपाश को सजाकर, सुन्दर चन्दन से चर्चित अभिसारिकायें चांदनी में अलक्षित होती हुई सुखपूर्वक जाती है ।

यहां वर्णनीय नायिका के शुभ्रगुण और चाँदनी के एकाकार प्रतीत होने से सामान्य अलंकार है ।

तद्गुण—

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ।।

जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अति उत्कृष्ट गुणवाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वरूप या गुण को छोड़कर उस अप्रस्तुत वस्तु के रूप को प्राप्त हो जाती है, उसको तद्गुण अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विभिन्नवर्णा गरुड़ाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरी रनीलैः ।।

सूर्य के अश्वों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि गरुड़ के अग्रज अर्थात् सूर्य के सारथि अरुण की रक्त वर्ण के आधिक्य से भिन्न रंग को प्राप्त किये हुए सूर्य के घोड़े जहां बांस के अंकुरों के समान हरिद्वर्ण मरकत मणियों की चारों ओर फैलती हुई कान्ति से फिर अपनी कान्ति को प्राप्त कराये गये ।

यहां सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा अरुण के वर्ण का उत्कर्ष है, उसकी भी अपेक्षा मरकत् मणियों के वर्ण की उत्कृष्टता है। अरुण के द्वारा घोड़ों का जो रंग बदल गया था वह फिर रैवतक पर्वत के समीप आने पर मरकत मणियों के सम्पर्क से फिर घोड़ों का रंग हरा हो गया। अत्युत्कृष्ट गुण का पुनः ग्रहण कर लेने से यह तद्‌गुणालंकार है।

अतद्‌गुण—

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्‌गुणः।

समीपस्थ वस्तु का योग होने पर भी इसके द्वारा उस प्रकार के गुण का अनुसरण न किये जाने पर अतद्‌गुण होता है। अर्थात् समीपस्थ होने पर भी न्यून गुणवाला अप्रस्तुत उस प्रस्तुत गुण या वर्ण को ग्रहण नहीं करे तो अतद् गुण नाम का अलंकार होता है।

उदाहरण—

धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि॥

हे सुन्दर ! तुम यद्यपि धवल (गौरवर्ण के) हो फिर भी तुमने मेरे हृदय को रंग दिया, और मैंने तुमको रागयुक्त हृदय में रक्खा, फिर भी हे सुभग ! तुम अनुरक्त नहीं हुए।

यहां अत्यन्त अनुरक्त हृदय से संयुक्त होने पर भी नायक अनुरक्त नहीं हुआ इसलिए अतद्‌गुण अलङ्कार है।

गूढार्थप्रतीति मूलक अलंकार

स्वभावोक्ति—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

बालक आदि की अपनी (स्वाभाविक) क्रिया अथवा रूप अर्थात् वर्ण एवं अवयव संस्थान का वर्णन, स्वभावोक्ति अलंकार है।

उदाहरण—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।

इत्यादि अभिज्ञान शाकुन्तल के इस पद्य में भय से भागते हुए मृग के स्वभाव का सूक्ष्म वर्णन होने से यह स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण है।

भाविक—

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः।
तद् भाविकम्

अतीत और अनागत पदार्थ जब (भावनावश कवि के द्वारा) प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, भाविक नामक अलंकार कहते हैं।

उदाहरण—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात् कुर्वे तवाकृतिम् ॥

प्रिये ! जिनमें अञ्जन लगा हुआ था इस प्रकार के तुम्हारे नेत्रों को देख रहा हूँ, और आगे होने वाले आभूषणों से अलंकृत तुम्हारी (अनागत) आकृति को (भावनावश) साक्षात् देख रहा हूं ।

इस पद्य के पूर्वार्ध में अतीत का और उत्तरार्ध में अनागत का दर्शन है ।

व्याजोक्ति—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।

प्रकट हुए वस्तु के स्वरूप को किसी बहाने से छिपाने (के प्रयत्न या वर्णन) को व्याजोक्ति अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

शैलेन्द्र प्रतिपाद्यमानगिरिजा हस्तोपगूढोल्लसत्,
रोमाञ्चादि विसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं,
शैलान्तः पुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिवः ॥

(शिव पार्वती के विवाह में कन्यादान के अवसर पर) हिमालय के द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वती के हाथ के स्पर्श से समुद्भूत रोमाञ्चादि के कारण, सारे क्रियाकलाप के गड़बड़ा जाने से घबराये हुए, हाय हिमालय के हाथ बड़े शीतल हैं, कहने वाले हिमालय के अन्तःपुर की स्त्रियों के, मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि) एवं (नन्दी आदि) गणों के द्वारा मुस्कराते हुए देखे गये शिव तुम्हारी रक्षा करें ।

यहां पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न सात्विक भावरूप-रोमाञ्च, तथा कम्प प्रकट हो गये, परन्तु (हिमालय के हाथ स्पर्श से) शैत्य के कारण हुए हैं, इस प्रकार प्रकाशित करते हुए (उनकी सात्विकरूपता को) छिपाया गया है, इसलिए यह व्याजोक्ति अलंकार है ।

सूक्ष्म—

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्यै प्रकाश्यते ।
धर्मेण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ॥

दुर्ज्ञेय (सूक्ष्म) भी अर्थ किसी भी प्रकार से जान लिया गया है, यह बात (अथवा जाना हुआ सूक्ष्म अर्थ भी) जहां किसी (आकारादि) धर्म से दूसरे को बतलायी जाती है उसको सूक्ष्म अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसकानी।।

यहाँ विनय से भवानी जी सीताजी के मन का अभिप्राय समझ गई और मुसकाकर अपना तात्पर्य भी बता दिया। संकेत से संकेतित अर्थ का प्रकटीकरण होने से सूक्ष्म अलंकार है।

संसृष्टि—

सेष्टा संसृष्टिरे तेषां भेदेन यदिह स्थितिः।

इन (दो या अधिक) अलंकारों की यहां (काव्य या वाक्य में) भेद से (परस्पर निरपेक्ष रूप से) जो स्थिति है, वह संसृष्टि (नामक अलंकार) मानी जाती है।

शब्दालंकार की संसृष्टि—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया।।

माघ काव्य के छठे सर्ग का ऋतु वर्णन के प्रसङ्ग का यह पद्य है—

अपने मुख की सुगन्धि के लोभ से (मुख के ऊपर) मँडराते हुए भ्रमर के आतङ्क से घबराकर, और भी अधिक शोभा को धारण करने वाली, भ्रमर भय से भागती हुई, केशपाश के गिरने से और भी अधिक चञ्चल नेत्रों वाली के भागने से सुन्दर मेखला का सुन्दर शब्द होने लगा।

यहां पूर्वार्ध में "मकार" के तथा तृतीय चरण में लकार के अनेक बार प्रयोग होने से अनुप्रास अलंकार है।

चतुर्थ चरण में "लकलो लकलो" की आवृत्ति होने से यमकालंकार है, ये दोनों शब्दालंकार एक श्लोक में परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित है। अतः यहां शब्दालंकारों की संसृष्टि है।

अर्थालङ्कारों की संसृष्टि—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षनं तीवाञ्जनभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।

अन्धकार अङ्गों का लेपन सा कर रहा है, और आकाश से अञ्जन बरस सा रहा है। असत् पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो गयी है।

इस पद्य के पूर्वार्ध में तम अन्धकार के व्यापन में लेपन विषयक तथा वर्षण विषयक उत्प्रेक्षा की गई है।

उत्तरार्ध में "असत्पुरुष सेवेव" में उपमा अलंकार है। इन दोनों अर्थालङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति है।

अतः यह अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

अङ्गाङ्गिभावसङ्कर—

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्क रः।

अपने स्वरूपमात्र में जिनकी विश्रान्ति न हो, अर्थात्—जो परस्पर निरपेक्ष भाव से स्वतन्त्र अलंकार न बनते हों, उनका अङ्गाङ्गिभाव होने पर सङ्कर अलंकार होता है।

उदाहरण—

आत्ते सीमन्तरत्ने मकरतिनि हृते हेमताटङ्कपत्रे,
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे ग्रहीते।
शोणं विम्बोष्ठकान्त्या त्वदरि मृगदृशामित्वरीणामरण्ये,
राजन्! गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति॥

हे राजन्! तुम्हारे डर के मारे जङ्गलों में भागती हुई तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियों के मरकतमणियों से युक्त शिरोभूषण को छीन लेने पर (अर्थात् सर्व प्रथम शिरोभूषण दिखाई देने से जंगली भीलों ने उसको छीन लिया, उसके बाद) सोने के बने ताटङ्क पत्र के निकाल लेने के बाद, तगड़ी को तोड़ लेने पर, मणियों से जटित नूपुरों को ले लेने पर भी (सिर से पैर तक सारे आभूषण तो भीलों ने छीन लिये किन्तु उन स्त्रियों के) विम्ब फल के समान रक्तवर्ण ओष्ठ की कान्ति से लाल हो रहे, शुभ्र मोतियों के हार को यह गुञ्जा फलों की माला है ऐसा समझकर भील नहीं छीनते हैं।

यहां विम्बोष्ठ की कान्ति से सफेद मोतियों का हार भी लाल मालूम पड़ता है, यह तद्गुणालंकार है। इस तद्गुण के कारण मोतियों के हार में गुञ्जाफल की माला की भ्रान्ति हो जाने से भ्रान्तिमान् अलंकार उत्पन्न हो गया है, और उस भ्रान्तिमान के कारण तद्गुण अलंकार सहृदयों के लिए और भी चमत्कार जनक हो उठा है, इसलिए इन दोनों के एक दूसरे के उपकारक होने से उनका अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।

काव्य प्रकाश का अर्थालंकार निरूपण नामक
दशम उल्लास समाप्त हुआ

शुभम्—भूयात्

काव्यप्रकाशग्रन्थे प्रतिपादितानां विषयाणाम्
उल्लासानुसारिणी सूची

विषयभेदानुरोधाद् ग्रन्थमध्ये कृतविभागानामगृहीतस्वरूपाणां

काव्यप्रकाशीयकारिकाणां स्वरूपम्

———:o:———

[प्रथम उल्लासः]

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

* (१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।
(२) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥
(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।
(४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

[द्वितीय उल्लासः]

(५) स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।
(६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्यु (७) स्तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥
(८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।
(९) साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥ ७ ॥
(१०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।
(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥ ८ ॥
(१२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ ९ ॥
(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थे स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणञ्चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ १० ॥

(*) एतादृशचिह्नमध्यवर्तिनी संख्या विषयभेदसंसूचिकेति ज्ञेयम् ।

(१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

(१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ ११ ॥

(१६) भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।

गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ (१७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥

(१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

(१९) तच्च गूढमगूढं वा (२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

(२१) तद्भूर्लाक्षणिक (२२)स्तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

(२४) नाभिधा समयाभावाद् (२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

(२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ १६ ॥

(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षतिकारिणी ।

(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥

(२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

(३०) विशिष्टे लक्षणा नैवं (३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥

(३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दो (३४) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ २० ॥

[तृतीय उल्लासः]

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम् (३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥ २१ ॥

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ २२ ॥

(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥ २३ ॥

[चतुर्थ उल्लासः]

(३९) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

(४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥ २५ ॥

(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥

(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥ २७ ॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ २८ ॥

(४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ २९ ॥

(४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३० ॥

(४६) निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।

आलस्यं चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ ३१ ॥

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।

गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥ ३२ ॥

सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।

मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३३ ॥

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ३४ ॥

(४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

(४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥ ३५ ॥

भावः प्रोक्त (४९) स्तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।

(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः सबलता तथा ॥ ३६ ॥

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

(५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

(५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते ॥ ३८ ॥

प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

(५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥ ३९ ॥

प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलंकृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।
(५५) शब्दार्थोभयभूरेको (५६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ ४१ ॥
(५७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।
(५८) वाक्ये द्व्युत्थः (५९) पदेऽप्यन्ये (६०) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥
(६१) पदैकदेश-रचना-वर्णेष्वपि रसादयः ।
(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत् (६३) तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
(६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (६५) शरेषुयुगखेन्दवः ॥ ४४ ॥

[पञ्चम उल्लासः]

(६६) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।
(६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥
(६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।
(६९) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्याऽतिभूयसी ॥ ४७ ॥

[षष्ठ उल्लासः]

(७०) शब्दार्थचित्रं यत् पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥ ४८ ॥

[सप्तम उल्लासः]

(७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ ४९ ॥
(७२) दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥ ५० ॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥ ५१ ॥
(७३) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥ ५२ ॥

(७४) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ५३ ॥
अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥ ५४ ॥
भग्नप्रक्रममक्रममततपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।
(७५) अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥ ५५ ॥
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥ ५६ ॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥ ५७ ॥
(७६) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
सन्निधानादिबोधार्थं (७७) स्थितेष्वेतत् समर्थनम् ॥ ५८ ॥
(७८) ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टत्व (७९) मनुकरणे तु सर्वेषाम् ।
(८०) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ ॥ ५९ ॥
(८१) व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः ॥ ६० ॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥ ६१ ॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतानां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥ ६२ ॥
(८२) न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित् ।
(८३) सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥ ६३ ॥
(८४) आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥ ६४ ॥
(८५) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ ६५ ॥

[अष्टम उल्लासः]

(८६) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवाऽऽत्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ६६ ॥

(८७) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥

(८८) माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

(८९) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ ६८ ॥

(९०) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

(९१) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ६९ ॥

(९२) बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याऽऽधिक्यं क्रमेण च ।

(९३) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ॥ ७० ॥
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

(९४) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥

(९५) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७२ ॥

(९६) तेन नार्थगुणा वाच्याः (९७) प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ।
वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥ ७३ ॥

(९८) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अ-टवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ ७४ ॥

(९९) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शसौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥

(१००) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥

(१०१) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन कचित् कचित् ।
रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

[नवम उल्लासः]

(१०२) यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काका वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ७८ ॥

(१०३) वर्णसाम्यमनुप्रास (१०४) श्छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

(१०५) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व (१०६) एकस्याप्यसकृत् परः ॥ ७९ ॥

(१०७) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

(१०८) ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा (१०९) कोमला परैः ॥ ८० ॥

(११०) केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

(१११) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥ ८१ ॥

(११२) पदानां सः (११३) पदस्यापि (११४) वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च (११५) तदेवं पञ्चधा मतः ॥ ८२ ॥

(११६) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकं (११७) पादतद्भागवृत्ति तद् यात्यनेकताम् ॥ ८३ ॥

(११८) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ ८४ ॥

(११९) भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

(१२०) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥ ८५ ॥

(१२१) पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव (१२२) शब्दस्य (१२३) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ८६ ॥

[दशम उल्लासः]

(१२४) साधर्म्यमुपमा भेदे (१२५) पूर्णा लुप्ता च (१२६) साऽग्रिमा ।
श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥ ८७ ॥

(१२७) तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

(१२८) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥ ८८ ॥

(१२९) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुल्येतद् (१३०) द्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ८९ ॥

(१३१) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

(१३२) क्यचि वाद्युपमेयासे (१३३) त्रिलोपे च समासगा ॥ ९० ॥

(१३४) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयो (१३५) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥ ९१ ॥

(१३६) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

(१३७) ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥ ९२ ॥

(१३८) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

(१३९) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥ ९३ ॥

(१४०) श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्ति तत् ।

(१४१) साङ्गमेतद् (१४२) निरङ्गं तु शुद्धं (१४३) माला तु पूर्ववत् ॥ ९४ ॥

(१४४) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥ ९५ ॥

(१४५) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

(१४६) श्लेषः स वाक्य एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥ ९६ ॥

(१४७) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्ति (१४८) र्निदर्शना ।
अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ९७ ॥

(१४९) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ।

(१५०) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥ ९८ ॥

(१५१) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ ९९ ॥

(१५२) निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ १०० ॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा (१५३) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १०१ ॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

(१५४) दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥ १०२ ॥

(१५५) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ १०३ ॥

(१५६) मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ।

(१५७) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ १०४ ॥

(१५८) उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

(१५९) हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥ १०५ ॥
शब्दार्थाभ्यामथाऽऽक्षिप्ते श्लेषे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।

(१६०) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥ १०६ ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

(१६१) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ १०७ ॥

(१६२) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

(१६३) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ १०८ ॥

(१६४) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥ १०९ ॥

(१६५) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

(१६६) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥ ११० ॥

क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

(१६७) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ १११ ॥

(१६८) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

(१६९) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥ ११२ ॥

(१७०) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

(१७१) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ॥ ११३ ॥

(१७२) प्रत्यक्षा इव यद् भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।

तद् भाविकं (१७३) काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥ ११४ ॥

(१७४) पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वचः ।

(१७५) उदात्तं वस्तुनः सम्पद् (१७६) महतां चोपलक्षणम् ॥ ११५ ॥

(१७७) तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत् ।

समुच्चयोऽसौ (१७८) स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः ११६ ॥

(१७९) एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायो (१८०) ऽन्यस्ततोऽन्यथा ।

(१८१) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥ ११७ ॥

(१८२) विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

(१८३) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥ ११८ ॥

(१८४) किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।

तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥ ११९ ॥

(१८५) यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात् (१८६) क्रियया तु परस्परम् ॥ १२० ॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् (१८७) उत्तरश्रुतिमात्रतः ।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥ १२१ ॥

असकृद् यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।

(१८८) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥ १२२ ॥

धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते ।

(१८९) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः ॥ १२३ ॥

(१९०) भिन्नदेशतयाऽत्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।

युगपद् धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ॥ १२४ ॥

(१९१) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

(१९२) समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥ १२५ ॥

(१९३) क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्त्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥ १२६ ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥ १२७ ॥

(१९४) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥ १२८ ॥

(१९५) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्त्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ १२९ ॥

(१९६) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनाऽऽगन्तुना वाऽपि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ १३० ॥

(१९७) स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥ १३१ ॥

(१९८) यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः।
स्मरणं (१९९) भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ॥ १३२ ॥

(२००) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥ १३३ ॥

(२०१) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत् सामान्यमिति स्मृतम् ॥ १३४ ॥

(२०२) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥ १३५ ॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥ १३६ ॥

(२०३) समुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥ १३७ ॥

(२०४) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः।

(२०५) यद् यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ १३८ ॥
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः।

(२०६) सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥ १३९ ॥

(२०७) अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः।

(२०८) एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥ १४० ॥

(२०९) स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च (२१०) तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥ १४१ ॥

(२११) एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ॥ १४२ ॥

ॐ नमः शिवाय

काव्यप्रकाशः

प्रथम उल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय [1]समुचितामिष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

महेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य्यकृतादर्शाख्यटीका

मुखैश्चतुर्भिः स्तुवते विधात्रे स्तोत्रे श्रुतीनाञ्च चतुष्टयाय ।
भुजैश्चतुर्भिश्चतुरोऽर्थवर्गान् नमो ददानाय चतुर्भुजाय ॥ १ ॥ (A)

दुर्व्याख्याजनितप्रमोहशमनी वैषम्यविध्वंसिनी
वैशद्याद्‌तिरोचनी रसखनी काव्यार्गलोद्घाटिनी ।
टीका विज्ञजनप्रमोदजननी भावार्थचिन्तामणी
भट्टाचार्य्यमहेश्वरेण रचिता काव्यप्रकाशोपरि ॥ २ ॥ (B)

काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने[2] ।
[3]अम्लायमानाऽपि ममास्तु टीका माधुर्य्यधुर्य्यैकसुधाघटीका ॥ ३ ॥ (C)

(A). मुखैरिति । अत्र चिकीर्षितग्रन्थस्य काव्यदोषादिनिरूपणपरतया कविसम्प्रदायाकुलीभावमाशङ्क्य प्रथममादिकवेर्ब्रह्मणस्ततः शब्दात्मकतया तत्प्रधानभूतायाः श्रुतिदेव्यास्ततश्च ताभ्यामपि स्तूयमानस्य सकलपुरुषार्थदातुर्नारायणस्य नमस्कारः । नमस्कारबाहुल्यमपि सति विघ्नबाहुल्ये तद्विघातो बहुमङ्गलाचरणसाध्य इति शिष्यशिक्षार्थमेव । 'स्तोत्रे' इति चतुर्थ्यन्तं पदं स्तोतृशब्दस्य भाषितपुंस्कतया सिद्धम् । ब्रह्मणा श्रुतिभिश्च कृतो नारायणस्तवः श्रीमद्‌भागवतादौ प्रसिद्धः ।

(B). खनीमणीशब्दौ स्त्रियामीबन्तौ कोषप्रसिद्धौ ।

(C). वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने मम टीका अम्लायमानाऽपि माधुर्य्यधुर्य्यैकसुधाघटीका अस्त्वित्यन्वयः । अत्र शोभनवर्णशालित्वं काव्यप्रकाशकाञ्चनयोः

---

1. 'समुचितेष्ट-' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 2. '-काञ्चने' ख । 3. 'म्लायमाय-' क ।

दोषो विचारसुलभो यदि दूष्यतां तद्
दूये न तत्र शृणुतैकमिदन्तु धीराः ।
ग्रन्थान्यथार्थमतिसंस्कृतमानसत्वाद् (A)
व्याख्या मम प्रथममेव न दूषणीया ॥ ४ ॥

सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने [1]शास्त्रान्तरे प्रवर्त्तयितु-मग्निपुराणादिभ्य उद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्। तदुक्तम्—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपभुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ इति ।

मम्मटभट्टस्तु ताः कारिकाः सोदाहरणं व्याख्यातुं कारिकाग्रन्थादिभूतां नियतिकृते-त्यादिकारिका[2]मुत्थापयति—**ग्रन्थारम्भ** इत्यादि। ग्रन्थो महावाक्यविशेषः, स च महाजनानां ग्रन्थत्वेन व्यवहारमात्रपरिचेयः। न च विभिन्नदोषगुणालङ्कारबोधकानां विभिन्नवाक्यानामेकवाक्यत्वाभावात् कथं कारिकासमुच्चयरूपस्यास्य ग्रन्थस्य महा-वाक्यत्वमिति वाच्यम्, 'तददोषौ शब्दार्थावि'त्यादिवक्ष्यमाणकाव्यलक्षणवाक्यो-

---

साधर्म्यम्। अत्र वर्णपदं श्लिष्टम्। वैषम्यं दुरूहार्थत्वं तदेव दोषः। असम्यगुल्लेखकृतदोषश्च तेन अर्पितां ज्ञापितां निधापिताञ्च कालिकां कार्ष्ण्यं कलङ्कमिति यावत्, अञ्चति प्राप्नोतीति तादृशे। गत्यर्थधातोर्ज्ञानार्थकतायामविवादेन णिजन्ताद् ऋधातोर्निष्पन्नस्य अर्पितपदस्य ज्ञापनार्थत्वम्। अञ्चन इति नन्द्यादित्वादनः। टीकाया अम्लायमानत्वं म्लानिराहित्यमदुष्टत्वमिति यावत्। काञ्चन-पक्षे—अम्लायमानत्वममूलसदृशत्वम्, अम्लरसस्य च सुवर्णशोधकत्वं प्रसिद्धम्। अत्र शानच्प्रत्ययः 'आत्मनेपदमिच्छन्ति परस्मैपदिनां क्वचि'दिति न्यायेन 'शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते' इतिवदुप-पादनीयः, अन्तर्भाविणिजर्थतया कर्म्मणि वाऽयं प्रयोगः। अम्लसादृश्येन प्राप्तां दुरास्वादत्वशङ्का-मपाकरोति—माधुर्य्येति। अत्र विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन सुधाघटीत्यस्य घटीसम्मितसुधेत्यर्थः। तथाच माधुर्य्यधुर्य्या एका सुधाघटी यस्या इति टीकाविशेषणम्। एवञ्च मदीयटीकाया माधुर्य्यं प्रचुरतरसुधायामेव लभ्यते नान्यत्रेति भावः। यथाश्रुते सुधाघट्या माधुर्य्याश्रयत्वं परम्परासम्बन्धेन। 'अम्लायमाने'त्यत्र 'आम्नायमाने'ति पाठे अभ्यस्यमानेत्यर्थः। 'कालिकाञ्चने' इत्यत्र 'कालिकाञ्जने' इति पाठे कालिका अञ्जनमिवेत्यर्थः। अस्य आद्यं पादद्वयमिन्द्रवंशाच्छन्दसा निबद्धम्, अन्तिमं तद्द्वयन्तु इन्द्रवज्राच्छन्दसेति उपजातिवृत्तम्। "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजात-यस्ताः। इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥" इति तल्लक्षणम्।

(A). ग्रन्थस्य अन्यथार्थमत्या अयथाभूतार्थज्ञानेन संस्कृतमाहितदुष्टसंस्कारं मानसं येषां तद्भावादित्यर्थः।

---

1. 'तर्कादिशास्त्र' ख। 2. '-कां व्याख्यातु-' क।

त्थापिताकाङ्क्षयैव समस्तदोषगुणालङ्कारबोधककारिकाणामुत्थापनात् तदाकाङ्क्षा-पूरणरूपैकप्रयोजनवत्त्वेन समस्तवाक्यानामेकवाक्यत्वात्। तदुक्तम्—

"अर्थै[1]क्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" इति। (A)

जै. सू. ४६, पा. १, अ. २,

तत्र च अर्थैक्यादित्यस्य प्रयोजनैक्यादित्यर्थः। **परमानन्दचक्रवर्त्ती** तु ग्रन्थ-लक्षणमन्यदेवाह; यथा—प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽभिधीयमानसम्बन्धप्रयोजनकः सन्दर्भो ग्रन्थ इति, तन्न; अस्त्युत्तरस्यां दिशीत्यादिकुमारसम्भवकाव्यादिरूपग्रन्थेषु[2] सम्बन्धप्रयोजनयोरेकस्याप्यनभिधानादव्याप्तेः, तद्योग्यतायाश्च ग्रन्थत्वं विना अन्यस्या दुर्व्वचत्वात्; सुखबोधार्थममुकस्य लक्षणवाक्यस्य व्याख्या मया क्रियत इत्युक्ति-पूर्व्वके तल्लक्षणव्याख्यानेऽग्रन्थरूपे[3]ऽतिव्याप्त्यापत्तेश्च। तस्य प्रकृतकारिका-ग्रन्थस्य, "आरम्भे" आद्यकृतिप्राक्कालरूपेऽधिकरणे, **समुचितामिष्टदेवतां** भारतीम्, **ग्रन्थकृत्** कारिकाकृत् परामृशतीत्यन्वयः। यदि चारम्भपदस्याद्य-कृतावेव शक्त्या तत्प्राक्कालपरत्वे लक्षणापरयाऽसन्तोषस्तदा आरम्भे भाविनीति पूरणा-दन्वयः 'अनुमान' इत्यत्र निरूपणीय इति पूरणवत्(B); तदा च सति सप्तम्येवेयम्, आद्यप्रयत्ने भाविनि सतीत्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु निमित्तसप्तम्येवेयं, आरम्भनिमित्तं परामृशतीत्यर्थ इत्याह, तन्न; निमित्तस्येष्टदेवतापरामर्शस्य फले आरम्भे प्रदर्शिते विघ्नविघातरूपफलान्तरप्रदर्शने चकार एव तदा निर्दिष्टः स्यात् (C) तदनिर्देशाच्च तत्र तात्पर्य्याभावनिर्णयात्; आरम्भसामान्ये व्यभिचाराद्कारणस्य तत्परामर्श-

(A). "एकार्थप्रतिपादकयोर्घटोऽस्ति कलसोऽस्तीत्यादिवाक्ययोरेकवाक्यतावारणाय साकाङ्क्षत्व-निवेशः तदुत्थाप्याकाङ्क्षानिवर्तकत्व-तन्निवर्त्तनीयाकाङ्क्षोत्थापकत्वान्यतररूपवत्त्वमेव तत्साकाङ्क्ष-त्वम्,'''परस्परसहकारेण विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वं दलद्वयार्थ" इति गदाधरः। "विभागे" पृथक् पठने, विच्छिद्य पठन इति केचित्।

(B). 'तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिरि'त्यनुमानचिन्तामणिग्रन्थस्य व्याख्यानावसरे 'तत्र लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिभिरनुमाने निरूपणीये' इति दीधितावुक्तम्। तत्र मूलस्थस्य तत्रेति पदस्य अनुमानपरत्वं निरूपणीये इत्यस्य च पूरितत्वमिति व्याख्यानम् 'केचित्तु' इत्यादिना गदाधरेणोल्लिखितम्।

(C). तथाच वृत्तौ ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय चेति पाठोऽभविष्यदित्यर्थः।

1. 'अर्थैकत्वात्' चौखाम्बा सं। 2. '-सम्भवादिरूपग्रन्थेषु' ख; '-सम्भवादिकाव्यग्रन्थे' ग।
3. 'ग्रन्थत्वेनाव्यवह्रियमाणे' ग।

स्यारम्भविशेषे कारणताप्रदर्शनस्य प्रवृत्त्यनुपयोगित्वेन तत्प्रदर्शनानुपयोगाच्च[1]। **परामृशतीति** विलक्षणरूपेण शाब्दबोधविषयीकरोतीत्यर्थः, ज्ञानार्थकस्य परा-पूर्व्वमृशधातोस्तात्पर्य्यवशादीदृग्ज्ञानविशेषपरत्वात् न्यायशास्त्रे व्याप्यवत्ताज्ञान-परत्ववत्(A), तथाच विलक्षणरूपेण तद्विषयकशब्दप्रयोग(B) एवात्र स्तुतिरूपं मङ्गलम्। तत्फलमाह—**विघ्नविघातायेति**। यद्यपि निर्व्विघ्नं समाप्यतामिति शिष्टानां कामनादर्शनान्निर्व्विघ्नसमाप्तिरेव मङ्गलफलं सेद्धुमुचितं तथाऽपि [2]मङ्गलं विनाऽपि प्रमत्तानुष्ठितसमाप्तिदर्शनाद्व्यभिचारेण निर्व्विघ्न-[त्व]विशेषणांश एवासौ कामना अहं सुखी स्यामित्यत्र सुखरूपविशेषणांश इवेत्यतो विघ्नविघातांश एव मङ्गल-फलं 2.* समाप्तिस्तु स्वकारणादेवेत्यन्यत्र विस्तरः। चक्रवर्त्ती तु व्याप्यवत्ताज्ञानरूपो नैयायिकव्यवह्रियमाण[3]परामर्श एवात्र परापूर्व्वमृशधातोरर्थः ; तथाच—उत्कर्षव्याप्य-निर्म्मित्याधानस्य श्लोकार्थत्वेन तद्वत्तया जानातीत्यर्थ इत्याह,—तन्न ; श्लोके जय-व्याप्यताया अप्रदर्शितत्वात् निर्म्मितिमादधती जयतीति वाक्येन निर्म्मित्याधानवत्यां जयस्य विधेयतया प्रतीत्या आधानवत्तया जानातीति भवद्(तद् ?)व्याख्याने आधानस्य विधेयत्वोक्तेर्व्याख्यानव्याख्येययोर्विसंवादाच्च। अन्ये तु नमस्यता-व्याप्योत्कर्षवत्तया परामृशतीत्यर्थः, जयतीत्यनेन नमस्यताव्याप्योत्कर्षबोधनात् ; अत एव "जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यते" इति वृत्तौ नमस्यतारूपनमस्कारानुमानं

(A). तथाच विश्वनाथः—'व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते' इति।

(B). शब्दप्रयोगस्य तद्विषयकत्वमत्र तेन रूपेण वाग्देवताविषयकशाब्दबोधजनकत्व-मिति ध्येयम्।

---

1. अतः परं व-पुस्तके—'निमित्तसप्तम्या हि द्विविधोऽर्थः, स्वप्रकृत्यर्थेऽन्यपदार्थं कारणत्वरूपं निमित्तत्वमित्येकः, यथा चर्म्मणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्र प्रकृत्यर्थे चर्म्मणि हननविशेषस्य कारणता न तु हननसामान्यस्य, चर्म्म विनाऽपि तदुत्पत्तेः। स च प्रकृते न सम्भवति मङ्गलं विनाऽपि उत्पद्यमानमारम्भसामान्यं प्रति मङ्गलस्यानिमित्तत्वाद् आरम्भविशेषं प्रति निमित्तत्वस्य तु प्रवृत्त्यनुपयोगित्वेन वक्तुमनुचितत्वात्। स्वप्रकृत्यर्थं प्रति अन्यस्य निमित्तत्व-मित्यपरोऽर्थः, यथा—पुत्रकन्याविवाहे नान्दीमुखमित्यत्र स्वप्रकृत्यर्थं विवाहं प्रति नान्दीमुखस्य कारणत्वम् ; स चात्र न सम्भवति, आरम्भस्य मङ्गलाजनकत्वात्। यदि च आरम्भायेत्येवं चतुर्थ्यर्थे सप्तमीत्युच्यते तथाऽपि आरम्भे विघ्नविघातायेति चकाराप्रयोगान्न वक्तुं तत्र तादर्थ्यमित्यास्तां विस्तरः।' इत्यधिकः पाठः।

2. ग-पुस्तके 'अहं सुखी स्यामिति कामनया (-नायाः) ? आत्मांश इव विशिष्यसमाप्त्यंशे तत्फलत्वबाधाद्विघ्न-विघातांश एव तत्फलत्वं सिध्यतीत्यतो विघ्नविघातायेत्युक्तम्, विशिष्यसमाप्त्यंशे बाधस्तु मङ्गलं विनाऽपि प्रमत्तानु-ष्ठितसमाप्त्याऽवसेयः।' इति पाठः।

3. 'व्याहृतित-' ग।

दर्शयिष्यत इत्याहुः, तन्न; उत्कर्षार्थकस्य जिधातोर्नमस्यताख्यार्थकत्वाभावेन[1] बाधितस्य तादृशार्थस्य व्याख्यानानौचित्यात् 1*; नमस्कार आक्षिप्यत इत्यस्य तु नमस्कारो व्यज्यत इत्येवार्थः। नमस्कारपदस्य नमस्यतापरत्वे (A)लक्षणापत्तेश्चानुपादेय एव तादृशोऽर्थः। वागात्मकस्य ग्रन्थस्यारम्भे वाग्देवताया एवेष्टफलार्थं परामर्ष्टुमौचित्यादाह—**समुचितेति**। शीघ्रेष्टफलदातृत्वमेव समुचितत्वम्। तादृश्या अपि [2]वैरिदेवतात्वे तत्फलादानादाह 2*—**इष्टेति**। ग्रन्थकृच्चात्र कारिकाकृद् भरतमुनिरेव तदीयसंहितायामासां कारिकाणां दर्शनात्; न तु वृत्तिकृदेव कारिकाकृत् परामृशतीत्यादिषु सर्व्वत्र नामयोगोचि. प्रथमपुरुषनिर्द्देशस्वरसात्, अन्यथाऽस्मद्योगोचितोत्तमपुरुष एव निर्द्दिश्येत। किञ्च—

"समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा"

इति वक्ष्यमाणसमस्तवस्तुविषयरूपकलक्षणे आरोपिता इत्यारोपितपदेन रूप्यरूपकोभयमालकथनाद् बहुवचनानुपपत्त्या "अत्र बहुवचनमविवक्षित"मिति यद् वृत्तिकृता लिखिष्यते तावताऽपि वृत्तिकृतः कारिकाकृद्भिन्नत्वमवसीयते, स्वीयकारिका.वे श्रौतावारोपितौ यदेत्येव[3] क्रियेत मुनिकारिकात्वेनैव बहुवचनाविवक्षाकथनात् ३*। यत्तु "त्रिलोपे च समासगे"त्यन्ताभिः कारिकाभिरुपमाग्रन्थे समापिते—

'अनयेनेव राजश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता।
मम्लौ सा च विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा॥"

इत्येवं मालोपमा तु न लक्षितेति वृत्तावेवोक्ते 'माला तु पूर्व्ववदि'ति रूपकग्रन्थे मालोपमातुल्यतया मालारूपकं सूत्र एवोक्तं, सूत्र[4]कृद्वृत्तिकृतोर्भेदे तदनुपपन्न[5]मित्याहुस्तत्रापि नानुपपत्तिः त्रिलोपे च समासगेत्यत्र चकारस्यानुक्तमालोपमासमुच्चयपरत्वेन सूत्र एव मालोपमाया उक्तत्वेन तत्तुल्यतया मालारूपककथनेऽनुपपत्त्यभावात्। माला तु न लक्षितेत्यस्य तु विशिष्य न लक्षिता चकारेण तु लक्षितैवेत्यभिप्रायः।

(A). स्वावधिकोत्कर्षवत्तया ज्ञापनरूपस्य नमस्कारस्य नमस्कर्तृनिष्ठत्वेन नमस्यताया नमस्कार्य्यनिष्ठत्वेन तादृशोऽर्थः लक्षणां विनाऽनुपपन्न इति भावः।

---

1. 'भावेन तस्य तदर्थकताया: प्रदर्शनस्य पराभ्युपगतीतानेन वक्तुमसामर्थ्यात्', ग।

2. 'अनिष्टदेवतात्वे तत् फलं न स्यादित्यत आह' क।

3. 'निर्दिष्टं स्यात्तत्वे बहुत्वाविवक्षाव्याख्यानानौचित्यात् परकीयकारिकायास्तु पाठपरावर्त्तनानौचित्याद युज्यत एव बहुवचनमविवक्षितमिति वक्तुम्' ग।

4. 'कारिकाकृ-' ख। 5. 'एवं कारिकाकृता मालोपमायाः पूर्व्वमनुक्तत्वात्' इति ख।

नियतिकृतनियमरहितां [A]ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

परामर्शनीयमर्थमाह—नियतीति । तथाच इत्थं परामृशतीति बोध्यम् । श्लोकार्थस्तु भारती वागधिष्ठात्री देवता जयति उत्कृष्टा । [1]यतो नियतिकृतेत्यादि विशेषणवैशिष्ट्येन ब्रह्मनिर्म्मितितो विलक्षणां कवेः काव्यरूपां निर्म्मितिम् आदधती जनयन्ती ; भारतीप्रसादादेव कविना काव्यकरणाद्भारत्या अपि काव्यकर्त्तृत्वात् । ब्रह्मनिर्म्मितिवैलक्षण्यमेवाह—नियतिकृतेति । नियतिः अदृष्टं तत्कृतः तन्निरूप्यः नियमः जन्यतारूपः तद्रहिताम् अदृष्टाजन्यामित्यर्थः, शब्दार्थोभयात्मनः काव्यस्यालीकमुखाद्यात्मककमलाद्यर्थांशेऽदृष्टाजन्यत्वात् ; शब्दांशे तु तज्जन्यत्वमस्त्येवेति बोध्यम् । न चैवमर्थांशो भारत्या अप्यजन्य एवेति कथं तदाधानात्तस्या उत्कर्ष इति वाच्यम्, वस्तुतोऽनाधानेऽपि तज्जन्यशब्देनोपनिबन्धस्यैव तदाधानत्वेनोपचारात् तावतैवोत्कर्षवत्त्वाच्च । यद्वा नियम्यत इति नियतिः संसारस्तत्र कृतो नियमः जल एव पद्मं नाङ्गनायामित्येवंरूपस्तद्रहिताम्, कविनिर्म्मितावङ्गनायामपि मुखाद्यात्मककमलाद्युपलम्भात् । चक्रवर्त्ती तु नियतिरदृष्टं तत्कृतो नियमः नियमविशेषः चन्द्र एव चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वाद्यवगम इत्येवंरूपः तद्रहितामित्यर्थः । कविनिर्म्मितौ मुखेऽपि चन्द्रपदप्रयोगेणाह्लादकत्वावगमादित्याह,—तन्न ; कविनिर्म्मितावपि चन्द्रे चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वावगमात् तद्राहित्याभावात् । अथ चन्द्र एवेति नियमः कविनिर्म्मितौ नास्तीति चेत् तत् किमचन्द्रे चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वानवगम इत्येव नियमः ; स च ब्रह्मनिर्म्मितावेवास्ति न कविनिर्म्मिताविदर्थः ; तर्हि तस्यानवगमस्यात्यन्ताभावरूपत्वेन तत्र नियतिकृतत्वं बाधितमेव । यदि च अचन्द्रवृत्त्यभावप्रतियोग्याह्लादकत्वावगम एव नियमपदार्थस्तथाऽपि नियतिकृतत्वविशेषणं तत्र व्यर्थमेव जन्यभावमात्रस्यैव नियतिकृतत्वेनाव्यावर्त्तकत्वात् । किञ्च ब्रह्मनिर्म्मितावप्यचन्द्रे लक्षणया चन्द्रपदप्रयोगः आह्लादकत्वरूपप्रयोजनावगमः (च ?) तत्रेत्यतस्तादृशनियमस्तत्रापि नास्त्येव । ह्लादैकेति । ह्लादः सुखं स एव एकः केवलः दुःखासम्भिन्नो यतस्तन्मयीं तत्स्वरूपाम्, स्वार्थे मयट् । अनन्येति अन्यत् स्वभिन्नं स्वीयसमवाय्यादिकारणं तदपरतन्त्रां तदनधीनां, परतन्त्रपदस्य पराधीनार्थकत्वेऽपि पदान्तरोत्तरवर्त्तित्वेऽधीनमात्रार्थकत्वात् ; एतदप्यलीकार्थांश-

(A) ह्लादेन एकमयीम् आनन्दैकस्वभावामित्यर्थः ।

1. 'कथमुत्कृष्टा ? यतो' ग ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः

मात्रे बोध्यं न तु जन्ये शब्दांशे। यद्यप्येतावतैव नियतीत्यादेरपि गतार्थता, तथाऽपि गोवृषन्यायात् पृथगुपादानं समवाय्यादिकारणानधीनान्नियत्यधीनाश्च ध्वंसतोऽपि वैलक्षण्यलाभार्थम्। चक्रवर्त्ती तु (A) साङ्ख्यमते कार्य्यकारणयोरभेदेन प्रतिभाजन्यात् काव्यादनन्या प्रतिभा तत्परतन्त्रामिति व्याचष्टे, तन्न ; अनन्येत्यन्यपदार्थ एव नञर्थान्वये परमाण्वाद्युपादानपरतन्त्रा ब्रह्मनिर्म्मितिस्तद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्म्मितिरिति वृत्तिविरोधापत्तेः तत्र परतन्त्रपदार्थ एव नञर्थान्वयभानात्। नवरसेति। नवसङ्ख्या रसाः शृङ्गारादयो यत्रेति बहुव्रीहिः, ततश्च सा चासौ रुचिरा चेति कर्म्मधारयः ; तेन नवरसत्वं रुचिरत्वञ्चेति द्वयमत्र विधेयम् ; तेन विशेषणद्वयेनैव ब्रह्मनिर्म्मितितो वैलक्षण्यं बोध्यम् ; रसपदस्य श्लिष्टत्वेन ब्रह्मनिर्म्मितेर्मधुरादि षड्रसत्वाद् रुचिरमात्रत्वाभावाच्च। अत एव नवरसै रुचिरामिति न तत्पुरुषस्तदा नव[रस]त्वस्य विधेयत्वाप्रतीतेः, नवभी रसै रुचिरामित्येवं तत्पुरुषे त्रिपदतदनङ्गीकारोऽपि दोषः। दर्शितबहुव्रीहौ तु वपुर्विरूपाक्षमित्यत्राक्ष्णोर्वैरूप्यमिव पूर्व्वपदार्थो नवत्वं विधेयतयैव प्रतीयते ; व्यक्तीभविष्यति चाग्रे वृत्तौ बहुव्रीहिरेव।

कविनिर्म्मितौ ब्रह्मनिर्म्मितितो वैलक्षण्यं [1]व्याख्यातुमादौ नियतिकृतेत्यादिविशेषणैरात्तिप्तानि ब्रह्मनिर्म्मितिविशेषणानि वृत्तिकृद्दर्शयति—नियतिशक्त्येति। नियतरूपा ब्रह्मणो निर्म्मितिरित्यग्रेणान्वयः। एवमुत्तरत्रापि। "नियते" रदृष्टस्य "शक्त्या" कारणतारूपसामर्थ्येन "नियतरूपा" तज्जन्यरूपेत्यर्थः, कविनिर्म्मितिस्त्वर्थांशे तदजन्येति वैलक्षण्यम्। "सुखदुःखेति" इदं मोहान्तं तज्जनकपरं(B) सुखादिजनकस्वभावेत्यर्थः। (C) "परमाण्वादी"ति उपादानकारणं समवायि-

---

(A). अत्रेदं चिन्तनीयम् साङ्ख्यै रुपादानोपादेयभावस्थल एव कार्य्यं कारणाभेदाभ्युपगमेन अत्र निमित्तभूतायां प्रतिभायां तत्कार्य्यात् काव्यादभेदोक्तिः कथं सङ्गच्छत इति।

(B). यद्यपि साङ्ख्यमतानुसारेण निर्म्मिते वस्तुनि सुखदुःखमोहस्वभावा इति यथाश्रुतमेव सङ्गच्छते तथाऽपि वृत्तौ परमाण्वाद्युपादानेत्यादिदर्शनात् न्यायमतानुसारेण व्याचष्टे तज्जनकपरमिति।

(C) जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठैकभागो यः परमाणुः स कीर्त्तितः॥

---

१. 'साधयितु-' ख, ग।

तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्-निर्मितिः, अत एव जयति ; जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ।

कारणम् ; सर्व्वत्र कारणपदार्थान्वयः(A)। "कर्म्म" कुम्भकारादिक्रिया। रसपदस्य श्लिष्टत्वादाह—"षड्रसेति" मधुरादिरसषट्कवतीत्यर्थः ; अनेन नवरसेत्यत्र बहुव्रीहिर्व्यक्तीकृतः। तथाच रसाधिक्यादपि कविनिर्म्मितौ वैलक्षण्यं दर्शितम्। वैलक्षण्यान्तरमपि दर्शयति—न चेति। ब्रह्मनिर्म्मितौ रसैर्न हृद्येति वक्तुमशक्यं मधुराद्यैर्हृद्यत्वादतो रुचिरामित्यत्र रुचिरमात्रामित्यर्थमभिप्रेत्य ब्रह्मनिर्म्मितौ तन्मात्रत्वाभावमेव दर्शयति—"न चेति"। "तै" रसैः, तिक्तादिनाऽहृद्यत्वादित्यर्थः। हेत्वाकाङ्क्षासत्त्वादेव तैरित्याक्षिप्य दर्शितं, न तु नवरसरुचिरामित्यत्र तत्पुरुष-लभ्यत्वादिदमुक्तमिति भ्रमः कार्य्यः, तत्र बहुव्रीहेरेवोक्तयुक्त्या दर्शितत्वात्। न च रुचिरामित्यत्र रुचिरमात्रामित्यर्थे ह्लादैकेत्यनेन पौनरुक्त्यं ह्लादैकजनकत्वरुचिरमात्रत्वयोः सुखमात्रजनकत्वरूपत्वादिति वाच्यम्, पूर्व्वत्रालङ्काराधीनह्लादस्य इह तु रसाधीनह्लादस्य विवक्षितत्वेन भेदात्। "निर्म्माणमिति" आक्षिप्तनिर्म्मितिपदार्थ एव व्याख्यातः कृदभिहितभावत्वेन (B)निर्म्मितमित्येव तस्याप्यर्थः। इत्थं ब्रह्मनिर्म्मितिविशेषणा-न्येव दर्शयित्वा नियतिकृतेत्यादिभिः कविनिर्म्मितिविशेषणानि श्लोकोक्तानि तद्वैलक्षण्यबोधकानीत्याह—एतद्विलक्षणा त्विति। "वाचा" कण्ठताल्वा-द्यभिघातेन "निर्म्मितिः" वाङ्निर्म्मितिः ; कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यशब्देनार्थस्या-प्युपनिबन्धादर्थस्यापि वाङ्निर्म्मितित्वेनार्थांशे वैलक्षण्यस्यापि वाङ्निर्म्मितिवैल-क्षण्यात्। अत एवेति विलक्षणकार्य्यकारित्वादेवेत्यर्थः। स्तुतिरूपमङ्गलस्या-प्यस्य मानसनमस्कार(C)व्यञ्जकत्वमपीत्याह—जयत्यर्थेनेति। स च नमस्कार-स्तादृशस्तुतिकर्त्तुरेवेत्याह—तां प्रत्यस्मीति। लभ्यते स्तुतिश्रोतृभिः।

(A). द्वन्द्वात् परं पूर्व्वं वा यः श्रूयते स प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति न्यायादिति भावः।

(B). निर्म्मितिपदस्य भावप्रत्ययान्ततया क्रियामात्रवाचित्वे तत्र मधुरादिषड्रसत्वमनुप-पन्नमित्यतो जगत्परतया व्याचष्टे—निर्म्मितमिति।

(C). अयं भावः। जयत्यर्थ उत्कर्षः, स च विशेषानुपादानात् सर्व्वप्रतियोगिक इति लभ्यते भारत्यां सर्व्वोत्कृष्टत्वज्ञाने तुल्यवित्तिवेद्यतान्यायेन प्रकारान्तरेण वा भारत्यपेक्षया सर्व्वस्याप-कृष्टत्वज्ञाने सर्व्वान्तःपातिनि स्वस्मिन्नपि आराध्यापेक्षयाऽपकृष्टत्वज्ञानं व्यञ्जनया वृत्तमेवेति बालबोधिनी।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताऽऽचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवाऽनर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव

विचारणीयकाव्यस्य प्रयोजनसत्त्व एव तद्विचारकालङ्कारशास्त्रे जनः प्रवर्त्तते, अतः काव्यस्य प्रयोजनदर्शिकां कारिकामुत्थापयति—**इहाभिधेयमिति**। इह अलङ्कारशास्त्रे यद् अभिधेयं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यचित्रात्मकं त्रिविधं काव्यं तत् सप्रयोजनम् इति कारिकाकृद् आहेत्यर्थः। "सप्रयोजनमाहे"ति पाठे काव्यमुद्देश्यत्वेन प्रयोजनञ्च विधेयत्वेन सहैवाहेत्यर्थः।

अर्थकृते इति, अर्थो धनं तस्य कृत् करणमुपार्ज्जनं तस्मै इत्यर्थः। एवं विद् वेदनं ज्ञानम्, युक् योजनं प्राप्तिस्तस्यै इत्यर्थः। सर्व्वत्र सम्पदादित्वाद् भावे क्विप। यशआदिषु चतुर्थ्यर्थं करोतिना विवृण्वन्नाह—**कालिदासादीनामिति**। अत्र कवीनामित्युपमेयं बोध्यम्। एवमुत्तरत्रापि। 'यशः' करोतीत्यग्रेणान्वयः। 'काव्यं' कर्त्तृ। कालिदासादीनामिवेत्यनेन संवादप्रदर्शनाद् यशःकरणे बाधः परिहृतः। एवमुत्तरत्रापि। 'श्रीहर्षो' राजा; धावकेन कविना रत्नावलीं नाम नाटिकां तन्नाम्ना कृत्वा ततो धनं लब्धम्। व्यवहारं व्याचष्टे—**राजादीति**। आदिना अमात्यादिगतराजाचारपरिग्रहः, काव्येन तदुभयस्यैव वर्णनात् ततस्तज्ज्ञानम्। शिवेतरस्यानर्थहेतुत्वेन[1] तत्क्षतिमाह—**आदित्यादेरिति**। आदित्यस्तुतिरूपात् (A)काव्यान्मयूरभट्टस्य कुष्ठित्वनिवृत्तेः। सद्यः परेत्यादिकं व्याचष्टे—**सकलेति**। 'मौलिभूतं' (B)प्रधान-

---

(A). काव्यादिति। सूर्य्यशतकनाम्नः।

(B). प्रधानभूतमिति। प्रयोजनं हि मुख्यगौणभेदेन द्विविधम्, तत्र कीर्त्तिधनादेरुपायतया गौणत्वमानन्दस्य तु फलत्वान्मुख्यत्वमिति तस्य प्राधान्यम्।

---

1. '-स्यानर्थरूपहेतुत्वेन' ख, ग।

(A)रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्याऽन्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मित-शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीति-

भूतम्; इयं परपदव्याख्या[1]। 'समनन्तरं' काव्यार्थबोधानन्तरम्; इयं सद्यः-पदव्याख्या[2]। निर्वृतिपदं रसरूपानन्दपरतया व्याचष्टे—**रसास्वादेति**। रसरूपं यदास्वादनं तद्रूपं सत् 'समुद्भूतं' सम्भूतं वा पाठभेदात्; उभयथाऽप्युत्पन्नमित्यर्थः, रसस्य स्वप्रकाशानन्दरूपतया उत्पद्यमानत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्; (B) स च न कार्य्य इत्यनेन तु [3]कार्य्यज्ञानान्तरवैलक्षण्यमेव साधयिष्यते, न तु कार्य्यत्वाभाव इति तत्रैव व्याख्यास्यते। तत्काले विषयान्तरबोधो नास्तीत्याह—**विगलितेति** ज्ञानाविषयीभूतेत्यर्थः। विलक्षणं काव्यमेवैतत् करोतीत्यतः काव्यपदं विलक्षणकाव्यपरतया व्याख्यातुमाह—**प्रभुसम्मितेति**(C)। प्रभुरत्र प्रभोरादेशः, 'तत्सम्मितं' तत्तुल्यं यत् 'शब्दप्रधानं वेदादिशास्त्रम्,' आदिपदात् [4]वैदिकमन्त्रश्च(D) ततो विलक्षणमित्यर्थः। रणसिंह इति कस्यचिन्नाम्नि प्रभुणाऽऽदिष्टे [5]यथा संग्रामसिंह इति न व्यवह्रियते प्रभोरादेशस्य शब्दप्रधानत्वात्, तथा वेदोक्तशब्दस्यापि परिवृत्त्यक्षमत्वात्(E) शब्दप्रधानत्वम्। **सुहृदिति**। अत्रापि सुहृत् सुहृदुपदेशः,

(A). रसास्वादनपदम् आस्वादनपदस्य करणव्युत्पत्त्या रसानामास्वादनं यस्मादिति बहुव्रीहिणा वा विभावादिसंयोगपरम्, ततः समुद्भूतमुत्पन्नमित्यर्थः। अनेन एतदानन्दकारणस्य लौकिकानन्दकारणवैलक्षण्योक्त्या फलीभूतानन्दस्य वैलक्षण्यं लभ्यते विगलितेत्यादिविशेषणान्तरमप्यत्रोपयुज्यते आभ्याञ्च निर्वृतेः परत्वमुपपद्यते इति ध्येयम्।

(B). प्रतीकोऽयं चतुर्थोल्लासे अभिनवगुप्ताचार्य्यमतोल्लेखावसरे द्रष्टव्यः।

(C). 'वेदः पुराणं काव्यञ्च प्रभुर्मित्रं प्रियावच' इति प्राचामाभाणकोऽत्र उपजीव्यतयाऽनुसन्धेयः।

(D). अत्र 'अवैदिकमन्त्र' इति युक्तः पाठः, वैदिकमन्त्रस्य वेदान्तर्गतत्वादेव आदिपदेन तद्ग्रहणस्यानौचित्यात्।

(E). परिवृत्त्यक्षमत्वादिति। स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यादिना वेदानां तत्तदानुपूर्व्या एव पाठस्य फलवत्त्वं बोधितम्, न तु 'अग्निमीडे' इत्यादेः समानार्थकस्य वह्निं स्तौमीत्यादेः न वा ईडे अग्निमित्यादिव्युत्क्रमेण पाठस्य इति तेषां शब्दप्रधानता। प्रपञ्चितमेतन्निरुक्ते "नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति" "अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्" (अ १ पा ५) इत्यादिभिः। एवमवैदिकमन्त्रेष्वपि।

1. '-पदार्थं व्याख्या' क-ख। 2. '-पदार्थं व्याख्या' क-ख। 3. कार्यान्तरवैलक्षण्य-' ख। 4. 'वैदिकमन्त्र-परिग्रहः' ग। 5. 'यथा शब्दपरावर्त्तनेन' ख-ग।

हासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन (A)रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसताऽऽपादनेनाऽभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।

तत्तुल्यं यदर्थतात्पर्य्ययुक्तं पुराणादिरूपमितिहासशास्त्रम्; आदिपदादुपपुराणपरिग्रहः, ततोऽपि विलक्षणमित्यर्थः। सुहृदुपदेशपुराणयोर्द्वयोरपि अर्थस्यैव ग्राह्यत्वं न तु शब्दपरिवृत्त्यसहत्वमतोऽर्थतात्पर्य्यवत्त्वम्। तेभ्यो वैलक्षण्ये हेतुमाह—शब्दार्थयोरिति अर्थोऽत्र वाच्यो लक्ष्यश्च। तयोर्गुणभावे हेतुमाह—रसाङ्गेति। रसाङ्गभूतः रसबोधकः व्यापारो व्यञ्जनात्मकः यस्मै व्यङ्ग्याय, तत्प्रवणतया व्यङ्ग्यप्रधानतयेत्यर्थः; व्यङ्ग्यार्थस्यैवास्वाद्यत्वेन तत्प्रधानता। यद्यपि रसस्य साक्षात्कार एव वक्ष्यते, तथापि प्रथमं व्यञ्जना, तत एव साक्षात्कार इति सिद्धान्तयिष्यमाणत्वाद्व्यञ्जनाया रसाङ्गत्वम्। भट्टलोल्लटमते तु रसस्य व्यञ्जनैवेति तन्मते स्पष्टमिदम्। तादृशं काव्यं न सामान्यकविसाध्यमित्यत आह—लोकोत्तरेति, अन्यलोकविलक्षणवर्णनायां निपुणस्य कवेः कर्म्मेत्यर्थः। कान्तासम्मिततयेति व्याचष्टे—तत् कान्तेवेति। "तत्" काव्यं कर्त्तृ। सरसता शृङ्गारोन्मुखता, काव्येनापि प्रथमं शृङ्गारादि[1]रसबोधनं ततो वर्णितार्थे प्रवृत्तिनिवृत्ती उपदिश्येते। उपदेशस्याकारमाह—रामादीति। रामस्य पित्राज्ञादिपालनकृत्य इव प्रवृत्त्युपदेशः; रावणस्य परदारहरणादिकृत्य इव निवृत्त्युपदेशः। 'उपदेशञ्चेति' चकारः पूर्व्वोक्तयशआदिकर्म्मसमुच्चये। यथायोगमिति यथासम्भवमित्यर्थः। तेन यशोऽर्थौ कवेरेव, व्यवहारोपदेशपरनिर्वृतयः सहृदयस्यैव शेषमुभयोः। सर्व्वथा तत्रेति। 'तत्र' काव्ये काव्यार्थबोधे च। तत्तत्फलार्थं कविना सहृदयेन च सर्व्वथा यतनीयमित्यर्थः।

(A). रसाङ्गेति। रसानामङ्गभूतः बोधकत्वेनोपकारको यो व्यापारः साधारणीकरणरूपो भोजकत्वाख्यो वा तत्प्रवणतया तत्परतयेत्यर्थः। एवञ्च—सति करणव्यापारे तत्फलस्य रसास्वादस्याचमत्कारभावात् तत्रैव चरमतात्पर्य्येण शब्दार्थयोरत्र गुणत्वमिति ध्येयम्।

---

1. 'रसान्मा (रसोत्सा ?) दनं क-ग।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

शक्तिर्निपुणता[A] लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

अस्येति काव्यस्य काव्यार्थबोधस्य च कारणमाहेत्यर्थः । एतेन [1]काव्यतदर्थबोधयोः कारणकथनमुपक्रान्तमिति बोध्यम् । तद्द्वयकारणमाह[1]* शक्तिरित्यादि । लोकाद्यवेक्षणान्निपुणतेत्यन्वयः । काव्यज्ञपदं काव्यकर्त्तृतद्विवेचकोभयपरतया स्वयमेव व्याख्यास्यते, एवमुद्भवपदमप्युत्पत्तिज्ञप्त्युभयपरतया । तत्र

A. निपुणतेति । इह प्रसङ्गात् साधुशब्दग्रथनाद्युपयोगमन्तरेणापि व्याकरणादिशास्त्रावेक्षणाहितनैपुण्यस्य काव्यनिर्म्माणे तदर्थबोधे च उपयोग उदाहरणैः प्रदर्श्यते ।

तत्र व्याकरणनैपुण्यं यथा—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेतेति मुनेर्मतम् ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥

लिङ्गानुशासननैपुण्यं यथा—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः ।
मनस्तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम् ॥

उपनिषन्नैपुण्यं यथा—

अणोरणीयान् महतो महीयान् योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनायाः ।
स्पृष्ट्वा सखे सत्यमिदं ब्रवीमि यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् ॥

अन्यच्च—

ब्रह्मैव सर्व्वमपरं न तु किञ्चिदस्ति तस्मान्न मे सखि परापरभेदबुद्धिः ।
जारे यथा गृहपतौ च तथा रतिर्मे मूढाः किमर्थमसतीति कदर्थयन्ति ॥

साङ्ख्यनैपुण्यं यथा—

प्रतिपुरुषं सन्निहिताः कृत्यपरा विविधकरणकोपचिताः ।
बहुलार्थग्राहिण्यः प्रकृतय इव दुर्ग्रहा गणिकाः ॥

वैशेषिकशास्त्रनैपुण्यं यथा—

अविदितसुखदुःखं निर्गुणं वस्तु किञ्चिज्-
जडमतिरिह कश्चिन्मोक्ष इत्याचचक्षे ।

---

1. 'काव्यकर्त्तृकाव्यबोद्धृद्वयोरेव यतनीयत्वोक्तत्वात्, अत एव द्वयोरेव कारणत्रयमाह' क ।

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न

शक्तिद्वयम्। तदुभयकारणद्वयं व्याचष्टे—**शक्तिः कवित्वबीजेति** जनिका बोधिका च शक्तिरित्यर्थः। एवञ्च कवित्वबीजेत्यत्रापि कवित्वतदर्थबोधबीजेत्यर्थः। उभयोर्भेदेऽपि संस्कारत्वेनैकत्वादेकवचनम्[1]। संस्कारश्चात्र अतीन्द्रियात्मगुणरूपतया पुण्यविशेष एव; तथाच तदुभयजनकौ पुण्यविशेषावित्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु भावनाख्यसंस्कारमेवाह, तन्न; स्मृतिं विना तस्यान्यत्राजनकत्वात् पदार्थस्मारकभावनायाश्च सर्व्वसाधारणत्वेनाव्यावर्त्तकत्वात् काव्याकर्त्तृकाव्याबोद्धव्यावर्त्तनाय पुण्यविशेषस्यावश्यकत्वाच्च। तादृशशक्तिद्वयस्य तादृशं फलद्वयं प्रति कारणताग्राहकं तद्द्वयव्यतिरेकेण तत्तत्फलद्वयव्यतिरेकमाह—**यां विनेति प्रसृतं वेति च।**

मम तु मतमनङ्गस्मेरतारुण्यघूर्ण-
न्मदकलमदिराक्षीनीविमोक्षो हि मोक्षः॥

पूर्व्वमीमांसानैपुण्यं यथा—

तमो द्रव्यं नैल्याद् घटवदिति माने समुदिते
यदीदं रूपि स्यात् कथमिव न हि स्पर्शगुणवत्।
इतीवासत्तर्कं शिथिलयितुमन्तर्व्यवसिता
तमोवृन्दं धत्ते कचभरमिषेणेन्दुवदना॥

न्यायशास्त्रनैपुण्यं यथा—

भावादभावाद् यदि नातिरिक्तः सम्बन्धिभिः स्वीक्रियते पदार्थः।
जन्याविनाशि प्रतियोगिशून्यं श्रीलक्ष्मणक्षौणिपतेर्यशः किम्॥

योगशास्त्रनैपुण्यं यथा—

आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयनं तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनञ्चेदमिदञ्च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते
तद् ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि भोः किं वा वियोगिन्यसि॥

शास्त्रसङ्करनैपुण्यं यथा—

गृहोदन्तं किञ्चिच्छृणु कथयतो मत्त उदितं
न विश्वासो न्याये कथमपि तव स्यास्यति यतः।
अभूत्सौ काठिन्यं मनसि मिलितञ्चाप्यणुतया
महामानं मोदप्रचयपरिणामं विमृशतः॥

---

1. 'श्लोपाध्यैकादिक-' क।

तत्र काव्यस्य जनकताग्राहकं 'यां विनेति' यां शक्तिं विनेत्यर्थः। तस्या बोधकताया ग्राहकं प्रसृतं वेति ; अत्रापि यां विनेत्यस्यान्वयः। वाकारः अप्यर्थे ; तथा च जनिकया शक्त्या प्रसृतं जातमपि काव्यं यां बोधिकां शक्तिं विना उपहसनीयं स्यादित्यर्थः। सत्काव्योपहासादेव च तदर्थबोधव्यतिरेकलाभः। एतेन जनकशक्तिव्यतिरेकेण प्रसृतत्वासम्भवो नाशङ्कनीयः जनकशक्तिव्यतिरेकेण प्रसृतत्वस्यानुक्तत्वात्। मैथिलास्तु अनुपहसनीयकाव्यकारणकथनमेवात्रोपक्रान्तमित्यभिप्रायेण अनुपहसनीयकवित्वबीजरूपः संस्कारविशेष इत्यर्थः ; तथाच अनुपहसनीयं काव्यं यां विना न प्रसरेत् प्रसृतश्च यत् काव्यं तदुपहसनीयमेव न त्वनुपहसनीयमित्यर्थ इत्याहुः, तन्न ; काव्यपदस्यात्र अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे प्रसृतं वेति वाकारेण तत्रैव प्रसृतत्वान्वयबोधतात्पर्य्यस्य ग्राहणीयत्वनियमात् न तूपहसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरे(A), उपहसनीयकाव्यरूपधर्म्य न्तरस्य शब्दादप्रतीतेः(B) बोधकशक्त्यकथने 'इति त्रयस्तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्म्माणे समुल्लासे च हेतु'रिति वृत्त्यनुपपत्तेश्च[1]।

अन्ये तु तर्कपरमेवेदम्, तथाच यां विना यदि प्रसृतं स्यात् तदा अकाव्यत्वेनोपहसनीयं स्यादित्यर्थ इत्याहुः, तदपि न ; [2]यथाश्रुतस्यास्य तर्कस्य घटादावेव व्यभिचारेण मूलशैथिल्यात्(C) यां विना प्रसृतं काव्यं स्यादित्यापादकदलार्थकरणे तु काव्यपदस्यासत्काव्यसाधारणपरत्वे इष्टापत्तिः, अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे तु तस्य शक्तिं विना प्रसृतत्वाप्रसिद्ध्या आपादकाप्रसिद्धिः, अनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयो-

---

(A). धर्म्म्यन्तर इति। तादृशबोधतात्पर्य्यग्रहः सम्भवतीत्यर्थः।

(B). शब्दादप्रतीतेरिति। तथाच शक्तिं विना अनुपहसनीयकाव्यस्य प्रसृतत्वमेव नोपपद्यते तादृशस्योपहसनीयत्वन्तु नितरामिति भावः। अत्रानुपहसनीयकाव्यभिन्नकाव्यमित्यध्याहारेण तत्रैव प्रसृतत्वान्वयः सम्भवति नञ्द्वयोपादानाच्च नोद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यमित्यस्वरसादाह—बोधकेति।

(C). मूलशैथिल्यादिति। व्याप्तिग्रहासम्भवादिति भावः।

---

1. '-नुपपत्तेश्च, त्रयान्तर्गतायाः शक्तेर्बोधकारणतानुक्तौ तादृशोपसंहारानुपपत्तेः', क। अयम् अधिकोऽंशः पूर्व्वभागस्य टिप्पनीति प्रतिभाति।

2. 'यथाश्रुतस्यास्य तर्कस्य शक्तिं विना प्रसृतेऽनुपहसनीये घट एव व्यभिचारेण मूलशैथिल्यात्। यदि च यां विना यदि प्रसृतं काव्यं स्यादितत्रापादकदलार्थस्तदा काव्यपदस्यासत्काव्यसाधारणत्वे इष्टापत्तिरनुपहसनीयकाव्यपरत्वे तु शक्तिं विना तत्प्रसृतत्वासिद्ध्या आपादकासिद्धिरनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयोर्विरोधान्मूलशैथिल्यञ्च। अथ काव्यं यदि इतरकाव्यकारणेभ्यः प्रसृतं स्यात्तदा उपहसनीयं स्यादिति तर्कार्थस्तथाच उपहसनीयकाव्य एव तत्प्रसिद्धिरिति चेन्न शक्तिं विना अभ्यासनिपुणतासहितेन मन्त्रेण जनिते अनुपहसनीये

प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्; लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मक-लोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दो-व्याकरणा-भिधानकोष-कला(A)चतुर्वर्ग-गजतुरग-खड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्

विरोधो मूलशैथिल्यञ्च। अथानुपहसनीयं काव्यं पक्षः, तथाच अनुपहसनीयं काव्यं यदि शक्तिं विना प्रसृतं काव्यं स्यात्तदा उपहसनीयं स्यादसत् काव्यवदिति तर्क-परिष्कार इति चेत्तथाऽपि वृत्तिविरोध एवात्र प्रागुक्तः[2]*।

लोकशास्त्रेत्यादिकं व्याचष्टे—लोकस्येति। लोकवृत्तस्यैव वर्णनीयत्वेन लोक-मात्रावेक्षणं तत्रानुपयुक्तमतो लोकपदं तद्वृत्तपरतया व्याचष्टे—लोकवृत्तस्येति। अत्रेक्षणादित्यस्य विवरणं विमर्शनादिति, अत्रैव च सकलषष्ठ्यन्तपदार्थान्वयः।

(A) कला गीतादयश्चतुःषष्टिभेदाः, यथा—गीतं (१) वाद्यं (२) नृत्यम् (३) आलेख्यम् (४) विशेषच्छेद्यम् (५) तण्डुलकुसुमबलिविकाराः (६) पुष्पास्तरणम् (७) दशनवसनाङ्गरागः (८) मणिभूमिकाकर्म्म (९) शयनरचनम् (१०) उदकवाद्यम् (११) उदकाघातः (१२) चित्राश्च योगाः (१३) माल्यग्रन्थनविकल्पाः (१४) शेखरापीडयोजनं (१५) नेपथ्यप्रयोगाः (१६) कर्णपत्रभङ्गाः (१७) गन्धयुक्तिः (१८) भूषणयोजनम् (१९) ऐन्द्रजालाः (२०) कौचुमाराश्च योगाः (२१) हस्तलाघवं (२२) विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया (२३) पानकरसरागासव-योजनम् (२४) सूचीवानकर्म्माणि (२५) सूत्रक्रीडा (२६) वीणाडमरुकवाद्यानि (२७) प्रहेलिका (२८) प्रतिमाला (२९) दुर्व्वाचकयोगाः (३०) पुस्तकवाचनं (३१) नाटकाख्यायिकादर्शनं (३२) काव्यसमस्यापूरणं (३३) पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः (३४) तर्कुकर्म्माणि (३५) तक्षणं (३६) वास्तुविद्या (३७) रूप्यरत्नपरीक्षा (३८) धातुवादः (३९) मणिरागाकरज्ञानं (४०) वृक्षायुर्व्वेद-योगाः (४१) मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः (४२) शुकसारिकाप्रलापनम् (४३) उत्सादने संवाहने केशमर्द्दने च कौशलम् (४४) अक्षरमुष्टिकाकथनम् (४५) म्लेच्छितविकल्पाः (४६) देशभाषा-विज्ञानं (४७) पुष्पशकटिका (४८) निमित्तज्ञानम् (४९) यन्त्रमातृका (५०) धारणमातृका (५१) संपाठ्यं (५२) मानसी काव्यक्रिया (५३) अभिधानकोषः (५४) छन्दोज्ञानं (५५) क्रियाकल्पः (५६) छलितकयोगाः (५७) वस्त्रगोपनानि (५८) द्यूतविशेषाः (५९) आकर्षक्रीडा (६०) बालक्रीडनकानि (६१) वैनयिकीनां (६२) वैजयिकीनां (६३) व्यायामिकीनाञ्च विद्यानां (६४) ज्ञानम् इति चतुःषष्टिरङ्गविद्याः कामसूत्रस्यावयविन्यः। कामसूत्रम् ३अ० १६सू०। आसां विवरणमन्ये च कलाभेदास्तत्र टीकायां द्रष्टव्यानि।

काव्ये व्यभिचारात्। अथ तत्रापि पुण्यविशेषरूपा शक्तिर्हेतुरेवेति चेदुपहसनीयकाव्यस्यापि स्वीयस्वजन-कत्वेन (?) पुण्यविशेषजन्यत्वादापादकाप्रसिद्धिरेवेतत्प्रत्नमधिकेन' ग।

आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः, काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।

स्थावरवृत्तञ्च लतालास्यकुसुमविकसनादि। 'अभिधानकोषः' नामलिङ्गानुशासनम्। एषां ज्ञानोपयोगः स्पष्ट एव। 'कला' हेलालीलादयः स्त्रीभावाः। 'चतुर्व्वर्गः, धर्म्मार्थकाममोक्षाः(A)। कलादिखड्गान्तेषु सर्व्वत्र लक्षणग्रन्थान्वयः, एषां सर्व्वेषामेव [1]काव्ये वर्णनीयत्वात् [2]तज्ज्ञानापेक्षा। इतिहासादीनामित्यत्र आदि-पदान्नाट्याङ्गपरिग्रहः। व्युत्पत्तिः संस्कारः, स चावेक्षणीयार्थविषयः। काव्यज्ञपदं काव्यकर्तृ तद्विवेचकरूपकाव्यार्थबोद्‌ध्रुभयपरतया व्याचष्टे—**काव्यं कर्त्तुमिति**। काव्यकर्त्तुपदेशात् काव्यकरणे तद्विवेचकोपदेशाच्च अन्वयबोधरूपे योजने प्रवृत्तिर्बोध्या। एतावताऽप्युभयकारणकथनमुपक्रान्तमिति बोध्यम्। प्रवृत्तिरत्र [1]प्रवृत्तिविषयज्ञानजन्यः संस्कारः प्रवृत्तेः क्षणिकत्वात्। इति हेतुरित्यत्र हेतुत्रयार्थकहेतुपदोत्तरैकवचनलब्ध-भावार्थमाह—**इति त्रयः समुदिता** इति। समुदायाश्रयैकवचनात् समुदायलाभ इति भावः। तदुद्भवपदं तन्निर्म्माणतदर्थबोधोभयपरतया व्याचष्टे—**तस्य काव्यस्येति**। उल्लासः तदर्थज्ञानम्। एवञ्च त्रयान्तर्गतायाः शक्तेरप्युभयकारणत्वमुक्तम्। तथाच शक्तिपदं न जनकशक्तिमात्रपरम्। हेतुः फलोपधायकः। न तु हेतव इति न तु प्रत्येकं फलोपधायका इत्यर्थः। अत्र च न तु व्यस्ता इत्यस्य हेतव इत्यत्रान्वये न तु हेतव इत्यत्र हेतुपदमधिकं स्यादतो न तु व्यस्ता इत्यत्र कारिकास्थेन "इति" शब्देन परामृष्टा इत्यध्याहृतान्वयेन वाक्यभेदः कार्य्यः, तथाच समुदिता एव "इति" शब्देन परामृष्टा न तु व्यस्ताः प्रत्येकं परामृष्टा इत्यर्थः। एतादृशपरामर्शफलमाह—**हेतुर्न तु हेतव** इति। तथाच दण्डचक्रादिवन्मिलितानामेव फलोपधायकत्वमुक्तम्, स्वरूपयोग्यता तु प्रत्येकमस्त्येव। मिलितानां तथात्वन्तु मन्वाद्यनधीतकाव्यं प्रत्येव

(A). धर्म्मग्रन्थाः—मन्वादिप्रणीता मनुसंहितादयः। अर्थग्रन्थाः—चाणक्यादिप्रणीता अर्थ-शास्त्रादयः। कामग्रन्थाः—वात्स्यायनादिप्रणीताः कामसूत्रादयः। मोक्षग्रन्थाः—उपनिषदस्तदुप-कारकाश्च व्यासादिप्रणीता ब्रह्मसूत्रादयः।

---

1. 'काव्येन' क। 2. 'तदीयलक्षणग्रन्थज्ञानापेक्षा' ख। 3. 'प्रवृत्तिविषयार्थ-' ख, ग।

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

बोध्यम्, मन्त्राधीनकाव्ये तु मन्त्राधीनः शक्तिविशेष एव हेतुः। शिशुकृतकाव्ये तु जन्मान्तरीणं तत्त्रयमस्त्येव। (A)

एवमिति। 'अस्य' काव्यस्य, 'स्वरूपं' लक्षणम्।

तददोषाविति। शब्दार्थौ अर्थादुपस्थापकोपस्थाप्यभावेन[1] परस्पर-विशिष्टौ, तत् काव्यमित्यर्थः; न तु [2]निरर्थकशब्दानुपस्थापितार्थौ; एवञ्च काव्यत्वं विशिष्टवृत्ति न प्रत्येकवृत्ति। यत्तु काव्यं शृणोमीति प्रत्ययात् काव्यत्वं शब्दमात्रवृत्तीति केचिदाहुः, तन्न; अर्थस्यापि शब्दद्वारा तथा [3]प्रतीतिविषयत्वात्, कथमन्यथा "आत्मा वा अरे श्रोतव्य" इत्यत्रात्मनः श्रोतव्यता। तथाच काव्यत्वं विशिष्टवृत्तिरुपाधिः, द्रव्यत्वादिना जातिसङ्करात्तु(B) न जातिः; न वा काव्यत्वं (C)व्यासज्यवृत्ति,[4] अर्थाज्ञानेऽपि शब्दावलीमात्रे काव्यत्वानुभवानुपपत्तेः, यावदाश्रया-

---

(A). अत्र काव्यादर्शटीकायां प्रेमचन्द्रतर्कवागीशाः—"वयन्तु प्रतिभापरपर्य्याया शक्तिरेव काव्यकृतिज्ञप्तिहेतुः शक्तिश्च संस्कारविशेषरूपा अतिरिक्ता वा मण्यादेर्दाहिकावत् सा च प्राक्तनी चेदानीन्तनी च, तत्र प्राक्तनी सिद्धैवास्ति इदानीन्तनी तु शास्त्रकाव्यलोकदर्शनजनितविलक्षण-व्युत्पत्त्या नियताभ्यासेन च पुरुषे जायते। कारणत्वञ्चानयोर्दण्डचक्रादिवन्मिलितयोरेव, अव्युत्पन्नानां बालादीनामैहिकशक्त्यभावेन व्युत्पन्नानां यतमानानामपि केषाञ्चित् प्राक्तनशक्त्य-भावेन काव्यानुदयदर्शनादिति ब्रूम" इत्याहुः।

(B). जातिसङ्करादिति। सङ्करो नाम परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्वस्तुनोरेकस्मिन्नर्थे अवस्थानम्। प्रकृते शून्यं वासगृहमिति वाक्यस्य तादृशे नायिकारूपे अर्थे काव्यत्वं द्रव्यत्वञ्चोभय-मेव वर्त्तते इति तयोरेकत्रावस्थानम्। तथा शब्दवृत्तिकाव्यत्वमेतद्वाक्ये वर्त्तते तत्र द्रव्यत्वं नास्ति शब्दस्य गुणान्तर्गतत्वादिति काव्यत्वे द्रव्यत्वाभावसामानाधिकरण्यम्, एवं रसवद्वाक्याप्रतिपाद्ये घटविशेषे द्रव्यत्वमस्ति न काव्यत्वमिति द्रव्यत्वस्यापि काव्यत्वाभावसामानाधिकरण्यमित्येवं सङ्कर इत्यर्थः। अस्य जातिबाधकत्वप्रकारोऽनुमितिगादाधर्य्यां स्मृतिनिरूपणप्रस्तावे प्रपञ्चितः।

(C) व्यासज्येति। व्यासज्यवृत्ति द्वित्वादि, तच्च प्रत्येकं घटे पटे च वर्त्तमानमपि पर्य्याप्ति-सम्बन्धेन घटत्वपटत्वादिप्रत्येकधर्म्मावच्छेदेन न वर्त्तते घटो द्वौ पटो द्वाविति प्रत्ययाभावात्,

---

1. 'भावसम्बन्धेन' ख। 2. 'अर्थनिरपेक्षः शब्दः शब्दानुपस्थाप्यो वाऽर्थः काव्यम्' ख-ग। 3. 'श्रूय-माणत्वेन तत्प्रत्ययोपपत्तेः' ग। 4. अतः परं—'परस्परविशिष्टघटयोर्द्वित्वस्येव निरर्थकशब्द-शब्दानुपस्थापि-तार्थयोरपि काव्यत्वप्रसङ्गात्' इति ख-पुस्तकेऽधिकः पाठः।

विषयज्ञानेन [1]व्यासज्यवृत्तिधर्म्माविषयीकरणात्; विशिष्टस्य काव्यत्वे च यत्र शाब्दी व्यञ्जना शब्दालङ्कारो वा तत्रार्थविशिष्टः शब्दः काव्यम्, यत्र त्वार्थी व्यञ्जना अर्थालङ्कारो वा तत्र शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति विनिगमना; न त्वेकत्रैव पद्ये द्विविधं काव्यत्वं वैयर्थ्यात्। दोषविशेषवतः काव्यत्वानङ्गीकारादाह—**अदोषाविति**। च्युतसंस्कृत्य-भवन्मतयोगक्लिष्टत्वादयो[2] ये शाब्दबोधविघटका दोषाः, ये च [3]प्रतिकूलवर्णत्वादयो रसबोधविघटका दोषाः तत्सामान्याभाववन्तावित्यर्थः, एषु सत्सु रसबोधानुदयात्; दोषान्तरं तु काव्यापकर्षकमेव न तु काव्यत्वविघातकम्; अतः "तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयामि"त्यादौ न्यूनपददोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणेऽपि काकुसह-कृतवाक्यार्थव्यङ्ग्यध्वन्युदाहरणत्वम्, 'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातक'-मित्यादौ पुनरुक्तदोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणेऽपि रौद्ररसध्वन्युदाहरणत्वञ्च वक्ष्यमाणं [4]नानुपपन्नम्। केचित्तु एकत्रैव [5]काव्ये दोषवदवयवावच्छेदेनाकाव्यत्वम् अन्यावच्छेदेन तु काव्यत्वमतो दोषसामान्याभाववन्तावित्येवार्थमाहुः, तच्च एकत्रोभयव्यवहाराभावा-दनुपादेयमेव[6]। सर्व्वथा नीरसस्य—

"गोरपत्यं बलीवर्द्दो घासमत्ति मुखेन सः"

इत्यादेः

"[7]अत्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष[8] धूमः"

इत्यादेश्च काव्यत्वानङ्गीकारादाह—**सगुणाविति**। गुणा हि माधुर्य्यौजःप्रसादाख्या रसधर्म्मा एव वक्ष्यन्ते, काव्यस्य च गुणाश्रयरसवत्त्वेनैव सगुणत्वम्[9]। अत एव वक्ष्यति—

"गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता" इति।

(८म उल्लासे)

तेषां गुणानां गुणवृत्त्या परम्परावृत्त्या इति तदर्थात्। भावतदाभासभावशान्ति-भावोदयभावसबलत्वानि यानि व्यङ्ग्यानि असंलक्ष्यक्रमतया रसतुल्यकक्षाणि वक्ष्यन्ते तेष्वपि गुणाङ्गीकारात् न भावादिकाव्येष्वव्याप्तिः(A)। अत एव "नियतिकृतनियम-

---

तथाच एकत्वानवच्छिन्नानुयोगिताकपर्य्याप्तिकत्वमिति व्यासज्यवृत्तेर्लक्षणम्। एवञ्च काव्यत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वे अर्थनैरपेक्ष्येण शब्दे शब्दनैरपेक्ष्येण अर्थे च काव्यत्वप्रत्ययोऽनुपपन्न इति भावः।

(A), तथाच ये रसस्याङ्गिन इत्यत्र रसपदं भावादेरप्युपलक्षकमिति भावः।

---

1. 'व्यासज्यवृत्तिधर्मस्य यावदाश्रयवित्तिवेद्यत्वनियमात्' ग। 2. 'क्लिष्टाख्या' क-ग। 3. 'प्रतिकूलवर्णादयो' क-ग। 4. 'न विरुद्धम्' ख-ग। 5. 'पद्ये' ख-ग। 6. अतः परं—'अव्याप्यवृत्तितायाः प्रतीतिमात्र-साक्षिकत्वादि'ति ग-पुस्तकेऽधिकः पाठः। 7. 'रावा-' क। 8. '-तत्रव' क-ग। 9. अतः परं—'अतः सरसाविति पर्य्यवसिते नीरसव्यावृत्तिरि'ति ख-पुस्तकेऽधिकः पाठः।

दोषगुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यन्तेनैतदाह यत् सर्वत्र

रहितामि"त्यादिकं भारतीविषयभावकाव्यमपि काव्यमेव देवादिविषयरतिभावे श्रृङ्गारीयासूयादिव्यभिचारिभावे च माधुर्य्यस्य क्रोधमूलकविषादादिभावे च ओजोगुणस्य सत्त्वात्। व्यक्तीभविष्यति चेदम् ओजोगुणव्यञ्जकवर्णोदाहरणतया वक्ष्यमाणे मूर्ध्नामुद्धृत्तकृत्तेत्यादौ रावणविषादभावध्वनावष्टमोल्लासे। वैचित्र्यमलङ्कार(A) इत्यलङ्कारसामान्यलक्षणम्, वैचित्र्यञ्च भङ्गीविशेषः प्रतीतिसाक्षिकः; तदभावे हि "कान्ते कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्(B)" [1]इत्यस्याकाव्यत्वमेव, श्रृङ्गाररसवत्यपि तत्र अतिव्याप्तिवारणाय सालङ्काराविति तद्विशेषणं पर्य्यापयितुमाह—**अनलङ्कृती पुनरिति**। अत्र ईषदर्थे "नञ्", अप्यर्थे च "पुनः" शब्दः। तथाच क्वाप्युदाहरणविशेषे ईषदलङ्कृती अपीत्यर्थः; तेन प्रौढालङ्कृती तु [2]सुतरामित्यायाति। तथाच सालङ्कृती इति पर्य्यवसितम्। [3]"अलङ्कृती" इति पदस्य अप्रौढालङ्कृति(C)-परत्वभ्रमनिरासार्थमित्थमुक्तिः[3]*। नामतो निर्दिष्टानामलङ्काराणामभावेऽप्युक्तिभङ्गीसत्त्वे सालङ्कारत्वमेव, वैचित्र्यमात्रस्यैवालङ्कारत्वादित्यतो वक्ष्यमाणेषु निःशेषच्युतचन्दनमित्यादिषु नाव्याप्तिः(D)। **क्वापीत्यन्तेनेति** अनलङ्कृती इत्यादिनेत्यर्थः,

(A). सौन्दर्य्यमलङ्कार इति वामनसूत्रम्। वैचित्र्यस्यैवालङ्कारत्वादिति दर्पणकृताऽप्युक्तम्। तथाच वामनसूत्रस्थं सौन्दर्य्यपदमेव वैचित्र्यपरतया व्याख्यायेदमुक्तमिति प्रतिभाति।

(B). कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्। इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥ इति काव्यादर्शे—६३ श्लो०, १ प०।

(C). अप्रौढालङ्कृतित्वम् प्रौढालङ्कृतिशून्यत्वम्, एवञ्च काव्यलक्षणस्य तत्परशब्दघटितत्वे प्रौढालङ्कृतियुक्तस्य शब्दार्थयुगलस्य काव्यत्वं न स्यादित्यव्याप्तिः सर्व्वथाऽलङ्कारशून्ये चातिव्याप्तिरिति तादृशभ्रमनिरासः पुनः क्वापीत्यनेन कृत इति भावः।

(D). इह पाठकानामालोचनसौकर्य्याय अन्यानि प्राचीनान्यर्व्वाचीनानि च काव्यलक्षणान्युद्ध्रियन्ते। तत्र शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली इति दण्डी। काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते इति वामनः। गुणालङ्काररीतिरसोपेतः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यमिति वाभटः। ध्वन्यात्मकं वाक्यं काव्यमिति महिमभट्टमतम्। निर्दोषं गुणालङ्कारलक्षणरीतिवृत्तिमद् वाक्यं काव्यमिति पीयूषवर्ष(जयदेव)मतम्। अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यमिति हेमचन्द्रः। रसालङ्कारयुक्तं सुखविशेषसाधनं वा वाक्यं काव्य-

1. 'इति दण्डिकारोक्तमकाव्यमेव' क-ख। 2. 'प्रौढालङ्कृती सुतराम्' ख-ग। 3. 'सालङ्कृती इति करणे ईषदलङ्कृतिपरिहारभ्रान्तिनिरासार्थमित्यमुक्तिः' ख।

सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः[A] ।

कापीत्यन्तस्य तस्यैव यत् सर्व्वत्रेत्याद्यर्थकत्वात् । क्वापीत्यनेनेति तु [1]प्रामादिकः पाठः, तस्य तादृशार्थबोधकत्वाभावात् । सर्व्वत्र सालङ्कारत्वलाभश्च ईषदर्थकनञा अप्यर्थक-पुनःशब्देन चेत्युक्तमेव । क्वचित्त्विति अलङ्कारस्फुटत्वस्याविवक्षितत्वादिति भावः ।

यः कौमार इति । रेवानदीतीरे वेतसीनामतरुतले कृतसङ्केताया नायिकाया गृहे स्वयं परामर्शोऽयम् । तादृशस्थले सुरतार्थं ममोत्कण्ठानिर्वर्त्तिका सामग्री मम गृह एवास्ति तथाऽपि कृतसङ्केते (B)तत्र रेवाया रोधसि तीरे वेतसीनामतरुतले सुरत-व्यापारलीलाविधाननिमित्तं(C) चेतः समुत्कण्ठते । विलक्षणरतिक्षमनायकप्राप्त्यर्थं विलक्षणरात्र्यादिप्राप्त्यर्थञ्च तत्रोत्कण्ठा युज्यते, तत् सर्व्वञ्च मम गृह एवास्तीत्याह— यः कौमार इति । कौमारं कुमारीत्वम् अनूढात्वम्, विवाहेन यस्तद्धरः पतिरित्यर्थः स एव वरः श्रेष्ठः विलक्षणरतिक्षम एवेत्यर्थः । हिरवधारणे । चक्रवर्त्ती तु कौमार-मभिनवयौवनम् उपभोगेन यस्तद्धरः पतिरित्यर्थ इत्याह, तत्तु न रुचिरं कुलटोक्तौ तावता पत्यलाभात्, अन्यस्याप्युपभोगकर्तृत्वसम्भवात् । एवं विलक्षणरात्र्यादयोऽप्यत्रैव सन्तीत्याह—ता एवेति । कदम्बानिलाः कदम्बवनानिलाः, वनानिलानां प्रौढ-त्वेऽपि वनबहिर्भावे मान्द्योपलम्भादाह—प्रौढा इति ; न तु कदम्बपुष्पानिला इत्यर्थः चैत्रे कदम्बपुष्पाभावात् प्रौढा इत्यस्यानुपपत्तेश्च । अत एव कदम्बपदमत्र (D)धूलि-कदम्बपरं तस्यैव चैत्रे सम्भवादिति चक्रवर्त्तिव्याख्यानमयुक्तं तदनिलानां प्रौढाना-

---

मिति केशवमिश्रमतम् । रसादिमद्वाक्यं काव्यमिति शौद्धोदनिमतम् । रसात्मकं वाक्यं काव्यमिति विश्वनाथमतम् । रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यमिति जगन्नाथपण्डितराजमतम् ।

(A). मालती वासन्तिकलता । कदम्बो धूलिसमूहः । अत्र प्रौढा युवान इति श्लिष्टविशेषण-बलादनिलमालत्योर्नायकनायिकाभावः प्रतीयते इत्युद्द्योते स्पष्टम् ।

(B). ख-ग-पुस्तकयोः 'तत्रे'ति पदं '-तरुतले' इत्यनन्तरं योजितम्, तदुत्तरं 'पूर्व्वानुभूत' इत्यधिकं व्याख्यानञ्च दृश्यते । तन्मते विधावित्यन्तस्य विशेषणमिदम् ।

(C) निमित्तमिति । तथाच लीलाविधावित्यत्र निमित्तार्थे सप्तमी 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' इतिवदिति बोध्यम् ।

(D). धूलिकदम्बं पुष्पविशेषः । अत्र चक्रवर्त्तिव्याख्यानमेव समीचीनं मालतीसुरभय इत्यनेन सौगन्ध्यलाभेऽपि विशिष्टसौगन्ध्यलाभाय तदुपादानस्य सार्थक्यसम्भवात्, टीकाकृन्मते कदम्बपदसार्थकस्य दुरुपपादत्वाद् वनानिललाभस्य अरण्यानिला इत्येतावताऽपि सम्भवात् ।

---

1. लेखकप्रामादिकः क ।

सा चैवास्मि तथाऽपि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः, रसस्य हि[1] प्राधान्यान्नालङ्कारता ।

मप्यनुद्दीपकत्वात्, सौरभलाभस्तु मालतीसुरभय इत्यनेनैव । ममावस्थावैलक्षण्यमपि तत्र(?)नास्तीत्याह—सा चैवेति ; तदवस्थैवास्मीत्यर्थः । एवञ्च चित्त[2]स्वभाववैलक्षण्य-विषयेण विस्मयेनोद्दीपितः शृङ्गाराभासोऽत्र[3]* व्यङ्ग्यः । अत्रेति । अस्फुटे तु विभावनाविशेषोक्ती अलङ्कारौ स्त एवेति बोध्यम् । तथाहि—उत्कण्ठाकारणानां रति-समर्थनायकाद्यभावानामभावेऽपि उत्कण्ठारूपफलकथनाद् विभावना "क्रियायाः प्रति-षेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावने"ति तल्लक्षणात् ; क्रियापदस्य च तत्र कारणमात्रपरत्वात् । तथा अनुत्कण्ठाकारणानां रतिसमर्थनायकादीनां सत्त्वेऽपि अनुत्कण्ठारूपफलस्य उत्कण्ठारूपाभावकथनाद् विशेषोक्तिः "विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः" इति तल्लक्षणात्, तत्र च फलावच इत्यस्य फलाभावकथनमित्यर्थात् । अनयोरस्फुटत्वञ्च कारणाभावफलाभावयोर्वाचकेन नञाऽनिर्देशा[3]द्विलम्बप्रतीतिकत्वात्[3]* । यश्च हरो दर इत्यनुप्रासः सोऽपि न स्फुटः रसोपकारकत्वे सति [4]शीघ्रप्रतीयमानस्यैव स्फुटतयाऽभि-प्रेतत्वात् ; सविसर्गतया गुरुणा रेफेण घटितस्यास्य अनुप्रासस्य तु शृङ्गारानुप-कारकत्वात् ; "रणौ लघू" इति शृङ्गारीयमाधुर्य्यव्यञ्जकतया वक्ष्यमाणत्वात्(A) । नन्वत्र

(A) अत्र प्रदीपकाराः—अत्र रूपकादीनामसम्भव एव । अस्मीत्यस्य विभक्ति-परिणामादस्तु दीपकमिति चेन्न अस्मीत्यस्याहमर्थकान्वयत्वात् 'अत्रास्मि करोमी'तिवत्, क्रिया-पदत्वेऽपि न दीपकत्वं (-पकं ?) (एतद-?) तदन्वयिनां सर्व्वेषामेव प्राकरणिकत्वात् दीपकस्य तु प्राकरणिकाप्राकरणिकविषयत्वात् । (अत्र प्राकरणिकाप्राकरणिकानामेकधर्म्मसम्बन्ध एव दीपकं न तु धर्म्मस्यैकशब्दोपस्थाप्यत्वमपि तत्रावश्यकमित्यभिप्रायेणात्र दीपकालङ्काराशङ्का इति बोध्यम्)। सादृश्याप्रतीतेश्च न तुल्ययोगिता । समुच्चयोऽपि वक्ष्यमाणलक्षणो न सम्भवत्येव अतादृशश्च न चारुत्वहेतुः । विशेषोक्तिविभावने विद्यमाने अपि न स्फुटे । कथमिति चेदित्थम्—विशेषोक्तिस्तावत् कारणसत्त्वेऽपि कार्य्याभाववचनम्, अत्र चानुत्कण्ठाकारणं वरोपकरणयो-रभुक्तता, तत्सत्त्वे यद्यप्यनुत्कण्ठाभाव उत्कण्ठारूपो निर्दिष्ट एव तथाऽपि नानुत्कण्ठाभावत्वेन किन्तूत्कण्ठात्वेनैव, तस्मादस्फुटत्वमस्याः । यदि चेतोऽनुत्कण्ठितं नेत्यभिधीयेत तदा स्फुटत्वं भवेत् । एवं कारणाभावेऽपि कार्य्योत्पत्तिवचनं विभावना । अत्र चोत्कण्ठाकारणं वरोपकरणयो-रतत्ता, तदभावश्च यद्यप्युक्त एव तथाऽपि नातत्ताविरहत्वेन किन्तु तत्तारूपेणैव अभावाभावस्य

---

1. 'रसस्य च' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 2. '-स्वभाववैलक्षण्यविषयविस्मयरूपव्यभिचारिभावोऽत्र' ख, '-स्वभावविषयविस्मयोपचित उपनायकविषयः शृङ्गाराभासोऽत्र' ग । 3. '-भावमुखेनैव तदभावलाभात्' ख-ग । 4. 'शब्दतः साक्षात् प्रतीय-' ख-ग ।

[1]उपनायकविषयशृङ्गाराभास एवास्ति व्यङ्ग्यस्तस्य चोर्जस्विनामा[1]* लङ्कारत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्ये वक्ष्यमाणत्वात् स एवात्र स्फुटोऽलङ्कारोऽस्तीत्यत आह 'रसस्य हि' रसाभासस्य(A) हीत्यर्थः, उपनायकविषयत्वेन रसस्याभासत्वादेव प्राधान्याद्रसान्तरानङ्गत्वात्, अपरस्याङ्गत्व एव रसस्यालङ्कारतया वक्ष्यमाणत्वादिति भावः।

तत्त्वात् अतोऽस्या अस्फुटत्वमेव। न च स एवेत्येवकारेणातत्त्वाभावप्रतीतेः (अतत्त्वाभावस्य ?) अतत्त्वाभावत्वेन प्रतीतौ कथमस्फुटत्वमिति वाच्यम्, विशेषणसङ्गतैवकारेण विशेष्ये विशेषणायोगस्य व्यवच्छेदो हि प्रत्याय्यते न तु विशेषणाभावाभाव एवाहत्य, पर्य्यवसानन्तु तत्रेत्यस्फुटत्वमेव। एवं विशेष्यसङ्गतेनाप्येवकारेण विशेष्यभिन्ने विशेषणाभाव एव नाहत्य प्रत्याय्यते किन्तु विशेषणयोगाभाव इति द्रष्टव्यम्। अत एव "शङ्खः पाण्डुर एव" इत्यादौ नापाण्डुरः "पार्थ एव धनुर्द्धरः" इत्यादौ च नान्यो धनुर्द्धर इत्यादिः कदाचित् स्फुटत्वार्थं प्रयुज्यते। दण्ड्यप्याह—त्वन्मुखं त्वन्मुखेनैव तुल्यं नान्येन केनचिदिति, अन्यथा पुनरुक्तिस्तत्र स्यादिति। अनयोरस्फुटत्वे च सन्देहरूपसङ्करोऽप्यनयोरस्फुट इति विभावनीयम् इति।

(A) रसाभासस्येति। अत्रेदमवधेयम्—श्लोकेऽस्मिन् व्यञ्जकाभावेनोपपत्त्यलाभात् टीकाकृदुक्तो रसाभासः कथं सङ्गच्छत इति। तथाहि एकस्मिन् वाक्ये अवधारणद्वयस्य दुरुपपादतया अव्ययानाञ्चानेकार्थतया 'हि'शब्दस्य यद्यपीत्यर्थः उत्तरत्र तथाऽपीत्यनेन साकाङ्क्षः। एवं वरशब्दस्यार्थः पतिः। तथाच यः कौमारहरः स एव हि वर इत्यनेन विवाहात् पूर्व्वमन्यत्र बद्धानुरागायाः पश्चादपि प्रथमप्रणयिनोऽलाभरूपमुत्कण्ठाकारणं नास्तीति सूच्यते। एवमुत्तरवाक्यैरपि कालादीनामुद्दीपनेकारणानां सत्त्वमवगम्यते। इत्थं स्थितेष्वप्यनुत्कण्ठाकारणेषु उत्पद्यमाना उत्कण्ठा 'ते हि नो दिवसा गता' इतिवत् सकलमाधुर्य्यसारसम्भारोपादानभूतं नवयौवनमेवातीततया पुनरसुलभं ख्यापयन्ती विषादमेव व्यभिचारिणं सूचयितुमर्हति, दर्पणकारोक्तस्य कालक्षेपासहिष्णुत्वलक्षणस्यौत्सुक्यस्यात्रानुभवेनाविषयीकरणात् स्वशब्दवाच्यतापत्तेश्च ; नापि शृङ्गाररसम्, सम्भोगस्यात्राननुभवात् विप्रलम्भस्य च नायकालाभकृतस्यासम्भवात् ; तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकारान्तरस्याप्रसिद्धेरिति कस्यचिदाशयः। चण्डीदास-विश्वनाथ-रामतर्कवागीशास्तु "तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधसि वेतसीतरुतले" इत्यनेन उत्कण्ठाया विषयलाभादत्र विशिष्टस्थानाधिकरणकसुरतविषयमौत्सुक्यमेव व्यभिचारिणं वर्णयन्ति। उक्तं हि विश्वनाथेन "अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तत् रसनधर्म्मयोगित्वाद् व्यभिचारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतार्थं मन्तव्य"मिति। 'अनुभावादिकृतपरिपोषराहित्येन रतेः सम्पूर्णरसत्वं न सम्भवति वर्णनीयत्वेन चमत्कारित्वेन औत्सुक्यस्यैव प्राधान्यम्' इति च तत्र टीकायां रामतर्कवागीशः। वस्तुतस्त्वत्र दर्पणकृदुक्तस्य कालक्षेपा-

---

1. 'विभावरूपव्यभिचारिभावसत्त्वात् तस्य च प्रेयोनामा' ख।

तद्भेदान् क्रमेणाह—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

इदमिति काव्यम्, बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मतानुसारिभि-

---

'तद्भेदान्' काव्यप्रभेदान्। 'क्रमेण' कारिकार्द्धत्रयेण। इदमिति। 'वाच्याद्तिशायिनि' वाच्यापेक्षयाऽधिकचमत्कारिणि, 'व्यङ्ग्ये' सति 'इदं' काव्यं 'ध्वनिः' तदेव 'उत्तमं' काव्यमित्यर्थः। अत्र कारिकास्थस्य बुधपदस्य आलङ्कारिकबुधपरत्वेऽपि ध्वनिव्यवहारसंवादप्रदर्शनार्थं तदाक्षिप्तबुधपदार्थानां वैयाकरणरूपबुधानां मतं दर्शयति—बुधैर्वैयाकरणैरिति। आशुविनाशिनां क्रमिकाणां मेलकाभावादनेकवर्णघटितकलसादिपदस्य ज्ञानासम्भवात् [1]पूर्व्वपूर्व्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसचिवस्यानुभूयमानचरमवर्णस्य पदव्यञ्जकत्वं तैरुच्यते; पदस्य स्फोटपरिभाषा चरमवर्णस्य(A) ध्वनिपरिभाषा च तैः कृता। अर्थबोधकत्वाद्वर्णापेक्षया पदं प्रधानं

सहिष्णुत्वस्याप्रतीतावपि "अधुनैवास्य लाभो ममास्तु इतीच्छा औत्सुक्यमि"ति रसगङ्गाधरोक्तलक्षणे औत्सुक्ये तेषामभिप्रायकल्पने न काचिदनुपपत्तिः। समुत्कण्ठते इत्यनेन औत्सुक्यस्य स्वशब्दवाच्यतापत्तिश्च तत्पदस्य स्मरति दुःखभाग् भवतीत्याद्यर्थकल्पनया निराकरणीया। वेतसीतरुश्च वङ्गदेशीयवेतसवत् सुनम्रशाखाविशिष्टः काश्मीरादौ वेतसनाम्ना प्रसिद्धस्तरुविशेष एव तेन वेतसलतायास्तरुत्वारोपस्तदाश्रितो वा तरुरित्यादिकष्टकल्पनाया नावसर इति ध्येयम्। शिलानाम्नी काचित् काश्मीरदेशीया कवयित्री राजसम्बन्धाद् भट्टारिका इति शिलाभट्टारिका, तस्याः पद्यमिदमिति शार्ङ्गधरपद्धतौ स्पष्टम्।

(A). अत्र चरमवर्णस्येति फलितकथनम्, स्फोटात्मकपदस्य व्यञ्जनाकाले तस्यैव श्रूयमाणत्वात् वर्णान्तराणाञ्च तदानीं संस्कारमात्रावशेषत्वात् न तु श्रूयमाणतादशायां प्रथमादिवर्णानामपि ध्वनित्वं नेष्यते। उक्तपरिभाषायां प्रमाणन्तु महाभाष्ये—एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः......ध्वनिकृता वृद्धिः। ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते। अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥ अस्य व्याख्यायां कैयटः—शब्दस्य गुणः उपकारकः व्यञ्जकत्वेनेत्यर्थः तत् यथा घटः पुनः पुनर्दृश्यमानोऽपि न भेदमवलम्बते तथा विलम्बितायां वृत्तावकार एव पुनः पुनरुपलभ्यत इति वृत्तिभेदेऽपि वर्णस्य भेदो न गृह्यत इति सर्व्वासु वृत्तिषु तत्कालत्वम्। ...... ध्वनिः स्फोटश्चेति व्यङ्ग्यो व्यञ्जकश्चेत्यर्थः। शब्दानां व्यङ्ग्यानां सम्बन्धी व्यञ्जकत्वेन यो ध्वनिः स महानल्पश्च लक्ष्यते व्यङ्ग्यस्त्वभिन्नकाल एवेत्यर्थः।

---

1. 'अर्थबोधानुपपत्त्या पूर्व्व-' ख, ।

रन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।
यथा—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी [1]तथेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा[2]।
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याऽधमस्यान्तिकम्॥ २॥

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येन[3] व्यज्यते।

तच्च स्फोटाख्यव्यङ्ग्यमेव, तद्व्यञ्जकस्य **शब्दस्येति** चरमवर्णरूपशब्दस्येत्यर्थः। तत इति, शब्दांशे ध्वनिव्यवहार एव मतानुसरणम्; न तु काव्य इत्यवधेयम्। **अन्यैरिति** कारिकास्थबुधपदव्याख्या। **न्यग्भावितेति**। न्यगभावितं स्वातिशयेन निकृष्टीकृतं वाच्यं येन तादृशव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षममित्यर्थः, व्यङ्ग्यस्य वाच्यादतिशायित्वे तेन वाच्यस्य न्यग्भावितत्वात्। **शब्दार्थयुगलस्येति** काव्यस्येत्यर्थः, तद्युगलस्य काव्यत्वेनोक्तत्वात्; तस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इत्यन्वयः।

निःशेषेति। उपनायकमानेतुं प्रेषितां तदुपभोगलुप्तचन्दनादीन् वापीस्नानव्याजेन [4]गोपयन्तीं दूतीं प्रति नायिकायाः सोल्लुण्ठनोक्तिरियम्। मद्द्वेष्याऽसौ नायात इत्येवं मिथ्यावादिनि हे दूति! बान्धवजनस्य मम अज्ञातकामपीडागमा त्वम् इतः मत्सकाशात् स्नातुं वापीं गताऽसि न तु तस्याधमस्य अन्तिकम्, यतस्ते स्तनतटं निःशेषच्युतचन्दनम्, अधरश्च निर्मृष्टरागः, नेत्रे च दूरम् अतिशयम् अनञ्जने, तथा इयं तन्वी क्षीणा तनुः पुलकिता, तथाशब्दः समुच्चये। स्नानकार्य्यमेवैतत् सर्व्वमिति सोल्लुण्ठनोक्तिः। अत्र [5]व्यङ्ग्यमाह—**अत्रेति**। ईदृशं व्यङ्ग्यं वाच्यार्थापेक्षया प्राधान्येन विशिष्टम् एतत्काव्यस्वरूपेण शब्दार्थयुगलेन व्यज्यत इत्यर्थः; [6]वाच्यार्थापेक्षया[6]* प्राधान्यञ्च विप्रलम्भातिशयव्यञ्जनात्; [7]विप्रलम्भो हि दुःखसम्भिन्ना रतिः, दुःखाधिक्याच्च तदतिशयः[7]*।

---

1. 'तथेयं' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 2. 'पीडागमे' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 3. 'प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 4. 'अपह्नुवतीं' ख-ग। 5. 'व्यङ्ग्यार्थमाह' ख-ग। 6. '-पेक्षयाऽस्य' ख-ग। 7. 'तथाहि तदन्तिकागमनं वाच्यार्थः, रन्तुं तदन्तिकगमनञ्च व्यङ्ग्यार्थः, इयमपि नायकप्राप्तिविरोधित्वेन नायिकायास्तद्विषयविप्रलम्भव्यञ्जकम्, किन्तु विप्रलम्भस्य रतेर्दुःखसम्भिन्नत्वेन दुःखातिशयव्यञ्जकत्वादिदं व्यङ्ग्यं तादृशवाच्यार्थापेक्षया प्रधानम्, नायकान्तिके दूत्या अगमनेन नायिकाया यादृशं दुःखं नायकस्य स्वप्रेषितदूतीसम्भोगेन ततोऽधिकदुःखाद्विप्रलम्भातिशयव्यञ्जनात्' ख।

तदुक्तम्—

सम्भोगः सुखसम्भिन्नो विप्रलम्भस्तु दुःखयुक् ।
रतिस्तयोः प्रकर्षः स्यादाधिक्यात् सुखदुःखयोः ॥ इति(A)

क्वचित्तु प्राधान्येनाधमपदेनेति पाठस्तिष्ठति, तच्च(B) न रुचिरम्, वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्ये उदाहर्त्तव्ये व्यञ्जकप्राधान्यकथनस्यानुपयोगात् ; [1]किन्तु पञ्चमोल्लासे "अधमपदसंहायानामेषां व्यञ्जकत्व"मिति ग्रन्थकृता (यद् ?) वक्ष्यते तद्दर्शनादत्र तथा पाठं केचिद् रचयन्ति, तत्पदस्य प्राधान्यञ्च तदन्तिके दूत्या अगमने वाच्यार्थे तस्यापराधाभावात् तस्याधमत्वोक्त्यनुपपत्त्या दूतीरमणरूपव्यङ्ग्यार्थेनैवाधमत्वोपपत्तेः(C), तन्न ; अधमपदप्राधान्यस्य ग्रन्थकृत्सम्मतत्वेऽपि प्रकृतेऽनुपयुक्तस्य कथनानौचित्यात् । वस्तुतस्तु अधमपदप्राधान्यमपि नास्ति दूतीप्रेषणसापेक्षत्वादेव तस्याधमत्वोक्त्युपपत्तेः, तथा[1]* अधमपदस्येवान्येषामपि पदानां दूतीरमणव्यञ्जकत्वमस्त्येव ; (D)तथाहि स्नाने स्तनचन्दनाधररागयोः क्षालनमेव न तु च्युतिनिर्म्मार्ज्जने, तयोः सम्भोगघर्षणादेव सम्भवात् ; अतश्च्युतनिर्म्मृष्टपदे अपि तस्य व्यञ्जके प्रधाने एव, तथा स्नाने समस्तस्तनस्यैव

(A). अतः परं दृश्यमानः "स्वप्रेषितदूत्या स्वनायकोपभोगेन च व्यङ्ग्येन वाच्यतदन्तिकागमनापेक्षया दुःखाधिक्या"दित्यंशः पूर्ववाक्यस्थस्य दुःखाधिक्यादित्यस्योपपादिका टिप्पनीति प्रतिभाति ।

(B). तत् तादृशपाठावस्थानमित्यर्थः ।

(C) अधमत्वोपपत्तेरिति । अत्र वाच्यस्याधमत्वस्य व्यङ्ग्येन दूतीरमणेनोपपादने वाच्यसिद्ध्यङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवास्य स्यान्न तु ध्वनित्वमिति चिन्तनीयम् ।

(D). अत्रेदं चिन्तनीयम्, टीकाकृता तथाहीत्यादिना च्युततटनिर्म्मृष्टाधरादिपदानां स्नानव्यावर्त्तनेन दूतीरमणव्यञ्जकतायां यदसाधारण्यं प्रदर्शितं तत्र "तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्य्यत्वेनोपात्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तानी"ति पञ्चमोल्लासग्रन्थविरोधो दुष्परिहर इति सर्व्वेषामेव तादृशपदानामुभयसाधारणार्थकतयैव व्याख्यानमुचितमिति । तथाच रसगङ्गाधरे—अयि बान्धव-

---

1. 'किञ्च अधमपदप्राधान्यं तावत् भवन्मतदूतीरम्य, (रन्तृ ?) त्वेनैवाधमत्वोपपत्तेर्न तु वाचोत्र तदन्तिकागमनेन, तदन्तिके दूतागमने तस्यापराधाभावाद् अधमत्वेन तदधिक्षेपायोगादिति, तच्च न रुचिरम्, दूतीप्रेषणसापेक्षत्वेनापि नायिकया तदधिक्षेपसम्भवात् ; परन्तु अधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमिति यत् पञ्चमोल्लासे ग्रन्थकृता वक्ष्यते तद्दर्शनादेव केचित्तथा पाठं रचयन्ति, तच्चेहानुपयुक्तमेव तस्य प्राधान्यसत्त्वेऽपीह वक्तुमनौचित्यात्, ग्रन्थकृता तु दूतीप्रेषणकृतसङ्केतनायकाभिप्रायेणेव तत्र तथा लिखनात् । किञ्च' क ।

चन्दनलोपो न तु तटमात्रस्य, अतः सम्भोगघृष्टत्वेन तटपदमपि तथैव। एवमधर-पदमपि उत्तानत्वेन चुम्बनघृष्टत्वव्यञ्जनया तथैव, स्नाने तु न्युब्जस्य ओष्ठस्यापि राग-लोपः स्यात्। तथा इयम् एतत्क्षणवर्त्तिनी तन्वी तनुः पुलकिता, पूर्व्वं सभयरतौ भावानुद्बोधेन पुलको नासीदिदानीन्तु निराबाधरतिनिर्व्वाहेन भावोद्बोधात् पुलकः, स्नाने तु वर्त्मश्रमेण पुलकलोपः स्यादत 'इय'मिति पदमपि तद्व्यञ्जकम्, अतः कथमधम-पदस्य प्राधान्यम्; अधमपदसहायानामिति ग्रन्थकृल्लिखितस्य तु अधमादिपद-सहायानामित्यर्थः। अत्र (A) केचित्—तदन्तिकं न गताऽसीति वाच्यार्थस्य रतिचिह्न-दर्शनेन बाधात् न गताऽसीत्यत्र विरोधलक्षणया गताऽसीति लक्ष्यम्, तथाच तदंश-स्याव्यङ्ग्यत्वाद् गताऽसीत्यनन्तरं लक्ष्यमिति पूरणीयम्; व्यज्यते इत्यस्य तु रन्तुमित्यत्रैवान्वयाद् रन्तुमिति व्यज्यते इत्येवमेव ग्रन्थकृल्लिखनं व्याचक्षते, तन्न; न गताऽसीत्यस्य वाक्यत्वेन लक्षणाया (B)एवाभावात्, वापीं स्नातुं न गताऽसि तदन्तिकमेव गताऽसीत्येवमन्वये[1] तदन्तिकगमनस्य शक्त्यैव बोधनसम्भवाच्च(C)।

जनस्याज्ञातपीडागमे स्वार्थपरायणे स्नानकालातिक्रमभयवशेन नदीमदीयप्रिययोरन्तिकमगत्वैव वापीं स्नातुमितो ममान्तिकाद् गताऽसि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाध-मस्यान्तिकम्, यतो निःशेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव नोरःस्थलं वापीगतबहुलयुवजनत्रपापार-वश्यादंसद्वयलग्नाग्रस्वस्तिकीकृतभुजलतायुगलेन तटस्यैवोन्नततया मुहुरामर्शात्। एवं त्वरया सम्य-गक्षालनेन उत्तरोष्ठो न निर्म्मिष्टरागोऽधरस्तु तदपेक्षया गण्डूषजल-वदनशोधनाङ्गुल्यादीनामधिक-सम्मर्द्दमावहतीति तथा। किञ्च सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गाद् दूरमुपरिभाग एवाञ्जने। शीतवशात्तानवाच तत्र तनुः पुलकितेति।......एवं साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्य्यार्थस्य झटित्यनाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणावकाशोऽनन्तरञ्च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्य-नायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्म्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपरायामपराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तकदुःखदातृत्वाकारेण पर्य्यवस्यतीति।

(A). केचिदिति साहित्यदर्पणकारा इत्यर्थः, तथाच दर्पणे—"अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यं तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद्बोध्यते" इति।

(B). तन्मतेऽपि वाक्ये न लक्षणा, किन्तु नञ्पदस्यैव एवार्थे लक्षणेति न दोष इत्यवधेयम्।

(C). इदन्तु न सम्यक् 'त्वर्थेन पुनःशब्देन पूर्व्वान्वयव्यवच्छेदात्' इति तर्कवागीशः।

1, '॰मन्वयेन' ख।

(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

किञ्च निःशेषेत्यादौ (A)पञ्चमोल्लासे गमनविधेर्व्यङ्ग्यत्वमेव ग्रन्थकृता वक्ष्यते, विधेर्लक्ष्यत्वव्याख्याने तद्विरोधः स्यात् । न च बाधाल्लक्षणां विना अनुपपत्तिरिति वाच्यं वाच्यार्थबोधानन्तरं बाधावतारे बाध्यमानेन तेन यथोक्तव्यञ्जनेऽनुपपत्त्यभावात् । अत एवोक्तम्—

क्वचिद्बाध्यतया ख्यातिः क्वचित् ख्यातस्य बाधनम् ।

[1]एकत्र लक्षणैव स्यादन्यत्र व्यञ्जनैव तु[1]* ॥ इति

अतादृशीति । व्यङ्ग्ये वाच्यादनतिशायिनि सति काव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यम्, तच्च मध्यममित्यर्थः । वाच्यादनतिशयः[2] वाच्यतुल्यचमत्कारित्वे वाच्यन्यूनचमत्कारित्वे च भवति ; तत्र वाच्यन्यूनचमत्कारित्वेऽसुन्दराख्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—ग्रामतरुणमिति । नवया वञ्जुलस्य(B) अशोकस्य मञ्जर्या सनाथकरं विशिष्टपाणिं ग्रामतरुणं मुहुः पश्यन्त्यास्तरुण्या मुखच्छाया नितरां मलिना भवतीत्यर्थः; मुहुर्दर्शने अन्यशङ्कानिरासार्थं ग्रामतरुणत्वोपादानम्, ग्राम्यस्य परिचितत्वेन मुहुर्दर्शनेऽपि शङ्काऽनुदयात् । चक्रवर्त्ती तु—ग्रामस्य मध्ये स एव तरुण इत्यनेकनारीप्रार्थ्यमानत्वसूचनं मुखमालिन्योपपादकमित्याह, तन्न ; तादृशनिर्द्धारणप्रापकाभावात् । उभयत्र तरुणत्वोपादानं परस्परानुरागसूचकम् । मञ्जर्या नवत्वेनाकालीनत्वप्राप्त्या लोकेषु तत्प्रदर्शनौचित्येन करे तत्करणाच्छङ्कानुदयः । अत्रेति । गृहव्यापाराल्लतागृहेऽगमनं व्यङ्ग्यं लतागृहचिह्नदर्शनान्मुखमालिन्येन वाच्येन

(A). "वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना" इति पञ्चमोल्लासग्रन्थः ।

(B). "बकुलो वञ्जुलोऽशोके" इति "वञ्जुलः पुंसि तिनिशे वेतसाशोकयोरपि" इति च कोषः ।

---

1. 'पूर्वत्र लक्षणैव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु' इति दर्पणपाठः । 2. '-शयः' ख-ग ।

(४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरमधमम्। यथा—

सामाजिकैः प्रतीयत इत्यर्थः, तच्च व्यङ्ग्यं वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनचमत्कारि इत्याह—(A) गुणीभूतमिति। वाच्यन्तु मुखमालिन्यमधिकचमत्कारीत्याह—तदपेक्षयेति। अयम्भावः—चमत्कारस्तावदत्र विप्रलम्भव्यञ्जनयैव वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य च; [1]तत्र सङ्केतस्थलविहहस्तनायकदर्शनात् मुखमालिन्यमनन्यथासिद्धं विप्रलम्भादेव भवतीति व्यङ्ग्यनिरपेक्षमेव वाच्यं विप्रलम्भव्यञ्जकम्; व्यङ्ग्यन्तु वाच्यमालिन्योपपादकमेव, न तु वाच्यसाहाय्यं विना स्वतो विप्रलम्भव्यञ्जकं नायिकाया अकार्य्यत्यागेन गृहकर्म्मसमापनानन्तरमन्यदाऽपि नायकप्राप्त्या स्वहृदयाश्वासनेन वा विप्रलम्भानुदयात्; अतो लतागृहेऽगता सङ्केतस्थलचिहहस्तोपनायकदर्शनात् मलिनमुखीत्येवं वाच्यसहकृतमेव व्यङ्ग्यं विप्रलम्भव्यञ्जकमिति वाच्यमुखनिरीक्षकतया व्यङ्ग्यं न्यूनचमत्कारीति[1]*। न च अकार्य्यहेतोरुपनायकस्य दर्शनात् क्रोधेनापि मुखमालिन्यं भवतीति वाच्यमपि कथं व्यङ्ग्यनिरपेक्षं विप्रलम्भव्यञ्जकमिति वाच्यम्, स्वयं कृतसङ्केतायास्तस्यास्तद्दर्शनेन क्रोधानुदयात् [2]क्रोधे सति मुहुर्द्दर्शनाभावाच्च[2]*। निःशेषेत्यादौ तु वाच्यविरुद्धं व्यङ्ग्यं न वाच्यमुखनिरीक्षकमिति मन्तव्यम्[3]।

शब्दचित्रमिति। वाच्यचित्रम् अर्थचित्रमित्यर्थः। उभयसाधारणं चित्रत्वमाक्षिप्तमेवोत्कीर्त्तयति—चित्रमितीति। सर्व्वथा नीरसस्य काव्यत्वा-

---

(A). इदमत्रावधेयम्—गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमत्र वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनचमत्कारिणं दत्तसङ्केता नागतेत्यर्थमभिप्रेत्यैवोक्तं मुखमालिन्येन व्यज्यमानस्य विषादस्य तु पर्य्यवसाने प्रधानतयैवावस्थानात्तदभिप्राये असंलक्ष्यक्रमध्वनित्वमेवास्य युक्तमिति।

---

1. 'तद्यञ्जनञ्च तादृशनायकसुहृद्दर्शनान्मुखमालिन्येन वाच्येन व्यङ्ग्यनिरपेक्षेणैव शक्यते (कर्त्तुम् ?), गृहकर्म्मव्यापृताया नायकदर्शनान्मलिनमुख्या विप्रलम्भस्य सर्व्वानुभवसिद्धत्वात्। व्यङ्ग्येन तु सङ्केतस्थलागमनकेण विप्रलम्भः स्वतो व्यञ्जयितुं न शक्यते अकार्य्यत्यागेनापि सङ्केतस्थलागमनसम्भवात् मुहुस्तादृशनायकदर्शनाधीनमुखमालिन्यसहकारेण शक्यते एव विप्रलम्भो व्यञ्जयितुमतो वाच्यमुखनिरीक्षकत्वादिदं व्यङ्ग्यं न्यूनचमत्कारि व्यङ्ग्यमुखानिरीक्षकं वाच्यं त्वधिकचमत्कारि' ग।

2. 'न च तद्दर्शनेनाकार्य्यकारणाद्दुःखोदयेनापि मुखमालिन्यं सम्भवतीति वाच्यं तदा मुहुर्द्दर्शनाभावात्' ग.।

3. अतः परं 'तत्र दुःखाधिक्यसूचकं व्यङ्ग्यमेव चमत्कारीत्यवधेयम्, ख-ग-पुस्तकयोरित्यधिकः पाठः।

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदार[1]दर्दुरदरीदैर्घ्योऽदरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्म्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥ ४ ॥

(A)विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।

नङ्गीकारादपरिस्फुटरसवृत्तिगुणवत्तया गुणयुक्तत्वं बोध्यम् । स्फुटप्रतीयमानेति । 'प्रतीयमानः' व्यङ्ग्यः । न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटमिति (B)यदस्फुटव्यङ्ग्यगुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यं वक्ष्यते तदभेदापत्तिरिति वाच्यं स्फुटालङ्कारत्वे चित्रम्, [2]अस्फुटालङ्कारत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति भेदात् । सर्व्वथा वैचित्र्याभावान्निरलङ्कारन्तु अकाव्यमेव सालङ्कारत्वघटितकाव्यलक्षणाभावात्(C) । अधममिति । पूर्व्वद्वयापेक्षया न्यूनमित्यर्थः, न त्वसत्काव्यमित्यवधेयम् । स्वच्छन्देति । मन्दाकिनी गङ्गा अह्नाय झटिति वः युष्माकं मन्दतां पापेनापकृष्टतां भिद्यात् नाशयतु इत्याशीः, 'भिन्द्या'दिति पाठे तु विधौ सप्तमी । कीदृशी ? स्वच्छन्दं यथा स्यात् तथा उच्छलतः उद्गच्छतः अच्छस्य निर्म्मलस्य कच्छकुहरे स्वसमीपवर्त्तिपर्व्वतगुहायां छातेतरस्य दुर्वलभिन्नस्य वेगवतोऽम्बुनः छटया कान्त्या मूर्च्छन्तः नश्यन्तः मोहा अज्ञानानि येषां तादृशैर्महर्षिभिः हर्षेण विहितं स्नानाद्याह्निकं यस्यां तादृशी । उच्छलदिति शल गतौ । छातेति, 'अमांसो दुर्व्वलश्छातः' इति कोषः । तथा, उद्यत् प्रकाशमानम् उदारं दर्दुरदरीणां मण्डूकगर्त्तानां दैर्घ्यं यस्यां तादृशी, वर्षासु जलप्रवेशेन उपरिभागभङ्गात् तद्गर्त्तानां दैर्घ्यप्रकाशात् । तथा, अदरिद्राणां महतां द्रुमाणां द्रोहोद्रेकेण [3]उत्खातोदयेन ये महोर्म्मयः तैः मेदुरमदा निविडप्रवाहचापल्या । अत्र छकारदकारानुप्रासो वैचित्र्यम् । मन्दाकिनीविषयभावस्य सतोऽपि तदननुगुणौजोगुणव्यञ्जकवर्णानुप्रासेन दीर्घसमासेन उदारदर्दुरदरीत्याद्यपुष्टार्थकविशेषणेन च अपकर्षणादस्फुटत्वम् । अर्थचित्रमाह— विनिर्गत-

---

(A). काश्मीरक-मेण्ठकविप्रणीतहयग्रीववधस्य पद्यमिदमिति प्राञ्चः ।

(B). अस्फुटव्यङ्ग्याख्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यर्थः ।

(C). सालङ्कारत्वघटितं यत् काव्यलक्षणं तस्य तादृशशब्दार्थयोरसत्त्वादित्यर्थः ।

1—'दर्दुरदरी दीर्घाऽदरिद्र-'इति मुद्रितपुस्तक-पाठः ।

2. 'तदभावे तु' ख । 3. 'भङ्गोदयेन' ख-ग ।

सस्म्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥ ९ ॥

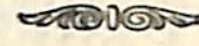
इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूप-
विशेषवर्णनो नाम प्रथम उल्लासः ।

मिति । यं हयग्रीवनृपं मानदं शत्रोर्मानखण्डकं मित्रस्य मानदायकञ्च आत्म-मन्दिराद् यदृच्छयाऽपि विनिर्गतमुपश्रुत्य परम्परया श्रुत्वा ससम्भ्रमेण सभयेन इन्द्रेण द्रुतं पातितार्गला पातितद्वारपिधाना सती अमरावती भिया निमीलिताक्षीव भवतीत्यन्वयः । उपश्रुत्येत्यत्र पातितक्रिययैककर्त्तृकत्वं(A) बोध्यम् । अत्र समापकनिराकाङ्क्ष-वाक्यबोध्यत्वेन प्रधानभूतस्य उत्प्रेक्षारूपार्थालङ्कारस्य चमत्कारेण सतोऽपि राज-विषयस्य भावस्य तिरोधानादस्फुटत्वम् । न च पातितार्गला भवतीत्यन्वये राजविषयभाव एव निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यप्रधानतया स्फुट इति वाच्यम्, तदा 'निमीलिताक्षीव' इत्यत्रापि भवतीत्यस्यानुषङ्गापत्तेः, अतोऽननुषङ्गेण निराकाङ्क्षवाक्यबोध्यतया च चमत्कारिण्या भावप्रतीतेर्विलम्बनमेव भावास्फुटत्वबीजमित्यभिप्रायेणेदमुदाहृतम् । वस्तुतस्तु उत्प्रेक्षयापि परपुरीरूपपरस्त्रीभीतिजननाद् राजविषयभावप्रकर्षणमेवैतदिति आपातत एवेदमुदाहरणमुक्तम् । षष्ठोल्लासे "ते दृष्टिमात्रपतिता" इत्यादिकं यदर्थचित्रोदाहरणं वक्ष्यते तदेवोदाहरणं बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृतकाव्यप्रकाशादर्शे काव्यप्रयोजनादि-
निर्णयस्य प्रथमः प्रतिबिम्बः ।

(A). अत्रैककर्त्तृकत्वबलेन अर्गलपातने भृत्याह्वानावसरालाभनिबन्धनो भयातिशयो व्यज्यमानोऽपि न चमत्कारातिशयं पुष्णातीति हृदयम् ।

द्वतीय उल्लासः



क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्र काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

(६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

(७) तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां

विशिष्टयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वेनोक्तत्वाद् बोध्यबोधकभावस्यैव च तयोर्वैशिष्ट्यत्वेन कया कया वृत्त्या तयोर्वैशिष्ट्यमित्याकाङ्क्षायां तत्तद्वृत्त्या तयोर्वैशिष्ट्यं विवक्षुराह—क्रमेणेति । 'स्वरूपं' तत्तद्वृत्त्या बोध्यबोधकस्वरूपम् । तथाच बोधकबोध्यतासम्पादकवृत्ति[1]स्वरूपकथनमेव 'स्याद्वाचक'इत्यादिना उपक्रान्तम्, न तु वाचकादिसंज्ञाकथनम्; तथा सति 'साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थ'मित्यादिवक्ष्यमाणवाचकलक्षणे बहुविशेषणोपादानवैयर्थ्यं स्यादिति तदवसरे दर्शयिष्यामः । एवञ्च स्याद्वाचक इत्यादौ शक्त्या प्रतिपादको लक्षणया प्रतिपादको व्यञ्जनया प्रतिपादकश्चेत्यर्थः ।

अत्र काव्य इति । यद्यप्यकाव्यस्थोऽपि शब्द आलङ्कारिकैर्व्यञ्जक उच्यते इत्यतः काव्य इत्यव्यावर्त्तकं तथापि काव्यविवेचकालङ्कारशास्त्रपरमेवात्र काव्यपदं बोध्यम्[2] । 'स्वरूपं' लक्षणम् ।

केषुचिदिति । प्राचीननैयायिकमतेष्वित्यर्थः । तन्मते पदोपस्थापितानां पदार्थानां संसर्गो वाक्याद्भासमानस्तात्पर्य्याख्यां वृत्तिमपेक्षते तात्पर्य्यविषयसंसर्गस्यैव वाक्यार्थज्ञानात् । [3]इयमेवाधुनिकैः संसर्गमर्य्यादोच्यते[3]* । तदाह (A)आकाङ्क्षेति ।

A. आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्य्यवसानविरहः, स च श्रोतुर्जिज्ञासास्वरूपः, योग्यता पदार्थानां

---

1. 'बोधकवृत्तिस्वरूप'-ख-ग । 2. 'बोध्यम्, तच्च व्यञ्जकानङ्गीकर्त्तृ शास्त्रान्तरव्यावर्त्तकम्' ग ।

3. ख-पुस्तके नास्ति ।

समन्वये तात्पर्य्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।

अभिधानापर्य्यवसानमाकाङ्क्षा(A)। बाधविरहो योग्यता। (B)अव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिः सन्निधिः, तस्य[1] च उपस्थितान्वयप्रतियोगिनामव्यवधानमेवार्थः, तेनासत्तिज्ञानेऽन्वयप्रतियोग्युपस्थितिर्न विषयः[1]*। **वक्ष्यमाणेति**। 'जात्यादिर्जातिरेव वा' इत्यादिना वक्ष्यमाणेत्यर्थः। 'समन्वये' समन्वयबोधे ; समन्वयात्मक एव 'तात्पर्य्यार्थः' समुल्लसति विषयीभवति। कीदृशः ? 'विशेषवपुः' विलक्षणस्वरूपः ; वैलक्षण्यमेव पुनर्विवृणोति—**अपदार्थ** इति। पदाप्रतिपाद्य इत्यर्थः। तर्हि कस्य प्रतिपाद्य इत्यत आह—**वाक्यार्थ** इति वाक्यप्रतिपाद्य इत्यर्थः। **अभिहितेति**। 'अभिहितानां' पदोपस्थितानां[2]मन्वयबोधवादिनां नैयायिकानामित्यर्थः।

परस्परसम्बन्धे बाधाभावः ; आसत्तिः बुद्ध्यविच्छेद इति विश्वनाथः। आकाङ्क्षा प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, योग्यता एकपदार्थेऽपरपदार्थस्य प्रकृतसंसर्गवत्त्वम्, सन्निधिराकाङ्क्षितानां पदार्थानामेकबुद्ध्युपारूढत्वमित्यन्ये। बाधकप्रमाविरहो योग्यतेत्युपाध्यायाः।

A. "अभिधानापर्य्यवसानमाकाङ्क्षा, यस्य येन विना न स्वार्थान्वयानुभावकत्वं तस्य तदपर्य्यवसान"मिति तत्त्वचिन्तामणौ। एतद्व्याख्यायां मथुरानाथः—"घटः कर्म्मत्वमित्यादावतिव्याप्तिरित्यतः पारिभाषिकमभिधानापर्य्यवसानपदार्थमाह यस्येति..............तथाच यत्पदनिष्ठयत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तो यादृशान्वयबोधाभावस्तत्तत्पदस्य तत्पदवत्त्वं तादृशान्वयबोधे अभिधानापर्य्यवसानमिति फलितार्थः। पदत्वमत्र शब्दत्वम्...............भवति चाव्यवहितपूर्व्ववर्त्तितारूपसमभिव्याहारसम्बन्धेन घटपदनिष्ठस्यानुस्वारस्य व्यतिरेकप्रयुक्तो घटवत् कर्म्मत्वमिति भेदान्वयबुद्ध्यभाव इति तादृशान्वयबोधे घटपदस्यानुस्वारपदवत्त्वमाकाङ्क्षा" इति। एवञ्च घकारोत्तराकारोत्तरटकारोत्तराकारोत्तरानुस्वारत्वरूपाकाङ्क्षाया एतन्मते साक्षादेव पदधर्म्मत्वसम्भवात् साकाङ्क्षं पदमिति व्यवहारः सूपपाद इति ध्येयम्।

B. आसत्तिश्चाव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिरिति तत्त्वचिन्तामणौ। अस्य 'स्वाव्यवहितत्वसम्बन्धेन तत्तत्पदार्थोपस्थितिमती तत्तत्पदार्थोपस्थितिस्तत्तत्पदार्थे तत्पदार्थस्यासत्ति'रिति तु फलितार्थ इति मथुरानाथः।

1, ख-ग-पुस्तके नास्ति। 2, '-न्वयवादिनां'-ख।

(८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।(A)

[1]संसर्गस्य पदानुपस्थापितत्वेन तत्र तात्पर्य्याख्या वृत्तिस्तैः स्वीक्रियते(B) तच्च न मीमांसकमतसिद्धमित्याह[1]*—**वाच्य एवेति**(C) 'वाक्यार्थः' संसर्गो वाच्य एवेत्यर्थः । इतरान्वितत्वेनैव पदानां शक्तिग्रहः, पदविशेषसमभिव्याहारादितरस्मृतिरिति तेषां मतम् ।

नन्वेवं शब्दस्यैव व्यञ्जकत्वमुक्तं तत् कथं शब्दार्थयुगलात्मनः काव्यस्य वाच्यातिशायिव्यङ्ग्यव्यञ्जकतया ध्वनित्वमुक्तमित्यतोऽर्थस्यापि व्यञ्जकत्वमाह—**सर्व्वेषामिति**

(A) ननु शब्दव्यञ्जनानिरूपणानन्तरमेवार्थव्यञ्जना वक्तुमुचिता, तथाहि—द्वितीयोल्लासे शब्दव्यञ्जनां निरूप्यैव तृतीयोल्लासे अर्थव्यञ्जनालोचितेति इदानीं तत्कथनमप्रासङ्गिकमिति चेन्न स्याद्वाचक इत्यादिनोक्तौ वाचकत्वलक्षकत्वधर्म्मौ यथा शब्दस्यैव तथा तत्साहचर्य्याद् व्यञ्जकत्वमपि शब्दस्यैव स्यादेवं वाच्यत्वलक्ष्यत्ववद् व्यङ्ग्यत्वमेवार्थस्य भवेदित्याशङ्काद्वयनिरासाय तदुत्थानात्, तथाच सर्व्वेषामर्थानां व्यञ्जकत्वमित्युक्त्या प्रथमाया अपिकाराच्च द्वितीयाया आशङ्काया निरासः ।

(B) अयम्भावः—स्वज्ञानेनार्थोपस्थितिहेतुः पदसम्बन्धो वृत्तिरिति वृत्तिसामान्यलक्षणे पदशब्दो यद्यानुपूर्वीविशेषावच्छिन्नवर्णमात्रपरस्तदा वाक्यस्यापि स्वप्रयोक्तृपुरुषेच्छाविषयत्वरूपः सम्बन्धो ज्ञात एव पदार्थस्मारक इति तात्पर्य्यस्यापि वृत्तित्वमुपपद्यते । नव्यास्तु तत्रत्यस्य पदशब्दस्य शक्तिमच्छब्दपरत्वमभ्युपगम्य वाक्यस्य शक्तिमत्त्वाभावेन तात्पर्य्यस्य वृत्तित्वं नाङ्गीकुर्व्वन्ति । तन्मते अभिधालक्षणयोरेव वृत्तित्वम् । अत एव भट्टाचार्य्याः "सङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्ति"रिति । अत्र स्वज्ञानेनेत्युक्तेः व्यञ्जनायाः स्वरूपसत्या एवार्थोपस्थापकतया न तत्रातिव्याप्तिः । आलङ्कारिकैस्तत्पदानुपादानाच्च तन्मते लक्ष्यतयाऽभिमतायां तस्यां नाव्याप्तिरिति ध्येयम् ।

(C). वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिन इति वृत्तिः । गामानयति चैत्र इति वाक्यजन्ये शाब्दबोधे गोवृत्तिसमीपदेशसंयोगानुकूलक्रियानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमांश्चैत्र इत्याकारेण भासमानेषु पदार्थेष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां गोशब्दस्य सास्नादिमत्पिण्डे, द्वितीयायास्तादृशसंयोगरूपे फले, आङ्पूर्व्वनीधातोः क्रियानुकूलव्यापारे ; तिपः कृतौ चैत्रशब्दस्य च पुरुषविशेषे शक्तौ गृहीतायामपि शाब्दबोधे पदानुपस्थितार्थानां भानानभ्युपगमेन तत्रैव भासमानानां वृत्तित्वानुकूलत्वादीनामपि केनचित्पदेनोपस्थाप्यत्वमवश्यमङ्गीकरणीयम् । बालस्य व्यवहारदर्शनाधीनशक्तिग्रहकालेऽपि प्रथमं तस्योक्तरीत्या वाक्यार्थस्यैव बोधः, पश्चाच्च पदविशेषस्यार्थविशेषे शक्तिग्रह इति विशेषः । तदेवमन्वितानां पदार्थान्तरसम्बन्धविशिष्टानामेव पदेनाभिधानमिति वदन्तो मीमांसका अन्विताभिधानवादिन इत्युच्यन्ते । नैयायिकास्तु अनन्यलभ्यः शब्दार्थ इति न्यायेन पदार्थान्वयसम्बन्धस्याकाङ्क्षादिलभ्यत्वसम्भवेन तत्र कस्यापि पदस्य शक्तिस्वीकारोऽनुचितः पदयोरेकतरस्य शक्तिकल्पने विनिगमनाविरहश्चेति गवादिपदैरभिहितानामेव सास्नादिमत्-

१. ' 'मीमांसकमते तु संसर्गोऽपि पदस्यैवार्थो न तु तात्पर्य्याख्या वृत्तिरिति केषुचिदित्यनेन तद्ग्रन्थवृत्तिः कृतेति तद्दर्शयति' ख ।

तत्र वाच्यस्य यथा—

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं [1]एमेअ ण वासरो ठाइ ॥ ६ ॥

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झ कए ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥ ७ ॥

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम्,

अर्थानामपीत्यन्वयः । अन्यञ्जकत्वमपि कस्यचिदर्थस्येत्यत उक्तं—प्रायश इति । 'सर्व्वेषां' वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानाम् । वाच्यस्य यथेत्यत्र व्यञ्जकत्वमित्यन्वयः । एवमुत्तरद्वयेऽपि । माए इति—

मातर्गृहोपकरणमद्य हि नास्तीति साधितं त्वया ।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥ इति संस्कृतम् ।

प्रत्यहं गृहव्यापारेण स्वैरं विहर्त्तुमक्षमायास्तरुण्या मातर्युक्तिरियम् । साधितं प्रतिपादितम् । एवमेव निर्व्यापार एव । स्थायी स्थास्यति । अत्रेति 'व्यज्यते' वाच्यार्थेन, [2]सर्व्वेषामेव पदानामत्र वाचकत्वेन तदर्थबोधादेव तादृशव्यङ्ग्यार्थप्रतीतेः[2]* ।

साहेन्तीति—

साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनाऽसि मम कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशं तावद्विरचितं त्वया ॥ इति संस्कृतम् ।

उपनायकोपभुक्तां दूतीं प्रति नायिकायाः सोल्लुण्ठनोक्तिरियम् । सद्भावः शिष्टता । अत्रेति, नन्वेतादृशोऽर्थो न कस्यापि पदस्य लक्षणया गम्यः, तथात्वे निराकाङ्क्षत्वेन तस्यापरपदार्थेऽन्वयासम्भवात् । अत्र प्राचीनाः---लक्ष्यमित्यत्र लक्षणामूलव्यङ्ग्यमित्ये-

---

पिण्डादीनामाकाङ्क्षादिबलादन्वयः शाब्दबोधे भासते इति वदन्तोऽभिहितान्वयवादिन उच्यन्ते । एतन्मते 'नापदार्थः शाब्दबोधे भासते' इत्यस्य प्रकारतया विशेष्यतया वा न भासते इत्यर्थस्वीकारेण सम्बन्धस्य संसर्गमर्य्यादया भाने न किञ्चिद्बाधकमिति बोध्यम् ।

---

1. 'एवमेव' इति क्वचित्पाठः । 2. 'वाच्यैतत्सकलपदार्थबोधानन्तरमेव एतादृशबोधोदयात्' क ।

तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।

णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्तिव्व ॥ ८ ॥

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वम्, तेन च जनरहितत्वम्, अतः

वार्थः, लक्ष्यार्थौ तु सद्भावस्नेहपदयोरसद्भावास्नेहावेव ; एवं 'मम कृते' इत्यत्रापि स्वस्य कृते इत्येव लक्ष्यार्थः । न चैवं तेन चेत्यादिना व्यङ्ग्यान्तरकथनमनुपयुक्तमिति वाच्यं प्रसङ्गादेव व्यङ्ग्यान्तरकथनादित्याहुः, तन्न ; 'लक्ष्यस्य यथा' इत्यनेनैव लक्षणामूलत्वप्राप्तौ पुनस्तत्कथनानुपपत्तेः, अनुपयुक्तस्य व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यान्तरकथनस्यानौचित्याच्च । चक्रवर्त्ती तु सदृशपदस्य शत्रुत्वं लक्ष्यम् ; तथाच मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया आचरितं शत्रुत्वं लक्ष्यमित्यर्थ इत्याह, तदपि न ; तदा सद्भावस्नेहकरणीयस्य शत्रुत्वमित्यन्वयस्यानुपपत्तेः, अचेतनस्य करणीयस्य शत्रुत्वाभावात् ताभ्यां करणीयं शत्रुत्वमित्यन्वयस्याप्यसम्भवाच्च [1]सद्भावस्नेहाभ्यां शत्रुत्वकरणासम्भवात्[1]* । वयं तु सदृशपदे विसदृशलक्षणा, तथाच ताभ्यां करणीयस्य विसदृशं विपरीतमाचरितमित्यर्थः ; एवञ्च मम कृते इत्यत्रापि स्वसुखस्य कृते इत्येवार्थः ; मम कृते गत्वा इति वा अर्थः । तथाच विसदृशं यल्लक्ष्यं तदेव [2]विवृत्य दर्शयति मत्प्रियमित्यादिनेति न किञ्चिदनुपपन्नम् । तद्व्यङ्ग्यमाह—तेन चेति । कामुकेत्यत्र एकशेषः ; तथाच (A)कामुकीकामुकयोः सापराधत्वमियं प्रकाशयतीति सामाजिकैर्व्यञ्जनयाऽवगम्यते । [3]दूत्या तु आवयोरित्येवमवगम्यते(B) इति बोध्यम्[3]* ।

उअ निचलेति—

(C)ऊह निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।

निर्म्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥ इति संस्कृतम् ।

(A). कामुक्याः कामुकस्य चेति युक्तम् ।

(B). दूत्या तु स्वस्य उपनायकस्य च सापराधत्वमियं प्रकाशयतीत्यवगम्यते इत्यर्थः ।

(C). अत्र 'ऊहस्व' इति युक्तमात्मनेपदित्वादूहतेः, विचारयेति तदर्थः । 'उअ' इति पश्येत्यर्थे देशीति केचित् । उदाहरणचन्द्रिकायास्तु—उअ इत्यव्ययं पश्येत्यर्थे । बिसिनी कमलिनी, तस्याः पत्रे बलाका प्रसिद्धः पक्षिविशेषः शोभते त्वं पश्येति वाक्यार्थस्य कर्म्मत्वेनान्वयः । समीहितसूचनाय विशिनष्टि—निश्चलेत्यादि । निश्चला चासौ निष्पन्देति कर्म्मधारयः ।

---

1. 'ताभ्यां करणीयस्य मित्रत्वादेरेव सम्भवात्' ख । 2. 'विविच्य' ग । 3. इदं ग-पुस्तके नास्ति ।

सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित् कश्चित् प्रत्युच्यते। अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

सङ्केतस्थलं दर्शयन्त्या दूत्या उक्तिरियम्। ऊहेति पश्येत्यर्थः। निश्चलेति सम्बोधनम्, तस्य च निरुद्यमेत्यर्थः। शङ्खशुक्तिः शङ्खकपालम्। चक्रवर्त्ती तु निश्चला पृथिवी सेव निष्पन्देत्यर्थ इत्याह, तन्न ; पृथिवीवाचकस्य अचलाशब्दस्य परिवृत्त्य-क्षमतायाः "निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं(A) वेदय साम्प्रतम्" इत्यत्र दोषोल्लासे ग्रन्थकृतैव वक्ष्यमाणत्वात् ; अन्यथा निश्चलनिष्पन्दत्वेनेत्येव वृत्तौ लिखितं स्यात्, न निष्पन्दत्वेनेति। **अतः सङ्केतेति** 'उच्यते' व्यज्यते इत्यर्थः। अत्रैव विकल्पेन व्यङ्ग्यान्तरमाह **अथवेति,** तथाच अहं तत्र गत्वा त्वामनासाद्य आगतोऽस्मीत्येवं यद्वदसि तन्मिथ्येत्यर्थः। मिथ्यात्वं विवृणोति **न त्वमिति,** यदि त्वं तत्र गतः स्यास्तदा बलाका आश्वस्ता न स्यादिति भावः।

वाचकादीनामिति शक्त्यादिना प्रतिपादकादीनामित्यर्थः, 'स्याद्वाचक'इत्यादौ तथैव उपक्रमस्य प्रदर्शितत्वात्। 'स्वरूपं' लक्षणम्। [1]शक्त्या प्रतिपादकत्वञ्च शक्त्यधीन-

---

चलनं शरीरक्रिया स्थानान्तरप्रापिका स्पन्दस्त्ववयवक्रिया तदप्रापिका, स्पदि किञ्चिच्चलने इति धात्वनुसारात्। निर्म्मले स्वच्छे मरकतस्य नीलमणेर्भाजने स्थिता शङ्खस्य शुक्तिः शङ्खघटिता शुक्तिसदृशी चन्दनादिनिधानपात्रम्, न तु मुक्ताशुक्तिः तस्या बलाकावर्णसदृशवर्णत्वा-भावात् शङ्खशुक्तिपदस्य तत्रासामर्थ्याच्च। एवञ्च अचेतनोपमया आत्यन्तिकक्षोभाभावः सूच्यते। पार्य्यन्तिकचमत्कारस्थानन्तु सम्भोगविप्रलम्भभेदेन व्यङ्ग्यद्वयं प्रकाशे स्पष्टमिति सङ्क्षेपः। अथवेत्यादिनोक्तस्य व्यङ्ग्यस्य तु विप्रलम्भपरतया माधुर्य्यातिशय इति केचित्। "बलाका-बकपङ्क्तिः स्याद्बलाका विषकण्ठिका। बलाका कामुकी प्रोक्ता बलाकस्तु बको मतः" इति कोषः।

(A). अत्र सर्व्वेष्वादर्शपुस्तकेषु नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति पाठो लिपिकृत्प्रमादकृत एव दोष-परिच्छेदे तथाऽदर्शनात्।

---

1. शक्त्येति। इतः प्रभृति 'व्याचष्टे' (१७ पंक्तौ-३८ पृष्ठे) इति पर्य्यन्तं कारिकाव्याख्यानं ख-ग-चिह्नित-पुस्तकयोरन्यत्र विभिन्नम्—तथाच शक्त्या प्रतिपादकत्वं लक्ष्यतावच्छेदकं तद्वाचकं लक्षणमित्यर्थः। स्याद्वाचक इत्यादि। यदि तु वाचकसंज्ञकत्वमेव स्याद्वाचक इत्यादिना लक्ष्यतावच्छेदकमुक्तं स्यात्तदा यो यमर्थमभिधत्ते अभिधया प्रतिपादयति स तस्य वाचक इत्येतावतैव सामञ्जस्ये शेषे वैयर्थ्यं स्यात्, शक्त्या प्रतिपादकत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्वे तु तन्न घटते लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणयोर्द्वयोरपि शक्त्या प्रतिपादकत्वरूपत्वेनात्माश्रयाद् ग्राह्य-ग्राहकभावानुपपत्तेः। एवञ्च अभिधत्ते इत्यत्रापि नाभिधया प्रतिपादयतीत्यर्थस्तद्दोषतादवस्थ्यात्, किन्तु प्रति-

(६) साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः(A) ॥ ७ ॥

प्रतिपत्तिजनकत्वं तच्च परम्परया लाक्षणिकशब्देऽप्यस्तीत्यतस्तद्वारणार्थं(B) साक्षात्त्व-घटितं तद्ग्राहकं(C) लक्षणमाह— **साक्षादित्यादि**। अत्र सङ्केतितमिति सङ्केत-शब्दात्तद्ग्रहार्थे कारितम्(D), ततः कर्म्मणि क्तः। तथाच सङ्केतग्रहविषयमित्यर्थः ; ग्रहे च साक्षात्त्वं विशेषणम् ; सङ्केतश्च तच्छब्दीयो बोध्यः न तु शब्दान्तरीयः, तदा लक्ष्यार्थ-वाचकशब्दान्तरमादाय लाक्षणिकाव्यावर्त्तनात्, तथाच "साक्षाद्" गृहीतस्वसङ्केतं यमर्थं यः शब्दोऽभिधत्ते स शब्दस्तस्यार्थस्य वाचक इत्यर्थः ; वाचक इत्यस्य शक्त्या प्रति-पादक इत्यर्थ उपक्रमावधि व्याख्यात एव, अतोऽत्र वाचकसंज्ञक इति नार्थः, तथात्वे यो यमर्थं साक्षादभिधत्ते साक्षादभिधया प्रतिपादयतीत्येतावतैव सामञ्जस्ये शेषवैय र्थ्यापत्तेः ; पूर्व्वदर्शिताकाङ्क्षया तु शक्त्या प्रतिपादकत्वमेव लक्ष्यतावच्छेदकम्, तथात्वे च शक्त्या प्रतिपादकत्वं न लक्षणं सम्भवति लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणयोरैक्येनात्माश्रया-पत्तेः, अतोऽत्र अभिधत्त इत्यस्य अभिधया प्रतिपादयतीति नार्थः किन्तु प्रतिपादयतीत्ये-वार्थः। तथाच यो यमर्थं प्रतिपादयतीत्येतावन्मात्रकरणे व्यञ्जनया (E)अशक्यार्थप्रति-

---

(A). अत्र प्रदीपः—न च साक्षात् सङ्केतवान् वाचक इत्येतावतैव स्वस्थत्वे अभिधत्ते इत्यस्य वैयर्थ्यं संयोगादिनाऽभिधायां नियमितायां वाच्यार्थव्यञ्जकतादशायामतिव्याप्तेर्वारणीयत्वात्। न च तथाऽपि तत्रातिव्याप्तिरेवेति वाच्यं यस्य शब्दस्य यत्राव्यवहितसङ्केतग्रहो यदर्थग्रह उपयुज्यते स तदर्थवाचक इति हि लक्षणार्थः।...इदं च यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते इत्यादि वृत्तिदर्शनात् सङ्केतविशेषणतया साक्षात् पदं व्याख्यातम्। वस्तुतस्तु संयोगादिनाऽभिधायां नियमितायां यत्र शक्यान्तरध्वननं तत्र वाचकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यभिधानक्रियाविशेषणं साक्षादिति। तत्र तु वाक्यार्थप्रतीतिव्यवधानेन तत्प्रतीतिरित्यप्रसङ्गः इति। एतन्मते माधुर्य्यादिव्यञ्जकवर्णस्य माधुर्य्यादिवाचकतावारणाय सङ्केतितपदमिति प्रभाकाराः।

(B). लाक्षणिकशब्दसाधारणस्य शक्त्या प्रतिपादकत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्ववारणार्थमित्यर्थः।

(C). लाक्षणिकव्यावृत्तस्यैव लक्ष्यतावच्छेदकत्वग्राहकमित्यर्थः। तथाच शक्त्या प्रतिपाद-कत्वं लक्ष्यतावच्छेदकं साक्षाद् गृहीतस्ववृत्तिकार्थप्रतिपादकत्वञ्च लक्षणमिति न काऽप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम्।

(D). कारितमिति कलापमते, णिच्प्रत्यय इत्यर्थः।

(E). व्यञ्जनया शक्यार्थप्रतिपादके दुर्गालङ्घित इत्यादावतिव्याप्तिसम्भवादाह—अशक्येति।

पादयतीत्यर्थः। तथाच यो यमर्थं प्रतिपादयतीत्येतावन्मात्रकरणे लक्ष्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादके तत्र च शब्दे लक्ष्यं व्यङ्ग्यं तत्र प्रति वाचकत्वं स्यादत उक्तं—सङ्केतितमिति। सङ्केतशब्दात् तद् गृह्णातीत्यर्थे प्रत्यय-जनकं कारितं ततः कर्मणि क्तः, तथाच गृहीतसङ्केतमित्यर्थः। सङ्केतः स्वस्यैव परकीयसङ्केतस्य परित्यागकथनात्। सङ्केतश्चात्र शक्तिनामकमेव न तु भक्तिः। यद्वा यो यस्मिन्नर्थे गृहीतशक्तिकः स तस्य शक्त्या प्रतिपादक इत्यर्थः।

इहागृहीतसङ्केतस्य(A) शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

पादकेऽपि तद्वाचकतापत्तिः स्यादतः **सङ्केतितमिति** गृहीतस्वसङ्केतमित्यर्थः । सङ्केतो हि वृत्तिर्व्यङ्ग्यार्थस्तु न तादृशः अगृहीताया एव व्यञ्जनाया बोधकत्वात्(B) । तथाच(C) गृहीतलक्षणारूपवृत्तिकार्थप्रतिपादके लाक्षणिकशब्देऽपि लक्ष्यार्थवाचकतापत्तिः स्यादतः (D)साक्षाद् गृहीतस्वसङ्केतमिति ; लक्षणारूपवृत्तेर्मुख्यार्थबाधादिग्रहव्यवधानेनैव असाक्षात्त्वात् । न च सङ्केतपदं शक्तिपरमेवास्तु न वृत्तिपरम् ; तथाच लक्ष्यार्थेऽपि शक्तिग्रहाभावादेव न तत्रातिव्याप्तिः स्यात् किं साक्षात्त्वप्रवेशेनेति वाच्यम्, अर्थे गृहीतस्वशक्तिकत्वस्य लक्षणवाक्याद् ग्रहदशायां तुल्यवित्तिवेद्यतया शब्देऽपि शक्त्या तदर्थप्रतिपादकत्वग्रहेण लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणयोर्ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तेः । केचित्तु सङ्केतितमर्थं यः साक्षादभिधत्ते इत्यन्वयमाहुः, तन्न ; व्यवधानेन गृहीतस्ववृत्तिकेन लाक्षणिकशब्देनापि साक्षादर्थप्रतिपादनात् तत्रातिव्याप्तेः । वृत्तिग्रहोऽपि प्रमारूप एव बोध्यः, तेन शक्तिभ्रमगृहीतार्थं प्रति न वाचकतापत्तिः ।

इत्थं गृहीतसङ्केतावेव शब्दार्थौ प्रतिपादकप्रतिपाद्यावित्यभिप्रेत्य लक्षणे कृते अर्थग्रहं प्रति सङ्केतग्रहस्य आवश्यकत्वे प्रमाणं दर्शयन् लक्षणं व्याचष्टे*—**इहेति** । 'सङ्केतसहायः' गृहीतसङ्केतसहायः ।

(A). शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावादिति । अत्र शब्दस्येति पञ्चम्यर्थे षष्ठी । तथाच शब्दादर्थप्रतीतिः स्मृतिरूपा सा च अर्थविषयकानुभवजन्यसंस्काराद् भवति । संस्कारश्चानुद्बुद्धो न कारणमिति सङ्केतज्ञानं संस्कारोद्बोधकतया अर्थस्मृतावुपयुज्यते इति सङ्केतग्रहमन्तरेण केवलसङ्केतविशिष्टशब्दादपि अर्थप्रतीतिर्न भवतीति हेतोरित्यर्थः ।

(B). अयं भावः, सङ्केतितमिति मूले गृहीतस्वसङ्केतमिति तद्विवरणे चोभयत्रैव सङ्केतशब्दो वृत्तित्वेन रूपेण लक्षणया अभिधालक्षणोभयपरः । एवञ्च पदपदार्थयोर्यः सम्बन्धो ज्ञातः सन्नर्थस्मारको भवति तस्यैव वृत्तित्वस्वीकारेण स्वरूपसत्या एवार्थबोधकतया व्यञ्जनाया वृत्तित्वाभावेन व्यङ्ग्यार्थस्य सङ्केतितत्वाभावात् व्यञ्जकशब्दस्य न व्यङ्ग्यार्थवाचकतापत्तिरिति ।

(C). सङ्केतशब्दस्य अभिधालक्षणोभयपरत्वे चेत्यर्थः ।

(D). अत्र लाक्षणिकशब्दस्य लक्ष्यार्थवाचकत्ववारणाय साक्षात्त्वमात्रमुपयुज्यते तस्य च ग्रहांशे विशेषणतयैव लक्षणघटकतेत्यत उक्तं साक्षाद् गृहीतेति । अर्थांशे साक्षात्त्वमप्यन्नैव पर्य्यवस्यतीत्यपि मन्तव्यम् ।

पर्य्यामौ लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणयोस्तुल्यवित्तिवेद्यत्वेन ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तेः । भवति ह्यथ गृहीतस्वशक्तिकत्वग्रहदशायामेव शब्देऽपि शक्त्या तदर्थप्रतिपादकत्वग्रहः । अतो यो यद्विषयं गृहीतस्वशक्तिक-

(१०) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव

सङ्केतितश्चतुरिति । सङ्केतितः साक्षाद् गृहीतस्वसङ्केतः । चतुर्भेदः चतुःप्रकारः । प्रकारचतुष्टयमाह—जात्यादिरिति, जातिगुण(A)क्रियायदृच्छोपाधि-

---

(A) अत्रेदमवगन्तव्यम्, आलङ्कारिकैर्जातिद्रव्यक्रियाभिन्नवस्तुमात्रस्यैव गुणमध्येऽन्तर्भाव इष्यते, तेन 'गिरयोऽप्यनुन्नतियुजः' इत्यादौ वक्ष्यमाणविरोधालङ्कारोदाहरणे अभावविरोधस्यापि गुणविरोधतया न विभागव्याघात इति । स्पष्टमिदं बालबोधिन्याम् (पृः ३९) ।

इत्येव लक्षणार्थः । तादृशार्थे च न ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तिः अर्थे गृहीतस्ववृत्तिकत्वग्रहदशायां शब्दे
वृत्त्या तदर्थप्रतिपादकत्वस्यैव ग्रहात् न तु शक्त्या प्रतिपादकत्वस्य । एवञ्च व्यङ्ग्यार्थे स्वस्मिंश्च शब्दस्य गृहीत-
स्ववृत्तिकत्वाभावादेव तद्वारणम् । लक्ष्यार्थे तु गृहीतलक्षणारूपस्ववृत्तिकत्वात् तद्वाचकतापत्तिवारणाय सङ्केत-
ग्रहे साक्षात्त्वं विशेषणं दत्तम्, लक्षणारूपसङ्केतग्रहस्य तु मुख्यार्थबाधाद्युपस्थितिव्यवहितत्वात् न साक्षात्त्व-
मिति तद्व्यावृत्तिः । साक्षात् प्रतिपादयतीति तु नान्वयः तीरे व्यवधानेन गृहीतस्ववृत्तिकेन गङ्गाशब्देन तीरस्य
साक्षादेव प्रतिपाद्यत्वेन तदवारणापत्तेः । वृत्तिग्रहोऽपि प्रमारूप एव विवक्षितः, तेन न शक्तिभ्रमविषयी-
भूतार्थवाचकतापत्तिः । इत्थं गृहीतस्वसङ्केतावेव शक्तलाक्षणिकौ शब्दावर्थप्रत्यायकाविति स्थितौ अर्थ-
प्रत्यायार्थे सङ्केतग्रहे प्रमाणं दर्शयन्नेव तल्लक्षणं व्याचष्टे' ख ।

परम्परया शक्त्या प्रतिपादकत्वं लाक्षणिकशब्दस्याप्यस्तीत्यतः साक्षात्त्वघटितं तल्लक्षणमाह--साक्षादिति । न च
साक्षात् शक्त्या प्रतिपादकत्वमेव लक्षणमस्त्विति वाच्यम्, शक्त्याऽपि स्वज्ञानव्यवधानेन प्रतिपादनात् साक्षात्त्वा-
भावात् । शक्तिज्ञानेन साक्षादित्येवंघटितलक्षणस्य सम्भवेऽपि लक्षणान्तरकरणस्यादुष्टत्वादित्यभिप्रायेणाह—
साक्षादित्यादि । अत्र सङ्केतशब्दात् तद्ग्रहार्थे कारितं ततः कर्मणि क्तः, तथाच सङ्केतग्रहविषयमित्यर्थः ।
गृहीतसङ्केतमिति यावत् । तस्मिन् ग्रहे च साक्षादन्वयः । सङ्केतश्च वृत्तिर्न त्वेव शक्तिः । अर्थे साक्षाद्
गृहीतशक्तिकत्वस्य लक्षणवाक्याद् ग्रहदशायां शब्दे शक्त्या तदर्थप्रतिपादकत्वस्य तुल्यवित्तिवेद्यतया ग्रहेण लक्षण-
लक्ष्यतावच्छेदकयोर्ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तेः । सङ्केतपदस्य वृत्तिपरत्वे तु शब्दे वृत्त्या साक्षादर्थप्रतिपादकत्वस्य
ग्रहेऽपि न शक्त्या प्रतिपादकत्वमात्रग्रहः । लक्षणाया अपि वृत्तित्वेन तया साक्षात्प्रतिपादकस्य लाक्षणिक-
शब्दस्यावारणादतो वृत्तिग्रह एव साक्षात्त्वघटितं लक्षणं लक्षणावृत्तेस्तु मुख्यार्थबाधादिग्रहव्यवधानेनैव ग्रहेण
तद्वारणात् । सङ्केतश्च तच्छब्दीयो बोध्यः । अन्यथा तीरे साक्षाद् गृहीतवृत्तिकस्य तीरपदस्य तीरस्य प्रतिपादके
गङ्गापदेऽपि तीरवाचकत्वापत्तेः । अभिधत्ते इत्यत्रापि प्रतिपादयतीत्येवार्थः न त्वभिधया प्रतिपादयतीत्यर्थः ।
तदा च तस्य वाचकत्वरूपत्वेन लक्षणलक्ष्यतावच्छेदकयोरभेदेनात्माश्रयापत्तेः । वाचकसंज्ञ (त्व) स्य लक्ष्यता-
वच्छेदकत्वे तु आत्माश्रयाभावेऽपि साक्षात्सङ्केतितविशेषणवैयर्थ्यापातात् तादृशलक्ष्य आकाङ्क्षाविरहस्य
स्याद्वाचक इत्यादौ दर्शितत्वाच्च शक्त्या प्रतिपादकत्वमेव लक्ष्यतावच्छेदकम् । वृत्तिग्रहोऽपि प्रमारूप एव बोध्यः,
तेन शक्तिभ्रमाद्गृहीतार्थे (प्रति) न वाचकतापत्तिः । इत्थं शब्दार्थयोर्वाचकवाच्यभावः शक्तिग्रहघटित-
लक्षणेनैव ज्ञायते इत्यभिप्रेत्य लक्षणे कृते शक्तिग्रहस्यावश्यकत्वे प्रमाणं दर्शयन् लक्षणं व्याचष्टे' ग ।

तथाऽप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं (A), न युज्यत इति गौः

रूप इत्यर्थः। व्यक्तेरेव सङ्केतितत्वमुचितमित्याशङ्क्ते—**यद्यपीति**। 'अर्थः' प्रयोजनं हलवाहनादि, तस्मै 'क्रिया' गवादे[1]*रानयनादिः तत्कारित्वा(B)दित्यर्थः। 'व्यक्तिः' गवादिः, तथाच तत्रैव सङ्केतग्रहो वक्तुमुचित इति पूरणीयम्। अत्र समाधत्ते—**तथापीति**। ननु नानन्तव्यक्तिषु सङ्केतग्रहः किन्तु दृष्टव्यक्तावेव इत्यत आह—**व्यभिचाराच्चेति**। सङ्केतग्रहकालादृष्टव्यक्तावपि बोधस्य कार्य्यस्य तद्व्यक्तिसङ्केतग्रहरूपकारणव्यभिचारादित्यर्थः। **कर्त्तुमिति** व्यक्तावेव बालकेन सङ्केतो गृहीत इत्ययमर्थोऽस्माभिर्वाग्विषयः कर्त्तुमित्यर्थः; न तु बालकेन ज्ञातुमिति बहुभिर्व्याख्यातोऽर्थः, तद्व्यक्तिसङ्केतग्रहकाले व्यक्त्यन्तरे बालकस्य व्यभिचारानुपस्थितेः, तद्व्यक्तिशक्तिग्रहे तदुपस्थितेरबाधकत्वाच्च। नन्वेकव्यक्तिशक्तिग्रहोऽपि व्यक्त्यन्तरबोधं जनयति अतो न व्यभिचारः, न चातिप्रसङ्गः शक्तिग्रहप्रकारीभवद्धर्माश्रयस्यैव यस्य कस्यचिद्बोधनियमादित्यत आह—**गौरिति**। अयं भावः, यदि सप्रकारक एव त्वन्मते शक्तिग्रहः स्यात् तदैव त्वन्मते व्यभिचारवारणं स्यात्; किन्तु सप्रकारक-

(A). कर्त्तुमिति स्वीकर्त्तुमित्यर्थः बालस्य व्यक्तौ सङ्केतग्रहे जातेऽपि उक्तदोषेण तत्र प्रमात्वस्वीकारासम्भवादिति भावः।

(B). अत्रेदं चिन्तनीयम्, गवादेरानयनादिक्रियाकारित्वस्य आनयनकर्त्तृपुरुषनिष्ठतया गोपिण्डनिष्ठत्वाभावात् निरुक्तार्थक्रियाकारित्वनिबन्धना गवि प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न सम्भवति, गवादिकर्म्मकास्कव्यतिरेकेण आनयनाद्यनुपपत्त्या तत्कारित्वादित्यस्य तन्निर्वाहकत्वादित्यर्थेन तदुपपादनेऽपि अर्थाय क्रिया इति तादर्थ्यचतुर्थ्याः समासो न घटते 'विकृतेः प्रकृत्या तादर्थ्ये' इत्यनेन प्रकृतिविकृतिभावस्थल एव तद्विधानादिति। अत्र केचित्—अर्थक्रिया कार्य्यं, तच्च प्रकृते हलवहनादि शृङ्गप्रहारादि च, तत्कारित्वञ्च गोपिण्डस्यैव न गोत्वजातेरिति तन्नियतं प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्यत्वमपि गोपिण्डस्यैवेति व्यवहाराधीनसङ्केतग्रहस्तत्रैवोचित इति। अर्थक्रियाशब्दस्य कार्य्यपरत्वञ्च "अर्थक्रिया कार्य्यं तत्र समर्थस्ये"ति गौडब्रह्मानन्दीयाद्वैतसिद्धिटीकाग्रन्थव्याख्यानावसरे "अर्थस्य पदार्थस्य क्रिया व्यापार इति नार्थः अर्थासंग्रहापत्तेः किन्त्वर्थरूपा क्रिया कार्य्य"मित्येवं वदता विट्ठलेशेनोपपादितम्। अन्ये तु अर्थस्य पुत्रादेः क्रिया अर्थक्रिया तत्कारित्वादित्यर्थः। अत एव न्यायमञ्जर्य्यां "सत्त्वं तावदर्थक्रियाकारित्वमुच्यते...सत्यपि पुत्रे तत्कार्य्यादर्शनादपुत्रा वयमिति व्यपदिशन्ति लौकिकाः पुत्रादन्यस्मिन्नपि तत्कार्य्यकारिणि सति सपुत्रा वयमिति ब्रुवन्तीत्युक्तम्।

1. 'जलाहरणादि तस्मै क्रिया घटादेः' ख।

शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः ।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः—

शक्तिग्रहाङ्गीकारे न लाघवम् ; प्रकारांशे शक्तिग्रहेणैव आक्षेपलभ्यव्यक्तिग्रहोपपत्त्या-वस्मन्मतानुप्रवेशः स्यादतो व्यक्तिशक्तिवादिना त्वया निष्प्रकारक एव व्यक्तौ शक्तिग्रहो वाच्यः, तथाच एकस्यां व्यक्तौ गौरित्यादिपदचतुष्टयस्य प्रकारकृतविषयविभागो न स्यात् पदानां प्रकारोपस्थापनासामर्थ्यादित्यर्थः । इदमुपलक्षणम्, निष्प्रकारकशक्ति-ग्रहाभ्युपगमे उक्तव्यभिचारानुद्धारोऽपि स्यादिति बोध्यम् । 'विषयविभागः' प्रकार-कृतः, 'न प्राप्नोति' स्वसत्तामिति शेषः । भवत्यर्थो वाऽत्र प्राप्नोतिः । तदुपाधा-वेवेति, 'तस्याः' व्यक्तेः 'उपाधौ' प्रकारीभूते धर्म्मे इत्यर्थः । सङ्केत इत्यत्र गृह्यत इति शेषः । तथाच उपाधिशक्तात् पदात् स्वशक्यस्योपाधेः स्वाशक्याया व्यक्तेश्च स्मृतिर्विशिष्टानुभवश्च[1] ; अशक्याया व्यक्तेः स्मरणमेव[2] चाक्षेपः । न च व्यक्ते-रनुभवमात्रमेवास्तु किं स्मरणाङ्गीकारेणेति वाच्यम्, गोत्वप्रकारकस्मरणाभावे गोत्व-विशेषणकशाब्दबोधानुपपत्तेः, गोपदाद् गोत्वेनाश्वभ्रमानुपपत्तेश्च गोत्वाश्वत्वयो-रविनाभावाभावेन अनुभावन(मान?)रूपाक्षेपासम्भवात् गोत्वाविनाभावाद् गोस्मरणाङ्गीकारे तु भवत्येवाश्वे तदभेदारोपः । तदुक्तम्—"जातिशक्तं पदं व्यक्तिमप्यनु-भावयति स्मारयति चे"ति । तत्र च जातिपदमुपाधिमात्रपरमेव[2]* ।

जात्याद्युपाधिचतुष्टयं विभक्तविभागेन दर्शयति—उपाधिश्चेति । 'वस्तुधर्म्मः' वस्तुनि व्यक्तौ अनारोपितो धर्म्मः स च व्यक्तिवृत्तिजातिगुणक्रियारूपः । वक्तृ-यदृच्छेति । स्वारसिकी इच्छा यदृच्छा तया सन्निवेशितः अवास्तवोऽपि पुत्रादौ नामरूपः ।

---

1. '-श्चेति भावः' ग । 2. '-मेव न तु चे'(न तु चाचे ?)पत्तेन तस्याः शाब्दानुभवः, तदुक्तम्—जातिशक्तं पदं व्यक्तिमप्यनुभावयति स्मारयति, न त्वाक्षेपोऽनुमानं तत्र व्याप्त्यादिप्रतिसन्धानविलम्बेन विलम्बात् । न चाति-प्रसङ्गवारणाय व्यक्त्यविनाभावज्ञानमेवावश्यं वाच्यम्, तथाच गोत्वादौ गवाद्यविनाभावज्ञानमवश्यम्, तथाच तदेव व्याप्तिज्ञानमितरतो विलम्बसाम्यमेवेति वाच्यम्, स्वरूपसत एवाविनाभावस्य हेतुत्वात् । तर्हि गोपदादश्वत्वेनाश्व-भ्रमो न स्यात् (अ) विनाभावाभावादिति चेन्न, तत्र गोरभेदग्रह एव न तु भ्रमः । न चैवं व्यक्तेरनुभवमात्रमेवास्तु किं स्मरणेनेति वाच्यम्, गोत्वप्रकारकगोस्मरणाभावे गामानयेत्यादौ गोविशेषणकशाब्दबोधानुपपत्तेः' ग ।

पदार्थस्य प्राणप्रदो(A) विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं

वस्तुधर्म्ममेव द्विधा विभजति सिद्धः साध्यश्चेति। 'सिद्धः' नित्यः, स च जातिगुणरूपः तन्मते(B) गुणा अपि नित्या एव आविर्भावतिरोभावावेव उत्पत्तिविनाशप्रतीतिविषयाविति। 'साध्यः' जन्यः(C) क्रियारूपः। सिद्धमेव पुनर्विभजति—सिद्धोऽपीति। 'पदार्थस्य' व्यक्तेः, प्राणो हानोपादान[1]व्यवहारः, स्वप्रकारकज्ञानेन तत्प्रद इत्यर्थः; स च जात्याद्यखण्डधर्म्मितावच्छेदकरूपः, गोत्वेदन्त्वादिधर्म्मितावच्छेदकग्रहं विना गवादिधर्म्मिणो हानोपादानव्यवहाराभावात्। 'विशेषाधानम्' अताद्दशतो(D) व्यावृत्तिबुद्धिः, तद्धेतुः शुक्लादिगुणरूप इत्यर्थः। यद्यपि गोत्वादेरपि अश्वादिव्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वमस्ति, तथाऽपि तत्र प्राणप्रदत्वमधिकम्; शुक्लादौ विशेषाधानमात्रम्, अतो विशेषाधानहेतुरित्यर्थः। न च शुक्लादिव्यक्तेर्हानोपादाने धर्म्मितावच्छेदकतया शुक्लत्वादिकमपि प्राणप्रदमेवेति वाच्यम्, तत्त्वेदन्त्वाद्यविषयकशुक्लादिज्ञानेन शुक्लादेर्हानोपादानानभ्युपगमात्। अस्तु वा शुक्लमानयेत्यत्र तथा, तथापि प्राथमिकशुक्लव्यवहारे इदन्त्वादिधर्म्मितावच्छेदकमेव प्राणप्रदम्, शुक्लत्वन्तु तत्र विशेषाधायकमेव, गोत्वाश्वत्वादिकन्तु नैवमित्यभिप्रायः। आद्यो जाति-

---

(A) प्राणप्रद इति। प्राणप्रदत्वं च यावत्स्थिति सम्बन्धित्वम्। यद्यपि शुक्लत्वादेर्नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव सम्बन्धित्वम्, तथाऽपि तस्य सम्बन्धः कदाचिदपैत्यपि न तु गोत्वादेरिति विशेषः। तत्र "प्राणप्रदो जातिः" इति प्रदीपः। प्राणः स्वाविनाभावेन व्यवहारस्तत्प्रदस्तन्निर्व्वाहक इति क्वचिद्दृष्टम्।

(B) यद्यप्येकैका एव हि नीलारुणादिव्यक्तय इति तन्मतेऽपि महाप्रलये जलपरमाणुवृत्तितया शुक्लरूपस्यैव नित्यत्वं न कृष्णादेः संयोगादेश्चानित्यत्वं तैरप्यङ्गीक्रियते, तथाऽपि द्रव्यान्यनित्यवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमानित्यर्थ इति क्वचिद् दृष्टम्।

(C) तस्यापि नित्यावृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमानित्यर्थः, तेनानित्यगुणव्यावृत्तिरिति क्वचिद्दृष्टम्।

(D) अत्र "अताद्दशत" इत्यस्य स्वाश्रयसजातीयत इत्यर्थकल्पने गोत्वादीनां विजातीयव्यावर्त्तकानां न विशेषाधानहेतुत्वं सम्भवतीति चिन्तनीयम्।

---

1. '-पादानं' ख।

हि वाक्यपदीये—(A) "न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभि-
सम्बन्धात्तु गौ"रिति। द्वितीयो गुणः, शुक्लादिना हि लब्ध-
सत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।
डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं(B) संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा

रिति अखण्डोपाधिरित्यर्थः। 'वाक्यपदीयं' वाक्यपदविवेचको ग्रन्थविशेषः(C)
स्वरूपेणेति गोत्वाविषयीभावेनेत्यर्थः। नाप्यगौरिति अगोव्यवहारोऽपि,
इदन्त्वादिना उपस्थित एव धर्म्मिणीत्यर्थः। गोत्वाभिसम्बन्धात्तु इति गोत्वादि-
धर्म्मितावच्छेदकविशिष्टज्ञानादित्यर्थः। गौरिति व्यवहार्य्य इति शेषः। शुक्ला-
दिना हीति, प्राणप्रदेन 'लब्धसत्ताकं' लब्धव्यवहार्य्यताकं(D) वस्तु अशुक्लादितः शुक्ल-
त्वादिना व्यावर्त्यते(E) इत्यर्थः। साध्यस्वरूपमाह—साध्य इति। पूर्वापरीभूतः
अवयव एकदेशो यस्य तादृशक्रियासमुदायरूप इत्यर्थः, पूर्वापरीभूतक्रियाधारायामेव
पाकादिपदप्रयोगात्। वक्तृयदृच्छासन्निवेशितरूपमुपाधिं दर्शयति—डित्थादीति।
'वक्त्रा' पित्रादिना। डित्थादिरूपेषु अर्थेषु डित्थादिशब्दानां स्वरूपमुपाधित्वेन यदृच्छया
सन्निवेश्यते आरोप्यते इत्यर्थः। तादृशस्वरूपस्य च आशुविनाशिक्रमिकानेकवर्णघटित-
त्वेन तद्बोधोपायं पूर्वोक्तं स्मारयति—अन्त्यबुद्धीति अन्त्यवर्णबुद्धिव्यङ्ग्यमित्यर्थः।
ननु तेनापि वर्णक्रमेण व्यञ्जने सैवानुपपत्तिरित्यत आह—संहृतक्रममिति, तत्तद्वर्ण-
क्रमिकज्ञानभिन्नैकज्ञानेन विषयीकृतमित्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु 'अन्त्यबुद्धि' पद-

---

(A) अस्मदुपलब्धवाक्यपदीये नायमंश उपलभ्यते। अस्य प्रदीपकारकृतं व्याख्यानन्तु—
न हीति···अस्यार्थः गौः स्वरूपेण न गोव्यवहारस्य नाप्यगोव्यवहारस्य विषयः गोत्वाभि-
सम्बन्धात्तु गोव्यवहारस्य विषय" इति ।

(B) अन्त्यबुद्धीति। "डित्थादिशब्दानां प्रथमवर्णप्रतीत्या किञ्चित् प्रकाशितमन्त्यवर्णबुद्ध्या
निःशेषतो ग्राह्यम्" इति प्रदीपः।

(C) भर्तृहरिप्रणीत इति बोध्यम्।

(D) एतेन जन्येषूत्पत्तिकाल एव जातीनां सम्बन्धः गुणानान्तु द्वितीयक्षण इति लभ्यते।
तथाच केषाञ्चिदपि गुणानामुक्तरीत्या जातिवैधर्म्यसिद्धौ तज्जातीयत्वेनान्येषामपि जातितो
वैलक्षण्यं सुगममिति तयोर्भेदेन निर्देशो युक्त इति स्पष्टं बालबोधिन्याम्।

(E) तथाच वृत्तौ शुक्लादिनेत्यस्य विशिष्यते इत्यत्रैवान्वयो न तु लब्धसत्ताकमित्यत्रेति
भावः।

यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञा-रूपो यदृच्छात्मक इति। गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति (A)महाभाष्यकारः। परमाण्वादीनान्तु गुण-मध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणा(B)मप्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्ग-मुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।

प्रत्यक्षानन्तरोत्पन्ना पदार्थस्मृतिरूपा बुद्धिः, तया निर्ग्राह्यं विषयीकृतम्, पदस्यैवात्र पदार्थत्वादित्यर्थः; तथा 'संहृतक्रमम्' ईश्वरप्रयोगाद्याधुनिकप्रयोगरूपक्रमरहितम् आधुनिकप्रयोगरूपत्वादिति व्याचष्टे, तन्न; तत्कथनस्य प्रकृतानुपयोगित्वात्। संज्ञारूप इति। तथाच तादृशी संज्ञा शक्ता शक्या चेत्युक्तम्; धर्म्मिणस्त्वाक्षेपादेव लाभ इति भावः। यद्यपि समवायिसमवेतयोरेवाविनाभावः स एव चाक्षेपहेतुः, तथाऽपि अविना-भावोऽप्यसन्नेव वक्त्रा यदृच्छयाऽऽरोपितो धर्म्याक्षेपहेतुरिति बोध्यम्। यदृच्छात्मक इति, यदृच्छया आत्मा यस्येति विग्रहः, संज्ञाया यदृच्छारूपत्वाभावात्। प्रवृत्तिः (C)प्रवृत्तिविषयः। परमाण्वादिशब्दानां प्रवृत्तिविषयसंशयं निरस्यति—परमाण्वादी-नामिति परमाणुत्वादीनामित्यर्थः। अणु दीर्घं महद् ह्रस्वञ्चेति(D) परिमाणरूपगुणमध्ये पठितत्वात् तत्परिभाषासिद्धमेव तेषां गुणत्वं प्रमाणान्तरं नापेक्षते इत्याह—पारि-भाषिकमिति। ननु गुणक्रियायदृच्छोपाधिषु शक्तिग्रहाभ्युपगमेऽपि तेषामपि प्रति-व्यक्ति नानात्वेन तावेवानन्त्यव्यभिचारावित्यत आह—गुणक्रियेति; जातिवदेतेऽपि अनेकाश्रया एकैक एवेत्यर्थः। यद्यप्येवं सिद्धान्ते क्रियाया अपि नित्यत्वमेव सेद्धुमुचितम्, तथाऽपि महाप्रलये परमाणूनामपि निष्क्रियत्वेन अनित्यत्वम्। 'यदृच्छा' यदृच्छोपाधिः। आलम्बनभेदादिति आश्रयत्वेन ज्ञातभेदादित्यर्थः, खड्गादेर्वस्तुतो मुखाद्या-

---

(A) "ऋलृक्" इति सूत्रस्य भाष्ये 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इत्येतावन्मात्रमुपलभ्यते।

(B) एकरूपाणामिति। गुणक्रियादीनामाश्रयभेदेन भेद एव प्रसिद्धः "भेद इव" इत्यनेन प्राप्तोऽभेदस्तु अन्येन केनाप्युक्तो न वेत्यनुसन्धेयम्।

(C) ननु महाभाष्यकारैः प्रवृत्तेरेव चातुर्विध्यमुक्तं तत्तु सङ्केतितचातुर्विध्ये प्रमाणतया उपन्यासानर्हमतो व्याचष्टे—प्रवृत्तिविषय इति। इदन्तु प्रवृत्तिपदस्य पर्य्यवसितार्थप्रदर्शनमेवेति बोध्यम्।

(D) "अणु दीर्घं महद् ह्रस्वमिति तद्भेद ईरितः" इति कारिकावली (श्लोः ११०)।

हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्, गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव [1]पाकादित्वम्, बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये। तद्वान्

श्रयत्वाभावात्(A)। जातिरेवेत्यादि मतं व्याचष्टे—हिमपय इति। 'अभिन्नाभिधानम्' एकाकारशब्दप्रयोगः, अभिन्नप्रत्ययः एकाकारप्रत्ययत्त्वम्। 'पाकादित्वं' पाकत्वादि। एवं डित्थादिशब्दनिष्ठामेव जातिमादावुपपादयति—बालवृद्धेति। उच्चारयितृस्वरभेदेन डित्थादिशब्दानामनेकत्वं बालवृद्धेत्यादिना दर्शयित्वा डित्थत्वादिजातेरनेकव्यक्तिवृत्तित्वमुपपादितम्। शब्दवृत्तिजात्या तत्समवायिनः शब्दस्यैवाक्षेपसम्भवो न पुरुषस्येत्यतः पुरुषवृत्तिमेव(B) डित्थत्वादिजातिमुपपादयति—प्रतिक्षणमिति। नानापुरुषेषु डित्थत्वानुपलम्भेऽपि(C) एकस्यैव पुरुषस्यावस्थाभेदेनानेकत्वमुपपादितमनेन। (D)डित्थत्वमिति श्लिष्टशब्देन शब्दतदर्थवृत्तिजातिद्वयमुक्तम्। इत्थं सर्वत्रैव जातिमुपपाद्य सर्व्वेषां शब्दानां तत्रैव शक्तिरित्याह—सर्व्वेषामिति। 'जातिरेव वे'त्यत्र जातिपदमखण्डोपाधिपरम्, तेनाकाशत्वाभावत्वादिपरिग्रहः। एवञ्च

(A) अयम्भावः, खड्गमुकुरादौ मुखादिवस्तुनः प्रतिबिम्ब एव गृह्यते तच्च वस्तुगत्या बिम्बभूतस्य मुखादेरेव प्रत्यक्षरूपम्, बिम्बश्च स्वस्थानस्थित एवेति न खड्गादेस्तदाश्रयत्वसम्भवः। तथाच शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीमद्वाचस्पतिमिश्राः "एवं विज्ञातृपुरुषाभिमुखेष्वादर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुषं तेजो लग्नमपि बलीयसा सौर्य्येण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्त्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयद् दोषवशात्तद्देशतामनभिमुखताञ्च मुखस्याग्राहयत् पूर्व्वदृष्टाभिमुखादर्शोदकदेशताभिमुख्यञ्च मुखस्यारोपयतीति प्रतिबिम्बविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति" इति (अध्यासभाष्यभामती)।

(B) एवकारः अप्यर्थे।

(C) 'श्यामरूपो युवा विद्वान् सुन्दरः प्रियभाषकः। सर्व्वशास्त्रार्थवेत्ता च डित्थ इत्यभिधीयते॥' इति प्राचीनोक्तडित्थलक्षणस्य नानापुरुषेषु सम्भवात् 'अपी'ति। तादृशडित्थत्वस्य ब्राह्मणत्वादिना साङ्कर्य्येण जातित्वं नोपपद्यते, अतश्चैत्रत्वादिवदेकस्यैवावस्थाभेदानुसरणम्। अन्ये तु 'डित्थः काष्ठमयो हस्ती डवित्थस्तन्मयो मृग', इति वदन्तो डित्थत्वस्य पुरुषवृत्तित्वमेव नाङ्गीकुर्व्वन्ति।

(D) अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति, किन्तु तत्र 'क्षणभङ्गवादे क्षणरूपविशिष्टभेदाद्भेदः मतान्तरे तु प्रत्यवस्थमित्येवार्थ' इति पाठो दृश्यते, स च टिप्पनीति प्रतिभाति।

---

1. 'पाकत्वादि' इति मुद्रितपुस्तकपाठः।

अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुप-
योगाच्च न दर्शितम् ।

(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्येति शब्दस्य ।

(१२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

शुक्लपदात् शुक्लत्वादिजात्याश्रयस्य शुक्लादिगुणस्यैवाक्षेपः पटादिपरत्वे तु लक्षणैवेति(A) मन्तव्यम्[1] । 'प्रवृत्तिनिमित्तं' प्रवृत्तिविषयः । 'तद्वानिति' नैयायिकमतम्, प्रकारी-भूतधर्म्मवानित्यर्थः ; 'अपोह' इति बौद्धमतम्, 'अपोहः' अतद्व्यावृत्तिः(B) । 'न दर्शितं' कारिकायामेव, वृत्तौ तु दर्शितमेव ।

मुख्यार्थबाध इति लक्षणालक्षणं वक्तुं मुख्यार्थं दर्शयति—स मुख्योऽर्थ इति । व्यापारो वृत्तिः । मुख्यार्थेऽपि अजहत्स्वार्थात्मकोपादानलक्षणासत्त्वात् तद्वारणाय व्यापारे मुख्यत्वोपादानम् ; मुख्यत्वञ्च व्यापारान्तरबाधं विनैव (C) कल्प्यमानत्वम् ; व्यापारान्तरस्य तु शक्तिबाधेनैव कल्पना ।

लाक्षणिकशब्दं निरूपयितुं लक्षणां निरूपयति—मुख्यार्थबाध इत्यादि । [2]अत्र ग्राहककथनेन ग्राह्याया लक्षणाया वक्तृतात्पर्य्यपरत्व(D)सिद्धिरवधेया[2]* । यत्

(A) लक्षणैवेति । न चैवं 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वती'त्यादेरसङ्गतिः, कोषाणां शक्तिनिरूढलक्षणान्यतरग्राहकत्वाभ्युपगमात । गुण इत्यस्य च गुणत्वव्याप्यशुक्लत्वादावित्यर्थः ।

(B) अत्र प्रदीपः—"सौगतास्तु व्यक्तावानन्त्यादिदोषाद्भावस्य च देशकालानुगमाभावा-त्तदनुगतायामतद्व्यावृत्तौ सङ्केतः" इति ।

(C) व्यापारान्तरबाधं विनेत्यस्य व्यापरान्तराव्यवधानेनेत्यर्थः तेनाभिधामूलव्यञ्जनायां शक्तिबाधाभावेऽपि नातिप्रसङ्ग इति ध्येयम् ।

(D) अत्र वक्तृतात्पर्य्यम् 'अस्माच्छब्दान्मुख्यार्थसम्बन्धी बोद्धव्य' इति वक्तुरिच्छाविषयत्वम्, एवञ्च 'तात्पर्य्यार्थोऽपि केषुचि'दित्यनेन प्राभादेकदेशिसम्मतवृत्तिभावात् पदार्थद्वयसंसर्गभासक-

---

1. 'मन्तव्यं न तु तस्याक्षेपः, गवादिपदात्तदवयवस्यापि स्वसमवायिसमवायिनाक्षेपापत्तेः' ख ।

2. 'अथ शक्यसम्बन्ध एव लक्षणा, सा तु परम्परयैव शब्दवृत्तिः, तात्पर्य्यन्तु तद्ग्राहकमिति नैयायिकाः । शक्यसम्बन्धमुख्यार्थबाधग्रहाधीना लक्ष्यार्थोपस्थितिरेव लक्षणा, सा चानुभविकैव न लघिका तस्या अपि पदवृत्तित्वं परम्परयैति तु जरन्मीमांसकाः । तन्मतद्वयमुपेत्य तात्पर्य्यात्मिकामेव लक्षणां तद्ग्राहककथनेन पर्य्यापयन्नाह—मुख्यार्थबाध-' ख ।

इत्यव्ययं यथेत्यर्थे, वृत्तावप्येवम्। तथाच मुख्यार्थबाधे मुख्यार्थयोगे च ज्ञाते सति, रूढित इति रूढिज्ञानात्, [1]शक्तपदापेक्षयाऽशक्तपदप्रयोगस्य सामान्यतः सविशेष-प्रयोजनकत्वज्ञानाद्वा[1]* ज्ञातया यया वृत्त्या अन्यो मुख्यभिन्नोऽर्थो लक्ष्यते प्रतिपाद्यते(A) सा वृत्तिर्लक्षणेत्यर्थः। [2]सा चारोपिता पुरुषेण लक्ष्यार्थविषयतया जनिता स्वतात्-पर्य्यात्मिका क्रिया वृत्तिः। शक्तिस्त्वीश्वरेच्छात्मिका अन्या वा नित्यसिद्धा न पुरुषेण [3]जनिता। यदित्यस्य यथेत्यर्थकत्वं दर्पणेऽपि व्यक्तम्। यथा—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ इति
(सा० द० २य प०)

तत्र च शक्तिर्वृत्तिः, अर्पिता पुरुषेण जनितेत्यर्थः। **रूढितोऽथेति**। अत्र अथवेत्यर्थे अथेति[2]*, क्वचिद् रूढिज्ञानात् क्वचिच्च प्रयोजनज्ञानादित्यर्थः। मुख्यार्थबाधश्च [4]मुख्यार्थस्य समभिव्याहृतपदार्थेऽन्वयबाध एव[4]* पदार्थस्य क्वचिदप्यबाधात्। मुख्यार्थ-स्यान्वयबाधोऽपि तात्पर्य्यविषयस्यान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणानिर्व्वाह एव; गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्य्यविषयस्य तीरे घोषान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन प्रवाह-त्वेन, छत्रिणो गच्छन्तीत्यत्र तात्पर्य्यविषयस्य छत्रिणां [अच्छत्रिणाञ्च] गमनान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन छत्रित्वेन, कुन्ताः प्रविशन्तीत्यादौ तात्पर्य्यविषयस्य कुन्त्यादेः प्रवेशान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन कुन्तत्वादिना च अनिर्व्वाहात्। मुख्यार्थान्वय-मात्रबाधविवक्षणे तु छत्रिकुन्तादेरपि गमनप्रवेशाद्यन्वयात् तत्र बाधाभावेनाव्याप्तिः स्यात्; तात्पर्य्यविषय [बाध] विवक्षणेऽपि तत्रैवाव्याप्तिः छत्रित्वकुन्तत्वादिनाऽपि छत्रिकुन्तयोर्गमनप्रवेशान्वयसम्भवात्, किन्तु तथात्वेनान्वयस्य तात्पर्य्याविषयत्वात्,

---

तात्पर्य्यादीदृशलक्षणात्मकतात्पर्य्यस्य विशेष्यविशेषणभासकतया वैलक्षण्येनास्य सर्व्वसम्मतं वृत्तित्वं न विरुध्यते।

(A). कारिकास्थस्य लक्ष्यत इत्यस्य लक्षणया प्रतिपाद्यत इति प्रसिद्धार्थकत्वे लक्षणा-लक्षणस्य लक्षणाघटितत्वेनात्माश्रयः स्यादतस्तदंशपरित्यागेनैव व्याचष्टे—प्रतिपाद्यत इति।

---

1. 'शक्तपदेन तदर्थज्ञापनापेक्षयाऽशक्तपदेन तदर्थज्ञापनस्य प्रयोजनविशिष्टवत्त्वज्ञानाद्वा' ख।

2. 'लक्षणाज्ञाने ह्ययं क्रमः, प्रथमं मुख्यार्थेऽन्वयबाधबोधस्ततस्तत्सम्बन्धबोधस्ततस्तदन्वययोग्यो लक्ष्यार्थो योग्यतावशादेव आर्य्यते। ततस्तदर्थं तच्छब्दस्य रूढेस्तत्प्रतिपादनस्य सामान्यतः प्रयोजन-विशिष्टवत्त्वस्य वा ज्ञानात्तदर्थतात्पर्य्यरूपा लक्षणा ज्ञायत इति। अथशब्दोऽथवेत्यर्थे' ख। 3. 'आरोपिता' ग।

4. 'समभिव्याहृतपदार्थस्य मुख्यतावच्छेदकरूपेण तात्पर्य्यान्वयबोधानुपपत्तिरेव' ग।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥ ९ ॥

एकसार्थवाहित्वकुन्तित्वादिनैवान्वयस्य तात्पर्य्यविषयत्वाद् तादृशान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकच्छत्रित्वकुन्तत्वादिनाऽनिर्व्वाहात् अतस्तात्पर्य्यविषयेति मुख्यतावच्छेदकेति चोपात्तम्। ईदृशमुख्यार्थबाधज्ञानेऽपि यत्र लक्ष्यार्थे मुख्यार्थसम्बन्धानुपस्थितिस्तत्र सतोऽपि वक्तृतात्पर्य्यस्य न कविप्रयोगार्हलक्षणात्वम्, किन्तु वक्तुरसामर्थ्यसूचिका नेयार्थलक्षणैव सा, तथात्वञ्च दोष एव वक्ष्यते ; तद्वारणाय तद्योग इत्युपात्तम्। अनेन मुख्यार्थयोगस्य लक्षणाज्ञापकत्वकथनेन शक्यसम्बन्धस्य लक्षणात्वं नैयायिकमतसिद्धमुपेक्षितमिति मन्तव्यम्। तदुपेक्षाबीजञ्च [1]शुक्लः पट इत्यत्र शुक्लगुणसमवायस्य लक्षणात्वे तया पट एवोपस्थाप्येत, न तु शुक्लगुणसमवायानाश्रयः शुक्लगुण इति[1]*। रूढिप्रयोजनान्यतरज्ञानं विना ज्ञातमपि वक्तुस्तात्पर्य्यं नेयार्थलक्षणैवेति तद्वारणाय रूढित इत्यादिद्वयम्। लक्षणाज्ञाने त्वयं क्रमः,—प्रथमं तात्पर्य्यघटितनिरुक्तमुख्यार्थबाधग्रहः, तात्पर्य्यग्रह एव च तद्विषयतीरादेरुपस्थितिः, ततस्तस्मिन्नेवार्थे मुख्यार्थसम्बन्धोपस्थितिः, ततस्तस्मिन्नेवार्थे भूरिप्रयोगरूपाया रूढेर्ज्ञानात् सामान्यतः सप्रयोजनकत्वज्ञानाद्वा वक्तुस्तात्पर्य्यरूपा लक्षणा ज्ञायते इति। अन्योऽर्थ इति। अत्रापि मुख्यतावच्छेदकधर्म्मभिन्नधर्म्मावच्छिन्न इत्येवार्थः, तेन सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वे विशेषस्यान्यत्वमुपपद्यते। ननु कारिकायां यदित्येवास्ति, वृत्तावपि यदित्येव वक्ष्यते ; अतो लक्ष्यते स्मर्य्यते यत् तादृशी स्मृतिरेव लक्षणा सा चानुभाविकैव न स्मारिकेति कस्यचिन्मतेन[2] किं न व्याख्यायते, अलमन्यय "यत्" पदानुसरणेनेति। [3]अत एव शक्यादशक्योपस्थितिर्लक्षणेति जरन्मीमांसका अपि इति [3]*चेन्न ; लक्ष्यार्थोपस्थितेरेव लक्षणात्वे तस्या अज्ञाताया एवानुभावकत्वं वाच्यम्, तज्ज्ञानकारणत्वस्यानुभवबाधितत्वात्, तथाच शक्तिरेव ज्ञाता वृत्तिः प्रत्यायिका इति स्थिते साक्षात्सङ्केतितमित्यादिवाचकलक्षणे साक्षात्पदवैयर्थ्यापाताद् असाक्षाद्गृहीतवृत्त्यन्तराभावाद् व्यञ्जनाया अप्यगृहीताया एव बोधकत्वात्, शक्यार्थसाधारणस्य पदार्थोपस्थितिमात्रस्यैव शाब्दबोधजनकत्वेन फलविशेषाजनिकायास्तस्या उपस्थितेर्लक्षणात्वेन

1. 'शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थे यः सम्बन्धः लक्ष्यतावच्छेदके तदभावाल्लक्षणया तद्बोधासम्भवात् तद्विशिष्टलक्ष्यार्थबोधानुपपत्तिरुदासीनतया तदुपस्थितौ च लक्ष्यार्थवृत्तिधर्मान्तरस्यापि बोधापत्तिः। यदि च यद्धर्मवत्तया उपस्थितेर्लक्ष्यार्थे शक्यसम्बन्धज्ञानं तद्विशिष्टस्यैव लक्ष्यार्थस्य बोधस्तथापि शुक्लः पट इत्यत्र शुक्लसमवायानाश्रयस्य शुक्लगुणस्य बोधानुपपत्तिः, एवं कुन्तनिरूपितसंयोगानाश्रयस्य कुन्तस्य च बोधानुपपत्तिरेव' ग। 2. 'मतं' क।

(A)'कर्म्मणि कुशल' इत्यादौ दर्भ[1]ग्रहणायोगात् 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्यधिकरणत्वायोगात् मुख्यार्थस्य

विशिष्य कारणताकल्पकाभावाच्च उपस्थितिलक्षणावादस्य हेयत्वेन तन्मतानुसारेणास्य व्याख्यातुमनौचित्यात्। रूढिहेतुकायाः प्रयोजनहेतुकायाश्च लक्षणाया उदाहरणद्वयमेकदैव दर्शयंस्तत्र लक्षणं घटयति—**कर्म्मणीति** कुशग्रहणायोग्यलौकिककर्म्मणीत्यर्थः। 'ला आदाने' इति धात्वर्थानुसारेण कुशलपदं कुशग्राहिणि शक्तम्, दक्षे तु लाक्षणिकमिति वैयाकरणाः, तन्मतेऽवयवसमुदायाभ्यां भिन्नार्थबोधकस्य शब्दस्यावयवलभ्यार्थ एव शक्तिः समुदायलभ्यार्थे तु रूढिहेतुका लक्षणा। पङ्कजपदन्तु अवयवसमुदायाभ्यामेकस्यैव पद्मस्योपस्थापकमित्यतो न तल्लाक्षणिकम्, किन्तु योगरूढमेव। गच्छतीत्यर्थे 'डो'प्रत्ययान्तगमिना साधितमपि गोपदं न गमनविशिष्टमात्रे शक्तम्, किन्तु सुप्ते गव्यपि, उणादिप्रत्ययान्तानां व्युत्पत्तेस्तैः प्रायिकत्वाभ्युपगमात्, अत[3]स्तन्मतावष्टम्भेनाह—'कर्म्मणी'ति। कलिङ्गः साहसिक इत्यादिकन्तु सर्व्वमतसाधारणं रूढिलक्षणोदाहरणम्। अवयवलभ्यार्थमात्रे शक्तिस्वीकारे तु मण्डपकुण्डलपदयोरपि मण्डपानकर्तृकुण्डग्राहिणोरेव शक्तिः, गृहविशेषभूषणविशेषयोस्तु लक्षणैव स्यात्। **दर्भग्रहणायोगादिति** दर्भग्रहणस्य निरुक्त-

---

(A) अत्र साहित्यदर्पणकाराः—"केचित्तु कर्म्मणि कुशल इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः—कुशं लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसम्भवन् विवेचकत्वादिसाधर्म्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति, तदन्ये न मन्यन्ते, कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे गौः शेते इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्" इति। एतच्च मतं "लब्धात्मिका सती रूढिर्भवेद् योगापहारिणी। कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगबाधतः" इति भाट्टकारिकयाऽपि समर्थ्यते। अस्यार्थः—'लब्धात्मिका जनितपदार्थोपस्थितिका कोषपरम्पराप्रसिद्धा सती अनादिप्रसिद्धा रूढिः योगापहारिणी व्युत्पत्तिलभ्यार्थप्रतीतिप्रतिबन्धिका भवेत्, कल्पनीया लाघवप्रतिसन्धातृभिरिदानीन्तनैरुद्भावनीया तु आत्मानं पदार्थोपस्थितिं न लभते न जनयति, कुत इत्याह—योगबाधत इति, योगेन बाधनात्; रूढेस्तस्याः पदार्थोपस्थापकत्वस्य च कल्पनामपेक्ष्य क्लृप्तयोगस्यैव पदार्थोपस्थापकत्वमात्रं कल्प्यते इति भावः' इत्यभिप्रायो रामतर्कवागीशसम्मतः।

---

1. '—ग्रहणाद्ययोगात्' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 2, 'घोषाद्याधारत्वासम्भवात्' इति मुद्रितपाठः। 3. 'तन्मते रूढिहेतुकामाह' क।

बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः, तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां तथा न प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां धर्म्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत्, स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

रूपेणायोगादित्यर्थः, एवं घोषाद्यधिकरणत्वायोगादित्यत्र निरुक्तरूपेणायोगादित्यर्थः। **मुख्यार्थस्य बाधे** इत्यन्तेन द्वयोर्निरुक्तमुख्यार्थबाधं दर्शयित्वा द्वयोर्मुख्यार्थयोगं दर्शयति—**विवेचकत्वादौ सामीप्ये चेति**। यथासङ्ख्यमुभयोः सम्बन्धद्वयमिदम्। कुशोत्पाटनादि-स्वस्वकार्य्ये भद्राभद्रविवेचकत्वाद्येकधर्म्मवत्त्वं कुशग्राहिदत्तयोः सम्बन्धः, तीरे तु गङ्गासामीप्यं सम्बन्धः, सामीप्यन्तु स्वसंयुक्तसंयोगपरम्परा। कुशलपदे रूढिहेतुत्वमाह—**रूढित** इति। तद्विवरणं **प्रसिद्धे**रिति। भूरिप्रयोग एव प्रसिद्धिः। गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रयोजनहेतुकत्वमाह—**गङ्गेति**। 'तथा न प्रतिपत्तिः' उत्तरकालं न प्रतिपत्तिः। 'तथाप्रतिपादनात्मनः' उत्तरकालं प्रतिपादनात्मनः। **प्रयोजना**दित्यत्र ज्ञातादिति शेषः। तथाच भाविनः प्रयोजनस्य ज्ञानमेव हेतुर्बोध्यः 'सविशेषणे ही'ति न्यायात्। तज्ज्ञानञ्च इदं सप्रयोजनमित्येवं सामान्यत एव, [1]पावनत्वादिरूपेण तज्ज्ञानन्तु लक्ष्यार्थज्ञानोत्तरमेव, शैत्यादेस्तदानीं विशिष्यानुपस्थितेः पश्चादेव तद्व्यञ्जनात्[1]। प्रयोजनसम्भावनाभावे तु सामान्यतोऽपि ज्ञानमित्यवधेयम् (A)। रूढिहेतुकायान्तु रूढिमत्त्वादेव न सप्रयोजनकत्वज्ञानम्। नेयार्थलक्षणायान्तु प्रयोजनबाधोपस्थितेरेव न तज्ज्ञानम्। **मुख्येनेति** बाधसम्बन्धयोः प्रतियोगितया उपस्थितेन मुख्यार्थेन [2]करणभूतेन(B) [3]शब्देनैव लक्ष्यत इत्यर्थः। 'आरोपितः' वक्तृपुरुषेणेति शेषः। 'व्यापारः' वृत्तिः। **सान्तरेति**, मुख्यार्थबाधाद्युपस्थितिव्यवधानेन उपस्थिते लक्ष्यार्थे विषयतासम्बन्धेन स्थित इत्यर्थः।

(A) अवधेयमिति। वस्तुगत्या प्रयोजनाभावेऽपि भ्रमात्मकं तज्ज्ञानं सम्भवतीति भावः।

(B) अत्र मुख्यार्थस्य करणत्वं स्वबाधद्वारा स्वसम्बन्धज्ञानद्वारा वेति बोध्यम्। इदन्तु चिन्तनीयम्—अत्र "मुख्येन" स्वार्थान्वयबाधात् पूर्व्वमभिधयैवार्थोपस्थापकेन शब्देन 'अमुख्यः' अभिधयाऽनुपस्थाप्यः अर्थ इति सुगमं व्याख्यानं कथं परित्यक्तमिति।

---

1. 'पावनत्वादेर्विशिष्य लक्षणोत्तरमेव ज्ञानात्' क। 2. 'सहकारिभूतेन' घ। 3. ख-पुस्तके 'शब्दे'नेति नास्ति।

(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः [1]परार्थं स्वसमर्पणम्(A)।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा(B) ॥ १० ॥

इत्थं लक्षणासामान्यलक्षणमुक्त्वा तद्विशेषानाह—**स्वसिद्धये** इति। स्वं स्वीयमुख्यार्थस्य विवक्षितरूपेणान्वयः, तस्य 'सिद्धये' बोधाय 'परस्य' मुख्यतानवच्छेदकधर्म्मावच्छिन्नस्य, 'आक्षेपः' प्रत्यायनं ययेति शेषः, 'सा उपादानं' नाम लक्षणा इति यथासङ्ख्यमन्वयः। मुख्यार्थ उपादीयते अन्वयप्रतियोगितया स्वजन्यानुभवविषयीक्रियते अनयेति करणव्युत्पत्त्या अजहत्स्वार्थेयं लक्षणेत्यर्थः। इयमेवार्थान्तरसंक्रमित-

(A) परस्यान्वयप्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वार्थपरित्याग इति प्रदीपः।

(B) स्वसिद्धय इति। तात्पर्य्योपपत्तये यया लक्षणया कृतः पराक्षेपः अशक्यार्थबोधः स्वसिद्धये शक्यार्थज्ञानाय भवति, आक्षेपवैचित्र्यात् शक्यार्थमपि वाक्यार्थबोधविषयतामापादयति सा लक्षणा उपादानं नाम; एवं यया लक्षणया परार्थे परार्थम् अशक्यार्थस्य वाक्यार्थेऽन्वयसिद्ध्यर्थमिति यावत्, स्वसमर्पणं भवति अमुख्यार्थस्यैव वाक्यार्थबोधविषयीभावाय फलतः शक्यार्थस्य त्याग एव भवति सा लक्षणा लक्षणं नाम; इत्येवमुपादानलक्षणाभ्यां द्विधा उक्ता सा लक्षणा शुद्धैव न तु गौण्यादिरपीति कारिकाऽर्थः। एतन्मते गौण्यादिषु उपादानत्वादिकृतो विभागो नास्तीति 'लक्षणा तेन षड्विधा' इत्यत्र टिप्पन्यां स्फुटीभविष्यति। एतेन शक्यार्थस्य अभिधयैव वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धिसम्भवे तदर्थं पराक्षेपो न युक्त इत्याशङ्काया नावसरः। एवञ्च उपादानलक्षणे शक्यार्थस्य लक्षणालभ्यांशेऽविशेषणतया अन्वयसिद्धिर्वक्तव्या, तेन 'गङ्गायां घोषः' 'आयुर्घृत'-मित्यादौ तीर-जनकाद्यंशे विशेषणतया प्रवाहायुःपदार्थयोर्भानेऽपि तत्र तत्र नातिव्याप्तिः। कुन्ताः प्रविशन्तीत्यादौ च कुन्तादिसंयोगनिरूपकत्वं कुन्तकुन्तिसाधारणं लक्ष्यतावच्छेदकमिति काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादाविव कुन्तकुन्त्यादेर्विशेष्यविशेषणभावाभावेन तत्रापि नाव्याप्तिः। न च तथाऽपि चेतनगतस्य प्रवेशकर्तृत्वस्य कुन्ते बाधात् नान्वयसम्भव इति वाच्यं तत्र तिङोऽपि अचेतनसाधारणव्यापारे लाक्षणिकत्वाभ्युपगमात्।

एतेन श्वेतो धावतीत्यादेरुपादानोदाहरणत्वानुपपत्तिः तस्यालक्ष्यत्वाभ्युपगमादिष्टैवेति व्यक्तम्। रूढावुपादानलक्षणोदाहरणन्तु देशपुरुषोभयतात्पर्य्यकं 'कलिङ्गः शोभते' इत्यादिकमेव। लक्षणया शक्यार्थस्य यथाकथञ्चित् वाक्यार्थेऽन्वयमात्रेण उपादानत्वस्वीकारे 'गङ्गायां घोषः', 'आयुर्घृतम्' 'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ सर्वसम्मतलक्षणलक्षणोदाहरणभावे शक्यार्थस्य लक्ष्यांशे विशेषणविधया भानात् उपादानत्वं प्रसज्येत। एतेन श्वेतः शोभते इत्युदाहरणमपि प्रत्युक्तम्,

1. 'परार्थं' इति प्रदीपकारादिसम्मतः पाठः।

'कुन्ताः(A) प्रविशन्ति' [1]इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः[2] प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते[3] तदुपादानेनेयं लक्षणा।

वाच्यलक्षणा चेति वक्ष्यते। (B)एवञ्च [4]शक्यार्थस्यैव शक्यतावच्छेदकातिरिक्तरूपेणोपस्थापनेऽपि पराक्षेप उपपन्नः[4]*। अन्वयसिद्ध्य इत्यत्र विवक्षितरूपेणेत्यकरणे 'छत्रिणो यान्ति' 'कुन्ताः प्रविशन्ती'त्यादावच्छत्रिकुन्तवतोराक्षेपं विनाऽपि छत्रिकुन्तयोरन्वयबोधसम्भवेन पराक्षेपस्य स्वसिद्धिहेतुत्वाभावादसम्भवः स्यात्, विवक्षितरूपेणान्वयबोधस्तु न तदाक्षेपं विनेत्यदोषः। **परार्थं स्वसमर्पणमिति।** 'स्वं' स्वार्थत्वम्, 'परार्थे' तीरादौ, तत्समर्पणं तन्मात्रे स्वार्थतासमर्पणमित्यर्थः, अत्रापि ययेति शेषः। सा लक्षणं नाम लक्षणा उपलक्षणरूपेत्यर्थः, न तूपादानलक्षणावदन्वयबोधार्थं स्वार्थेऽपि स्वप्रतिपाद्यतारूपस्वार्थता अत्रास्तीत्यर्थः, 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ [5]घोषान्वयार्थं तीरप्रतिपादने स्वार्थस्य गङ्गाया अप्रतिपाद्यत्वात्, तद्बाधार्थमेव तत्प्रतिपादनात्[5]*। स्वसिद्ध्य इत्युपादानलक्षणामुदाहरणप्रदर्शनेन व्याचष्टे—**कुन्ता** इति। **कुन्तादिभिरिति,** बाधितान्वयप्रतियोगित्वेन उपस्थितैः कुन्तादिभिः करणभूतैः शब्देनैव तत्संयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते लक्ष्यन्ते इत्यर्थः। **तदुपादानेनेति।** 'तत्' तस्मात् 'उपादानेन' अन्वयबोधार्थं स्वीयमुख्यार्थोपस्थापनेनेत्यर्थः; प्रवेशान्वयबोधार्थं कुन्तवत इव कुन्तस्याप्युपस्थापनात्। उपादानेनेत्यत्र भावे युट् (C)। उपादान-

---

तत्र श्वेतगुणमात्रस्य तात्पर्य्यविषयत्वे लक्षणाया एवास्वीकारात्; तद्विशिष्टस्य तद्विषयत्वे तत्र लक्षणलक्षणाया एव युक्तत्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात् गुणगतशोभाया आश्रयशोभयैव पर्य्यवसानात्; उभयोः पृथक् तथात्वस्य औत्सर्गिकद्विवचनाभावेन दुर्ग्रहत्वादिति।

अत एव आयुर्घृतमित्यादौ अव्याप्तिवारणार्थं लक्षणलक्षणाया लक्षणेऽपि मुख्यार्थस्य विशेष्यविधया प्रवेशाभावरूपमेव स्वार्थसमर्पणं वाच्यम्, तेन च श्वेतो धावतीत्यादेरपि संग्रहः सुकर इति सर्व्वं समञ्जसम्।

(A) कुन्तः प्रासाख्यमिति कोषः।

(B) एवञ्चेति, परपदस्य मुख्यतानवच्छेदकधर्म्मावच्छिन्नपरत्वे चेत्यर्थः। यस्य मित्राणि मित्राणीत्यादावाश्वस्तत्वरूपेण स्वार्थमित्रस्यैवाक्षेपेऽपि पराक्षेप उपपन्न इति भावः।

(C) युडिति कलापमते, अनट् इत्यर्थः।

---

1. अतः परं केषुचिन्मुद्रितपुस्तकेषु "यष्टयः प्रविशन्ति" इत्यंशोऽधिको दृश्यते। 2. 'आत्मनः' इति क्वचिन्न दृश्यते। 3. 'ततः' इति पाठान्तरम्। 4. 'परपदस्य मुख्यतानवच्छेदधर्म्मावच्छिन्नत्वविवक्षणात् शक्यार्थस्यैव शक्यतानवच्छेदकधर्म्मेणोपस्थापनेनेति पराक्षेप उपपादितः' ग। 5. 'परार्थं तीरमात्रस्यैव घोषान्वयप्रतीतेः' ख।

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते ।

(A) 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'

इति न्यायात्, इत्युपादानलक्षणा(B) तु नोदाहर्त्तव्या । न ह्यत्र प्रयोजन-

---

मित्यत्र करणे युट् । ननु धर्म्मे कुन्ते[1] शक्तस्य कुन्तशब्दस्य यदि धर्म्मिणि कुन्तिनि लक्षणा तदा गोत्वे शक्तस्य गोशब्दस्य गोत्वविशिष्टधर्म्मिणि लक्षणा स्यात्, तथाच सोमयागे "गौरनुबन्ध्यः" इति श्रुतिवाक्यमेव उपादानलक्षणोदाहरणमस्तु[1]* इत्याशङ्क्य निषेधति—गौरनुबन्ध्य इत्यादिना नोदाहर्तव्या इत्यन्तेन । अत्र[2] व्यक्ति-राक्षिप्यते इत्यन्तेन लक्षणाप्रसञ्जनम् । कथं मे स्यादिति, प्राणित्वेना[3]ध्यासिताया गोत्वजातेरयं भावनाकारः । जात्येति बाधितान्वयप्रतियोगित्वेन उपस्थितया जात्या करणभूतया शब्देनैव लक्ष्यत इत्यर्थः । इत्थं लक्षणामाशङ्क्य अन्तरा तत्र शक्तिप्रसक्तिं निरस्यति—न त्विति । प्रथमं गोशब्देन गोत्वमुपस्थाप्य ततस्तयैव शक्त्या गौरप्युपस्थाप्यते इत्येवं शक्तिप्रसक्तिः, तन्निरासे हेतुमाह—विशेष्यमिति । 'अभिधा' शक्तिः 'विशेष्यं' गवादिधर्मिणं 'न गच्छेत्' उपस्थापनार्थं न [4]प्राप्नोति । तत्र हेतुमाह—क्षीणेति । यतो 'विशेषणे' गोत्वादावुपस्थापिते 'क्षीणशक्तिः' क्षीण-सामर्थ्या, शब्दबुद्धिकर्म्मणां विरम्य व्यापाराभावेन सकृदुच्चरितशब्दाद्[5]सकृद्बोधा-भावात् । विशिष्टे शक्तिस्तु [6]वैशिष्ट्यांशेऽपि शक्त्यभ्युपगमे गौरवादेव न वाच्येति भावः । इत्युपादानेति "इति" एवं रीत्या प्रसञ्जिता 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यत्र उपादान-लक्षणा नोदाहर्त्तव्या इत्यर्थः । अत्र हेतुः—न ह्यत्रेति ; न वेति । ननु गोशब्दस्य

(A) विशेष्यमिति । नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये चोपजायते इति न्यायेन सर्व्वत्र पूर्व्व-विशेषणोपस्थितेरावश्यकत्वेन नात्र विनिगमनाविरहः शङ्कनीय इति ध्येयम् ।

(B) इदन्तु चिन्तनीयम्—गौरनुबन्ध्य इत्यत्र व्यक्तौ लक्षणास्वीकारेऽपि मुख्यार्थस्य जातेरनु-बन्धनक्रियायामन्वयासम्भवेन नेदमुपादानलक्षणोदाहरणं सम्भवतीति ।

---

1. 'शक्तपदस्य धर्म्मिणि कुन्तिनि लक्षणेत्युक्तम्, तत् किं सोमयागे प्रयुक्तं गौरनुबन्ध्य इत्यत्रैव गोपदं तदुदाहरणं नोक्तं जातिशक्तिवादे गोत्वशक्तस्य गोपदस्य धर्म्मिणि गवि लक्षणासम्भवात्' क-ग ।

2. अतः परं ग-पुस्तके 'गामानयेत्यादिलौकिकशब्दापेक्षया वैदिकशब्दपर्य्यन्तानुधावनं शक्तपदमात्रवक्तृकत्वात्, तथाच व्यक्ति' इत्यधिकः । 3. '-ध्यवसिताया' ग । 4. 'विषयीकरोति' ख-ग । 5. '-सकृदेवार्थप्रत्यायनादिति भावः' ग । 6. 'विशेष्यतत्सम्बन्धांशेऽपि' ग ।

मस्ति, न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्ति-राक्षिप्यते; यथा (A)**क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म्म, प्रविश**

गवि भूरिप्रयोगरूपा रूढिरस्त्येव, तत् कथमिदमुक्तम्? अत्र चक्रवर्त्ती—आधुनिक-देवदत्तादिपदे रूढिर्नास्तीत्याह। तन्न; गवादिपदे रूढिमत्त्वानिरासात्। अत्रोच्यते, न वा रूढिरत्रेत्यनुक्त्वा न वा रूढिरियमित्युक्तेरयमभिप्रायः—लक्षणाहेतू रूढिर्न भूरि-प्रयोगमात्रम्, किन्तु लक्ष्यार्थविनिर्मुक्तकेवलशक्यार्थे प्रयुक्तस्य शब्दस्य लक्ष्यार्थे भूरिप्रयोग एव लक्षणाहेतू रूढिः; यथा—केवले देशे शक्यार्थे प्रयुक्तस्य कलिङ्गशब्दस्य कलिङ्गत्वेन पुरुषे, गोशब्दस्य तु केवलगोत्वेऽप्रयुक्तत्वात् न तादृशी रूढिः। तर्हि कथं गोः प्रतीतिरित्यत आह—**व्यक्त्यविने**ति। उपस्थितया जात्या करणभूतया गोशब्देनैव व्यक्तिराक्षिप्यते स्वाशक्याऽपि स्मार्य्यते अनुभाव्यते चेत्यर्थः। जातेः करणता च (B)तत्स्मरणं विना व्यक्त्याक्षेपाभावात्।

नन्वेवमुपात्तशब्दस्याशक्यार्थोऽपि(C) शाब्दबोधविषय इत्युक्तम्, तच्च क दृष्टमित्यत्राह—**यथे**ति। क्रियतामित्यत्र प्रत्ययार्थः कर्म्म, कर्त्ता तु अध्याहारलभ्य एव, एवं कुर्व्वित्यत्र कर्त्तृविहितप्रत्ययान्ते कर्म्म अध्याहारलभ्यम्; यथा तद्द्वय-मुपात्तशब्दाशक्यमपि शाब्दबोधविषयस्तथा गवादिव्यक्तिरपीत्यर्थः। कर्म्मत्वादि-सामान्यरूपेणाध्याहारं दर्शयित्वा कर्म्मविशेषत्वादिनाऽपि अध्याहारं दर्शयति—**प्रवि-**

(A) इदन्तु बोध्यम् क्रियतामित्यत्र कर्त्ता कुर्व्वित्यत्र कर्म्मेत्युभयत्र कर्त्तृकर्म्मणोर्वस्तुनोरेवा-क्षेपः तस्यैव 'जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते' इत्यत्र दृष्टान्तत्वसङ्गतेः। अयमेव मीमांसकैरर्थाध्याहार इत्युच्यते। तदनङ्गीकारे शब्दाध्याहारपक्षमाश्रित्य दृष्टान्तमाह—प्रविशेत्यादि।

(B) तत्स्मरणं विनेति। तथाच स्मरणात्मकव्यापारद्वारा शाब्दबोधरूपफलजनकत्वेन जातौ 'व्यापारवत् कारणमिति करण'लक्षणस्य समन्वय इति भावः। अत्र स्मृतिं प्रत्यपि जातेर्न साक्षात्-कारणत्वम्, किन्तु परम्परयैवेति बोध्यम्। इदन्तु विभाव्यते अविनाभावसम्बन्धेन जात्याः स्मारिताया अपि व्यक्तेः पदवृत्त्या स्मरणाभावादृ न शाब्दबोधे प्रवेशः सम्भवति, शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्य्यत इति न्यायात्। उद्द्योतकारास्तु—आक्षेपोऽत्रानुमानम्, व्यक्तिं विनेत्यनेन व्याप्ति-र्दर्शिता। अनुमानसहकृतपदेनैव व्यक्तिबोधः, पदजन्यपदार्थोपस्थितिहेतुहेतुमद्भावे वृत्त्येत्यस्य गौरवेणाप्रवेश इति भावः। प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिरपि प्रकृतितात्पर्य्यविषयान्वितत्व-विषयेति न विभक्त्यर्थान्वयानुपपत्तिरिति प्राहुः।

(C) अशक्यार्थोऽपीति। वृत्त्या अनुपस्थापितार्थोऽपीत्यर्थः, यथाश्रुते लक्ष्यार्थस्य तादृशस्य सुलभत्वेन दृष्टान्तार्थं क्रियतामित्यादिपर्य्यन्तानुधावनवैफल्यमिति ध्येयम्।

[1]'पिण्ड'मित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा। उभयरूपा चेयं

शेति। प्रविश इत्यत्र गृहम्, पिण्डमित्यत्र भक्षयेति यथासङ्ख्यमध्याहार्य्यम्। 'पिण्डं' ग्रासम्। नन्वेवमर्थापत्त्युच्छेदः, तत्रापि अर्थापत्तिलभ्यार्थस्य अध्याहारेण शाब्दबोधस्यैव सम्भवादित्यत आह—**पीन** इति। 'न लक्ष्यते' शाब्दबोधेन न विषयीक्रियते, दिवाऽभोजित्वपीनत्वयोरेव प्रथमं शाब्दबोधेन विषयीकरणादित्यर्थः। ननु तर्हि कथमनुभवसिद्धा तत्प्रतीतिरित्यत आह—**श्रुतेति**, शाब्दबोधानन्तरं पीनत्वानुपपत्तिज्ञानरूपया अर्थापत्त्या (A) रात्रिभोजित्वं प्रतीयते इत्यर्थः। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्य्यते इति मतेनार्थापत्तिलभ्येऽप्यर्थे शब्दकल्पनापत्ते क्लृप्तशब्देन तादृशार्थस्य श्रुतत्वात् श्रुतार्थापत्तिः, तदकल्पनापत्ते त्वर्थापत्तिरिति मतभेदेन व्यवस्थितो वाकारः।

इत्थमुपादानलक्षणां व्याख्याय परार्थे स्वसमर्पणमिति लक्षणलक्षणां व्याचष्टे—**गङ्गेति**। **स्वार्थमर्पयती**ति परार्थमात्रे तीर एव स्वार्थतामर्पयतीत्यर्थः। **लक्षणेने**ति उपलक्षणेनेत्यर्थः। [2]अन्वयबोधे स्वशक्यार्थस्याप्रवेशन[2]* मेवोपलक्षणम्। लक्षणमित्यत्र करणे ल्युट्। लक्षणेनेत्यत्र भावे ल्युट्। इत्युक्ता शुद्धैवेति

(A). अर्थापत्त्येति। दिवाभोजनाभाववतः पीनत्वं रात्रिभोजनं विनाऽनुपपन्नमित्याकारिकयाऽर्थापत्त्या। अयं भावः, उक्तवाक्ये विनाशब्दार्थः अभाववान्, एवञ्च रात्रिभोजनाभाववति दिवाभोजनशून्यनिष्ठपीनत्वाभाव इति वाक्यार्थबोधे, असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव विधेयमानस्यानुभवसिद्धतया रात्रिभोजनाभाववत्त्वावच्छेदेन तादृशपीनत्वाभावो भासते, तच्च रात्रिभोजनाभावव्यापकः दिवाभोजनशून्यवृत्तिपीनत्वाभाव इत्याकारेण तुल्यवित्तिवेद्यत्वेन रात्रिभोजनरूपविधेयस्य तादृशपीनत्वे हेतौ साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानतया पर्य्यवस्यति। तथाच रात्रिभोजनव्यापकीभूताभावप्रतियोगिदिवाभोजनशून्यवृत्तिपीनत्ववान् देवदत्त इत्याकारया अर्थापत्त्या "देवदत्तो रात्रिभोजी" इति ज्ञानमुत्पद्यते, तच्च मीमांसकैरर्थापत्तिरिति नैयायिकैरनुमितिरिति व्यपदिश्यते। एवञ्च अनुमानशब्दवदर्थापत्तिशब्दोऽपि व्युत्पत्तिभेदेन फले करणे च वर्त्तत इति ध्येयम्।

---

1. 'पिण्डीम्' इति मुदितपुस्तकपाठः। 2. 'वृत्तिविषयतयोः शक्यार्थस्योदासीन-' ख-ग।

शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। (A)अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न

व्याचष्टे—उभयरूपा चेति। शुद्धेति शुद्धैवेत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—उपचारेणेति शक्यलक्ष्ययोरभेदोपचारपूर्वकत्वेनेत्यर्थः; [1]वक्ष्यमाणलक्षणाचतुष्टये तु तयोरभेदोपचारपूर्व्वकत्वमस्त्येव, तयोः समानविभक्तिनिर्द्देशात्; तादृशोपचारपूर्व्वकत्वे च सम्बन्धभेदवशाद् गौणीत्वं शुद्धात्वञ्च वक्ष्यते, अनयोस्तु तादृशोपचाराभावात् शुद्धात्वमेवेत्यर्थः[1]*। नन्वेवमनयोः प्राथमिकाभेदोपचाराभावेन तन्मूलकं पश्चादाहार्य्याभेदारोपरूपं प्रयोजनमपि नास्ति, तथाच नेमे लक्षणे प्रयोजनज्ञाननिर्वाह्ये किन्तु शक्यलक्ष्यसम्बन्धमात्रज्ञाननिर्वाह्ये एव, तथाच वक्ष्यमाणनेयार्थलक्षणारूपे एवेति कविप्रयोगानर्हत्वादव्युत्पाद्ये एवेति भ्रान्तशङ्कां प्रयोजनान्तरसत्त्वप्रदर्शनेन निरस्यति—अनयो-

---

(A) अत्र बालबोधिनीकाराः—'मुकुलभट्टास्तु गौर्वाहीक इत्यादिगौण्यां शक्यार्थलक्ष्यार्थयोः सादृश्याख्यसम्बन्धेनाभेदः प्रतीयते, शुद्धायान्तु वाक्यार्थलक्ष्यार्थयोर्भेदः प्रतीयते तदेव चौदासीन्यापरपर्य्यायं भेदप्रतीतिरूपं ताटस्थ्यं नाम। इदमेव च शुद्धाया गौणीतो भेदकम्, न तूपचारामिश्रणमित्याहुः। तन्मतं निराकरोति—अनयोरिति, भेदयोरिति शेषः। इदं सप्तम्यन्तम्। उक्तयोरुपादानलक्षणालक्षणलक्षणारूपयोः शुद्धाया भेदयोरित्यर्थः। "लक्ष्यस्य" तीरादेः "लक्षकस्य" गङ्गादेश्च "भेदरूपं" भेदप्रतीतिरूपं "ताटस्थ्यम्" औदासीन्यं "न" अस्तीति शेषः। किन्त्वभेदप्रतीतिरेवेत्यर्थः। यद्वा लक्ष्यस्य लक्षकस्य च भेदप्रतीतिरूपं ताटस्थ्यं "न भेदरूपं" भेदो रूप्यतेऽनेनेति भेदरूपं न भेदकमित्यर्थः, गौणीतः शुद्धाया न भेदकमिति यावत्, अभेदबुद्धिं विना प्रयोजनप्रतिपत्तेरभावादिति भावः। एतदेव विशदयति—तटादीनामिति। तत्त्वं गङ्गादित्वम्। यद्वा हिशब्द एवार्थे। शक्यलक्ष्ययोर्गङ्गातीरयोरभेदप्रतिपत्तौ सत्यामेवेत्यर्थः...न तु भेदप्रतीतौ, अभेदबुद्धिं विना प्रयोजनाप्रतीतेः। तदेवाह—गङ्गासम्बन्धेत्यादिना को भेद इत्यन्तेन। मात्रशब्देनाभेदप्रतीतेर्व्यवच्छेदः। मुख्यशब्दाभिधानादिति मुख्यशब्दप्रयोगापेक्षयेत्यर्थः। को भेदः, कः फलातिशय इति यावत्। तथा सति गङ्गातीरे घोष इति वाचकं शब्दं स्वायत्तं विहाय गङ्गायां घोष इत्यवाचकशब्दप्रयोगानुपपत्तिरेव स्यात, "स्वायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं प्रयोक्ष्यामहे इति न्यायात्। अतः शुद्धायामप्यभेदप्रतीतेर्न ताटस्थ्यं भेदकं किन्तूपचारामिश्रणमेव भेदकमिति भाव इति व्याचक्षते।

---

1 'शक्यवाचकशब्देनैवात्र लक्ष्यार्थोपस्थापनं न तु समानाधिकरणशब्दान्तरेण लक्ष्यार्थोपस्थापनमतो वक्ष्यमाणलक्षणाचतुष्टये यथा प्रथमं लक्ष्यार्थे शक्यार्थाभेदोपचारमिश्रणमनयोस्तथा मिश्रणाभावादित्यर्थः, उपचारमिश्रितं वक्ष्यमाणलक्षणाचतुष्टयन्तु सादृश्यसम्बन्धाद् गौणं सम्बन्धान्तरात्तु शुद्धं वक्ष्यते तदुभयरूपा तु शुद्धैवेत्यर्थः।' ख-ग।

भेदरूपं ताटस्थ्यम् तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्व-प्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः, गङ्गासम्बन्धमात्र-प्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

(१४) (A)सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

रिति। लक्ष्यस्य लक्षकस्य च भेदरूपमित्यत्र तयोर्भेदोऽभेदातिरिक्तः सम्बन्धः संयोगादिः, तस्य मात्रगर्भता बोध्या; तथाच तन्मात्रेण रूपं स्वरूपं निर्वाह्यं यस्य तादृशम्। 'ताटस्थ्यं' लक्षणात्वम्, उदासीनार्थप्रत्यायकत्वेन लक्षणा तटस्थोच्यते तदभावस्ताटस्थ्यम्। तथाच अनयोर्लक्षणाप्रभेदयोर्लक्षणात्वं लक्ष्यस्य कुन्ति-तीरादेः लक्षकस्य च कुन्तगङ्गादेः अभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रेण न निर्वाह्यमित्यर्थः, किन्तु प्रयोजनेनापि। तन्निर्वाहकं प्रयोजनमेवाह—तटादीनामिति। 'प्रतिपादने' प्रतिपादनदशायाम्, 'तत्त्वप्रतिपत्तौ' सामान्यतः प्रयोजनवत्त्वप्रतिपत्तौ सत्याम्। 'प्रतिपिपादयिषितस्य' लक्षणया लक्ष्यार्थज्ञापनेन प्रतिपादयितुमिष्टस्य तटादौ पावनत्वादेः कुन्ताद्यविरलत्वादेश्च प्रयोजनस्य, 'संप्रत्ययः' इत्यर्थः। प्रयोजनीभूतज्ञान-विषयत्वात् पावनत्वादेरपि प्रयोजनत्वेनोक्तिः। एवमुत्तरोत्तरमपि बोध्यम्। भेद-पदस्याभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रपरतां मात्रगर्भताञ्च [1]व्यक्तीकुर्वन्नाह—गङ्गा-सम्बन्धमात्रेति, गङ्गादिसम्बन्धेत्यर्थः, तेन कुन्तादेरपि सम्बन्धपरिग्रहः। 'को भेदः' को विशेषः।

एतल्लक्षणाद्वयभिन्नां चतुर्विधां लक्षणामाह—सारोपाऽन्येति। यदि शक्य-वाचको लक्ष्यवाचकश्च शब्दः समानविभक्तिकतया निर्दिश्यते, तत्र समानविभक्ति-दर्शनात् प्रथमं लक्ष्यार्थे शक्यार्थाभेदारोपो भवति, यथा गौर्वाहीकः आयुर्घृतमिति। अत्र हि हलवाहकात्मनि वाहीके गोः घृते चायुषः प्रथममभेदारोपो भवति पश्चादेव बाधाद् गोसदृशे आयुर्जनके च लक्षणा; तादृशे प्राथमिकारोपे च शक्यार्थ आरोप्य-माणो विषयी लक्ष्यार्थश्चारोपाधिकरणं विषयः, तादृशः विषयी विषयश्च यत्र

(A) "अन्या अर्थाद् गौणी आरोपाध्यवसानाभ्यां भिद्यते न तूपादानलक्षणाभ्यामिति तु-शब्दार्थः" इति प्रदीपः।

---

1. 'प्रकाशयन्नाह' ग।

आरोप्यमाण आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

(१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

लक्षणायाम् उक्तौ समानाधिकरणविभक्त्या निर्दिष्टौ, सा लक्षणा **सारोपा** प्राथमिकाभेदारोपवतीत्यर्थः। एवमेव व्याचष्टे—**आरोप्यमाण** इति। **अनपह्नुतभेदौ** इति। रूपक एव भेदापह्नवः, अत्र तु गोसदृशायुर्जनकलक्षणावशादेव भेदभानात् न तदपह्नव इत्यर्थः। [1]न च रूपकेऽपि सारोपा लक्षणैवेति वाच्यम्, तत्राहार्य्यस्य मुखे चन्द्राभेदबोधस्यानुवर्त्तमानत्वात्। न चैवं गौर्वाहीक इत्यादिकमपि रूपकमेवेति वाच्यम्, अत्र गोसदृशबोधस्यानुभविकत्वात्। न चानयोर्विनिगमनाविरहेण वैपरीत्यमेव किं न स्यादिति वाच्यम्, आरोप्यमाणस्य प्राङ्निर्देशे सारोपा, यथा गौर्वाहीक इत्यादौ ; आरोपविषयस्य प्राङ्निर्देशे तु रूपकम् (A), यथा मुखं चन्द्र इत्यादौ ; अत्र हि सादृश्यबोधानन्तरम् अभेदारोपः, गौर्वाहीक इत्यादौ तु अभेदारोपादनन्तरं शब्दादेव लक्षणया सादृश्यबोधः, तस्य इयमेव विनिगमना। अत एव रूपकादावुक्तम्—

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्। इति

एवञ्च चन्द्रो मुखमिति प्रयोगे सारोपा लक्षणा, वाहीको गौरिति प्रयोगे च रूपकमिति बोध्यम्। **सामानाधिकरण्येने**ति, समानाधिकरणविभक्तिकतयेत्यर्थः (B)।

यदि च वाहीकादेर्लक्ष्यस्य सामान्यसर्व्वनामपदेनैव निर्द्देशो न वाहीकत्वादितद्विशेषवाचकपदेन तदा भेदकधर्म्मवाहीकत्वादेरनुपस्थित्या आरोपे उत्कटत्वरूपाध्यवसानात् सैव साध्यवसानेत्युच्यते इत्याह—**विषय्यन्त**रिति। व्याचष्टे—

(A) इदमत्र चिन्तनीयम्, रूपकसारोपाख्यलक्षणयोरनया रीत्या विविक्तविषयत्वाभ्युपगमे "सौन्दर्य्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः" इत्यादावारोप्यमाणस्य प्राङ्निर्द्देशेऽपि रूपकालङ्कारस्यावश्यमङ्गीकरणीयतया ग्रन्थविरोधो दुर्व्वार एवेति।

(B) समानविभक्तिकतयेति तु फलितार्थः।

---

1. 'न च गौर्व्वाहीक इति रूपकमेव कथं नेति वाच्यं रूपके प्राङ्निर्द्दिष्टपदार्थ एव पश्चान्निर्द्दिष्टपदार्थाभेदप्रतीतिनियमेन प्राङ्निर्द्दिष्टे गव्येव वाहीकाभेदप्रतीत्युदयात्, तथाच न तात्पर्य्यनिर्व्वाहः ; अत ईदृशनिर्द्देशे गोसदृशादिलक्षणैव, विपरीतनिर्द्देशे तु रूपकमिति भेदः। एवञ्च मुखं चन्द्र इति रूपकम्, चन्द्रो मुखमिति सारोपा लक्षणा "अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्"दिति रूपके नियमात्' ख-ग।

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति सा साध्यवसाना स्यात्।

(१६) भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक(A) इत्यत्र

विषयिणेति, गौरयम् आयुरिदमित्यत्र गवा आयुषा च आरोपविषये वाहीके घृते च निगीर्णे सतीत्यर्थः। निगीर्णता च विशिष्य(B) वाचकशब्देनानुपादानम्। न च तत्र विषयिणः कथं तृतीयया करणत्वं दर्शितमिति वाच्यम्, विषयितादात्म्येनैवापाततो विषयस्य प्रतीत्या विशिष्य विषयाभानेन विषयिण्येव तत्कारणत्वारोपात्।

भेदाविमाविति। सादृश्यात् सम्बन्धाद् गौणौ, सम्बन्धान्तरतश्च शुद्धाविति यथासङ्ख्यमन्वयः। भेदाविमावित्युक्त्या समानाधिकरणविभक्तिनिर्द्देशाभावे सादृश्य-हेतुकापीयं न गौणीति दर्शितम्, ततो विवेचकत्वरूपैकधर्म्मवत्त्वरूपात् सादृश्यादपि न 'कर्म्मणि कुशल' इत्यत्र गौणीति(C) बोध्यम्।

सादृश्यहेतू भेदावित्यस्य कारिकास्थे गौणावित्यत्रान्वयः। आरोपाध्यवसान-

---

(A) "वाहीको नाम देशविशेषः पञ्जाब इति प्रसिद्धः, तत्रत्यः पुरुषो वाहीक इति केचित्। अन्ये तु बहिर्भवो वाहीक इति व्युत्पत्त्या शास्त्रीयाचाराद्बहिर्भूत इत्यर्थः। "बहिषष्टिलोपो यञ्च" "ईकक् च" इति वार्त्तिकद्वयेन बहिःशब्दस्य टिलोपे ईकक्प्रत्यये च कृते बवयोरभेदात् वाहीक इति रूपमित्याहुः" इति बालबोधिनी। शास्त्रीयाचारबहिर्भूतत्वञ्च तिष्ठन्मूत्रत्वादिना इत्यन्यत्र द्रष्टम्। वाहीको देशभेदः, अष्टक इति तत्पर्य्याय इति हेमचन्द्रः। वस्तुतस्तु वाहीकः जर्त्तिक-जातीयः "जाठ" इति प्रसिद्धः। तथाच महाभारते "पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः। तान् धर्म्मबाह्यानशुचीन् वाहीकान् परिवर्जयेत्॥ शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा। जर्त्तिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिन्दितम्॥" (इति कर्णपर्व्व २०० अ० इति शब्दकल्पद्रुमे)।

(B) विशिष्येति। "आयुरिदम्" इत्यादौ सर्व्वनाम्न इदम्पदस्य घृतवाचकत्वेऽपि न विशिष्य तद्वाचकत्वं वक्तृबुद्धिविषयतावच्छेदकत्वादिना अनुगमाभावस्थल एव तथात्वस्वीकारात्। एतन्मते साध्यवसानास्थले सर्व्वत्रैव विषयाणां सर्व्वनाम्ना निर्द्देश आवश्यक इति तूक्तमेव। एवञ्च साहित्यदर्पणतोऽस्य मतवैलक्षण्यमस्तीत्यूहनीयम्।

(C) वस्तुतः सादृश्यत्वेन सादृश्यप्रतीतिरेवात्र गौणीत्वाभावे बीजम्, तेन कर्म्मणि कुशलो-

गौरय(A)मित्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्ततामुपयान्ति इति केचित्(B)। स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते,

---

रूपावित्यत्र आरोपाध्यवसानाभ्यां रूपं ययोरिति विग्रहः। इत्थं गवादिशब्दस्य गवादिसदृशे लक्षणेति प्रतिपादिते जाड्यमान्द्यादिरूपे गवादिसादृश्य एव लक्षणा, ततस्तेनैव जाड्यमान्द्यादिना प्रकारेण शक्त्यैव गोसदृशवाहीकप्रतीतिरिति केषाञ्चिन्मतमाह--**अत्र हीति**, अत्रैवेत्यर्थः। जातिशक्तिवादे स्वार्थो गोत्वम्, 'परार्थस्य' वाहीकस्य 'अभिधाने' अभिधया शक्त्या प्रतिपादने; 'प्रवृत्तिनिमित्ततां' शक्यतावच्छेदकताम्। तथाच—गोशब्देन[1] प्रथमं जाड्यमान्द्यादिरूपं गोसादृश्यं लक्षणया प्रत्याय्यते, तेनैव जाड्यमान्द्यादिना शक्यतावच्छेदकेन जडमन्दो वाहीकः शक्त्या प्रत्याय्यते इत्यर्थः[1]*। न च शक्तिग्राहककोषाद्यभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, धर्म्मे लक्षणाग्रहस्यैव धर्म्मिणि शक्तिग्राहकत्वस्य तत्सिद्धान्तत्वात्। अत्र मते धर्म्मिण आक्षेपादेव लाभसम्भवे तत्र शक्तिकल्पनमन्याय्यम्, वाहीकवृत्तिजाड्यमान्द्यव्यक्तिविशेषे स्वार्थगोत्वसहचाराभावश्चेति दूषणद्वयमभिप्रेत्य तत् परिहरतां मतमाह—**स्वार्थेति**। 'गुणाभेदेन' गुणसाजात्येन। तेन लक्षणीयेषु [2]वाहीकवृत्तिगुणेषु स्वार्थगोत्वसहचारिगुणसाजात्यमेव शक्यसम्बन्ध इत्युक्तम्, धर्म्मिणस्त्वाक्षेप इति भावः[3]*। एतन्मते जाड्यमान्द्यरूपे सादृश्ये यदि सादृश्यत्वेन रूपेण लक्षणा, तदा विशिष्टलक्षणावादप्रवेश एव। यदि तु शुद्धसादृश्य एव लक्षणा, तदा गोसादृश्यवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यप्रतीति-

---

ष्यमित्यादौ समानविभक्तिकपदसत्त्वेऽपि न तत्प्रसङ्गस्तत्र विवेचकत्वधर्म्ममात्रस्य सादृश्यत्वाभावादिति ध्येयम्।

(A) "यद्यपि वाहीकस्य वाहीकत्वेनेदन्तया वोपस्थितौ सारोपात्वमेवोचितम्, तथापि इदन्त्वस्यारोप्यविशेषणतया तदुदाहरणं द्रष्टव्य"मिति प्रदीपः।

(B) केचिदित्यस्वरसः, तद्बीजन्तु गोवृत्तिजाड्यमान्द्यस्याशक्यतया शक्यत्वे सति शक्यवृत्तित्वे सति स्वभिन्नशक्यानधिकरणत्वरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणस्य तत्रासम्भव इति प्रदीपे स्पष्टम्।

---

1. 'गोसादृश्यबोधानन्तरं शक्त्यैव गोसदृशो गोशब्देन प्रतिपाद्यते इत्यर्थः' क।

2. 'वाहीकनिष्ठजाड्यमान्द्यस्य स्वार्थसहचाराभावेऽपि शक्यसम्बन्ध उपपादितः। गुणा एवेतीएवकाराद् धर्म्मिणि लक्षणाव्यवच्छेदः। तत्र शक्तिमपि व्यवच्छिनत्ति—न त्विति। एवञ्च धर्म्मिण आक्षेपादेव प्रतीतिसिद्धौ न तत्र लक्षणा न वा शक्तिरित्युक्तम्' ख-ग।

न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे। उक्तं चान्यत्र—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता(A)॥ इति

गोशब्दान्न स्यादिति दूषणमभिप्रेत्य स्वपक्षपातिनां मतमाह—साधारणेति। चक्रवर्त्ती तु—गोसादृश्यस्य गोपदार्थत्वे गोसादृश्यं वाहीक इत्येव बोधापत्तिः समानाधिकरणविभक्तिकयोरभेदान्वयबोधनियमादिति दूषणमाह, तन्न; गौः शुक्ल इत्यत्रैव जातिशक्तिवादरीत्या आक्षिप्तव्यक्तयोरेवाभेदान्वयबोधस्य तैः स्वीकारात्। 'साधारणेति' साजात्येन साधारणता। 'परार्थः' वाहीकादिरूपः, सदृश एवेत्यर्थः। न परे अपरे स्वपक्षपातिन इत्यर्थः। इत्थं सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी, सम्बन्धान्तरतश्च शुद्धेत्युक्त्वा सम्बन्धादेव लक्षणा, तस्य सम्बन्धस्य सादृश्यरूपत्वे सा लक्षणा गौणीत्युभयत्र संवादमाह—उक्तञ्चेति। अभिधेयस्य शक्यस्य योऽविनाभूतः सम्बन्धस्तस्य प्रतीतिर्यतो वृत्तेः सा वृत्तिर्लक्षणोच्यते इत्यर्थः। सम्बन्धादेव लक्षणेत्यत्र अयं संवादः।

(A) अभिधेयेति—

अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥

इति मुद्रिततन्त्रवार्त्तिकपाठः (अ १० पा ४० सू० २२)

अत्र न्यायसुधा—"अभिधेयसम्बन्धित्वरूपापरित्यागप्रदर्शनार्थोऽभिधेयाविनाभूतशब्दः, गौण्यान्तु वृत्तावभिधेयसिंहादिसम्बन्धित्वरूपानादरेण तल्लक्षितप्रसह्यकारित्वादिगुणयोगमात्रादरसूचनायाभिधेयस्य गुणलक्षणायां व्यापारेऽप्युपादानम्। ननु लक्षणायामविनाभावापेक्षणे यष्ट्यादेः पुरुषाविनाभावाभावात् न यष्ट्यादिशब्दे लक्षणा स्यादित्याशङ्क्याह—तत्रेति। अयमाशयः—नात्र लक्षणाहेतुत्वेनाविनाभावोपादानम् तस्याः सम्बन्धमात्रेण तात्पर्य्यवशादुपपत्तेः। न चात्र लक्षकस्याभिधेयस्य लक्ष्येणाभिभवोऽग्निनेव धूमस्योक्तः विपरीताभिधानात् किन्त्वभिधेयसम्बन्धित्वरूपादरप्रदर्शनार्थं यष्ट्यादिशब्दानाम्, अपि च अभिधेययष्ट्यादिसम्बन्धित्वानादरेण पुरुषस्वरूपे प्रवृत्त्यभावेन अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तित्वाभावात् सम्बन्धमात्रस्य च लक्षणाहेतोर्भावाद् युक्तैव लक्षणायाः प्रवृत्तिरिति"।

एतत्पद्यपूर्व्ववर्त्तितया प्रदीपे धृतम् "मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे" इति, तथैव बालबोधिन्नीधृतम् "मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे" इति वा पद्यार्द्धं नात्रोपलभ्यते इति।

लक्ष्यमाणेति। अत्र प्रदीपः—"लक्ष्यमाणा ये गुणा जाड्यादयस्तैरेव यदि योगः शक्यसम्बन्ध-

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम्। तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्यात्। अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम्।

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने। अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येना-

---

तस्य सम्बन्धस्य सादृश्यरूपत्वे सा वृत्तिर्गौणीत्यत्र संवादमाह— **लक्ष्यमाणेति**। गुणाः शक्यगुणाः, लक्ष्यमाणश्च ते चेति द्वन्द्वः, तैः परस्परं योगादित्यर्थः। तथाच शक्यवृत्तिधर्म्मरूपात् सादृश्यादित्युक्तम्। केचित्तु—गुणैः शक्यगुणैः लक्ष्यमाणस्य योगादिति समासवाक्यार्थं व्याचक्षते, तन्न; लक्ष्यमाणस्य गुणैः सह समासः, अन्वयस्तु योगादित्यत्र इत्यव्युत्पत्तेः, युक्तार्थत्वाभावे समासाभावात्।

अविनाभूतेत्यत्र [1]अविनाभावं व्याचष्टे— **अविनाभावोऽत्रेति**। 'नान्तरीयकत्वं' व्याप्तिः, सा च यत्र धर्म्मस्तत्र तादात्म्येन धर्म्मीत्येवंरूपा गोगोत्वयोरिव। मञ्चा इति, मञ्चमञ्चस्थयो[2]रविनाभावाभावात्। इत्युक्तमिति गौरनुबन्ध्य इत्यादावुक्तमित्यर्थः।

सम्बन्धान्तरतस्तथेत्यस्य विषयं दर्शयति— **आयुर्घृतमिति**। आयुरेवेत्यत्र एवकारः सम्पातायात एव, प्रकृते [3]त्वनुपयुक्तः। क्वचित् पुस्तके तु तच्छून्य एव पाठः। अत्रायुर्जनके लक्षणा, सम्बन्धोऽप्यत्र जनकत्वमेव। अनयोरारोपाध्यवसानपूर्व्वकत्वमाह— **एवमादाविति**। कार्य्यकारणभावस्य लक्षणं [4]ज्ञानं ततः [5]पूर्व्वमारोपाध्यवसाने इत्यर्थः। ते च समानाधिकरणविभक्तिकत्वदर्शनादिति बोध्यम्[5]। गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च लक्षणाद्वयस्य प्रयोजनं दर्शयति— **अत्रेति**। वाहीकादौ गवादेर्भेदे [6]प्रतीतेऽपि एकत्र गो[7]ताद्रूप्यप्रतीतिराहार्य्या, अन्यत्र तु तादृशी

स्तदा गौणी वृत्तिरिति" इति। व्याख्यातञ्चोद्द्योतकारैः "लक्ष्यमाणगुणैरिति लक्ष्यतावच्छेदकगुणैरित्यर्थः, गुणलक्ष्यतावच्छेदकिका लक्षणा गौणीति भावः" इति।

---

1. 'अविनाभूतपदार्थं' ख-ग। 2. '-योर्विनाभावात्' ख-ग। 3. 'अविवक्षितार्थः' ख-ग। 4. 'परिचयः' ख-ग। 5 'पूर्व्वं समानविभक्तिदर्शनादारोपाध्यवसाने इत्यर्थः' ख-ग। 6. 'प्रतीयमानेऽपि' ख-ग। 7. 'तादात्म्येन प्र-' क।

व्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि। क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावात्, यथा राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्र-मात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा तक्षा।

(१७) **लक्षणा तेन षड्विधा**(A) ॥ १२ ॥

प्रतीतिरेव [1]सर्व्वथात्वघटिता उत्कटेत्यर्थः। **गौणभेदयोः** प्रयोजनमित्यन्वयः। आयुर्घृतम् आयुरिदमित्यनयोः प्रयोजनमाह—**शुद्धभेदयोस्त्विति**। कार्य्यकारित्वं लक्षणगम्यमेव, तत्र अन्यवैलक्षण्यमव्यभिचारित्वञ्च [2]यथासङ्ख्यं प्रयोजनद्वय-मित्यर्थः। सम्बन्धान्तरं पल्लवयति—**क्वचिदिति**। **उपचार इति**। [3]उपचार-पूर्व्विका लक्षणा[3]*। "स्थूणा" स्तम्भः। इन्द्रः स्थूणा इन्द्रोऽयमित्यादिरीत्या वक्ष्यमाणे सर्व्वत्रैव सारोपासाध्यवसाने बोध्ये। इन्द्रवत् पूज्यत्वं तद्वदवध्यं पूज्यमानत्वञ्च द्वयोः प्रयोजनम्। राजेत्यत्रापि राजवत् सेव्यमानत्वम् अवश्यं सेव्यमानत्वञ्च द्वयोः प्रयोजनम्। **अग्रहस्त** इत्यत्र समासनिर्देशो लाक्षणिकत्वप्रदर्शनमात्रपरः। रूपन्तु हस्तोऽग्रं हस्त इदमित्येव। [4]अवयवावयविसम्बन्धेन निर्देशे रूपकासम्भवादत्र हस्तस्यैव विधेयस्य पश्चान्निर्देशेऽपि न रूपकमतोऽत्र लक्षणैव[4]। हस्तवत् कार्य्यकारित्वं [5]सर्व्वथा हस्त[5]-*कार्य्यकारित्वञ्च द्वयोः प्रयोजनम्। "तात्कर्म्यं" तत्कर्म्मकारित्वम्, 'अतक्षा' ब्राह्मणादिः। तक्षवत् [6]कार्य्यकारित्वं[6]* तदतिशयश्च द्वयोः प्रयोजनम्।

(A) इदं पुनरिहावधेयम्—मूलोक्तं लक्षणायाः षाड्विध्यं तावद् उपादानलक्षणा (१) लक्षणलक्षणा (२) शुद्धा सारोपा (३) शुद्धा साध्यवसाना (४) गौणी सारोपा (५) गौणी साध्यवसाना (६) इत्येवं विभागाभ्युपगमे उपपद्यते। इदञ्च—"रूढिप्रयोजनाभ्यां भेदे सम्भवत्यपि न ते विभाजकत्वेनोक्ते, किन्तु हेतुत्वेन इति तत्कृतो भेदो न गणितः। अत एव च पश्चाद् 'व्यङ्ग्येन रहिता' इत्यादिना तत्कृतं भेदं दर्शयिष्यति। (यच्च) 'षड्विधेति, रूढिप्रयोजनोपादानलक्षणा-रोपाध्यवसानरूपैः षड्भिरुपाधिभिः कल्पिता विधाः प्रकारा यस्यामिति षड्विधा' इति चण्डीदास-व्याख्यानम्, तत् "शुद्धैव सा द्विधा। सारोपाऽन्या तु" इति 'एव-तु'शब्दयोरनालोचन-

---

1. 'सर्व्वथा दुर्घटा' ग। 2. 'यथाक्रमं' ख। 3. 'उपचारः सारोपासाध्यवसानास्थलीयः तत् पूर्व्वं समानविभक्तिवशादभेदोपचारः' ख-ग। 4. 'अत एव सारोपायामारोप्यमाणस्य पूर्व्वनिपातनियमोल्लङ्घनेन हस्तस्यारोप्यस्य परनिपातः, अस्य प्रयोजनरूपत्वाभावात्' क। 5. 'तदतिशय हस्त-'—क। 6. 'कर्म्मसौष्ठवं' ख।

आद्यभेदाभ्यां सह। सा च—

(१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव।

आद्यभेदाभ्यामिति उपादान-लक्षणलक्षणाभ्यामित्यर्थः।

विजृम्भितत्वादनादेयम्" इति प्रदीपकारोक्तेरप्यनाकुलमवसीयते। तथाच इदमत्राशङ्क्यते—लक्षणायास्तावद् विभाजकौ उपादानत्वलक्षणत्वधर्म्मौ, तयोर्विभाजकौ सारोपात्वसाध्यवसानात्वधर्म्मौ, तयोरपि विभाजकौ शुद्धात्वगौणीत्वधर्म्माविति विभाजकतद्विभाजकसाधारणसङ्ख्यापरिग्रहेण लक्षणायाः षड्विधत्वकथनं कथं युज्यते; न हि कदाचिदवान्तरतदवान्तरधर्म्माणां सङ्ख्यामुपादाय व्यापकधर्म्माणां विभागो दृष्टचरः, न खलु केनापि शुक्लादिभेदेन रूपाणां मधुरादिभेदेन रसानां वा षाड्विध्यमुपादाय गुणानाम्, साधारणत्वादिभेदेन वा सव्यभिचारस्य त्रैविध्यमादाय हेत्वाभासानाञ्च संख्याधिक्यमभ्युपगम्यते। तदभ्युपगमे भेदगर्भव्याप्तिघटितस्य प्राचां विभागलक्षणस्यानुपपत्तिः, सर्व्वत्र कृतानां विभागानां संख्याधिक्यापातेन व्याघातश्चेति। समाधानञ्चात्र—विभागस्य विभागकर्त्तृपुरुषबुद्ध्यारूढवैचित्र्यसहकृततदिच्छामात्राधीनताभ्युपगमेन विभागलक्षणस्यांशतोऽन्यथाकारेण च कथञ्चित् करणीयम्। तथाच टीकाकृता महेश्वरेण सारोपायां विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखः साध्यवसानायाञ्च सर्व्वनाम्नेति वदता तदुभयव्यतिरिक्तोपादानलक्षणात्वं 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यता'मित्यादौ, तथा तदुभयभिन्नलक्षणलक्षणात्वं गङ्गायां घोष इत्यादौ समानविभक्तिकपदसमभिव्याहारशून्ये अङ्गीकृतमिति तन्मते तयोरेव नामान्तरविरहेण उपादानत्वं लक्षणत्वञ्चेत्यनाकुलमवसीयते। एवं कारिकोक्तक्रमानुरोधेन उपादानलक्षणास्थल एव प्रथमं सारोपासाध्यवसानोदाहरणयोः प्रदर्शनस्योचितत्वेऽपि तत्परीहारेण लक्षणलक्षणायामेव 'आयुर्घृतम्' 'आयुरिदम्' इत्युदाहरणात्, तत्रापि परैः साध्यवसानाया उदाहरणत्वेन स्वीकृतस्य 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'गङ्गायां घोषः' इत्युभयस्य स्वयमपि प्रागुक्तस्य परीहाराच्च सारोपादावुपादानादिकृतविभागविशेषो नास्तीति मूलकृतामप्यस्ति तत्रैव स्वरस इत्यवगम्यते। एवमेव च 'एतल्लक्षणाद्वयभिन्नां चतुर्विधां लक्षणामाह' इति टीकाकृदुक्तिः सङ्गच्छते। इत्थमुपादानलक्षणसारोपासाध्यवसानाभेदाल्लक्षणायाश्चतुर्व्विधत्वे नास्त्यनुपपत्तिः। गौणी तु यद्यपि क्वचित् सारोपात्मिका क्वचिच्च साध्यवसानात्मिका तथाऽपि कैश्चिद्वृत्त्यन्तरत्वेनैवाभ्युपगतेति तत्राप्यस्ति कश्चिद् विशेष इति तस्या अपि सारोपादिव्यापकतुल्यतया निर्द्देशः प्राधान्यसूचनायेति लक्षणायाः षड्विधत्वमप्युपपन्नमिति सर्व्वं चतुरस्रम्।

सारोपादीनामुपादानत्वादिकृतविभागादरे तु अष्टौ भेदा लक्षणाया भवन्ति। तासां नामान्युदाहरणानि च—

(१६) तच्च गूढमगूढं वा——

तच्चेति व्यङ्ग्यम्। गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
वतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते(A) ॥ ९ ॥

गूढं सहृदयैकसंवेद्यम्। अगूढं वाच्यवत् सर्व्वजनसंवेद्यम्। गूढत्वे ध्वनिः, अगूढत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यम्। मुखमित्यादि। वत हर्षे। इन्दुवदनायास्तनौ वपुषि तरुणिमोद्गमः उद्गतं तारुण्यं मोदते उत्कर्षभाग भवति, यतो मुखं विस्तृतहास्यम्, प्रेक्षणम् आयत्तीकृतवक्रभावम्, गतिरुद्बुद्धविभ्रमा, मतिरपास्तस्थिरता नानाविलास-विषयीकरणात्, वक्षःस्थलं मुकुलाकारस्तनम्, अंसबन्धः अङ्गविभागः, जघनं तेनोद्धुरं पीनम् अङ्गविभागेन मध्यक्षैण्यात् जघनस्थौल्याच्च। अत्र विकासस्य पुष्पधर्म्मत्वेन स्मिते तद्बाधाद् विस्तारे लक्षणलक्षणा, असङ्कोचत्वं विकासविस्तारयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः, पुष्पवन्मनोहरत्वं सहृदयैकसंवेद्यं व्यङ्ग्यम्। विकाशस्य पुष्पधर्म्मत्वेन

१। उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा……छत्रिणः पुरुषा गच्छन्ति।
२। उपादानलक्षणा सारोपा गौणी………तैलानि सार्षपादीनि हेमन्ते सुखानि।
३। उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा……काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्।
४। उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी ……तैलानि हेमन्ते सुखानि।
५। लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा…………आयुर्घृतम्।
६। लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी ………पृथिव्यामिन्द्रो रामः।
७। लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा……गङ्गायां घोषः।
८। लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी……राजा गच्छति।

(महैश्वर्य्यसम्पन्नश्रेष्ठिनि तात्पर्य्यम्)।

(A) मुखमिति। "इन्दुवदनायास्तनौ शरीरे तरुणिम्न उद्गम आविर्भावो मोदते स्वकार्य्यजननेऽनियन्त्रितोऽस्तीत्यर्थः। प्रकृत्यैवेयमिन्दुवदना तत्राप्येवंविधं यौवनविजृम्भणमिति कष्टमापतितं विदग्धजनस्येत्येवं खेदो वतेत्यनेन प्रतिपाद्यते, अहो रमणीयतातिशय इति विस्मयो वा, भाग्येन परमोत्सवस्थानमुपसम्पन्नं युवजननयनानामिति हर्षो वा, 'वतामन्त्रणसन्तोषखेदानुक्रोशविस्मये' इति नानार्थकोषात्। कथमित्यपेक्षायामाह—मुखमिति, यतो मुखं विकसितं प्रसृतं स्मितं

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।

अविदग्धैरज्ञानात् तेषां पुष्पस्यैवानुपस्थितेः, सादृश्यहेतुकाऽपीयं न गौणी तुल्यविभक्त्या द्वयोर्निर्देशाभावात्। दर्पणे तु सादृश्यहेतुकमात्रलक्षणैव गौणी, तच्च न ग्रन्थकृत्सम्मतमिति प्रागेव दर्शितम्। तथा मोदस्य प्राणिधर्म्मत्वात् तारुण्ये तद्बाधादुत्कृष्टे लक्षणलक्षणा, स्वाश्रयोत्कर्षकत्वं मोदोत्कृष्टयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः, उत्कृष्टतारुण्याश्रयत्वेनेन्दुवदनायाः प्रकृष्टत्वं सहृदयैकवेद्यं व्यङ्ग्यम्, तारुण्ये मोदबाधस्यैवाविदग्धैरज्ञानात्।

श्रीपरिचयादिति। जडा अपि जनाः श्रीपरिचयाद् विदग्धचरितानामभिज्ञा

'ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्' इत्युक्तलक्षणहास्यविशेषरूपं यत्र तथाभूतम्, एवं प्रेक्षितं प्रेक्षणम्, भावे क्तः, वशितो वशीकृतः स्वायत्तीकृतः स्वसम्बद्ध इति यावत् वक्रिमा वक्रत्वं येन तथाभूतम्। तथा गतिर्गमनं समुच्छलिता धारारूपेण प्रादुर्भूता विभ्रमा विलासा यस्यां सा तथाभूता। मतिर्बुद्धिः अपास्ता त्यक्ता संस्था परिमितविषयस्थत्वं यया, अनेकविषयसञ्चारिणीति यावत्। उरो वक्षःस्थलं मुकुलितौ मुकुलाकारावुद्भिन्नौ वा स्तनौ यत्र तथाविधम्। एवं जघनम् अंसस्य बन्धो विभक्ततासम्पादनं तेनोद्धुरमुत्कृष्टं पीनमिति यावत्। अंससम्बन्धी बन्धः सुरतविशेषस्तत्र समर्थमिति वा (उत्सुकं वा)। तथाच असाधारणस्मितायुन्मेषः स्फुटमेव यौवनमोदमवगमयतीति भावः। अत्र च विकासस्य पुष्पधर्म्मस्य स्मिते, वशीकरणस्य चेतनधर्म्मस्य वक्रिमणि, समुच्छलनस्य मूर्त्तधर्म्मस्य विभ्रमे, संस्थाया मर्य्यादायास्त्यागस्य चेतनधर्म्मस्य मतौ, मोदस्य हर्षस्य चाचेतने यौवनोद्गमे बाधितत्वात् विकसितादिपदैः स्ववाच्यसम्बन्धाश्रयणेन उपदर्शितार्था लक्ष्यन्ते। तत्र विकासस्य पुष्पप्रसृतत्वस्य प्रसृतत्वमात्रेण सामान्यविशेषभावः सम्बन्धः, मनोहारित्वं व्यङ्ग्यम्। एवं वशितत्वस्य सम्बन्धत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, पूर्व्वं मौग्ध्यात् सर्व्वत्र वक्रता प्रेक्षितस्यासीत् इदानीं त्वभिमत एवेति युक्तानुरागित्वं व्यङ्ग्यम्। समुच्छलनस्य प्रादुर्भूतत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, सकलवशीकारित्वं व्यङ्ग्यम्। तथा मर्य्यादात्यागस्यापि अपरिमितविषयत्वेनैकाधिकरण्यं सम्बन्धः, अनुरागातिशयो व्यङ्ग्यः, तस्य तादृशमतिप्रयोजकत्वात्। मुकुलितत्वस्य पुष्पसंस्थानस्य तादृशसंस्थानमात्रेण सामान्यविशेषभावः सम्बन्धः, उद्भिन्नत्वेन तु सामानाधिकरण्यम्, आलिङ्गनयोग्यत्वं व्यङ्ग्यम्। एवमुन्मुखत्वरूपस्योद्धुरत्वस्य उत्कृष्टत्वेन कार्य्यकारणभावः सम्बन्धः उत्कर्षस्योन्मुखत्वहेतुत्वात्, रमणीयत्वं व्यङ्ग्यम्। एवं मोदस्यानियन्त्रितत्वेन समं हेतुहेतुमद्भावः सम्बन्धः मोदस्यानियन्त्रितत्वे हेतुत्वात्, स्पृहणीयत्वञ्च व्यङ्ग्यम्। एतानि च काव्यभावनापरिपक्वबुद्धेः सहृदयस्यैव प्रकाशन्ते" इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि(A) ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति ।

(२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

(२१) तद्भूर्लाक्षणिकः—

शब्द इति सम्बध्यते । तद्भूस्तदाश्रयः ।

(२२) (B)तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

भवन्ति । तत्र दृष्टान्तालङ्कारमाह—उपदिशतीति, यौवनमद एव कामिनीनां ललितानि हेलालीलादीनि उपदिशति ज्ञापयतीत्यर्थः । यथा यौवनमदात् कामिनीनां हेलालीलादिज्ञानं तथा जडानामपि श्रीपरिचयात् विदग्धचरितज्ञानमित्येषमाकारको दृष्टान्तालङ्कारः । अत्र परप्रवर्त्तकवागात्मन उपदेशस्य चेतनगुरुधर्म्मत्वेन(C) अचेतने यौवनमदे तद्बाधाज्ज्ञापने लक्षणलक्षणा, प्रवर्त्तकत्वमुपदेशज्ञापनयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः ; ललितज्ञाने कामिनीनामनायासः सर्व्वजनवेद्यो व्यङ्ग्यः, उपदेशादनायासेन ज्ञानमित्यविदग्धैरपि ज्ञानात् । क्वचित् पुस्तके तु अनायासेन शिक्षादानमभिधेयवत् स्फुटं प्रकाशते इत्येव पाठस्तिष्ठति । सम्बध्यते इति, 'शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इत्यतः सम्बध्यत इत्यर्थः । तत्र प्रयोजने ।

(A) ललितं नायिकालङ्कारविशेषः । तल्लक्षणम्—"सुकुमारतयाऽङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्" इति साहित्यदर्पणे, "अनाचार्य्योपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टित" मित्यन्यत्र । एवञ्च ललितादत्यन्तविभिन्नलक्षणानां हेलालीलादीनां ललितत्वोक्तिष्टीकाकृतामसङ्गतैवेति ध्येयम् ।

(B) तत्रेति । "अथ व्यञ्जकशब्दनिरूपणाय व्यञ्जना निरूपणीया । सा च द्वेधा—शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च । तत्रान्त्या शब्दलक्षणेऽनुपयुक्तेत्यग्रे विवेचनीया । आद्या तु द्वेधा—अभिधामूला लक्षणामूला च । तत्र यद्यप्यभिधायाः प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च तन्मूला प्रथमं निरूपयितुमुचिता तथाऽपि सुप्रसिद्धत्वाल्लक्षणायाः प्रकृतत्वाच्च तन्मूलामेव प्रथमं निरूपयति—तत्रेति । तत्र लाक्षणिकशब्दे । व्यापारो व्यङ्ग्यप्रकाशानुकूलः" इति प्रदीपः ।

(C) चेतनो यो गुरुरध्यापकादिस्तद्धर्म्मत्वेनेत्यर्थः ।

कुत इत्याह—

(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।

तथा हि—

(२४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः ।

(२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः ।

यस्य फलस्य । अत्र फले इत्यन्वयः । फलश्चात्र फलीभूतज्ञानविषयरूपं बोध्यम् । व्याचष्टे—प्रयोजनेति । नान्यत इति शब्दैकगम्ये इत्यस्य विवरणम्, व्यञ्जनादृते इति व्यञ्जनान्नापरेत्यस्य विवरणम् । व्यञ्जनं व्यञ्जनेति युड्युच्भ्यां रूपद्वयम् ।

समयाभावादिति । अत्र समयः शक्तिग्रहस्तद्व्यापारो(A) वा, अतो नात्र साध्याविशेषः । बाधादित्रयमिति रूढिप्रयोजनयोर्वैकल्पिकहेतुत्वात् त्रित्वम्(B) । 'हेतुः' लक्षणाज्ञापकम्(C) ।

(A) शक्तिग्रहव्यापारः पदार्थस्मृतिः ।

(B) तथाच मुख्यार्थबाध एकः, मुख्यार्थयोगो द्वितीयः, रूढिप्रयोजनान्यतरश्च तृतीय इति त्रित्वमित्यर्थः ।

(C) अयमभिप्रायः—मुख्यार्थबाधादिज्ञानत्रितयं लक्षणाज्ञान एव हेतुः, गङ्गायां घोष इत्यत्र शैत्यपावनत्वयोस्तत्त्रितयस्यैवाभावेन लक्षणाज्ञानं न सम्भवति, ततश्च अविदिते प्रमाणाभावादिति न्यायेन तत्र लक्षणैव नास्तीति सिद्धमिति । एतेनोक्तज्ञानत्रयस्य वक्तृतात्पर्य्यात्मकऽलक्षणायामहेतुत्वात् तदभावस्य लक्षणाऽभावसाधकत्वं न सम्भवति 'कारणाभावात् कार्य्याभावः' इति न्यायस्यात्रायोगादित्याशङ्का निरस्ता ।

---

1. 'गम्ये च' इति क्वचित् पाठः ।

तथा च—

(२६) [A]लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन्[B] न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वद् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्; न च तटं मुख्योऽर्थः; नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः

हेतुत्रयस्यैवाभावं दर्शयति—लक्ष्यमिति, मुख्यबाधस्य तु [1]लक्ष्यज्ञापकत्वेनैव चरितार्थत्वान्न प्रयोजनलक्षणायामुपयोग इति भावः[1]*। ननु लक्ष्यस्य मुख्यत्वाभावेऽप्युपस्थितार्थबाध एव लक्षणाहेतुर्वाच्य इत्यत आह—नाप्यत्रेति, तटादौ घोषाद्यधिकरणताया बाधो नास्तीत्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु—लक्षणीयस्य पावनत्वादेस्तटादौ बाधो नास्तीत्यर्थ इति व्याचष्टे, तन्न; लक्षणीयार्थान्वयबाधस्य लक्षणाहेतुत्वाभावात्, 'योगः फलेन नो' इत्यनेन [2]प्रत्युत तद्बाधसत्त्वस्यैव[2]* दर्शितत्वाच्च।

नन्वेवं लक्षणहेतुत्रयस्यैवाभावाद् गङ्गादिशब्दानां पावनत्वादिबोधकत्वमेव नास्त्वित्यत आह—न च शब्द इति। 'गतिः' स्वभावः अनुभवसिद्धस्तद्बोधकत्वनास्त्वित्यत आह... स्वभावो न स्खलतीत्यर्थः। व्याचष्टे—यथेति। 'सबाधः' घोषान्वयबाधवान्। न च गङ्गाशब्दार्थस्येति। प्रवाहीयं [3]पावनत्वं हि प्रवाहवृत्त्येव, तटे त्वाहार्य्यमेव प्रतीयते इति न तटे तद्योगः[3]* परम्परासम्बन्धस्य त्वव्यावर्त्तक[4]त्वेन लक्षणाहेतुत्वाभावात्।

(A) अत्र प्रदीपः—"यथा गङ्गाशब्दस्य तीरं (नीरं ?) मुख्योऽर्थः, तत्र च बाधः, तीरे च तत्सम्बन्धः, तीरस्य च लक्षणयोपस्थापनम्, मुख्यशब्देन प्रतिपादयितुमशक्यस्य पावनत्वादेः प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति गङ्गाशब्देन तटं लक्ष्यते तद्वत् यदि तटमपि मुख्यं स्यात्तत्र च बाधो भवेत् प्रयोजनस्य च गङ्गादिगतपावनत्वादिविशेषस्य तटेन सम्बन्धः स्यात् लक्षणया प्रयोजनप्रतिपादनस्य च प्रयोजनान्तरं सम्भवेत् तदा गङ्गाशब्दः प्रयोजनं लक्षयेत् न चैतदेकमप्यत्रेत्यर्थः" इति।

(B) अत्र प्रदीपः—"मुख्यार्थबाधादित्रयमपेक्ष्य बोधकत्वं स्खलद्गतित्वम्। एवं "नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः" इत्यादिवृत्तौ 'बाधादिकमनपेक्ष्य' इति शेषो द्रष्टव्यः। 'समर्थः' इति पाठे तु 'बाधादित्रयमपेक्ष्यैव' इति शेषः" इति। "स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य" तादृश इत्यर्थ इति "मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्। यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥" इति ध्वन्यालोकीयकारिकाव्याख्याने श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य्याः।

---

1. 'लक्ष्योपस्थापनेनैव चरितार्थत्वादिति भावः' ख-ग। 2. 'तद्बाधस्यैव' ख-ग। 3. 'हि पावनत्वं तटे आहार्य्यमेव प्रतीयते तस्य तटेन सम्बन्ध इत्यर्थः' ख-ग। 4. '-त्तकस्य' ख-ग।

सम्बन्धः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्, [1]न च गङ्गाशब्द-स्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या [2]मूलक्षतिकारिणी।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृदनवस्था भवेत्।

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा, तत् किं व्यञ्जनयेत्याह—

(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥

गर्भावधि सार्द्धशतहस्तपर्य्यन्ते(A) तीरे यः पावनत्वविशेषस्तस्य तटे [3]सत्त्वेऽपि गङ्गाशब्दात् तदप्रतीत्या तस्याकिञ्चित्करत्वात्। न च शब्दः स्खलदित्यादिकं व्याचष्टे—न च गङ्गाशब्द इति। तटमिव पावनत्वमपि प्रतिपादयितुं नासमर्थः, अपि तु समर्थ एव, [4]अनुभवसिद्धतद्बोधकत्वस्वभावेन स्खलद्गतिर्नेत्यर्थः[4]*। तथाच तत्-प्रतिपादिका व्यञ्जनावृत्तिरेव स्वीकार्य्येति भावः।

ननु लक्षणां विना विवक्षितार्थबोधानुपपत्तिरेव मुख्यार्थबाधः, विवक्षितार्थस्तु तटगतत्वेनारोप्यमाणं प्रवाहीयं पावनत्वमेव, तादृशे च पावनत्वे मुख्यार्थस्य प्रवाहस्य योगोऽस्त्येव, प्रयोजनं तु तदुत्तरं नियमतो यत् प्रतीयते तदेव वाच्य-मित्यत आह—एवमपीति। अनुक्तस्यापीदृशार्थस्य हृदिस्थस्यैव योग्यतावशाद् एवंकारेण परामर्शः। प्रकृताप्रतीतिकृदिति मूलक्षतेर्विवरणम्। मूलञ्च लक्षणया तटबोधः।

एवं लक्षणया तटबोधानन्तरं पुनर्लक्षणया पावनत्वबोधे खण्डिते प्रथममेव पावनत्वविशिष्टे तटे लक्षणया पावने तटे घोष इति बोधोऽस्तु इत्याशङ्क्ते—नन्विति। प्रयोजनेनेति प्रयोजनीभूतज्ञानविषयपावनत्वादिनेत्यर्थः। अत्र

(A) "भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां यावदाक्रमते जलम्। तावद् गर्भं विजानीयात् तदूर्द्ध्वं तीरमुच्यते ॥ सार्द्धहस्तशतं यावद् गर्भतस्तीरमुच्यते।" इति तीरलक्षणम्।

---

1. 'नापि' इति मुद्रितपुस्तके। 2. 'मूलचय-' इति मुद्रितपुस्तके। 3. 'योगसत्त्वे' ख-ग। 4. 'अनुभवसिद्धं न तस्य तत्प्रतिपादकत्वेन स्खलद्गतित्वाभावादिति भावः' ख-ग।

कुत इत्याह—

(२६) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्(A)।

प्रत्यक्षादेर्हि[1]नीलादिर्विषयः, [2]फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा।

प्राचीनाः—विशिष्टे लक्षणाया अयुक्तत्वे ज्ञानस्येत्या[3]दिकं हेतुमुत्थापयति—कुत इत्याहेति। ज्ञानस्येति। हि यस्मात् ज्ञानस्य लक्षणाजन्यज्ञानस्य विषयोऽन्यः। फलं तु फलीभूतज्ञानविषयः ततो लक्षणाजन्यज्ञानविषयादन्यदेव[3]*। उदाहृतम् उदाहरणेषु दृष्टम्। यथा विकसितस्मितमित्यत्र लक्षणाजन्यज्ञानविषयो विस्तारः [4]फलीभूतज्ञानविषयस्तु ततोऽन्यत् पुष्पवन्मनो[5]हरत्वं तत्रैव दृष्टान्तान्तरं वृत्तिकृदाह[5]*—प्रत्यक्षादेर्हीति। 'प्रकटता' ज्ञातता। भट्टमते घटादौ ज्ञाते हि तत्र ज्ञाततारूप एको धर्म्मो जायते। 'संवित्तिः' अनुव्यवसायः। तद्द्वयमपि नीलादिज्ञानविषयान्नीलादितोऽन्यदेवेत्यर्थः इति व्याचक्षते, तन्न, फलमन्यदित्यत्र फलपदस्य फलीभूतज्ञानविषयपरत्वे दृष्टान्ते तादृशज्ञानाविषययोः प्रकटतासंवित्त्योः फलत्वेन

(A) अत्र प्रदीपः—"ननु विषयफलयोर्भेद इति सूत्रार्थः स चायुक्तः। फलत्वं हि जन्यत्वं वा जन्यप्रतीतिविषयत्वं वा? आद्ये पावनत्वादौ तदभावः, तज्ज्ञाने विषयाद् भेद एव। अन्त्ये 'प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा' इति वृत्तिविरोधः, प्रकटताज्ञानस्य प्रत्यक्षजन्यत्वाभावात्। न च जन्यज्ञाप्यसाधारणमेकं साध्यत्वमस्तीति। अत्र ब्रूमः—ज्ञानस्य जनकीभूतो विषयो यथा ज्ञानादन्यस्तथा फलमपि तस्य स्वतो भिन्नम्, कारणस्येव कार्य्यस्यापि भिन्नकालत्वनियमात्। शैत्यादौ तु क्वचित् फलपदमौपचारिकं दृश्यते। तथाच लक्ष्यज्ञानमेव यदि शैत्यज्ञानं तदा प्रयोजनं न स्यादित्यर्थः। ननु लक्ष्यप्रतीतेर्न शैत्यप्रतीतिः फलं किन्तु शक्यसम्बन्धरूपाया लक्षणायाः, तथाच न किञ्चिद्दूषणमिति। अत्राहुः—अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावदन्वयोपपादकं तावदेव विषयीकरोति नत्वनुपपादकमपीति कथं तटे पावनत्वमपि विषयीकुर्य्यात्। नन्वन्वयानुपपत्त्या कल्प्यमानाऽपि साऽनुद्देश्यमपि शैत्यं विषयीकरोति यथा तापोपशमायोपादीयमानं चन्दनं शैत्यमपि जनयतीति चेत् न चन्दनस्य सन्निधिमात्रेण शैत्यजनकत्वं लक्षणायास्तु अनुपपत्तिप्रसारित्तयेति वैषम्यात्" इति।

---

1. 'प्रत्यक्षादेर्नीलादि'—इति क्वचित् पाठः। 2. 'फलं च' इति क्वचित् पाठः। 3. '-दि को हेतुः ; लक्षणाफलं तावत् स्वजन्यज्ञानद्वारैव' तथाच "हि" यस्मात् "ज्ञानस्य" लक्षणाजन्यस्य "विषयः" फलीभूतज्ञानविषयात् "अन्यः" फलन्तु फलीभूतज्ञानविषयरूपमन्यत्' ख-ग। 4. 'फलन्तु' ख-ग। 5. '-हरत्वमिति प्रकृते तु पावनत्वविशिष्टतटमेकमेव लक्षणाजन्यज्ञानस्य फलीभूतज्ञानस्य च विषय इत्ययुक्तता, तदेव दर्शयति'—ख-ग।

(३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

(३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो

प्रदर्शनानुपपत्तेः(A), तथा पावने तटे घोष इति यल्लक्षणाजन्यं ज्ञानं [1]तदीयफलरूपज्ञानान्तराभावात् पावनत्वस्य फलीभूतज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः[1]* अधिकार्थस्य प्रतिपत्तिः प्रयोजनमित्याशङ्काग्रन्थे प्रतिपत्तेरेव प्रयोजनत्वकथनात् तद्विषयरूपस्य फलस्य [2]अन्यत्वकथनेन तदाकाङ्क्षाया अनिवृत्तेश्च[2]* । [3]अत्रोच्यते—पावनत्वविशिष्टरूपाधिकार्थस्य प्रतिपत्तेरेव लक्षणाजन्यपावनत्वविशिष्टप्रतिपत्तिफलत्वेन कथने फलफलिनोरभेदापत्तिः, अतो विशिष्टं लक्षणीयं न युज्यते इति कारिकापूर्व्वार्द्धार्थः । ननु फलफलिनोरभेदे स्वीकृते कथं विशिष्टं न युज्यते इत्यत्र परार्द्धोक्तं(B) हेतुं वृत्तिकृदुत्थापयति—**कुत इत्याह**ेति । हेतुमेवाह[3]*—**ज्ञानस्येति** । 'हि'शब्द इवार्थो(C)ऽव्ययत्वात् । तथाच ज्ञानस्य विषयो यथा ज्ञानाद्भिन्नस्तथा तस्य फलमपि [4]तद्भिन्नमेव । 'उदाहृतम्' उदाहरणेषु दृष्टम्, न तु त्वया आशङ्कितं [5]पावनत्वविशिष्टतटज्ञानस्य फलं पावनत्वविशिष्टतटज्ञानमेवेत्यर्थः । तदेवोदाहरणेषु[5]* दर्शयति—**प्रत्यक्षादेर्हीति**, प्रत्यक्षादे-

---

(A) अत्रेदं चिन्तनीयं प्रकटताज्ञानं यदि फलं तदा तद्विषयस्य प्रकटताया दृष्टान्तत्वं नानुपपन्नमिति ।

(B) अत्रेदमवधेयम्—टीकाकृदुक्त्यनुसारेण 'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते । ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥' इत्येतत्पादचतुष्टयात्मक एकः श्लोक इति प्रतीयते । अस्माभिस्तु गतानुगतिकतयैव श्लोकसंख्या परिगृहीतेति ।

(C) अत्र 'हि' शब्दस्यैवार्थत्वे कारिकास्थान्यपदाभ्यामुपस्थापितस्य भेदद्वयस्यान्वयो दुरुपपाद इति यथा तथेत्यर्थद्वयोपस्थापकत्वमङ्गीकृत्य टीकाग्रन्थः कथञ्चित् सङ्गमनीयः ।

---

1. 'तत्फलीभूतस्य ज्ञानान्तरस्याभावाच्च' ख-ग । 2. 'अन्यत्वकथनानुपयोगाच्च' ख-ग । 3. 'तस्मादयमत्र व्याचक्ष्महे विशिष्टलक्षणायां तटशब्दशक्तिबोध्यात्तटमात्रादधिकस्य पावनत्वविशिष्टतटस्य प्रतिपत्तिः प्रयोजनमिति यदुक्तं तदर्थविशिष्टं लक्षणीयं न युक्तं तटशब्दरूपशब्दान्तरापेक्षया अधिकार्थस्य शब्दान्तरेण गङ्गाशब्देन प्रतिपादनरूपप्रयोजनस्य लक्षणाहेतुत्वेनोक्तौ रूढिलक्षणातः शक्तितश्चाविशेषापत्तेः रूढिलाक्षणिकस्य शक्तस्य च पदस्य पदान्तरापेक्षयाऽधिकार्थप्रतिपादकत्वादित्यत्र हेतुस्तत्र स्पष्ट एव इत्यतो न दर्शितः प्रत्युत विशिष्टलक्षणाजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य फलं विशिष्टज्ञानमेवेत्यैक्यमापद्यते तच्च न युक्तम्, तत्र हेतुमाह' ख-ग । 4. 'जनकीभूतज्ञानादन्यदेव' ख-ग । 5. लक्षणाजन्यज्ञानमेव लक्षणाजन्यज्ञानफलमित्यर्थः । नचैवं विषयस्य ज्ञानान्यत्वप्रदर्शनं प्रकृतानुपयुक्तमिति वाच्यम्, फलस्य जनकीभूतज्ञानान्यत्वे दृष्टान्तविधयोपयुक्तत्वात् । उदाहृतमुदाहरणेषु दृष्टमित्यर्थः । उदाहरणेषु तथा दृष्टत्वमेव' ख-ग ।

व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यम् अवश्यमेषितव्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम्, अभिधामूलं त्वाह—

(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥

(A)संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

---

[1]विषयो नीलादिरिव तत्फले प्रकटतासंवित्ती अपि तद्भिन्ने एवेत्यर्थः । अत्र च ज्ञानस्येति प्रकृताभिप्रायेणैव, सर्व्वेषामेव फलफलिनां परस्परभिन्नत्वात्[1]* ।

व्यापारान्तरेण गम्या इति । इदं च 'स्यु'रित्यत्र पूरयित्वा दर्शितम् । **तच्चेति** व्यापारान्तरमित्यर्थः ।

अभिधामूलन्त्विति । न त्वभिधेयमूलं तस्याग्रे दर्शयिष्यमाणत्वात् । **अनेकार्थस्येति** ; संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते इत्यन्वयः । नियन्त्रणञ्च अर्थान्तरबोधप्रतिबन्धः[2] । शब्दस्येत्यनेन समासाधीनानेकार्थकशब्दस्यापि परिग्रहः । अत एव इन्द्रशत्रुरित्यत्र [3]समासपदेऽपि तथात्वं दर्शयिष्यते । **अवाच्यार्थेति**, वाच्यस्यैव नियन्त्रणवशादवाच्यतापन्नस्येत्यर्थः ।

संयोगादीनेव परकीयकारिकया दर्शयति—**संयोग** इति । 'विप्रयोगः' त्यागः । 'साहचर्य्यं' साहित्येन कार्य्यकारित्वम् । 'विरोधिता' वैरिभावः । एतच्चतुष्टयं समभिव्याहृतपदार्थान्तरेणेति बोध्यम् । 'अर्थः' प्रयोजनम्, 'लिङ्गं' चिह्नम्, एतद्द्वयं समभिव्याहृतं बोध्यम् । 'अन्यस्य शब्दस्य' समानविभक्तिकस्येति बोध्यम् ।

(A) मुद्रितवाक्यपदीयस्य २य-काण्डे ३१७ सङ्ख्यकः श्लोकोऽयं दृश्यते, तत्र "संयोग" इत्यस्य स्थाने 'संसर्ग' इति पाठः । इतः पूर्व्वं "वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः । शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥" इति कारिका वर्त्तते । किन्तु तत्र "सामर्थ्यमौचिती" इत्यादि श्लोकस्यादर्शनेऽपि तद्गत'व्यक्तिस्वर'पदयोर्व्याख्यानं टीकायां दृश्यते ।

---

1. 'नीलादिविषयो नीलादिज्ञानादन्यो यथा नीलादिज्ञानफले प्रकटता संवित्ती अपि तथेत्यर्थः' ख-ग ।
2. '-बन्ध नेकार्थबोधनम्' क । 3. 'समासाधीनानेकार्थकशब्देऽपि' क ।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे(A) विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इत्युक्तदिशा—सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिरित्यच्युते ; राम-लक्ष्मणाविति दाशरथौ ; रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गव-कार्त्तवीर्ययोः ; स्थाणुं भज भवच्छिदे इति हरे ; सर्वं जानाति देव इति

'सामर्थ्यं' निर्दिष्ट[1]क्रियाजननसामर्थ्यम् । 'औचिती' [2]तात्पर्य्यनिर्व्वाहकत्वम । 'देशः' समभिव्याहृतः प्रदेशः । 'कालः' समभिव्याहृतदिनरात्र्यादिः । 'व्यक्तिः' शब्दस्य स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गम् । 'स्वरः' उदात्तादिः । 'अनवच्छेदे' अनेकत्वे । 'विशेषस्य' एकतरस्य, 'स्मृतौ' पदार्थोपस्थितिरूपायां हेतव इत्यर्थः । एतच्च मीमांसकमत एव ; नैयायिकमते तु सर्व्वेषां पदार्थानामुपस्थितिः ; नियन्त्रणवशादेकस्यैवार्थस्य शाब्दानुभव इति । एकत्रैव संयोगादीनां द्वित्रि सम्भवेऽपि यथास्फूर्त्ति नियन्त्रकत्वं बोध्यम् । 'अशङ्खचक्र' इत्यत्र त्यागे नञ् । अनयोः शङ्खचक्रसंयोगत्यागौ हरिपदस्यानेकार्थस्यार्थान्तरवारणेन(B) अच्युतरूपार्थबोधकौ । एवमुत्तरोत्तरमपि बोध्यम । दाशरथ्योरिति पाठो युक्तः द्वयोरपि पदयोरनेकार्थत्वात्(C) । अत्र साहचर्य्यम् । विरोधितायां—रामार्ज्जुनेति, रामोऽत्र भार्गवः, अर्ज्जुनः(D) कार्त्तवीर्य्यः । अत्र द्वयोर्वैरिभावः प्रसिद्धः । (E) स्थाणुमिति अत्र भवच्छेद

(A) अनिश्चये इत्यर्थः ।

(B) 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥' इत्यमरः । 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु । सिंहाश्वकपिभेकाहिशुकलोकान्तरेषु च । हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः' ॥ इति विश्वः ।

(C) 'रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे । राघवे चाऽसिते श्वेते मनोज्ञेषु च वाच्यवत्' ॥ इति विश्वः । 'दाशरथिः श्रीमांश्च लक्ष्मणः' इति त्रिकाण्डे ॥ न चैवमन्योन्याश्रयः, प्रकारान्तरेण निश्चितैकतरशक्तिकपुरुषभेदेन तदुपपत्तेः । एवं रामार्जुनगतिरित्यादावपि ।

(D) 'अर्ज्जुनः ककुभे पार्थे कार्त्तवीर्य्यमयूरयोः । मातुरेकसुतेऽपि स्याद् धवले पुनरन्यवत्'॥ इति मेदिनी ।

(E) 'स्थाणू शङ्कुशिवौ' इत्यमरः ।

1. '-प्रयोजन-' ख-ग । 2. 'अर्थं द्वयोऽन्वयसम्भवेऽपि एकार्थं एव तात्पर्यम्' क । 3. '-संकरे' ख ।

युष्मदर्थे ; कुपितो मकरध्वज इति कामे ; देवस्य पुरारातेरिति शम्भौ ; मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते ; पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये ; भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपादेशाद् राजनि ; चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ ; मित्रं भातीति सुहृदि ; मित्रो भातीति रवौ । इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत् । आदिग्रहणात्—

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥ ११ ॥

प्रयोजनं हरबोधकम, अशाखवृत्तबोधवारकञ्च । सर्व्वमित्यत्र प्रकरणं देवपदस्य राजरूपार्थबोधकम्, अमरबोधवारकञ्च । युष्मदर्थ इत्यनेन प्रकान्तराजरूपार्थ एव दर्शितः, न तु युष्मत्त्वेन तस्य शक्तिरिति मन्तव्यम । कुपित इत्यत्र मकरध्वजपदं कामसमुद्रयोरनेकार्थकम्, कोपस्तु कामस्यैव चिह्नम । न चाधिष्ठातृदेवतयोर्द्वयोरपि कोपश्चिह्नमेव, अधिष्ठेययोस्तु कामिनीविषयेच्छाजलराश्योर्द्वयोरपि नेति को विशेष इति वाच्यं विरहिण्यां कुपित इत्यर्थात् । देवस्य इत्यत्र तुल्यविभक्तिकस्य त्रिपुरारातिशब्दस्य सन्निधिर्नियन्त्रकः । मधुना इत्यत्र मधुपदमनेकार्थम् (A), कोकिलमादने वसन्तस्य सामर्थ्यम् । पातु व इत्यत्र मुखपदमनेकार्थं (B)कामुकसाम्मुख्ये तात्पर्य्यात् तत्रैवौचिती । भात्यत्र इत्यत्र परमेश्वरपदमनेकार्थम् , अत्र राजधान्यां राज्ञ एव सम्भवो न नारायणस्य । भात्यत्र गगने चन्द्र इति तु न्याय उदाहरणम् । काले—(C)चित्रभानुरिति दिने विभातीत्यत्रान्वयः । व्यक्तौ—(D)मित्रमित्यादि द्वयं स्पष्टम् । इन्द्रशत्रुरित्यादौ बहुव्रीहितत्पुरुषयोर्भेदे उदात्तादिस्वरभेदः ।

(A) 'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे" इति विश्वः ।

(B) "मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेष्ठे निःसरणास्ययोः" इति हैमः ।

(C) "सूर्य्यवह्नी चित्रभानू" इत्यमरः ।

(D) "मित्रं सुहृदि न द्वयोः । पुंसि सूर्य्ये" इति मेदिनी । अत्र अच्युत इत्यादीनां सर्व्वेषां सप्तम्यन्तानां वाचकत्वं नियम्यते इत्यध्याहृतेन सम्बन्धो बोध्यः ।

इत्यादावभिनयादयः। इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा, नियमनात्तस्याः ; न च लक्षणा, मुख्यार्थबाधाद्यभावात् ; अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः। यथा—

एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्रैरक्षिपत्रैः।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः॥ इति संस्कृतम्

प्रोषिते प्रियजने तत्कलत्रावस्थाकथनमिदम्। अक्षिपत्रैर्विशिष्टेत्यर्थः। [1]अत्र एतावत्-पदमनेकार्थम्, अभिनयाश्च (श्च ?) सद्वशात्मनां नियन्त्रकाः[1]*। न च बुद्धिस्थत्वेनैकेन रूपेण बोधकमेतावत्पदं कथमनेकार्थमिति वाच्यम्, अभिनेयविषयतत्तद्बुद्धीनामनेकत्वेन तया बुद्ध्याऽवच्छेदकशरीरघटिकया बोधकस्यास्य अनेकार्थत्वात्। **अभिनयादय** इत्यत्र आदिपदात् "इतः स दैत्यः प्राप्तश्री"रित्यादौ चेष्टापरिग्रह इति चक्रवर्ती, तन्न ; चेष्टाया अभिनयाभिन्नत्वात्, किन्तु—

"प्रियेण प्रार्थ्यमानाया निष्पन्दत्वं तदुत्तरम्"

इत्यादौ परकालप्रत्युत्तरवाचकस्य उत्तरपदस्य प्रत्युत्तरपरत्वे निष्पन्दत्वरूपश्चेष्टा-विरहोऽपि नियन्त्रक आदिपदग्राह्यः। **यत् क्वचिदिति**। अत्र चक्रवर्ती—यत्रोत्तर-कालमर्थान्तरबोधेऽपि वक्तुस्तात्पर्य्यं तत्रेत्यर्थ इत्याह, तन्न ; वक्तुस्तात्पर्य्याभावनिश्च-येऽपि क्वचिदर्थान्तरबोधात्। यथा—

"सरेतो भुङ्क्ष्व विप्रेदं सुरामोदकरौदनम्" इति।

अत्र हि असदर्थावक्तृत्वेन वक्तुर्निश्चितत्वेऽपि 'हे विप्र इतः सर सुराणामामोदकर-मिदमोदनं भुङ्क्ष्वे'त्येतदर्थिकायां तदुक्तौ 'हे विप्र सुरागन्धकरं रेतःसहितमन्नं भुङ्क्ष्वे'-त्यसदर्थोऽतात्पर्य्यविषयोऽपि प्रतीयते तदर्थप्रतीत्या च अन्नजुगुप्सा जायते। अतः फलपरिचेयः समभिव्याहारविशेष एव नियामक इति ब्रूमः। **नियमनात्तस्या** इति, अभिधामात्रजन्यतदर्थबोधं प्रति संयोगादेः प्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः, अन्यथा द्वितीयार्थबोधस्यापि प्रागेवोपपत्तेरिति भावः। अथ प्रथमार्थबोधाभावविशिष्ट एव

---

1. 'अत्रैतावत्पदार्थास्तत्तदभिनीयमानार्थतुल्याः स्तनादय एव दर्शिताभिनयाश्च तदतुल्यबोधवारकाः स्वतुल्यस्तनादिबोधकाश्च' क।

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥ १२ ॥

(३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः—

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

संयोगादिर्द्वितीयार्थबोधप्रतिबन्धकः प्रथमार्थबोधस्तूत्तेजक(A) एवेत्यतो द्वितीयार्थोऽप्यभिधामात्रबोध्य एवास्त्विति चेत् सत्यम्, [1]अप्राकरणिकद्वितीयार्थबोधान्निष्कम्पप्रवृत्त्यभावेन आस्वादविशेषजननेन च तत्र वैजात्यस्यावश्यकत्वेन तस्य च कारणविशेषाधीनत्वेन तत्करणतया व्यञ्जनासिद्धिः, तथा च बोधने अभिधाऽपि सहकारिणी अभिधाया अविषये तादृशव्यञ्जनाया अभावात्, अत एव तस्या अभिधामूलकत्वमुच्यते। **भद्रात्मन** इति। यस्य राज्ञः करः पाणिः दानाम्बुनो वितरणजलस्य सेकेन सततं सुभगोऽभूत्। यस्य कीदृशस्य? भद्रात्मनः [2]उत्तमस्वरूपस्य, दुरधिरोहतनोः पराधृष्यगात्रस्य, विशाले महति वंशे कुले उन्नतिर्यस्य तादृशस्य, कृतबाणपरिग्रहस्य। गतिरवस्थानम्। अनुपद्रुतावस्थानस्य शत्रुनिवारकस्य च। प्रकरणादित्थ[3]मर्थे नियन्त्रितेऽपि हस्तिरूपोऽप्यर्थः शक्तिसहकृतया व्यञ्जनया प्रतीयते। तथाहि यस्य परवारणस्य प्रकृष्टहस्तिनः करः शुण्डः दानाम्बुनो मदजलस्य सेकेन सततं सुभगोऽभूत्। कीदृशस्य? भद्राख्यगजजातीयस्य विशालवेणुतुल्योन्नतेः, अत एव दुरधिरोहतनोः कृतमदजलार्थिभ्रमरसंग्रहस्य गभीरगमनस्य च। अत्रार्थे अभिधासहितैव व्यञ्जना बोधिका। इत्थं व्यञ्जिते हस्तिनि हस्तीव राजा इत्युपमाऽपि प्रतीयते इत्युपमाध्वनिरन्यथा हस्तिबोधकपदसमभिव्याहारानुपयोगात्।

(A) प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूताभावप्रतियोगित्वमुत्तेजकत्वमिति लक्षणम्, तथाच संयोगे विशेषणीभूतो यः प्रथमार्थबोधाभावः स संयोगनिष्ठप्रतिबन्धकतायामवच्छेदक इति तत्प्रतियोगित्वं प्रथमार्थबोधे इति तत्र लक्षणसमन्वयः।

---

1. 'प्राकरणिकवाच्यार्थबोधादिना (धीना)?' अप्रा—क-ख। 2. 'मङ्गलस्वरूपस्य' ख-ग। 3. '-दित्थं राजरूपेऽर्थे' ख-ग।

(३४) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ १९ ॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ।

शाब्द्यां व्यञ्जनायामर्थविशिष्टः शब्दः काव्यमित्यभिप्रायेणाह—यत् सोऽर्थान्तरेति । 'युक्' युक्तः ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे शब्दनिर्णयस्य द्वितीयः प्रतिबिम्बः ।

तृतीय उल्लासः

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः। तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम्।

(३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते।

कीदृशीत्याह—

(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां (A)वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः॥ २१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ २२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः। काकुर्ध्वनेर्विकारः। प्रस्तावः प्रकरणम्। अर्थस्य—वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः। क्रमेणोदाहरति—

अर्थाः प्रोक्ता इति, वाच्यादयस्तदर्थाः स्युरित्यनेन प्रोक्ता इत्यर्थः। व्यञ्जकता व्यञ्जकानां तेषां व्यञ्जनोपायः। व्यञ्जकता ससहायिका [1]बोध्या इत्यर्थः। [2]कीदृशीति व्यञ्जनोपायः कीदृशः[2]*।

वक्त्रिति। कालादिपर्य्यन्तानां वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् अन्यार्थधाहेतुर्योऽर्थस्य व्यापारः वृत्तिः सा व्यक्तिरेव व्यञ्जनैवेत्यर्थः।

[3]'प्रतिपाद्य' उच्यमानार्थबोधोद्देश्यः। 'विकारः' वैलक्षण्यम्, यत्र शिरश्चलति। सन्निधेरित्यत्र [4]समाहारद्वन्द्वैकत्वेऽपि नपुंसकलिङ्गकार्य्याभावो (B)विराम-

---

(A) आसत्तियोग्यताकाङ्क्षान्वितपदसमुदायो वाक्यम्, तत्र "शून्यं वासगृहं विलोक्य" इत्यंशेऽतिव्याप्तिवारणाय स्वार्थबोधसमासत्वमपि विशेषणं देयमिति रामतर्कवागीशः। अभिधेयविषयो वाच्यः, तथाच बोद्धव्यादस्य भेदः स्फुट एव।

(B) 'विरामव्यञ्जनादावुक्तं नपुंसकात् स्यमोर्लोपेऽपि' इति कातन्त्रसूत्रम्। अत्र वाक्यवाच्याभ्यां सहितः अन्यसन्निधिरिति मध्यपदलोपिकर्म्मधारयसमासेन शनिराहुकेतुरितिवदुपपादनं युक्तम्।

---

1. 'बोध्या, तेनार्थस्य व्यञ्जकतायां सहाया उच्यन्ते इति पर्य्यवसितार्थः' ख। 2. 'कीदृशी किं सहायिकेत्यर्थः' ख। 3. 'प्रतिपादयितुं सम्बोध्यो जनः' ख। 4. 'समाहारैकत्वेऽपि विरामव्यञ्जनादावित्यत्र नपुंसककार्य्याभावात् तत्कार्य्यस्यानित्यत्वज्ञापनान्न सन्निधिन इति रूपम्' ख।

अइ पिहुलं(A) जलकुम्भं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम्।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ १३ ॥

अत्र चौर्यरतगोपनं(B) गम्यते।

ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ(C) ॥ १४ ॥

व्यञ्जनादाविति सार्व्ववर्म्मिकसूत्रे नपुंसकलिङ्गकार्य्याभावेन[1] द्वन्द्वैकत्वे तत्कार्य्यस्य वैकल्पिकत्वज्ञापनात्[1]* अतः "सन्निधिनः" इति न रूपम्[1]*। अइ इति।

अयि पृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥ इति संस्कृतम्।

जलाहरणपथे उपनायकोपभुक्तायाः सख्यां तच्चिह्नसंवरणोक्तिरियम्। अयीति सम्बोधनम्। अतिपृथुलमिति वा संस्कृतम्। श्रमात् यौ स्वेदसलिलनिश्वासौ ताभ्यां निःसहा दुर्बला क्षणं विश्राम्यामीत्यर्थः। अत्र वक्त्र्या अनाकाङ्क्षित[2]तार्थवक्तृत्वं वैलक्षण्यं व्यञ्जनायां सहायम्[3]। बोद्धव्यवैलक्षण्ये उदाहरति—ओण्णिद्दं इति।

औन्निद्र्यं दौर्वल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिश्वसितम्।
मम मन्दभाग्यायाः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥ इति संस्कृतम्।

(A) "अइ विउलं" इति पाठे "अतिविपुलं"मिति संस्कृतम्।

(B) "अत्र वक्त्री कामिनी, तस्या दुःशीलत्वरूपवैशिष्ट्यं विजानतां चौर्य्यरतगोपनं व्यक्तीभवति" इति प्रदीपः।

(C) "कृतकामुकोपभोगां दूतीं प्रतीयमुक्तिः। तुहेति कर्म्मणि षष्ठी, परिभवतीत्यस्य हिंसार्थत्वादिति केचित्। तुहेति द्वितीयान्तमेव तथाऽनुशासनादिति दीपिकाकारः।········ मां तावत् परिभवत्येव मत्कार्य्यार्थं गमनागमनादिना कामुकस्य प्रसादनव्यापारेण त्वामपीत्यपि लभ्योऽर्थः। मदीयमित्यर्थे तु मदीयमौन्निद्र्यादिकं त्वामपि स्नेहवशात् परिभवतीत्यर्थः। अत एव सखीति सम्बोधनम्। एतेन स्वीयस्यौन्निद्र्यादेरन्यपरिभावकत्वासम्भवात् स्वीयसजातीयलक्षणेति निरस्तम्, एकेनोभयपरिभवाभावादप्यर्थसमुच्चयानुपपत्तेश्च" इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः।

---

1. '-भावदर्शनस्य द्वन्द्वैकत्वे नपुंसककार्य्यानित्यत्वज्ञापनार्थत्वात्' ग। 2. '-तापृष्टार्थ-' ग।
3. 'सहायः' ग।

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१८॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः(A) कुरुषु तु योग्य इति काका प्रकाश्यते ।

उपनायकोपभुक्तत्वेन ज्ञातायां दूत्यां नायिकायाः सोल्लुण्ठनोक्तिरियम् । अहह खेदे । औन्निद्र्यादिकं कर्तृ सखि त्वामपि परिभवतीत्यन्वयः । त्वामपीत्यपिकारात् मम त्वेभिः परिभवो युक्त इत्यर्थः । अत्र बोद्धव्याया अकार्य्यकारित्वेन [1]अन्यतो ज्ञाताया दूत्यास्तथात्वं वैलक्षण्यम । काकुवैलक्षण्ये उदाहरति—तथाभूतामिति । कटु वक्तारं भीमं प्रति 'आर्य्य खिद्यते कदाचिद् गुरु'रिति सहदेवस्योक्तौ पुनर्भीमस्योक्तिरियम् । पाञ्चालतनयां द्रौपदीं नृपाणां सदसि तथाभूतां दुःशासनाकृष्टकचाम् ऋतुमतीं दृष्ट्वा इत्यन्वयः । एवं वने द्वैतवने व्याधैः सार्द्धं वल्कलधरैरस्माभिः सुचिरमुषितम्, विराटस्यावासे अनुचितारम्भेण कङ्कसूदादिवेशेन निभृतं गुप्तं स्थितञ्च दृष्ट्वा गुरुर्युधिष्ठिरः [2]तन्निमित्तमेव इत्थं खिन्ने मयि भीमो ममापकारीत्येवं खेदं भजति कुरवो ममापकारिण इत्येवं खेदं कुरुषु त्वद्यापि न भजतीत्यर्थः । उषितं स्थितञ्च भावक्तान्तम्, दृष्ट्वेत्यस्य कर्म्मपदम् । अत्रेति शिरश्चलन[3]सहोत्पन्नया काका सहकृतेन वाक्यार्थेन मयि न योग्य इत्यादिकं प्रकाश्यते इत्यर्थः । शिरश्चलनसहकृतत्वमेव च काकोर्वैलक्षण्यम् । ननु वाक्यात् सिद्ध एव वाक्यार्थो व्यञ्जकः, सिद्धिस्तु खेदभजनायोग्ये मयि [4]खेदभजनस्यानौचित्यवशाद् बाधेन न भवति, किन्तु खेदं भजतीत्यनुचितमित्येवं

(A) खिद्यतेऽनेनेति खेदो मात्सर्य्यमिति प्रदीपोदाहरणचन्द्रिके ।

---

1. 'अन्यत' इति क-पुस्तके नास्ति । 2. 'तत्कर्म्मणैव' ख । 3. '-सहकृतया' क । 4. 'खेदं भजति खेदभजनयोग्येषु कुरुषु तु न भजतीत्येवं वाक्यार्थस्यायुक्तपदार्थेन व्यङ्ग्येन सहान्वयेनैव, तथाच दर्शितैतादृशव्यङ्ग्यान्वयेनैव वाक्यार्थसिद्धौ वाच्यसिद्ध्यङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदस्यैवेदमुदाहरणं न तु काकुसहकृतसिद्धवाक्यार्थव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रथमवाक्यार्थासिद्धेरिति आशङ्क्यते' ख । 'खेदं भजति खेदभजनयोग्येषु कुरुषु तु खेदं न भजतीत्येवंरूपस्य वाक्यार्थस्येदमयुक्तमित्येवंरूपेण व्यङ्ग्या(ङ्ग्या)र्थेनान्वयादेव अन्यथा तद्भजनायोग्ये तद्भजनस्य बोधानुदयात् । तथाच एतादृशव्यङ्ग्यार्थान्वयेनैव वाक्यार्थसिद्धौ वाच्यसिद्ध्यङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैवोदाहरणमिदं न काकुसहकृतवाक्यार्थव्यङ्ग्यध्वनेरिति शङ्क्यते' ग ।

न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम्, प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।

तइआ मह गण्डत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी ॥१६॥

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः।

व्यङ्ग्यान्वयेनैव भवति। तथाच वाच्यसिद्ध्यङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यमेवेदं काव्यं न तु काकुसहकृतसिद्धवाक्यार्थव्यङ्ग्योदाहरणमिदमित्याशङ्क्य[4]* न चेति। 'काकुः' काकुव्यङ्ग्यं मयि न योग्य इत्यादिकम्। समाधत्ते—प्रश्नमात्रेणापीति, [1]काकोर्व्यङ्ग्येन 'प्रश्नमात्रेणापि विश्रान्तेः' वाक्यार्थस्य [2]सिद्धेरित्यर्थः। तथाच 'कथं मयि खेदं भजती'ति वाक्यार्थः काकुव्यङ्ग्येन प्रश्नमात्रेण सिद्धः, ततश्च स्मृतया तयैव काका सहकृतः स वाक्यार्थो मयि न योग्य इत्यादिकं व्यनक्तीत्यर्थः। एवञ्च [3]प्रश्नांशे गुणीभूतव्यङ्ग्यमिदम्, मयि न योग्य इत्यंशे तु [4]स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यवस्तुध्वनिरिति उभयसङ्करध्वनिरित्युक्तम्। वाक्यवैलक्षण्ये उदाहरति—तइआ इति—

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं न नयस्यन्यत्र।
इदानीं सा चैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः॥ इति संस्कृतम्।

नायिकायाः कपोलप्रतिबिम्बितामुपनायिकां नायिकामुखदर्शनव्याजेन साकाङ्क्षं दृष्ट्वा तदपगमे तथाऽपश्यन्तं नायकं प्रति नायिकायाः सोल्लुण्ठनोक्तिरियम्। 'तदिति' मत्कपोले मत्सखीप्रतिबिम्बकाले इत्यर्थः। निमग्नां रागनिश्चलाम्। इदानीं तदपगमकाले। अत्रेति, उपनायिकासत्त्वासत्त्वबोधकतदिदानीम्पदघटितत्वमत्र वाक्यस्य वैलक्षण्यम्।

वाच्यवैलक्षण्ये उदाहरति—उद्देशोऽयमिति। सङ्केतस्थलं नायिकां प्रदर्शयत

---

1. 'काको'रिति पञ्चमी, तथाच काको-' ग। 2. 'सिद्धेरिति शेषः' ग। 3. 'प्रश्नांशे वाच्यसिद्ध्यङ्गाख्य-गुणी-' ग। 4. 'काकुसहकृतवाक्यार्थस्वरूपे स्वतः' ख, 'वक्ष्यमाणः स्वतः' ग।

किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः(A) ॥१७॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

णोल्लेइ(B)अणण्णमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥१८॥

उक्तिरियम् । नर्म्मदाया अयमुद्देशः प्रदेशः सरसायाः कदलीश्रेण्याः शोभया अतिशयशीलः, कुञ्जोत्कर्षादङ्कुरितो रमणीनां विभ्रमो विलासो यत्र तादृशः । तथाच तवापि रमण्या अत्र विभ्रम उत्पद्यतामिति भावः । विशेषान्तरसमुच्चयार्थमाह—किञ्चेति । एतस्मिन् प्रदेशे सुरतसुहृदस्ते वाता वान्ति । येषा[1]मग्रे [2]इत्यादि ; अकाण्ड आकस्मिकः । अत्रेति, वाच्यार्थोऽत्र नर्म्मदायाः प्रदेश उक्तः, तत्तद्विशेषणवत्त्वेन तस्य प्रकर्षोऽत्र वैलक्षण्यम् । अन्यसन्निधिवैलक्षण्ये उदाहरति—नोल्लेइ इति ।

(A) उद्देशोऽयमिति । "नायिकां प्रति रमणार्थिनः कामुकस्योक्तिरियम्, दूत्या वा । हे तन्वि कन्दर्पवेदनया तनुतायोगिनि, अयं नर्म्मदाया नर्म्म ददातीति नर्म्मदा न तु यथाकथञ्चिन्नदी, तस्या उद्देशः ऊर्द्ध्वो देशः स्खलनभयेन सञ्चरतामनवलोकनीयस्तिष्ठतीत्यन्वयः । 'उद्दिश्यते दूरादेव जनैः, न पुनर्गम्यते इति निर्जनत्वं सूच्यते' इति दीपिका । कीदृशः, तत्राह—सरसेत्यादि । सरसानां स्निग्धानां कदलीनां श्रेण्या पङ्क्त्या या शोभा तया अतिशायी अतिशयितः । अत्र सरसत्वेन शुष्कपर्णध्वनिराहित्यं श्रेणीत्वेन च वेष्टनं गम्यते । तथा कुञ्जानामुत्कर्षेण गुञ्जन्मधुकरकरम्बितकुसुमसमृद्ध्यादिरूपेणाङ्कुरितोऽभूतप्रादुर्भूतो रमणीनां विभ्रमो विलासो यत्र सः । तथाचानुत्पन्नविलासानामपि नवनवोन्मेषशालिविलासोदयाद् भवत्याः कामुकवैमुख्ये दुरुत्तरं व्यसनं स्यादिति भावः । न केवलमेतावदेव बाधकं किन्त्वन्यदपि बलवदस्तीत्याह—किं चेति । एतस्मिन् प्रदेशे ते शैत्यमान्द्यसौगन्ध्यवत्तया प्रसिद्धा वाता वान्ति । कीदृशाः ? सुरतस्य सुहृदः श्रमघर्म्माद्यपनोदनेन निरतिशयानन्दमयत्वरूपसुरतोत्कर्षहेतवः । श्रमापनयनेन पुनः पुनः प्रवर्त्तनया सुहृद इत्यन्ये । येषां वातानामग्रे मनोभूः सरति चलति । मनोभूत्वेन सचेतसां दुष्परिहर इति ध्वन्यते । मर्म्मज्ञतेति केचित् । कलितः धृतः अकाण्डेऽनवसरे निमित्ताभाव इति यावत् कोपो येन सः । सुरतवैमुख्ये तु दृढं कुपितः किमिव न करिष्यतीति व्यज्यते । अत्र वाच्यस्य देशादेरुक्तविशेषवैशिष्ट्यात् कामुकाभिप्रायव्यक्तिः" इत्युदाहरणचन्द्रिका ।

(B) "अणोल्लमणा" इति पाठे अनार्द्रमना इति संस्कृतम् ।

---

1. '-मग्रे धृतकामुकविषयाकस्मिककोपो मनोभूः सरति धावति' ख । 2. 'इत्यादि सुगमम्' ग ।

अत्र सन्ध्या सङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते।

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण।
एमेअ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं ॥१९॥

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता, न युक्तमिति कयाचिद् वार्यते।

(A) अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।

नुदत्यनन्यमनाः श्वश्रूर्मां गृहभारे(B) सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः॥ इति संस्कृतम्।

अत्ता श्वश्रूः देशी। अत्रेति, उपनायकसन्निध्यभावे एतादृशोक्तेश्चमत्कारित्वाभावादुपनायकसन्निधावेव इयमुक्तिः। उपनायकश्च वाच्यार्थबोद्धृभ्यस्तत्स्थानस्थजनेभ्योऽन्यः, तस्य च सङ्केतकालवुभुत्सैव तत्सन्निधि(C)वैलक्षण्यम्, तद्वशात् सन्ध्येत्यादिकं सामाजिकबोध्यं व्यङ्ग्यम्। [1]तदेवोपनायकेन तु वक्तृवैलक्षण्यादवगम्यते[1]*। 'तटस्थं' वाच्यार्थबोधे उदासीनम्। प्रकरणवैलक्षण्ये उदाहरति—सुव्वइ इति।

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम्॥ इति संस्कृतम्।

समुपक्रान्ताभिसारनिवर्त्तिकायाः सख्या उक्तिरियम्। एवमेवेति तत्परिचर्य्योपक्रमरहितैवेत्यापाततः, अभिसारोद्यतैवेति तु गूढम्। करणीयं रन्धनादिसामग्रीम्। अत्रेति वार्य्यते इत्यत्र इति व्यज्यते इति शेषः, प्रकरणप्राप्ताभिसारनिवर्त्तनस्यैव सामाजिकबोध्यत्वात्; गोपनीयकार्य्यविषयत्वमेव च प्रकरणस्य वैलक्षण्यम्। देश-

---

(A) अन्यत्रेति। "सखीवेशधारिणा स्वोपनायकेन सहागतां प्रियसखीं दृष्ट्वा सखीः प्रति नायिकाया उक्तिरियम्। यत्तु 'पुष्पावचायं नाटयन्तीं सखीं प्रति मालती कथयतीत्यत्रत्यव्याख्यानम्, प्रच्छन्नकामुको माधवः, आश्वस्तां विश्वासवतीं कामन्दकीं प्रति मालत्या व्यज्यते' इत्यग्रिमव्याख्यानञ्च सरस्वतीतीर्थकृतं तत्तु चिन्त्यमेव मालतीमाधवप्रकरणेऽस्य पद्यस्यानुपलम्भात्" इति बालबोधिनी।

(B) "गृहभरे" इति संस्कृतमिति केचित्।

(C) "अन्यसन्निधिः सन्निहितोऽन्यः" इति प्रदीपः।

---

1. 'उपनायकस्य सन्ध्यारूपकालबोधस्तु वक्तृवैलक्षण्यात्' ख; 'उपनायकस्य तु वक्तृवैलक्षण्यादेव' ग।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदताऽयं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यता-
मिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मन्दभाइणी क्खु अहं ।
अज्ज पवासं वचसि वच सअं जेव्व सुणसि करणिज्जं ॥२१॥

वैलक्षण्ये उदाहरति—अन्यत्रेति। देशश्च विधेयक्रियाऽधिकरणत्वेन निर्दिष्टं स्थानम्, व्यङ्ग्यार्थोपयुक्तीकरणमेव च तस्य वैलक्षण्यम्। स्वसङ्केतस्थानेऽन्यासां सखीनां पुष्पावचयं वारयन्त्या उक्तिरियम्। अत्रास्मीति, अहमित्यर्थे अस्मीत्यव्ययम्। अहमत्र पुष्पावचयं करोमीत्यर्थः। त्वमेवान्यत्र कुर्व्वित्यत्राह—नाहमिति। व इति बहुवचन-मञ्जलिरित्येकवचनञ्च बह्वीषु प्रत्येकमञ्जलिकरणेऽप्यसामर्थ्यसूचनाय। अत्रेति, 'अभि-सार्य्यताम' आनीयताम्। निवेद्यत इति, तथाच तन्निवेदनमेव सामाजिकबोध्यं व्यङ्ग्य-मित्यर्थः। निर्जनीकरणमत्र देशस्य वैलक्षण्यम्। (A)तादृशदेशस्यात्र वाच्यत्वे[1]ऽपि सप्तम्या अधिकरणत्वेनैव निर्देशाद्देशत्वमेव पुरःस्फूर्त्तिकम्[1]*। एवमन्यस्या दूत्याः सान्निध्यसत्त्वेऽपि तत्सान्निध्यस्यापि देशवैलक्षण्यादेव लाभाद् तदेव पुरःस्फूर्त्तिकं[2] दूत्यास्तु निवेद्यार्थबोधः प्रकरणसाचिव्यादेव। कालवैलक्षण्ये उदाहरति—गुरुअणेति।

गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी खल्वहम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव मन्यसे करणीयम्(B)॥ इति संस्कृतम्।

पित्राद्याज्ञया प्रवसितु(प्रवस्तु?)मुद्यतं नायकं प्रति नायिकाया उक्तिरियम्। [3]तव(C)

(A) वाच्यवैलक्षण्य एवेदमुदाहरणमित्याशङ्कामपाकरोति—तादृशेति। देशस्य वाच्यत्वेऽपि वाच्यवस्त्वन्तरापेक्षया व्यङ्ग्यार्थबोधे उपयोगविशेष एव पृथङ्निर्देशबीजमिति हृदयम्। उद्देशो-ऽयमित्यादौ प्रथमार्द्धे देशवैलक्षण्यसत्त्वेऽपि शेषार्द्धे विशेष्यतया वाच्यानां वातानां सुरतव्यहत्त्वादि-विशेषणेन वैलक्षण्यन्तु वाच्यवैलक्षण्यमेवेति देशवैलक्षण्यात्तस्य विविक्तविषयतेति ध्येयम्।

(B) अत्र टीकाकृतामनुवादमात्रानुसारेण प्राकृतश्लोकपाठो गृहीतः। मुद्रितपुस्तकेषु 'मन्दभाइणीअ अहं' 'मन्दभाइणी अहकं' इति पाठभेदौ दृश्येते। एवं 'मन्यसे' इत्यनुवाददर्शनेन सुणसीत्यत्रापि तन्मते पाठान्तरमनुमीयते 'सुणसि' इत्यस्य तु 'शृणोषि' इत्यनुवादो युक्तः, श्रोष्यसीति तदर्थः, भविष्यत्सामीप्ये लट्। बहवस्तु 'श्रोष्यसि' इत्येवानूदितवन्तः।

(C) "तुह" इत्यस्य "त्वाम्" इति द्वितीयान्ततयाऽनुवादे "स्थाने" इत्यस्याध्याहारो निष्प्रयोजनक इति बोध्यम्।

---

1. '-ऽपि सप्तम्याऽधिकरणत्वेनैव पुरःस्फोरणाद्देशवैलक्षण्यमेव' ख। 2. 'स्फूर्त्तिकमिति तदुदाहरणमेव' ख। 3. चिह्नितांशः ख-पुस्तके नास्ति।

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि, तव तु न जानामि (A)गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्य्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधःक्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते(B) ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

स्थाने किं भणामीत्यन्वयः[3]* । अद्य वसन्ते । [1]स्वानभीष्टे उद्यमान्मन्दभागिनीति । गुरुजनेत्यादिना अनिवर्त्तनीयत्वसूचनम् । "मन्यसे" जानासि । अत्रेति, "न भवामि" मृताऽस्मि । तव त्विति अद्य प्रवासोद्यमादेव न जानामि; अन्यदा तु स्वमृत्युहेतु-क्रियाभ्यो निवर्त्तसे इति [2]जानाम्येवेति भावः ; व्यज्यते इति वसन्तकालस्य कामोद्दीपकत्वरूपाद्वैलक्षण्यादिति शेषः । द्वारोपान्तेति । उपनायिकाया भावं बुद्ध्वा आगतस्य सख्युः सख्यावुक्तिरियम् । मयि द्वारोपान्ते निविडसन्निहिते सति सौन्दर्य्यसारा श्रीर्यस्याः, तादृश्या तया ऊरुयुगं प्रोल्लास्य परस्परसमासक्तम् अन्यान्यसमासङ्गः समासादितं प्रापितम्, समासक्तमिति भावे क्तः ; एवं पुरतः शिरोऽंशुकानयनादिकमपि कृतमित्यर्थः । अत्रेति 'आकूतं' भावः । [3]कुलस्त्रीभिस्तावल्लज्जैव क्रियते कुलटाभिस्तु क्रियाविशेषेण [4]लज्जाकरणं ज्ञाप्यते तच्च भावसूचकम्, तदिह सर्व्वैव क्रिया लज्जाकरण-

---

(A) गतिमिति दशामित्यर्थः । तथाच तवापि दुःखातिशयो मरणपर्य्यन्तोऽपि सम्भाव्यते, गुरुजनेषु कथञ्चित्तद्विज्ञाप्य निवर्त्तस्वेति, अथवा अस्ति तत्रापि तव सौभाग्यावकाश इति मम मरणमिदानीं तवाकिञ्चित्करमिति व्यज्यते इति भावः ।

(B) "अत्रोरुसमासङ्गादिचेष्टावैशिष्ट्यात् प्रच्छन्नकामुकविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते । तत्र प्रथमार्द्धेन स्पृष्टकमालिङ्गनम्, शिरोंऽशुकं पुरत आनीतमित्यनेन गूढमागच्छेरिति अधःक्षिप्ते चले लोचने वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणमित्येताभ्यां सूर्य्यास्तसमये कोलाहलरहिते काले समागन्तव्यमिति सङ्कोचिते दोर्लते इत्यनेन पारितोषिकालिङ्गनं करोमीति व्यज्यते" इति प्रदीपः ।

---

1. 'स्वानभीष्टोद्यमात्' ख-ग । 2. 'जानास्येवेति' क-ख । 3. '-स्त्रिया' क । 4. 'अहं लज्जे' ख ।

निराकाङ्क्षप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादि[1]भेदे अनेन क्रमेण लक्ष्य-व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्य्यम् ।

ज्ञापिका (A)ऊरुयुगसमासञ्जनादीनामुल्लास[2]पूर्व्वकत्वादेर्लज्जाकरणज्ञापकत्वात्[2]* । चेष्टादेरित्यादिपदात् चेष्टा[3]विरहपरिग्रहः । यथा—

न ते मयि पदाक्षेपं दृष्टे दृष्टिनिवारणम् ।

अकुर्व्वाणा चटूक्तौ मे मौनमालम्बते स्म सा ॥ इति

अत्र पदाक्षेपादिविरहोऽप्याकूतसूचकः । ननु वक्तृ[4]वैलक्षण्योदाहरणमेव [5]बोद्धव्य-वैलक्षण्योदाहरणमपि सम्भवति[6], तत् किं बहुभिरुदाहरणैरित्यत्राह—**निराकाङ्क्षेति**, [7]प्रत्येकमेषां प्राधान्येन व्यञ्जकतायां किं किमुदाहरणमित्या[8]* काङ्क्षानिवर्त्तकप्रतिपत्तये इत्यर्थः । इत्थमेभिः सहायैर्वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृते लक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोरपि व्यञ्जकत्वमनेन क्रमेण द्वित्र्यादिसम्भिन्नोदाहरणेषु बोध्यमित्याह—**वक्त्रादीनामिति**। 'द्विकादिः' वक्तृबोद्धव्यादि द्वित्र्यादिः । 'भेदे' सम्भेदे मिलने । तथाहि साहेन्ती-त्यादौ मत्प्रियमित्यादिलक्ष्यार्थस्य यत् कामुकविषयेत्यादि व्यङ्ग्यमुक्तं [9]तद्व्यञ्जने वक्तृबोद्धव्यवाक्यत्रयवैलक्षण्यं सहायम् । उअ निच्चलेत्यादौ यद्व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकत्व-मुक्तं तद्व्यञ्जने प्रकरणबोद्धव्यवैलक्षण्यं सहायम् । अत्र च वाच्यार्थस्य व्यञ्जकतायां द्विकादिभेदेन उदाहरणम् "अत्ता एत्थ निमज्जइ" इत्यादिकं क्वचित् पुस्तके लिखितं तिष्ठति, तत्तु न युक्तमेव उक्तोदाहरणेष्वेव तत्सम्भवस्य निराकाङ्क्षेत्यादिना सूचितत्वात् ।

(A) "ऊरुयुगसमासञ्जनादीनामुल्लासपूर्व्वकत्वादेर्लज्जाकरणज्ञापकत्वात्" इत्यंशः टिप्पणीति प्रतिभाति अन्यथा तस्य "सर्व्वैव क्रिया लज्जाकरणज्ञापिका" इत्यत्र हेतुत्वे साध्याविशेष इति चिन्तनीयम् ।

---

1. '-भेदेन' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः । 2. '-पूर्व्वकत्वस्य लज्जाज्ञापनार्थत्वात्' ख । 3. '-विरहोऽपि भावज्ञापक इति सूचितम्' ग । 4. '-वैलक्षण्ये' उदा-'-क, '-वैलक्षण्येनोदा-' ग । 5. 'बोद्धव्यवाक्यान्य-सन्निधिष्वोदाहरण-' ग । 6. अतः परं ख-पुस्तके 'एवमन्यान्यपि द्विकाद्युदाहरणानि सम्भवन्ति तत् इति' अधिकपाठः। 7. 'एषां कस्य कस्य किं किं पुरःस्फूर्त्तिकमुदाहरणमित्या-' क । एषां पुरःस्फूर्त्तिकानां किं किमुदाहरण-मित्या-' ग । 8. '-व्यञ्जकतायां प्रत्येकमुदाहरणानि दत्त्वा' ख-ग । 9. 'कामुकविषयसापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यमिति यदुक्तम्' ख-ग ।

(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ॥ ३ ॥

आर्थ्यां व्यञ्जनायां शब्दविशिष्टार्थस्य काव्यत्वमित्यभिप्रायेणाह—शब्दप्रमाणेति । न हि प्रमाणान्तरेति काव्ये इति शेषः । नाट्ये तु प्रत्यक्षदृष्टो[1]ऽप्यर्थो व्यञ्जक इति बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे
अर्थव्यञ्जकतानिर्णयस्य तृतीयः प्रतिबिम्बः ।

---

1. '-ऽप्यभिनयो' ख-ग ।

चतुर्थ उल्लासः

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथाऽपि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

(३६) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र सः, 'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः । तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम् । यथा—

'स्वरूपं' लक्षणम् । अभिधानीयमिति अभिधातुं योग्यमित्यर्थः, तद्दोषौ शब्दार्थावितिकारिकोक्तक्रमानुरोधा[1]दिति भावः । प्रदर्शिते इति भेदप्रभेदरूपप्रकर्षेण दर्शिते इत्यर्थः । सामान्यतस्तु 'इदमुत्तममतिशयिनी'त्यादिना दर्शितमेवेति बोध्यम् । ज्ञायत इति [2]तत्तद्धर्म्मिनिष्ठत्वेन ज्ञायत इत्यर्थः, सामान्यधर्म्मिनिष्ठतया तु सामान्यकथनेनैव ज्ञातत्वादिति बोध्यम् ।

अविवक्षितवाच्य इति ध्वनिस्तावदविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च भवति, तत्राविवक्षितवाच्यत्वं लक्षणामूलस्थल एव सम्भवति, अतो लक्षणामूलत्वध्वनित्वयोर्द्वयोरपि[3] प्रदर्शनीयत्वात् तयोश्च कारिकायां[3]* पूर्व्वमनुक्तत्वेन [4]अर्थबललभ्यं तद्द्वयं शब्द[4]*पूरणेन दर्शयन् व्याचष्टे—लक्षणामूलेति ध्वनिरिति ज्ञेय इति च[5] ।

व्यङ्ग्यस्यागूढत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न ध्वनित्वमतो ध्वनित्वबललभ्यमाह—

---

1. '-दितार्थः' क । 2. 'तत्तद्विशेषनिष्ठतया' ख, 'तद्धर्म्मिनिष्ठत्वेन' ग । 3. अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति । 4. 'तत्तदर्थकशब्द-' ग । 5. इतोऽनन्तरं "वाच्या विवक्षा लक्षणामूलत्वं विना नास्तीति तद्बललभ्यम्, लक्षणामूलेति" क-पुस्तकेऽधिकः पाठः, तत्र 'लभ्यम्' इत्यन्तः टिप्पणीति प्रतिभाति ।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥ २३ ॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ।

क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥

गूढेति । तथात्व एव च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमि[1]त्येतत्स्फोरणायाह—प्राधान्ये इति । व्याचष्टे—तत्र च वाच्यमिति । अनुपयुज्यमानत्वादिति वाच्यतावच्छेदकेन रूपेणेति शेषः । 'अर्थान्तरे' अवच्छेदकान्तरे[2], 'परिणमितं' धर्म्मितया भातम्, वाच्यो धर्म्मी अवच्छेदकान्तरेणैव ग्राह्य इत्यर्थः । उक्तषड्विधलक्षणासूपादान-लक्षणायामेव एवं भवतीति बोध्यम् । [3]अन्यपञ्चविधलक्षणासु तु रूपान्तरेणापि [4]न वाच्यार्थान्वयबोध इत्युक्तम् 'अत्यन्तं वे'ति कारिकाश्लेन । त्वामस्मीति । अस्मीत्यहमित्यर्थे अव्ययम् । त्वामहं वच्मि उपदिशामि । समवायः सभा । तत् तस्मात् । अत्रेति, उच्यमानार्थमहिम्नैव [5]वच्मीत्यस्य अर्थस्य लाभे[5]* [6]वचनात् वचनज्ञापनमनुपयुक्तम् अतोऽत्र उपदिशामीत्येवार्थः । [7]तथाच उपदेशत्वेन रूपेणैव वाच्यार्थस्य वचनस्योपस्थापकमिदमिति[7]* दर्शयति—अत्र वचनादीति । [8]परप्रवर्त्तकं वचनं ह्युपदेशः*[8] । अनुपेक्षणीयत्वञ्च एतल्लक्षणामूलं गूढं व्यङ्ग्यं प्रयोजनम् । वचनादि-रित्यादिपदाद् विद्वत्पदं निग्राहकविद्वत्परम्, परापमानदायित्वं तद्व्यङ्ग्यं गूढं प्रयोजनम् । मतिपदमपि प्रकृष्टमतिपरम्, परापमानतः स्वरक्षणं च तत्प्रयोजनं गूढव्यङ्ग्यम् । सर्व्वत्र शक्याभेद एव लक्ष्यार्थे शक्यसम्बन्धः । अत्यन्तं वेति व्याचष्टे—क्वचिदिति रूपान्तरेणापि वाच्यार्थस्यान्वयानुपपत्तेरित्यर्थः । [9]लक्षणलक्षणादिपञ्चक एव एवं भावो बोध्यः ।[9]* उपकृतमिति । प्रमाणान्तरावगतापकारिणं प्रत्येव इयमुक्तिः । अत्र

---

1. '-तेतावन्मात्र-' ख, '-तेतन्मात्र-' ग । 2. अतः परं ग-पुस्तके तथाच वाच्यतानवच्छेदकरूपेणेत्यर्थः' इत्यधिकम् । 3. 'अन्यलक्षणापक्षे' ख । 4. 'वाच्यस्य नान्वयविवक्षा इत्युक्तम्' ख, 'वाच्यधर्म्मिणोऽन्वय'-ग । 5. 'अर्थतो लाभे' ख, 'वच्मीत्यत्रलाभे' ग । 6. 'वचनत्वे' क, 'वचनत्वेन रूपेण वचनज्ञान-' ग । 7. 'तथा चात्र उपदेशत्वेनावच्छेदकेन वाच्यस्यैव वचनस्योपस्थापनमिति' ख । 8. 'परप्रवर्त्तकवाच एवोपदेशत्वात्' ग । 9. 'अयमंशः' ग-पुस्तके नास्ति ।

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वक्ति ।

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । एष च—

(४१) (A)कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

च तत्रेति समीचीनः पाठः, यत्रेति पाठे तु तत्रेति पूरणीयम् । परं सुखितश्चेति [1]द्वयं क्रियाविशेषणम् । विपरीतेति उपकृतपदस्य [2]अपकृते सुजनतापदस्य दुर्ज्जनत्वे सुखितपदस्य च [3]दुःखिते [4]विपरीते लक्षणलक्षणयेत्यर्थः । वैपरीत्यमेव च शक्य-लक्ष्ययोः सम्बन्धः । पूर्व्वद्वये बोद्धव्यपुरुषस्य अपकर्त्तुः कौटिल्यम्, तृतीये च दुःखित-त्वस्य कौटिल्यफलत्वं व्यङ्ग्यम् । त्रिष्वेव लक्ष्यार्थस्यातिशयो व्यङ्ग्य इति तु [5]दर्पणकृत् ।

बहुप्रभेदं विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमाह—विवक्षितञ्चेति । यत्र ध्वनौ । व्यङ्ग्यनिष्ठमिति व्यङ्ग्ये निष्ठा बुबोधयिषापर्य्याप्तिर्यस्येति विग्रहः ।

तस्य [6]विभागं चिकीर्षुरादौ द्वैविध्यमाह—कोऽपीति । एष च इति तु तदुत्था-पिका [7]वृत्तिः । (B)वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्योऽपरिच्छेयो यस्य

(A) साहित्यदर्पणे "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः" इति विशेषः ।

(B) वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्य इति । अयमत्र टीकाकृतामाशयः—विभावाद्यतिरिक्तवाच्यार्थबोधस्य व्यङ्ग्यरसादिबोधस्य च क्रमो यद्यपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थल इव सुग्रहस्तथाऽपि विभावानुभावयोः क्वचिद् व्यभिचारिणश्च वाच्यतया तेषामेकतरज्ञानेन झटिति तदितरोपस्थितिसम्भवात् तदुत्तरक्षण एव रसबोधो भवतीति विभावादिवाच्यार्थबोधरसादिव्यङ्ग्यबोध-क्रमस्यालक्ष्यतायामतिशीघ्रत्वमेव हेतुरिति । न त्वेतावता वाच्यार्थमात्रबोधस्य रसादिव्यङ्ग्यबोधस्य च क्रमः सर्व्वत्र दुर्लक्ष इति भ्रमः कार्य्यः । अत एव टीकाकृतोक्तम्—अन्येषां केवलानां प्रतीतौ विलम्बेनान्याक्षेपादिति । तथा दर्पणेऽपि—

'सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते' ॥ इति ।

अन्यत्र च 'अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्तूत्पल-

---

1. 'पदद्वयं' ग । 2. 'अपकृतत्वे' ग । 3. 'दुःखितत्वे' ग । 4. 'विपरीतलक्षणयेतार्थः' ग । 5. 'दर्पणे तत्रानुभवविरुद्धम्' ख-ग । 6. 'विभक्तविभागं' क-ख । 7. 'इतिरिव' ग ।

अलक्ष्येति। न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः(A)। स तु लाघवान्न लक्ष्यते। तत्र—

तादृशं व्यङ्ग्यं यस्येति बहुव्रीहिद्वयेन कोऽपि ध्वनिस्तादृश इत्यर्थः। **परः** तदन्यस्तु लक्षणीयव्यङ्ग्यबोधक्रम इत्यर्थः। तत्राद्यो रसभावादिध्वनिर्वक्ष्यते, (B)रसादेरत्यन्ताकर्षकत्वेन शीघ्रबोधाद् (C)वाच्यबोधसमकालमेव व्यङ्ग्यबोध इति भ्रमोदयात्। ननु रत्यादिस्थायि[1]भावानां कारणानि विभावाः कार्य्याण्यनुभावाः कार्य्यविशेषाश्च सहकारिणो वक्ष्यन्ते, [2]काव्ये च त एव वाच्या अपि व्यङ्ग्यरत्यादिबोधे भासमानतया प्रपाणकरसन्यायेन चर्व्यमाणा रसतामापद्यन्ते इति वक्ष्यते[2]*। तथाच ये विभावादयो वाच्यास्त एव व्यङ्ग्यरसशरीरमिति वाच्यविभावादि-व्यङ्ग्यरसयोर्भेदाभावाद् [3]वाच्य-व्यङ्ग्यबोधक्रम एव नास्तीति [4]कुतोऽलक्ष्यत्वमिति भ्रान्तशङ्कां निरस्यन्नाह—**न खल्विति**। एवकारात् तन्मात्रस्य रसत्वव्यवच्छेदः, किन्तु (D)तन्मात्रस्य वाच्यत्वं (E)तद्विशिष्टस्य रत्यादेर्व्यङ्ग्यस्य रसत्वमित्याह—**अपि तु रसस्तैरिति**, शाब्द-

---

शतपत्रभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते' इति। न खल्वित्यादिवृत्तिग्रन्थेऽपि विभावादिबोधरसादिव्यङ्ग्य-बोधयोः क्रमाभावशङ्कापरीहाराभ्यां स्पष्टोऽयमर्थः इति।

(A) अस्ति क्रम इति। विभावादिबोधस्य कारणतया पूर्व्ववर्त्तित्वं रसादिबोधस्य च कार्य्यतया उत्तरवर्त्तित्वं तयोः कार्य्यकारणभावानुरोधेन सिद्धमेव कारणत्वस्य कार्य्याव्यवहितप्राक्क्षणघटितत्वात्, तथा चक्षणमात्रकालस्यातिसूक्ष्मतया रसादिव्यङ्ग्यस्यासंलक्ष्यक्रमत्वकथनं युक्तमेवेति हृदयम्।

(B) रसभावादिध्वनेरसंलक्ष्यक्रमतायां हेतुमाह—रसादेरिति। रसादीनामत्यन्ताकर्षकत्वञ्च मनसो विषयान्तरपराङ्मुखीकरणेन झटिति अन्यसमाक्षेपे उपयुज्यत इति बोध्यम्।

(C) रसादिव्यङ्ग्यक्रमस्यालक्ष्यतायां हेतुः शीघ्रत्वम्, तत्र ज्ञापकमाह—वाच्यबोधसमकालमेव व्यङ्ग्यबोध इति भ्रमोदयादिति।

(D) तन्मात्रस्येति। प्रायशो विभावानुभावयोः क्वचिद् व्यभिचारिणश्चेत्यर्थः।

(E) तद्विशिष्टस्येति। तथाच—'न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस' इति वृत्तिग्रन्थे विभावादीनां यद् रसत्वमुक्तं तत् समूहालम्बनात्मकरसबोधे विशेषणविधया नियतविषय-

---

1. -भावस्य' क। 2. 'ते च काव्ये वाच्या अपि प्रपाणकरसन्यायेन रसबोधविषयतया रसा वक्ष्यन्ते' ख। काव्ये 'वाच्यास्त एव व्यङ्ग्यरत्यादिबोधे भासमानतया प्रपाणकरसन्यायेन रत्यादिज्ञाने विषयीभूता रसता-' ग। 3. 'वाच्यबोधक्रम-' ग। 4. 'कथं तदपरिचयः' ग।

(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥

आदिग्रहणाद्भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानि । प्रधानतया

बोधविषयैस्तै रसो निष्पाद्यते ज्ञायते चेत्यर्थः । तथाच [1]वाच्यविभावादेर्भेदो बोधक्रमश्चास्तीत्याह—**इत्यस्ति क्रम** इति । तदुक्तं दर्पणे—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः सम्वलितः सर्व्वो विभावादिः सचेतसाम् ।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥ इति । (३य प०)

लाघवादिति शीघ्रोपस्थितिकत्वादित्यर्थः ।

अलक्ष्यक्रमान् व्यङ्ग्यान् दर्शयति—**तत्रेति** । तदाभासेत्यत्र तत्पदेन रसभावयोर्द्वयोरपि परामर्शः । **अक्रमः** अलक्ष्यक्रमः । [2]**भिन्नो रसादीति** पराङ्गत्वे सति रसादय एवालङ्कारा वक्ष्यन्ते(A), तादृशालङ्काराद्भिन्नः परानङ्गत्वेन अलङ्कार्य[3]तया स्थितो यः स एव काव्यस्य ध्वनित्वनिर्व्वाहकोऽक्रम इत्यर्थः । पराङ्गभूतो [4]रसादिस्तु अक्रमत्वेऽपि[1]* काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वनिर्व्वाहक [5]एवेति **भिन्न** इत्यादिना तद्व्यवच्छेदः कृतः[2]* । **आदिग्रहणादिति** भावशान्त्यादिरित्यादिग्रहणादित्यर्थः । भावोदयादि-

---

त्वेनास्वाद्यमानत्वेन च साधर्म्येण गौणम्, मुख्यं रसत्वन्तु व्यञ्जनदशापन्नानां स्थायिभावानामेवेति "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" इति ग्रन्थकृतोऽन्येषाञ्च लक्षणैः स्फुटमवगम्यते इति भावः ।

(A) वक्ष्यन्त इति । अत्रैव "यत्राङ्गभूतो रसादिः" इत्यादिना तथा पञ्चमोल्लासे "एते च रसवदाद्यलङ्कारा" इत्यनेन गुणीभूतरसादीनामलङ्कारत्वं वृत्तौ स्वीकृतम्, कारिकायान्तु रसवदाद्यलङ्काराणां लक्षणं नोक्तमेव । एवञ्च भिन्नो रसाद्यलङ्कारादित्युक्तिः अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीतिन्यायेन परसम्मतं तत्लक्षणमङ्गीकृत्यैवेति बोध्यम् ।

---

1. 'वाच्यविभावादिव्यङ्ग्यरसयोः' ख, 'विभावादिव्यङ्ग्यरसयोः' ग । 2. 'रसादेरपराङ्गत्वे तेषां रसवदाद्यलङ्कारत्वं वक्ष्यते, तथात्वे च तेषां काव्यस्य ध्वनित्वनिर्व्वाहकत्वं नास्तीत्यतस्तानलङ्कारभूतानक्रमान् ध्वनित्वनिर्व्वाहकालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतो बहिर्भावयति भिन्नो रसादीति । अलङ्कारभिन्नो यः परानङ्गत्वादलङ्कार्य्यतया स्थितः स एव काव्यस्य ध्वनित्वनिर्व्वाहकाक्रमोऽत्र दर्श्यते इत्यर्थः' ख । 3. 'तयैव' ग । 4. 'रसादिरसंलक्ष्यक्रमोऽपि' ग । 5. 'एव न तु ध्वनित्वनिर्व्वाहक इति' ग ।

यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः; यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु—प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये—रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते।

तत्र रसस्वरूपमाह—

(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥ २७ ॥

लक्षणं तदुदाहरणावसरे वक्ष्यते। अलङ्कार्य्यतयेत्यत्र(A) अलङ्कारयोग्यतैव विवक्षितेत्याह—**प्रधानतये**ति। परानङ्गत्वमेव प्राधान्यं सैव चालङ्कारयोग्यतेति भावः[1]। काव्यस्य तु सर्व्वत्र सालङ्कारत्वं वैचित्र्यमात्रसत्त्वादिति प्रागेव दर्शितम्। **यथोदाहरिष्यत** इति। शून्यं वासगृहमित्यादिकं तद् बोध्यम्। पराङ्गत्वे तु तस्य अलङ्कारत्वमेव नालङ्कार्य्यत्वमित्याह—**अन्यत्र त्विति** 'वाक्यार्थे' रसादिरूपे; रसस्याङ्गत्वे रसवान्, भावस्याङ्गत्वे प्रेयान् आभासस्याङ्गत्वे ऊर्जस्वी, भावशान्त्यादेरङ्गत्वे समाहितं नाम अलङ्कार इत्यर्थः। **गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधान** इति अपराङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य अभिधाने कृते सतीत्यर्थः, एते च रसवदाद्यलङ्कारा इति [2]तदुत्तरं वक्ष्यमाणत्वात्।

'रसस्वरूपं' रसलक्षणम्। तत्र विभावाद्यैर्व्यक्तः स्थायिभावो रस इति रसलक्षणं कर्त्तुं विभावादि[3]परिभाषां ग्राहयति—**कारणानीत्यादिना व्यभिचारिण** इत्यन्तेन। अन्यत्र सहकारिपदं कारणान्तरपरम्, अत्र तु रत्यादेः कार्य्यविशेषपरमेव; रत्यादिस्वकारणव्यञ्जने शीघ्रकारितारूपात् सहभावात् तथा व्यपदेशः। तानि च निर्व्वेदादयस्त्रयस्त्रिंशद्भावा वक्ष्यन्ते। **रत्यादेरिति**—

(A) अलङ्कार्य्यतयेत्यस्य अलङ्कारविशिष्टतयेत्यर्थकत्वे निरलङ्कारस्य रसादेरक्षमत्वं नास्तीत्याशङ्का स्यात् तदपाकरणार्थं व्याचष्टे—अलङ्कारयोग्यतेति।

---

1. अतः परं ग-पुस्तके दृश्यमानः—"प्राधान्यञ्च परानङ्गत्वे सति अग्राम्यत्वम्, तेन स्वपिति यावदयमित्यादौ च ग्राम्यरसस्य परानङ्गत्वेऽपि नालङ्कार्य्यत्वमित्यतस्तस्य न काव्यत्वम्। एतेन सर्व्वत्र सालङ्कारावित्यनेनालङ्कारयोग्यतैव काव्यत्वघटिकेति प्रकाशितम्। तेन निःशेषच्युतचन्दनमित्यादिष्वलङ्काराभावेऽपि तद्योग्यतया काव्यत्वमिति मन्तव्यम्" इत्यंशः टिप्पनीति प्रतिभाति। 2. 'तदभिधानोत्तरं' ग। 3. 'परिभाषामादौ' ग।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
(A)व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥

---

[1]रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः॥

इति वक्ष्यमाणस्थायिभावानामित्यर्थः[1]*। एवञ्च स्थायिनः स्थायिपरिभाषितस्य रत्यादेर्यानि कारणानि (B)आलम्बनोद्दीपनरूपविशेषाः, यानि च कार्य्याणि गणयिष्यमाणत्रयस्त्रिंशत्कार्य्यभिन्नकार्य्यसामान्यम्, यानि च सहकारीणि निर्व्वेदादयस्त्रयस्त्रिंशत्कार्य्यविशेषा लोके नाट्यकाव्यभिन्नलोकव्यवहारे कारणादितयैव श्रूयन्ते इति शेषः तानि चेन्नाट्यकाव्ययोर्व्यवह्रियन्ते इति शेषः, तदा यथासङ्ख्यं (C)विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च कथ्यन्त इत्यर्थः[2]। व्यभिचारिणां सञ्चारिपरिभाषाऽपि दोषोल्लासे व्यक्तीभविष्यति। अत्र च रत्यादेरित्युक्त्यैव निर्व्वाहे स्थायिन इति यदुक्तं तेन रसान्तरस्थायिभावस्य रसान्तरे स्थायिभावत्वं नास्ति किन्तु (D)व्यभिचारित्व-

---

(A) "व्यक्तः व्यक्तिविषयीकृतः, व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्" इति रसगङ्गाधरकाराः। अत्र "सूत्रे 'तैः' इत्यनेनैव विभावादिप्राप्तौ विभावाद्यैरिति सहार्थे तृतीया, तेन विभावाद्यैः सह तैर्व्यक्तः इत्यर्थाद् रसस्य समूहालम्बनरूपतालाभः" इति प्रदीपोद्द्योतः। "तैरिति सहार्थे तृतीया, विभावादिभिर्व्यक्तः तैर्विभावादिभिः सहेति समूहालम्बनरूपता" इति परमानन्दचक्रवर्त्ती।

(B) आलम्बनोद्दीपनरूपेति। प्रदीपकारैस्तु उद्दीपनस्य कारणत्वे "यद्यप्युद्दीपकस्य स्थायिनि न कारणत्वम्, किन्तूत्पन्ने तस्मिन् ईषदुत्कर्षाधायकत्वरूपमुद्दीपकत्वम्, तथाऽप्यनुद्दीपितोऽजातप्राय एवेत्युद्दीपकेऽपि कारकत्वोपचारात् तत्रापि विभावव्यवहारः" इत्युक्तम्।

(C) विभावा इत्यादि। विभावादिशब्दानां व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता प्रदीपकारैः—विभावादिसंज्ञा च विभावनादिव्यापारयोगात्। तद् यथा—वासनारूपतया स्थितान् रत्यादीन् स्थायिनो विभावयन्ति रसास्वादाङ्कुरयोग्यतां नयन्तीति विभावाः, अनुभावयन्ति च तानित्यनुभावाः, पोषकतया विशेषेण अभितः काव्ये स्थायिनं चारयन्ति विशेषेणाभिमुख्येन चरन्तीति वा व्यभिचारिणः' इति।

(D) व्यभिचारित्वमिति। तथाच साहित्यदर्पणे—'रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः' इति।

---

1. 'रतिर्हासश्च शोकश्च' इत्यादिना येऽष्टौ स्थायिभावा वक्ष्यन्ते यश्च शान्तिरसस्थायिभावत्वेन निर्व्वेदोऽपि वक्ष्यते तेषामित्यर्थः' ग। 2. "इत्यर्थः" एतदनन्तरं क-ग-पुस्तकयोः "तथाच कारणानि विभावाः कार्य्याण्यनुभावाः सहकारीणि च व्यभिचारिणः उच्यन्ते इत्यर्थः" इत्यंशोऽधिको दृश्यते, स च पूर्व्ववाक्यस्य टिप्पनीति प्रतिभाति।

उक्तं हि भरतेन—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति"रिति।

(नाट्यशास्त्रम् ६अः)।

एतद्विवृण्वते—विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै-रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः

मेवेति ज्ञापितम्। एवञ्च हासक्रोधयोः शृङ्गारे तथात्वम्, एवमन्येषामप्यन्यत्र। एवं व्यभिचारिभावानामपि व्यभिचारिभावध्वनौ स्थायिभावत्वं सूचितम्। (A)अग्रे च तद्द्वयमपि दर्शयिष्यामः।

इत्थं परिभाषां ग्राहयित्वा तद्घटितं रसलक्षणमाह—**व्यक्तः स तैरिति,** नाट्यकाव्ययोर्ज्ञातैः **तैः** विभावाद्यैः **व्यक्तः** ज्ञातः सन् **स स्थायी भावः** रत्यादिः रस इत्यर्थः। ज्ञातत्वञ्च (B)क्वचिन्मते व्यञ्जनया, क्वचिन्मते अनुमानानन्तरं साक्षात्-कारेण, क्वचिन्मते त्वनुमाननिरपेक्षेण साक्षात्कारेण, क्वचिन्मते तु व्यञ्जनानन्तरं साक्षात्कारेणेति तत्र तत्र मते व्यक्तीभविष्यति। **भरतेनेति** भरतप्रणीतनाट्यशास्त्र इत्यर्थः। अत एव तस्य प्रकृतग्रन्थत्वाभावाद ग्रन्थकृतेति नोक्तम्। **संयोगा-दिति** एकज्ञानविषयीभावरूपान्मिलनादित्यर्थः, मिलितैरेव तै रसबोधजननस्य वक्ष्यमाणत्वात्। **विवृण्वत** इति भट्टलोल्लटप्रभृतय इत्यग्रेऽन्वयः। विवरणञ्च न लक्षणार्थस्य किन्तु विभावादिभि[1]र्ज्ञापनप्रकारस्यैवेति बोध्यम्। तत्र विभावादिभि-र्व्यज्यमानत्वमुपपादयितुं विभावादीनां तेषु सम्बन्धं ग्राहयति—**विभावैरिति।** 'ललना' आलम्बनरूपं कारणम्, नायकानुरागात्मनो रतेस्तामवलम्ब्यैवोत्पत्तेः; नायिकारतौ तु नायक आलम्बनम्, 'उद्यानादि'रुद्दीपनं कारणम्, जायमानाया रतिधारायास्तेनोत्तरोत्तरमुद्दीपनात्; ललनोद्यानाद्यैर्यथासङ्ख्यमालम्बनोद्दीपनान्वयः। **जनित** इत्यत्र च भवतीति शेषः, [2]कार्य्यकारणत्वरूपसम्बन्धप्रदर्शने जननातीतत्व-

---

(A) "अग्रे" व्यभिचारिभावलक्षणानन्तरम्। तत्र निर्वेदस्य स्थायित्वमप्युक्तं न तु सर्व्वेषा-मित्यवगन्तव्यम्।

(B) क्वचिदिति। भट्टलोल्लटादीनां मते केवलव्यञ्जनया, श्रीशङ्कुकमते अनुमानानन्तरं साक्षात्कारेण, भट्टनायकमते अनुमाननिरपेक्षसाक्षात्कारेण, आचार्य्याभिनवगुप्तानां मते व्यञ्जना-नन्तरं साक्षात्कारेणेत्यर्थः।

---

1. '-ज्ञान-' ग। 2. ग-पुस्तके 'कार्य्यपदं' नास्ति।

प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः(A)।

प्रदर्शनानौचित्यात्। कटाक्षभुजाक्षेपावत्र नायकस्यैव ललनालम्बनप्रदर्शनेनात्र नायकरतेरेवोपक्रान्तत्वात्, ललनाकटाक्षादेश्च तदकार्य्यत्वात्। भुजस्य तत्प्राप्त्यनुकूलचेष्टैवाक्षेपः। अत्रापि 'कृत' इत्यत्र भवतीति शेषः। कार्य्यकारणभावसम्बन्धेन पूर्व्वत्र (B)कारणस्य [1]कार्य्यज्ञापकत्वम्, इह तु (C)कार्य्यस्य कारणरत्यादिज्ञापकत्वमुक्तम्। **निर्व्वेदादिभि**रिति वक्ष्यमाणैस्त्रयस्त्रिंशता कार्य्यविशेषैरित्यर्थः। अत्रापि उपचितो भवतीति शेषः, उपचयश्च शीघ्रप्रत्यायनमेव। न चैवमेषामन्यापेक्षया शीघ्रप्रत्यायकत्वे मिलितानामेव रत्यादिप्रत्यायकत्वमिति वक्ष्यमाणसिद्धान्तः कथमुपपत्स्यते इति वाच्यम् एषामेकैकस्य प्रतीतौ योऽन्यतमद्वयाक्षेपो वक्ष्यते तस्य शीघ्रत्वेन रत्यादेरपि शीघ्रप्रत्यायनात्, (D)अन्येषान्तु केवलानां [2]प्रतीतौ [3]विलम्बेनान्याक्षेपात् रत्यादिबोधेऽपि विलम्बात्[3]*। नास्याभिप्रायेणाह—**मुख्यये**ति वास्तव्येत्यर्थः।

(A) प्रदीपे तु "स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपाद् अनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद् व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावरूपात् संयोगात् सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिः उत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः। (तथाच एतन्मते भरतसूत्रस्थनिष्पत्तिपदं उत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिरिति त्रितयपरमिति भावः)।···रामादावनुकार्य्ये रसः नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां साश्चर्य्यानुभवश्चमत्कारहेतुः" इति भट्टलोल्लटमतं व्याख्याय "तदपेशलम्, सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः शाब्दतज्ज्ञानेऽपि तदापत्तेः, लौकिकशृङ्गारादिदर्शनेनापि चमत्कारप्रसङ्गात्। न चानुभावादिविज्ञानबलादायात आरोपस्तथा न तु साक्षात्कारमात्रमिति वाच्यं चन्दनसुखादौ वैपरीत्यदर्शनात्, अन्यथैवोपपत्त्या तादृशकल्पनायां मानाभावाच्च" इति तत्र दूषणमुक्तम्।

(B) कारणस्येति ललनोद्यानादेरित्यर्थः।

(C) कार्य्यस्येति कटाक्षभुजाक्षेपादेरित्यर्थः।

(D) अन्येषामिति। 'अन्येषां' विभावादित्रयभिन्नानाम्, केवलानाम्, विभावादिसमभि-

---

1. "कार्य्यरत्यादिप्रत्यायकत्वम्" ख। 2. 'प्रतीतानामन्यतमद्वयाक्षेपे विलम्बात्' ग। 3. 'विलम्बेनाप्यन्यद्वयाक्षेपकत्वेन तथाभावात्' ख।

राम एवायम् अयमेव राम इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वायमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्र-तुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

'नर्त्तके' अनुकारके। काव्ये तु रामादावेवेति बोध्यम्। 'प्रतीयमानः' व्यज्यमानः। इत्थं व्यञ्जनया रामादौ सामाजिकैः प्रतीयमानो रत्यादी रस इत्युक्तम्; रामः सीता-विषयकरतिमानित्याकारकज्ञानसम्बन्धेन सामाजिकवृत्तित्वादेव सामाजिका रसवन्तः[1]।

अत्र मते व्यञ्जनाधीनज्ञानस्यास्वादरूपत्वं नास्ति साक्षात्कारस्यैव तथात्वादिति दूषणमवेक्ष्य तस्य साक्षात्कारत्वमुपपादयितुः श्रीशङ्कुकस्य मतमाह—राम एवाय-मिति। अत्र मते रामत्वेनाहार्य्यज्ञाते(A) नटे, काव्ये तु राम एव प्रथमं विभावादिभी रत्याद्यनुमानम्, ततस्तदनुमानोद्बोधितया सामाजिकानां (B)वासनात्मिकया प्रत्यासत्त्या साक्षात्कारतो रामादिरत्यादी रस इति निष्कर्षः। तत्र नास्याभिप्रायेण पक्षभूत-

---

व्याहारशून्यानाम्, प्रतीतौ विलम्बेन प्रकरणाद्यनुसन्धानकृतेनेति शेषः, अन्येषां विभावादि-त्रयभिन्नभिन्नानां विभावादीनाम् आक्षेपादित्यर्थः।

(A) विरोधिनिश्चयदशायामिच्छाप्रयोज्यं ज्ञानम् आहार्य्यज्ञानमित्युच्यते, रामभिन्नत्वेन ज्ञाते नटे "रामोऽयम्" इति ज्ञानमिच्छयैव सम्भवतीति तादृशज्ञानस्याहार्य्यत्वमुपपद्यते इति बोध्यम्।

(B) वासनेत्यादि। अत्र वासना रत्यादेः सूक्ष्मावस्थाविशेषः। अनुमानोद्बुद्धा च वासना रत्यादिस्मृतिरूपतया पर्य्यवस्यति। तथाच ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरेतेनोक्ता। अत एव साक्षात्-कारपदमप्यत्र प्रत्यक्षमात्रपरम्, न तु लौकिकप्रत्यक्षपरम्, तत्कारणानां षड्विधलौकिकसन्निकर्षाणां परकीयरत्यादावसम्भवात्, ज्ञानलक्षणसन्निकर्षस्य तु अलौकिकसन्निकर्षमध्ये गणनेन तत्-कार्य्यस्याप्यलौकिकत्वौचित्यात्। 'निष्कर्ष' इति। तथाच भट्टलोल्लटमते रसस्याश्रयो रामादि-रनुकार्य्यः, तत्प्रतीतिकारणं व्यञ्जनावृत्तिः, तदधीनप्रतीतिदशायामेव रत्यादे रसत्वात्; रसांशे विशेषणीभूतप्रतीतिसम्बन्ध एव रसवत्ताव्यवहारनियामक इति सामाजिका रसवन्त उच्यन्ते। श्रीशङ्कुकमते तु अभिनयस्थले नटादयोऽभिनेतारः काव्ये तु रामादय एव रसस्याश्रयः, तत्प्रतीति-कारणं न व्यञ्जना किन्त्वनुमानोद्बुद्धवासनेति विशेष इति बोध्यम्।

---

१. 'अतः परं क-पुस्तके 'एवमुत्तरमतेष्वपी'त्यधिकः पाठः।

सेयं ममाङ्गेषु (A)सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥२५॥
दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥ २६ ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभि-

---

नटज्ञानाकारमाह—**राम एवेति**। चित्रलिखिते तुरगे यथा तुरगोऽयमित्याहार्य्य-प्रतीतिस्तथाभूतया रामोऽयमित्याहार्य्यप्रतीत्या **ग्राह्ये नटे पक्षे, विभावादि-शब्दव्यपदेश्यैः कारणकार्य्यसहकारिभिः** हेतुभिः, **अनुमीयमानो** रामादि-रत्यादिः **सामाजिकानां वासनया** प्रत्यासरया कारणभूतया **चर्व्यमाणः** साक्षात्क्रियमाणो **रस** इत्यन्वयः। तत्र रामत्वेन नटज्ञानस्य सम्यगादिज्ञानचतुष्टयभिन्न-त्वेन आहार्य्यरूपतां परिशेषयन्नाह—**सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणयेति**। तत्र सावधारणसम्यग्ज्ञानद्वयाकारमाह—**राम एवाय-मिति** 'अत्र रामत्वायोगो नास्ति'इति 'रामत्वायोगरहितोऽय'मिति वा प्रथम-स्यार्थः(B)। 'एतदन्यो न रामः'(C), इति 'एतदन्यसामान्यनिष्ठभेदप्रतियोगिरामा-भिन्नोऽय'मिति वा द्वितीयस्यार्थः। एतद्द्वयमुपलक्षणम्, अयं राम इत्यनवधारणात्मकस्य सम्यग्ज्ञानस्यापि सम्भवात् ततोऽपि वैलक्षण्यं बोध्यम्। बाधानवतारदशायाम् अरामे रामत्वेन ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्, तदाकारमाह—**रामोऽयमिति**, ईदृशे तु औत्तरकालिके बाधे भाविनि तत्पूर्वं रामोऽयमितीत्यर्थः। **संशयाकारमाह—रामः स्याद्वेति**। सादृश्यप्रतीत्याकारमाह—**रामसदृशोऽयमिति**। आभ्यः प्रतीतिभ्यो विलक्षणयेत्यर्थः।

(A) सुधारसस्य छटा तरङ्गपरम्परेत्यर्थः।

(B) अत्र रामपदसङ्गतस्यैवकारस्य अयोगव्यवच्छेदार्थकतया ईदृशोऽन्वयबोध इति ज्ञेयम्, तत्रापि असति बाधके प्रथमान्तपदार्थो मुख्यविशेष्यतया भासते इति नियमानुसारेण रामत्वायोग-रहितोऽयमिति द्वितीयः कल्पः। एवमुत्तरत्रापि।

(C) अत्रायम्पदसङ्गतस्यैवकारस्य अन्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थ इति एतदन्यस्मिन् रामत्व-योगाभाव इति द्वितीयस्य पर्य्यवसितार्थः।

मन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद्

अनुमातृसामाजिकानां विभावादिज्ञानोपायमाह—**नटेनैवेति**। काव्ये तु वास्तव एव रामे (A)शाब्दैर्विभावादिभिरित्यर्थः। नटेनापि प्रकाशनस्योपायमाह—**शिक्षेति**। गुरूपदेशः शिक्षा, पौनःपुन्येन प्रवृत्त्या दृढतरः संस्कारोऽभ्यासः, ताभ्यां निर्व्वर्त्तितस्य निष्पादितस्य स्वकार्य्यस्य अभिनयस्य प्रकटनेन प्रकाशनेन चेत्यर्थः। तत्प्रकाशनेऽभिनेयार्थज्ञापकं काव्यानुसन्धानमपि हेतुरित्यतस्तत्समुच्चयबोधकश्चकारः। अनुसन्धेयं काव्यद्वयमाह—**सेयमिति दैवादहमिति** च। तत्राद्यं सम्भोगशृङ्गारनाख्ये, द्वितीयं विप्रलम्भनाख्ये। तत्र आद्यार्थो यथा—अदर्शने या तत्तद्दुःखं दत्तवती सेयं सीता मम रामस्य मनसः सकाशात् लोचनगोचरं गता प्राप्ता, गोचरमिति भावप्रधाननिर्देशाद् गोचरत्वमित्यर्थः। पूर्वं मनोगोचर एवासीदधुना तु लोचनस्यापि गोचरोऽभूदित्यर्थः। सा कीदृशी? बहुष्वेवाङ्गेषु सुधारसस्य छटा कणावृष्टिः, तथा दृशोः शोभनः पूरः समूहो यस्य तादृशस्य कर्पूरस्य शलाकिका स्वल्पशलाका तादृश्या शलाकया दृशि कर्पूरदानेन दृक्प्रीणनात्, तथा दुष्प्रापविषयेच्छा मनोरथः तस्य विषयप्रातिरूपा श्रीः शरीरिणी। केचित्तु मनसो मनोरथश्रीरित्यन्वयमाहुः। अन्ये तु मनसः शरीरिणी मनोनिर्म्मितशरीरवतीत्यन्वयमाहुः, तद्द्वयमपि मनस इत्यस्य वैयर्थ्यापातादुपेक्षितम्। द्वितीयश्लोकार्थस्तु स्पष्ट एव। तत्र "तया" सीतया। अविरलो विलोलो जलदो यत्र तादृशः वर्षाकाल इत्यर्थः। इत्यादि—काव्यस्य नटेन यदनुसन्धानं तद्बलादित्यर्थः, अभिनेयार्थज्ञाने सत्येव अभिनयसम्भवात्। ननु कृत्रिमत्वेन सीतादिज्ञाने कथं तद्विषय[1]रामरत्यादिज्ञानमित्यत आह—**कृत्रिमैरिति**। यद्यपि कृत्रिमत्वज्ञानस्यानुभवसिद्धस्य दुरपह्नवत्वेन अनभिमानासम्भव एव तथाऽपि अकृत्रिमत्वेनाभिमन्यमानैरिति नञव्यत्यासेनात्रान्वयः कृत्रिमत्वज्ञानसत्त्वेऽप्याहार्य्याकृत्रिमत्वज्ञानसम्भवात्। सूत्रे संयोगादित्यस्य मिलनं(B) गम्यगमकभावश्चार्थ

(A) शाब्दैरिति। शब्देनोपस्थापितैरित्यर्थः शून्यं वासगृहमित्यादौ नायिकादीनां शब्दादेवोपस्थितेरिति बोध्यम्।

(B) मिलनमिति। अयम्भावः—विभावादीनां रसान्तरसाधारणतया व्यभिचारेण प्रत्येकं तेषां रत्याद्यनुमापकत्वं न सम्भवतीति मिलितानामेव तथात्वं वाच्यम्, तथाच व्याप्तिपर्य्यवसितस्य गम्यगमकभावस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तदुपस्थापकेन संयोगपदेन स्मारितस्य मिलनरूपार्थस्य विशेषणविधया विभावानुभावव्यभिचारिष्वपि अन्वये तात्पर्य्यमनुसन्धेयमिति।

1. '-रामादिरत्याद्यनुमान-' ग।

अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामा-

---

इत्यभिप्रायेणाह—गम्यगमकेति। 'गम्यगमकभावः' व्याप्तिः। तथाच अयं रामः सीतादिविषय(क)रतिमान् सीतादिविभावादिमत्त्वादित्यनुमानम्(A); तद्विद्वत्तादिरत्र मतुबर्थः (?)। एवमनुमितस्य रत्यादेर्वासनया प्रत्यासत्त्या साक्षात्कारे (B) वह्न्यादेरप्यनुमितस्य साक्षात्कारापत्तिं परिहरति—**वस्तुसौन्दर्य्ये**ति, तदेव च अन्यानुमीयमानवैलक्षण्यम्। बाधसिद्धसाधनपरिहारार्थं(C) पक्षताघटकसंशयसत्त्वं दर्शयति—**स्थायित्वेने**ति पक्षस्थायित्वेनेत्यर्थः। **तत्रे**ति नटे सामाजिके(D) चेत्यर्थः। (E)असत-

---

(A) प्रदीपोद्योते तु रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् सीताद्यात्मकविभावादिसम्बन्धित्वात् सीतादिविषयककटाक्षादिमत्त्वाद् वा यन्नैवं तन्नैवं यथाहमिति प्रयोगो दर्शितः। अत्र हेतुद्वयोपन्यासेन एतन्मते विभावादीनां प्रत्येकमनुमापकत्वमवसीयते।

(B) साक्षात्कार इति, साक्षात्कारेण रसनीयत्वे इति फलितार्थः। एवमुत्तरत्रापि।

(C) परिहारार्थमिति। अयमत्र प्राचामभिप्रायः, पक्षे साध्यस्य तदभावस्य वा निश्चये अनुमितिर्न भवतीति सर्व्वेषामनुभवस्तदर्थमनुमितिं प्रति तदुभयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया तदुभयासत्त्वदशायामेव सम्भावितसत्त्वस्य पक्षे साध्यसंशयस्य अनुमितौ कारणत्वं लाघवेन कल्पनीयं स एव च पक्षतेति।

(D) सामाजिक इति। एतेन रसप्रकृतिभूताया रत्यादिव्यक्तेरेव नटसामाजिकयोरसत्त्वमुक्तमित्यवगन्तव्यं न तु रत्यादिस्थायिभावमात्रस्य, तेन सामाजिके रत्यादिवासनास्वीकारेण रतेरपि तत्र स्वीकार आवश्यक इति ग्रन्थविरोधो नाशङ्कनीयः।

(E) असत इति। असदित्यस्य विशिष्टेन रूपेण क्वचिदप्यनवस्थितमित्यर्थः, भ्रमविषय इति तु तत्त्वम्। नत्वसत्पदमत्र अलीकपरं अलीकस्य ज्ञानासम्भवेन तद्धर्म्मिकेष्टसाधनताज्ञानस्याप्यसम्भवात् तदधीनाया इच्छाया अपि अलीकविषयकत्वासम्भवेन तत्र तस्या दृष्टान्तत्वेनोपन्यासानौचित्यात्। विशिष्टरूपेणासतश्च 'कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयपेशलेन्द्रनीलरचितक्रीडाशैल'वत् ज्ञानविषयत्वमिच्छाविषयत्वञ्चोपपद्यत एव। वासनापक्षे तु यद्यपि स्वीयरतिवासनया परकीयरतेर्न सम्बन्धः परकीयरतिवासनायास्तु न सामाजिकवृत्तित्वमिति उद्बोधिताया अपि तस्याः परकीयरतौ साक्षात्सन्निकर्षत्वासम्भवो दोषस्तथाऽपि स्वविषयरतित्वादिरूपः सम्बन्धोऽस्त्येव। तथाच स्मृतिपर्य्यवसिताया उद्बुद्धवासनायाः सजातीयरत्यादिविषयीकरणं स्वभाव इति निर्गलितोऽर्थः। परकीयरतेः स्वसामानाधिकरण्येन ज्ञाने तत्र भ्रमविषयत्वनियमेन इच्छाया अत्र दृष्टान्तत्वमपि साधु सङ्गच्छते इति सुधीभिर्विभावनीयम्।

जिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः ।

न(A) ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभि-

ऽप्यर्थस्य विषयीकरणमिच्छाया इव वासनाया अपि स्वभाव इति भावः । तथाच उक्तानुमानतुल्य[1]साक्षात्कार(B)विषयो रत्यादिरत्र मते रस [2]इति निष्कर्षः ।

अस्मिन् श्रीशङ्कुकमते कारणान्तराधीनाया एव(C)वासनारूपप्रत्यासत्तेः स्वीकारः, तस्या-

(A) तटस्थ उदासीनः, प्रकृते रसप्रतीतेरनुकार्य्यरामादीनामनुकर्तृनटादीनां वा सुखादिजननेऽनुपकारकतया रसस्तटस्थः, तद्भावस्ताटस्थ्यं तेन । नटरामादिवृत्तित्वेनेति तु फलितार्थः । न प्रतीयते इत्यादि । अस्य विवरणकारादिकृतं व्याख्यानं बालबोधिन्या उद्ध्रियते— "न प्रतीयते नानुमीयते तदानीं रामादीनामभावेन तद्गत्यादेरप्यभावात्, असतः सत्त्वेनानुमान-प्रमाणाविषयत्वात् ; वस्तुतो रामगतया नटगतत्वेनानुमितयाऽपि रत्या सामाजिकेऽसत्या तच्चमत्-कारजननासम्भवाच्च । नोत्पद्यते न जन्यते विभावादीनां वास्तविकत्वाभावात् । नाभिव्यज्यते न व्यञ्जनया उपस्थाप्यते सिद्धस्यैव तत्सम्भवादिति" । इति विवरणम् । "अभिधात इत्युप-लक्षणम् लक्षणात इत्यपि बोध्यम् ।" इति सारबोधिनी । द्वितीयेन अन्येन । विभावादीति, अन्यसम्बन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणी-करणम्, तदात्मना । "भाव्यमानः साधारणीक्रियमाणः । सत्त्वोद्रेकेत्यादि, सत्त्व गुणस्योद्रेकेण रजस्तमसी अभिभूयाविर्भावेण यः प्रकाशः, स एवानन्दात्मिका संवित् ज्ञानम्, तस्य विश्रान्तिः ज्ञेयान्तरसम्पर्कराहित्येनावस्थानम्" इति विवरणम् । नोत्पद्यत इति । अत्र सामाजिकप्रतीति-विषयताऽऽपन्नरामादिरत्यादी रस इति सिद्धान्ते विशेषणीभूतायाः प्रतीतेः कारणं सामाजिकाः, विशेष्यीभूताया रतेः कारणञ्च रामादिरिति विशिष्टस्य कारणत्वं न कुत्रापि सम्भवतीति कारणासम्भव एव रसानुत्पत्तिबीजमनुसन्धेयम् ।

(B) साक्षात्कार इति । प्रदीपकारास्तु श्रीशङ्कुकमते रत्यादेरनुमानातिरिक्तं साक्षात्कारं नाभ्युपगच्छन्ति । तथाहि "सैव चानुमितिः सचमत्कारप्रतीतिरूपा चर्वणा, अतस्तया विषयी-क्रियमाणः स्थायी रस इत्युच्यते । चर्वणा च सामाजिकानामिति तेष्वेव रस इति व्यवहारः" इति । अत एव तैरत्र मते दूषणमप्युक्तम्—"एतदप्यहृदयग्राहि यतः प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारं नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथा कल्पने मानाभावः ; सूत्रस्यान्यथैव योजन-सम्भवात्" इति ।

(C) वासनारूपप्रत्यासत्तेः स्वीकार इति । अत्र वासना यदि ज्ञानविशेषस्तदा तस्या ज्ञानलक्षणसन्निकर्षत्वं निर्विवादम्, रत्यादिविशिष्टे सामाजिके तस्याः स्थितेरावश्यकत्वेन

1. '-तुल्याकार-'-ग । 2. 'इतीत्रतमत-' ख, 'इति मतमयाख्य' ग ।

व्यज्यते(A), अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः

श्चानुमानादुद्बोध इति गौरवं(B) परिहरतो भट्टनायकस्य मतमाह—**न ताटस्थ्येनेति**। अत्र मते भावकत्वाख्य एको व्यापारः सामाजिके काव्येन नाट्येन च जन्यते, तयैव च प्रत्यासत्त्या रामादिरत्यादिसाक्षात्कार इति निष्कर्षः। भट्टलोल्लटमते परकीयस्य रत्यादेर्व्यञ्जनया बोधः तत्र च स्वावृत्तित्वभानमर्थसिद्धम्, तन्निरस्यति[1] न ताटस्थ्येनेति न स्वावृत्तित्वेनेत्यर्थः। एवञ्च [2]स्ववृत्तित्वपर्य्यवसानमपि निरस्यति—**नात्मगतत्वेनेति**, रसोऽत्र रत्यादिः प्रतीतस्यैव रसत्वात्। रामादिरत्यादौ स्वीयत्वमस्वीयत्वञ्च न गृह्यत(C) इत्यर्थः। काव्यनाट्यज्ञानं विनैव सीतादौ रामादिरत्याद्युत्पत्तेर्द्दृष्टत्वादाह (B) **नोत्पद्यत** इति काव्यनाट्याभ्यां नोत्पद्यते इत्यर्थः, ताभ्यामेव

तदुत्पत्तिकल्पनागौरवमपि नास्ति ; तस्या भावनाख्यसंस्काररूपत्वे च अनुमानादुद्बोधे सति स्मृतिरवश्यमङ्गीकार्य्या, एवञ्च तत्पक्षेऽपि स एव दोष इति किमेतेन सन्दर्भेण पदार्थान्तररूपा वासना, तस्याः प्रत्यासत्तित्वञ्चेत्यनयोर्द्वयोरेकतरस्यैव वा कल्पने दोषः प्रदर्शित इत्यनुसन्धेयम्।

(A) नाभिव्यज्यत इति अयमभिप्रायः—अद्वैतवादिमते प्रातिभासिकसत्ताविशिष्टानां सुख-शुक्तिरजतादीनां ज्ञानागोचरावस्थयाऽवस्थानं यथा नाङ्गीक्रियते तथा प्रतीयमानतादशायामेव रत्यादीनां रसत्वमङ्गीकुर्वद्भिरालङ्कारिकैरपि रसानां ज्ञानागोचरावस्थया सत्त्वं नाङ्गीक्रियते। व्यङ्ग्यत्वन्तु पूर्व्वं प्रसिद्धस्यैव वस्तुनः—यथा अन्धकारे स्थितो घटादिः प्रदीपेन व्यज्यते इति। एवञ्च अज्ञातावस्थया सत्त्वरूपस्य व्यङ्ग्यत्वनियतधर्म्मस्याभावाद् रसस्य व्यङ्ग्यत्वमपि नोपपद्यते इति। एतावताऽपि भट्टनायकमतस्य भट्टलोल्लटमताद्वैलक्षण्यं बोध्यम्।

(B) गौरवमिति। इदमुपलक्षणम्, परोक्षज्ञानस्याहार्य्यतानभ्युपगमे नटे रामत्वबाधनिश्चयसत्त्वेन अयं राम इति नटे रामत्वावगाहिनी अनुमितिरेव न सम्भवतीत्यपि दोषो द्रष्टव्यः।

(C) न गृह्यत इति। अयम्भावः—भट्टलोल्लटमते रामः सीताविषयकरतिमानित्याकारको दाशरथिविशेष्यको रसानुभवः, श्रीशङ्कुकमते च अयं सीताविषयकरतिमानित्याकारको नटविशेष्यकः, उक्तमतद्वये परगताया रतेः सामाजिकवृत्तित्वाभावेन अरस्यतापातो दोषः, रसानुभवस्यानुमितिरूपत्वे चमत्कारित्वानुपपत्तिश्च साक्षात्कारस्यैव चमत्कारित्वानुभवात्। उक्तदोषेण रत्यादिः सामाजिकवृत्तितयैव रसानुभवविषय इत्युक्तौ सभ्यानां व्रीडाऽऽतङ्काद्यापात इति रसानुभवे स्थायि-

1. 'स्वावृत्तित्वरूपौदासीन्येनेत्र ताटस्थ्यम्, न-स्वावृत्तित्वेनेतार्थः' ग। 2. 'स्ववृत्तित्वज्ञानपर्य्यवसान-' ख।

स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन (A)भुज्यते इति भट्टनायकः(B)।

तदुत्पत्तिरिति भ्रमनिरासार्थमिदमुक्तम्, न तु तदुत्पत्तिरेव नास्तीत्यर्थः प्रमाणसिद्धाया-स्तदुत्पत्तेर्दुरपह्नवत्वात्। भट्टलोल्लटमतोक्तं तस्याभिव्यङ्ग्यत्वमपि निरस्यति—**नाभि-व्यज्यत** इति। तर्हि त्वया कीदृगुच्यते इत्यत्राह—**अपि तु** इति। काव्ये नाट्ये च ज्ञाते सति पुरुषे जायमानेन भावकत्वाख्यव्यापारेण **भाव्यमानः** सन्निधाप्य-

---

भावमात्रं विषयो न तु तदाश्रयतया, अनुकार्य्यानुकर्त्तृसभ्येषु कश्चिदपि। एतेन पूर्वोक्तमतद्वयापेक्षया भट्टनायकमते विशेषः स्फुट एवेति।

(A) भोगेनेति। अस्य भोजकत्वव्यापारेणेत्यर्थः, तादृशव्यापारस्वीकारप्रयोजनन्तु आनन्दांशावरणभङ्गो विषयान्तरतिरस्कारश्च। व्यक्तीभविष्यति चेदमुपरिष्टात्। एवं भुज्यत इत्यत्र भोगः सत्त्वोद्रेकात् प्रकाशमानानन्दस्वरूपा स्थायिभावविभावाद्यतिरिक्तालम्बनशून्या लौकिक-सुखानुभवविलक्षणा संविदिति प्रदीपोद्द्योतयोः स्पष्टम्।

(B) भट्टनायक इति। प्रदीपकारास्तु—आद्ययोः पक्षयोः सद्दोषत्वेन भट्टनायकमतेन 'विभावादिभिः संयोगाद् भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्ति' रिति भरतसूत्रं व्याख्याय 'न च भोगपक्षेऽपि दोषावकाशः भोगस्यालौकिकत्वात्, तथाऽप्यन्यनिष्ठः स्थायी अन्यनिष्ठैरेव विभावादिभिः कथमन्येन भोक्तव्यः, अतिप्रसङ्गादिति चेत् उच्यते,—शब्दात्मनः काव्यस्य त्रयो व्यापाराः—अभिधा भावकत्वं भोजकत्वञ्च। तत्राभिधा निरन्तरसान्तरार्थ-निष्ठत्वेन द्विधा। भावकत्वं साधारणीकरणम्, तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणञ्चैतदेव यत् सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोप-स्थितिः, स्थाय्यनुभावादीनाञ्च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। अन्त्यं व्यापारद्वयं नाट्ये-ऽपि। एवं काव्ये नाट्ये च द्वितीयव्यापारेण साधारणीकृतैर्विभावादिभिस्तृतीयव्यापारसाहित्येन तथाकृत एव स्थायी भुज्यते इति तन्मतं च विवृत्य तत्र 'तदपि न सम्यक्, एतादृशव्यापार-द्वयकल्पने प्रमाणाभावात्, भुक्तेर्ज्ञानातिरेकस्यानुभवबाधितत्वेन निष्पीड्यमानस्य चास्य अभि-व्यक्तिपक्ष एव पर्य्यवसानादिति दोषं ब्रुवन्ति। तत्रेदं चिन्त्यते, 'विभावनादिव्यापारवत्त्वा'-दित्यनेन प्राप्तो विभावादिसाधारणीकरणार्थं व्यापारविशेषः सिद्धान्तपक्षेऽप्यावश्यक इति भट्ट-नायकमते भावकत्वव्यापारकल्पनाया निष्प्रमाणकत्वकथनमसङ्गतमिति। रसगङ्गाधरकारास्तु—एतन्मतमुपन्यस्य "मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मतात् (आचार्य्याभिनवगुप्तपादमतात्) भावकत्व-व्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः ; भोगस्तु व्यक्तिर्भोगकृत्त्वन्तु व्यञ्जनादविशिष्ट"मिति ब्रुवन्ति।

वयन्तु—यथा वेदान्तमते अविद्याया विक्षेपावरणरूपं शक्तिद्वयम्, एवम् एतन्मतेऽपि विभावादीनां

मानः(A) सन् रत्यादिः 'भोगेन' साक्षात्कारेण 'भुज्यते' विषयीक्रियते इत्यर्थः। ईदृशश्च साक्षात्कारः स्वप्रकाशानन्दमयो विषयविशिष्टः सन्नेव स्वरस इत्यग्रे स्फुटीभविष्यति। रत्यादिः कीदृशः? 'स्थायी' काव्यनाट्ये विनापि रामादौ स्थितिमान् स्थायिपरिभाषितो वा। भावकत्वव्यापारेण कीदृशेन? 'अभिधातो(B) द्वितीयेन', विधिवाक्यस्थलिङ्जन्यः (C)पुरुषनिष्ठः [1]प्रवर्त्तकव्यापारोऽभिधा तत्तुल्यकक्षेण; वाक्यजन्यत्वेन पुरुषनिष्ठत्वेन च तत्तुल्यकक्षता। तदुक्तम्—

भावकत्वं भोजकत्वञ्चेति व्यापारद्वयम्, तयोराद्येन चिरनष्टा अपि सीताद्यालम्बनकरामादिरत्यादयो लूतातन्तुन्यायेन सामाजिकानामन्तःकरणे पुनराविर्भाव्यन्ते, सत्कार्य्यवादिनां मते कारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्यैव नाशपदार्थतया नष्टानां पुनरुद्भवो नानुपपन्नः, तासामेव रत्यादिव्यक्तीनां पुनरुद्भवासम्भवेऽपि तदीयलयस्थानगतविशेषाधीनाः सामाजिकानां स्वनायिकादिविषयरत्यादिविलक्षणा रत्यादयस्तेषामन्तःकरणे आविर्भवन्तीत्यभ्युपगन्तव्यं तत्रैव च भावकत्वव्यापारस्य सामर्थ्यम्। रत्यादीनां चित्तवृत्तिविशेषाणां साक्षिभास्यत्वेऽपि सालोकस्य कुड्यादेर्दर्पणप्रतिफलितसहस्रकिरणकरसम्पर्केणेव भोजकत्वव्यापारेण कृतावरणविशेषभङ्गेण इतरसुखसाक्षात्कारविलक्षण उज्ज्वलः प्रकाशो भवतीति भोजकत्वव्यापारोऽपि सफलः। एवञ्च एतन्मते रत्यादीनां परगतत्वे अरस्यतापातः स्वगतत्वे व्रीडाद्यापत्तिरित्यादि दूषणं निरवकाशम्। वृत्तिगतञ्च विश्रान्तिसतत्त्वेनेत्यन्तम् अभेदेन भुजधात्वर्थे अन्वितं वेदितव्यम्। मीमांसाशास्त्रप्रसिद्धभावनार्थकाभिधादि-सान्निध्याद् भाव्यमान इत्यत्र उत्पाद्यमान इत्यर्थपरिग्रहस्यौचित्येऽपि प्रकृते तदसम्भवाद् उत्पत्तिपदार्थस्यैव मतान्तरे आविर्भावरूपतया यथाश्रुतार्थोऽपि कथञ्चिद् गृहीतो भवतीति भट्टनायकमतं तत्कृतग्रन्थानवलोकनविमूढधियो वृत्तिस्थपदैकशरणाः सुधियाः मालोचनार्थमुपन्यस्यामः।

(A) सन्निधाप्यमान इति। भाव्यमान इत्यस्य मीमांसकमतानुसारेणोत्पाद्यमान इत्यर्थकत्वे तदानीं नष्टस्य रामादिरत्यादेरुत्पत्त्यसम्भवाद्बाध इत्यतो व्याचष्टे—सन्निधाप्यमान इति, सन्निकृष्टः क्रियमाण इति तदर्थः। एतेन परकीयरत्यादेः सामाजिकैः साक्षात्कारे हेतुरुक्तः।

(B) अभिधात इति। अत्राभिधापदं सारबोधिनीकारमते शक्तिलक्षणोभयपरमिति 'अभिधात इत्युपलक्षणम्, लक्षणात इत्यपि बोध्य' मिति बालबोधिनीधृतसन्दर्भेण स्पष्टमवगम्यते। "तत्राऽभिधा निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधे" त्युक्तवतां प्रदीपकाराणामपि स एव पक्ष इति प्रतिभाति।

(C) पुरुषनिष्ठ इति लौकिकवाक्याभिप्रायेण, लिङादिघटितवाक्यप्रयोक्तृपुरुषनिष्ठेत्यर्थः। अपौरुषेयवेदवाक्यस्थले तु लिङ्निष्ठेति विशेषः। केचित्तु सर्व्वत्रैव शब्दभावनां लिङ्निष्ठां वदन्ति। अनुपदं व्यक्तीभविष्यति चैतत् सर्व्वम्।

---

1. 'परप्रवर्त्तक-' क।

(A) लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः ।
सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते ॥ इति ।

लिङ्जन्या अभिधेत्यर्थः । पुरुषप्रवृत्तिस्तस्या भाव्या जन्येत्यर्थः । मिश्रेण तु लिङ्-निष्ठैव अभिधेति व्याख्यातम्, तच्च नैषां सम्मतम् । पुनः कीदृशेन भावकत्व-व्यापारेण ? 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना' रामादिसम्बन्धिनां सीतादिविभावादीनां सामाजिकरामाद्युभयसम्बन्धित्वरूपं (B) साधारण्यं (C) [1]दर्शयता, सीता रामस्य मम चेत्याहार्य्यज्ञानं सामाजिकानां जनयतेत्यर्थः । भावकत्वव्यापारस्य इदमधिकं सामर्थ्यमनेनोक्तम् । तदुक्तं दर्पणेऽपि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न जायते ॥ इति ।

(A) लिङ इति । प्रपञ्चितोऽयमर्थोऽर्थसंग्रहे लौगाक्षिभास्करेण—"भावना नाम भवितु-र्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः । सा द्विधा—शाब्दी भावना आर्थी भावना चेति । तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना । सा च लिङंशेनोच्यते, लिङ्श्रवणे अयं मां प्रवर्त्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवान् (वा अयम्) इति नियमेन प्रतीतेः । यद् यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत् तस्य वाच्यम्, यथा—गामानयेत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम् । स च व्यापारो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावा-ल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव । अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते । सा च भावना अंशत्रय-मपेक्षते—साध्यम्, साधनम्, इतिकर्त्तव्यतां च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति । तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थी भावना साध्यत्वेनान्वेति, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः, संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः । साधना-काङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति । तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन ततपूर्व्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन, शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्त्तकत्वेन वा । इति-कर्त्तव्यताऽऽकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्त्तव्यतात्वेनान्वेति" इति ।

(B) उभयसम्बन्धित्वरूपमिति । पूर्व्वत्र 'रामादिरित्यादौ स्वीयत्वमस्वीयत्वं च न गृह्णते' इत्युक्तम्, अत्र तु स्थायिभावभिन्नानां विभावादीनामेव उभयसम्बन्धितया ज्ञानमित्युक्त-मतो न विरोधः । प्रदीपकारादिसम्मतं साधारण्यन्तु भट्टनायक इति वृत्तिग्रन्थटिप्पन्यां व्यक्ती-कृतम् ।

(C) दर्शयतेति । अतः परमादर्शपुस्तके दृश्यमानः 'इत्यर्थः' इत्यंशो लेखकप्रमादेनापतित इति परित्यक्तः ।

---

1 'सामाजिकेष्वेव दर्शयतेतार्थः' ख, 'सामाजिकेष्वाहार्य्यं दर्शयतेतार्थः' ग ।

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां (A)काव्ये नाट्ये च तैरेव [1]कारणादिभिः[1]* कारणत्वादिपरिहारेण(B)विभावनादि-

परस्येत्यादौ सर्व्वत्र परस्यैवेत्यादिरर्थः तदैवोभयसाधारण्यपर्य्यवसानात्। भोगेन कीदृशेन ? 'सत्त्वस्य' सत्त्वगुणस्य 'उद्रेकेण' गुणान्तरं तिरोधायाविर्भावेण या 'प्रकाशानन्दमयी' स्वप्रकाशानन्दरूपा 'संवित्' ज्ञानं तस्या 'विश्रान्तिः' सत्ता कृदभिहितभावत्वेन विश्रान्ता वर्त्तमाना संविदित्यर्थः, 'तत्सतत्त्वेन' तत्स्वरूपेण। तत्त्वसतत्त्वयोः पर्य्यायो यथा—

''पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम्'।

इति विरोधालङ्कारोदाहरणे, तत्त्वविदामित्यर्थः।

अनयोः श्रीशङ्कुकभट्टनायकमतयो रत्यादिसाक्षात्कारार्थमलौकिकाक्लृप्तप्रत्यासत्ति-

(A) काव्ये नाट्ये चेति। अयम्भावः—प्रमदाकटाक्षलज्जादीनां वस्तूनां स्वरूपसतां न विभावादिशब्दव्यपदेश्यत्वं न वा विभावनादिव्यापारवत्त्वम्, किन्तु कविवाक्यजन्यशाब्दबोधविषयताऽऽपन्नानामेव ; तथाच तादृशप्रमदादिज्ञानानामेव विभावनादिव्यापारः स्वविषयप्रमदादिव्यापारत्वेनोक्तः चिरनष्टानां सीतादीनां तदसम्भवात्, अन्यथा स्वरूपसतां तेषां प्रत्यक्षतो दृष्टानां वा तत्तद्व्यापारव्यपदेशौ प्रसज्येते। नाट्य इत्यनेन च शब्दसम्पर्कशून्यचलचित्र(वायस्कोप)दर्शनविषयाणामपि तेषां तादृशव्यापारव्यपदेशयोः सम्भवः प्रतिपादितः, तेन अभिनयस्थले कविवाक्यानामावश्यकत्वेन पृथक्तया नाट्यपदोपादानमफलमित्याशङ्काया नावसरः। अत एव तत्तत्काव्यलक्षणेषु रसव्यञ्जकत्वस्यार्थमात्रेऽपि सम्भवादतिव्याप्तिवारकतया शब्दपदोपादानमपि सार्थकमिति।

(B) विभावनादीत्यादि। "विभावनादिव्यापारः साधारणीकरणम्, तच्च सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनाञ्च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धिविशेषस्वीकारनियमस्य, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धिविशेषपरिहारनियमस्य चाज्ञानात्तेषां साधारण्येन प्रतीतेः। साधारण्येन प्रतीतिश्च न सर्वसम्बन्धितया प्रतीतिः, किन्तु सम्बन्धिविशेषीयत्वेनाप्रतीतौ प्रतीतिः। यद्वा अमुकस्यैवैते इत्यवधारणं विना अमुकस्येत्येवं प्रतीतिः। अत एवोक्तम्—'ममैवैते' इति नियमानवसायादिति। तथाच स्वीयत्वासंसर्गाग्रहात् स्वीयत्वसंसर्गग्रहप्रयोजनं सम्पद्यते" इति प्रदीपे स्पष्टम्।

साधारणीकरणस्य विभावनादिशब्दव्यपदेश्यत्वे व्युत्पत्तिश्च सीतादयः स्वप्रियतमाऽभिन्नत्व-

1. चिह्नितांशो मुद्रितपुस्तकेषु न दृश्यते।

व्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैः(A)ममैवैते, शत्रो-रेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतै-रभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी [1]रत्यादिः

कल्पनागौरवं(B) परिहरतोऽभिनवगुप्ताचार्य्यस्य मतं स्वाभिमतमाह—लोके इति। अत्र मते प्रथमं काव्यतो नाट्यतो वा विभावादिज्ञाने सति रामोऽहं सीताविषय-रतिमानित्याकारकः स्वस्मिन् सीतादिविषयरतिमद्रामाभेदारोप आहार्य्यो व्यञ्जनया जायते, स च[2] स्वस्मिन् रामादिरतिमत्तां साक्षात् नावगाहते, किन्तु स्वनिष्ठे वासनाख्यगुणविशेषे तदीयं वासनात्वमिदन्त्वञ्चागृह्णानस्तत्र [3]रामरतित्वारोपरूप एव

रूपेण विशेषेण भाव्यन्तेऽनेनेति विभावनम् ; एवं सीतादीनां कामिनीत्वादिरूपेणोपस्थितेः पश्चात् भ्रूक्षेपादयः स्वात्मवृत्तितया भाव्यन्तेऽनेनेति अनुभावनम् , एवं स्वीयरत्याद्यनुकूलतारूपेण विशेषेण अभितश्चार्य्यन्तेऽनेनेति व्यभिचारणमिति। एतादृशेन साधारणीकरणेन रामादि-रत्याद्यभिन्नत्वेन गृहीताः स्वप्रेयसीविषयकसामाजिकरत्यादय एव स्वप्रकाशानन्दरूपा रसपदवी-मधिगच्छन्तीति सिद्धान्तपक्षस्य निष्कर्षः। एतादृशाभेदग्रहश्च मिथ्याज्ञानरूपः साधारणी-करणरूपेण दोषेणोत्पादित इति न भ्रमस्य दोषजन्यत्वनियमव्याघातः। रसानुभवस्य प्रमात्वन्तु तादृशाभेदग्रहं विनैव तेन केवलस्वीयरतेः साक्षात्कारो न्यायनये स्वाभिन्नत्वेनेश्वरोपासनया स्वात्मसाक्षात्कारवदित्यभ्युपगम्य सम्पादनीयमित्यलमधिकेन।

(A) ममैवैते इत्यादि। अत्रास्मत्पदेन सामाजिकाः परामृश्यन्ते। एवञ्च यदि सीतादि-विभावादीनां स्वीयत्वे सामाजिकानां व्रीडाद्यापत्तिदोषस्तदा तत्परीहारार्थं ते सामाजिकानां शत्रु-सम्बन्धिन इति वक्तव्यम्, तथाच शत्रूणां लज्जादयो न स्वसुखप्रतिबन्धकाः प्रत्युत तदुत्कर्षका एवे-त्याह—शत्रोरेवैते इति। नन्वेवमपि शत्रुस्त्रीविषया मम रतिरित्यनुसन्धानेन सामाजिकानामधर्म्म-भयाद्यापत्तिरतस्तदुभयपरिहारावश्यकत्वेन पारिशेष्यादाह—तटस्थस्येति। तथाच सर्व्व एव पक्षः सदोषः। एवं न ममैव इत्यादिपक्षत्रयेऽपि दोषा ऊहनीयाः। तत्र प्रथमनिषेधो द्वितीयादि-विधाने पर्य्यवस्यतीति विशेषः। कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितौ च स्वप्रेयस्यादिरूपेण भावनायां बाधकविरहान्न दोष इति विभावनीयम्।

(B) गौरवमिति, आलोचितमिदं प्राक् (१०४)।

---

1. 'रत्यादिकः' इति मुद्रितपाठः। 2. अतः परं क-पुस्तके 'तुल्यवित्तिवेद्यतया स्वस्मिन् रामादिरत्यादि-मत्तामप्यवगाहते तथाऽपि' इत्यंशोऽधिकः। 3. 'व्यधिकरणेन रामरतित्वादिना प्रकारेण वासनावत्तां रामा-भेदश्चावगाहते रजतत्वेन प्रकारेण भूतलं रजतवदित्यारोपो भूतले शुक्तिमत्तामिव' क।

स्वाश्रये सामाजिके रतित्वादिना व्यधिकरणेन प्रकारेण वासनावत्तां रामाभेदञ्च गृह्णाति चक्षुःसन्निकृष्टयां शुक्तौ तदीयं शुक्तित्वमिदन्त्वञ्चागृह्णानो भूतलं रजतवदित्यारोप इव[3]* ततस्तत्समानाकारः साक्षात्कार इति निष्कर्षः(A)। एवञ्च व्यञ्जनया रत्याद्युपनयः संयुक्तसमवायेन च व्यधिकरणरतित्वादिप्रकारको (B)वासनासाक्षात्कार आत्मविशेष्यक इति न प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनागौरवमिति सिद्धान्ताभिप्रायः।

लोके इति, लोके संसारे प्रमदादिभिः [1]कारणादिभिः स्थायिनो रत्यादेरनुमाने येऽभ्यासपाटववन्तस्तेषां सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः अर्थात् कश्चिद् गुणविशेषः स एव 'स्थायी' 'रत्यादिः' 'अभिव्यक्तः' रामादिरत्यादिस्थायिभावाभिन्नत्वेन व्यञ्जनया [2]प्रतिपादितः सन्[2]* 'प्रमात्रा' [3]दर्शिताकारप्रमया साधारण्येन(C) गोचरीकृतः सन् रस इत्यन्वयः। प्रमातृपदमत्र भावप्रधाननिर्देशात् प्रमातृत्वरूपप्रमापरं [4]न पुनः प्रमातृपुरुषपरम्, स्वाकार इवाभिन्नोऽपीत्यग्रे स्वाभिन्नत्वरूपरत्यादिविशेषणानुपपत्तेः पुरुषाभिन्नत्वाभावाद् रत्यादेः, स्वाकारवादे(D)ज्ञानस्यैवाकारो

(A) निष्कर्ष इति। तथाच पूर्वोक्तमतेषु सामाजिकैः प्रतीतो रामादिरत्यादिरेव रसः, एतन्मते तु रामादिरत्याद्यभिन्नत्वेन गृहीता सामाजिकवासनैव स इति मतानां परस्परविशेषः स्फुटः। प्रतीत्युपायगतविशेषस्तु टीकायामग्रे च व्यक्तीभविष्यति।

(B) वासनेति। अत्र वासना यदि भावनाख्यसंस्कारस्तदा तस्यातीन्द्रियत्वेन साक्षात्कारानुपपत्तिरतः टीकाकृता इष्टसाधनताज्ञानधाराया रतित्वेन स्वीकाराव् तदीयधारान्तःपातिव्यक्तिविशेषस्य तस्या एव वा वासनात्वमुक्तमित्यवधेयम्।

(C) साधारण्येनेति। अतः परं 'स्ववासनायां रामरत्यभेदारोपात्मकेन (क-पुस्तके तु रामरत्यादित्वारोपरूपेण) रामादिरत्यादिस्ववासनासाधारण्येन' इत्यंश आदर्शपुस्तकेष्वधिको दृश्यते, स तु पुनरुक्तिभयेन लिपिकृत्प्रमादकृत इति बुद्ध्या परित्यक्तः।

(D) स्वाकारवाद इति। बौद्धविशेषा हि बाह्यं वस्तुजातमेकान्ततोऽनभ्युपगच्छन्तो घटपटादितुल्या ज्ञानस्यैवाकारविशेषा ज्ञानेन विषयीक्रियन्त इति वदन्तीति ते स्वाकारवादिनस्तन्मतञ्च स्वाकारवाद इत्युच्यते। तदुक्तं—'न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्रा-

---

1. 'रत्यादिकारणादिभिः' ख-ग। 2. 'प्रतीयते इत्यर्थः तादृशः सन्' क। 3. 'रामोऽहं सीताविषयकरतिमानिति व्यञ्जनाधीनज्ञानसमानाकारया साक्षात्काररूपया प्रमया' ख-ग। 4. 'प्रमातृपुरुषपरत्वे तु स्वाकार इवाभिन्नोऽपीत्यग्रे रत्याद्यभिन्नत्वेनाभिव्यक्तस्य गुणविशेषस्य विशेषणमनुपपन्नं स्यात् प्रमातृपुरुषाभिन्नत्वाभावात् वासनाख्यगुणविशेषस्य, प्रमाऽभेदस्तु उक्तवासनात्मनो गुणविशेषस्य सम्भवत्येव परिणामवादे विषयस्यैव ज्ञानरूपतया परिणामस्य तत्सिद्धान्तत्वात्' क।

विषय इति स्वीकारेण पुरुषपरत्वे तद्दृष्टान्तत्वानुपपत्तेश्च[4]*। तादृशज्ञानस्य प्रमात्वञ्च [1]धर्म्यंशे वासनांशे चेत्यवधेयम्[1]*। रत्यादिरभिव्यक्त इत्यनेन प्रथमं व्यञ्जनाधीन आरोप उक्तः, स च अनुभवसिद्धो रत्युपनयार्थं स्वीकृतः ; अत एव विभावादिभिर्व्यञ्जित इत्यग्रे वक्ष्यति। [2]अत एव च असंलक्ष्य(क्रम)व्यङ्ग्यपरिभाषाऽपि व्यङ्ग्यत्वादेवोपपन्ना[2]*। प्रमात्रा गोचरीकृत इत्यनेन तु तस्य साक्षात्कारोऽपि दर्शितः, स च आस्वादार्थं स्वीकृतः, रामोऽहं सीताविषयरतिमानित्यादिस्तदाकारः। सामाजिकानामभ्यासपाटवकथनञ्च अताद्दशानामृष्यशृङ्गादीनां रसानुद्बोधदर्शनात्। वासनात्मतया स्थितो गुणविशेषः केन हेतुना [3]रत्यादिरूपतयाऽभिव्यक्त[3]* इत्यत आह—तैरेवेति रत्यादि[4]कारणादिभिः प्रमदादिभिरेव[4]* अभिव्यक्त इत्यर्थः। [5]सामाजिकानां रतिमन्नायकाभेदारोपः स्वस्मिन्निति दर्पणेऽप्युक्तम्। यथा[5]*—

> व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
> तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥
> प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
> उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।
> नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति॥ इति
> (सा० द० ३ प०)

यस्य हनूमतः पाथोधिप्लवनादय(A) आसन् तस्याभेदेन प्रमाता स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

विशेषात् ; तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत् तद् घटयेत्' इति। (ब्रह्मसूत्रम्—२अ० २पा० २६ "नासतोऽदृष्टत्वात्" सू० भाष्यभामती) तथाचात्र दार्ष्टान्तिकस्य वस्तुनः स्फुटीकरणार्थमेव प्रसिद्धस्य स्वाकारवादस्याश्रयः, न्यायमते तु अनुव्यवसायन्यायेन ज्ञानस्यैव विषयविषयिभावः सम्भवत्येवेति ध्येयम्।

(A) अत्रैवं व्याख्याने युद्धदानदयाधर्म्मोत्साहस्यैव वीररसत्वाङ्गीकरणात् ईदृशोत्साहस्य वीररसत्वासम्भवेन प्रकृतानुपयोगित्वमाशङ्क्य टीकाकृता रामचरणतर्कवागीशेनान्यथैवेदं व्याख्यातम्, तत्र "स्वाश्रयं साधारणं नायकसामाजिकसम्बन्धिनं करोति उभयसम्बन्धित्वेन प्रतिपादयतीति साधारणीकृतिः, तत्प्रभावेण तज्जन्यसाधारण्याभिमानेन, यस्य रामस्य, पाथोधि-

---

1. 'धर्म्यंशप्रमादायैव बोध्यम्' क। 2. अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति। 3. 'रत्यादित्वेनाभिव्यक्तः-' क। 4. '-कारणादिभिरेव' ख, '-कारणविभावादिभिरेव' ग। 5. 'न च स्वस्मिन् रतिमन्नायकाद्यभेदारोपो ग्रन्थकृदनुक्तः कथं व्याख्यायते इति वाच्यं स्ववासनायां रतित्वारोपकथनादेवोक्तप्रायत्वादनयोस्तुल्यवित्तिवेद्यत्वात्, अयं परिमितप्रमातृभावविगलनकथनेनोक्तत्वाच्च। तथाचोक्तं दर्पणेऽपि' इति क-पाठः।

कुत इत्याह—व्यापारोऽस्तीत्यादि, [1]साधारणीकृतिः हनूमदादिनायकसामाजिकयोरभेद-बोधात्मकसाधारण्यकारकः, तत्प्रभावेणेत्यर्थः[1]*। तथा [2]रत्याद्यभेदारोपः स्ववासनाया-मित्यप्याह तत्रैव[2]*।

साधारण्येन(A) रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते। इति

वासनावतामेव तदा[3] रत्याद्यारोपादास्वादो [4]भवतीत्यप्याह तत्रैव—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥ इति

कारणादिभिरित्यादिपदात् कार्य्यसहकारिणोरपि परिग्रहः। तैः कीदृशैः? काव्ये नाट्ये च 'कारणत्वादिपरिहारेण' कारणादिशब्दव्यपदेश्यत्वपरिहारेण 'अलौकिक-विभावादिशब्दव्यवहार्य्यैः'; तादृशव्यवहारहेतुं योगार्थमाह—**विभावनादी**ति। आस्वादपात्रीकरणरूपेण विशेषेण भावनं ज्ञापनं विभावनम् एवमनुभावनम् अनुभव-गोचरीकरणम्; व्यभिचारणं शैघ्र्यरूपेण विशेषेण अभितश्चारणं ज्ञापनम्, ईदृश-व्यापारवत्त्वादित्यर्थः। एतत्प्रदर्शनञ्च स्वरूपकथनमात्रं न तु रसोत्पत्तावस्य उपयोगो-ऽस्तीति मन्तव्यम्। पुनः कीदृशैः? 'साधारण्येन प्रतीतैः' सीतादिविभावादयो रामस्य मम चेत्येवमुभयसाधारण्येन आहार्य्यप्रतीतैरित्यर्थः। (B)तच्च साधारणी-कृत्यात्मकव्यापारबलादिति(C) बोध्यम्, तादृशसाधारण्येन एतादृशसाधारण्य-

---

प्लवनादयः, आदिना रावणादिनिग्रहग्रहणम्, प्रमाता सामाजिकः तदभेदेन रामाभेदेन स्वात्मानं स्वम्" इति।

(A) 'साधारण्येन' उभयसम्बन्धित्वेन एकतरमात्रासम्बन्धित्वेनेति तु फलितार्थः। अस्य "स्ववासनासामानाधिकरण्येन" इत्यर्थः क-पुस्तके दृश्यते, स च टीकापाठः टिप्पनीति प्रतिभाति।

(B) "तच्च" विभावादीनामुभयसाधारण्येनाहार्य्यप्रतीतत्वञ्च इत्यर्थः, अत्र ख-पुस्तक-पाठो गृहीतः।

(C) व्यापारबलादिति। अतः परं क-ग-पुस्तकयोः 'रामाद्यभेदारोपबलात्' इत्यंशो दृश्यते स च पूर्ववाक्यस्यैव व्याख्यानरूपा टिप्पनीति प्रतिभाति रामाद्यभेदारोपकारणतया साधारणी-करणान्तरस्य टीकाकृताऽनुक्तत्वादिति।

---

1. '-साधारणीकृतिः सामाजिके हनूमदादिनायकाभेदारोपसाधारण्यप्रतीतिकृत्, तत्प्रभावेण तादृशस्य व्यापारस्य प्रभावेणेत्यर्थः। ततश्च उत्साहादिसमुद्बोध इत्यर्थः' क। 2. 'स्ववासनायां रामादिरतित्वारोपो-ऽप्युक्तस्तत्रैव यथा' क। 3. 'रतिलारोपात्' क। 4. 'भवेदित्यप्याह' ख-ग।

नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्काल-विगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरि-

---

स्यापि सिद्धेः। दर्शितमिदं साधारण्यं परिशेषेण [1]पर्य्यापयति—ममैवैते इत्यादि। शत्रुपदम् आलम्बनविभावशत्रुभूतस्थायिभावाश्रयनायकपरम्; स च रौद्रवीरभयानक-[2]रस एव नायकरूपः[2]* [3]क्रुद्धस्य नायकस्य क्रोधालम्बनविभावशत्रुत्वात्, जेतुर्नायक-वीरस्योत्साहालम्बनभूतजेतव्यशत्रुत्वात्, भीतस्य नायकस्य भयावलम्बनभूतभीषक-शत्रुत्वात्[3]*। [4]तटस्थपदन्तु [5]तादृशशत्रुत्वोदासीनषडरसीयषड्नायकपरम्[4-5]*। तथाच शत्रतटस्थपदाभ्यां नवरसीयनववनायका(A) बोध्याः। ममैवेत्यत्र मत्पदं रसबोद्धृसामाजिकपरम्। तथाच एते [6]सीतादयो ममैवेति[6]* रामादिनायकस्यैवेति च यः सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण स्वीकारः, यश्च नैव ममेति नैव रामादिनायक-स्येति सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण परिहारः, नियमेन तदनवसायादित्यर्थः। एवञ्च उभयीयत्वरूपं साधारण्यं पर्य्यवस्यति। न ममैवेत्यत्र नैव मम इत्येवमेव-कारयोजनाभावे 'ममैव' 'न शत्रोरेव' इत्यनयोरेकार्थतापत्तिः स्यात्, पूर्व्वत्र एव-करेण परत्र च नञा शात्रवीयत्वस्यैव व्यवच्छेदात्। ईदृशं साधारण्यं विभावादीना-मुक्तं दर्पणेऽपि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न [7]जायते॥ इति

(सा० द० ३५,)

(A) नवनायका इति। इदमत्र चिन्तनीयम्; शृङ्गारवीररसादौ रत्युत्साहादिस्थायि-भावाश्रयस्य रामार्जुनादेर्लाभसम्भवः, हास्यरसे तु हासरूपस्थायिभावस्याश्रयः सामाजिक एव; 'आकुञ्चय पाणिमशुचि'मित्यादौ विष्णुशर्म्मा तथा चिकित्सासङ्कटाख्यवङ्गभाषाकाव्यनिबद्ध-तारिणीसेनप्रभृतयस्तदालम्बनमेव, तेषां हासाश्रयत्वकल्पना तु कथञ्चिदपि न सम्भवति, तदाश्रयतया कवेरनुसन्धानन्तु असार्वत्रिकत्वादकिञ्चित्करमिति।

---

1. 'दर्शयति' ख। 2. 'रसीयनायकत्रयरूपः' ख-ग। 3. 'क्रुद्धो हि क्रोधरूपस्थायिभावालम्बनस्य बध्यस्य शत्रुः, वीरोऽपि उत्साहरूपस्थायिभावालम्बनस्य जेतव्यशत्रुः, भीतो हि भयजनकस्य भयरूपस्थायिभावा-लम्बनस्य शत्रुरिति' ख-ग। 4. 'तटस्थपदस्यालम्बनविभावशत्रुत्वोदासीनस्थायिभावाश्रयनायकपरं स चान्य-षड्रसीयषण्णायकरूपः' ख। 5. 'तादृशशत्रुभ्य उदासीनः तदन्य षड्–' ग। 6. 'विभावादयो ममैवेति' ग। 7. 'विद्यते' इति मु-सा-द० पाठः।

मितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीविताऽवधिः (A)पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव

परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्यैवेत्यादिरर्थः प्रागेव व्याख्यातः। अत एवात्र शत्रोरेवे[1]त्येवकारगर्भत्वम्। रामादिरत्यादित्वेनाभिव्यक्तो वासनारूपगुणविशेषः कीदृशः? नियतप्रमाता सामाजिकः तद्गतत्वेन स्थितोऽपि उक्तप्रमारूपेण "प्रमात्रा", "साधारण्येन" रामादि[2]रत्याद्यभेदारोपरूपेण साधारण्येन,"गोचरीकृतः"। तादृशत्वेन गोचरीकरणे हेतुमाह—**साधारणोपायेति**। उभयसम्बन्धित्वेन [3]सीतादिज्ञानं साधारणोपायः। व्यञ्जनाधीनज्ञानसमानाकारसाक्षात्कारप्रदर्शनमनेन कृतम्। तत्र च "साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते" इति संवादो दर्शित एव। उक्तप्रमारूपेण प्रमात्रा कीदृशेन? तत्काले तादृशप्रमोत्पत्तिकाले प्रमातुः स्वस्मिन् रामाद्यभेदारोपवशाद् विगलितः ज्ञानाविषयीभूतः परिमितप्रमातृभावो रामादिभिन्नत्वेन [4]स्वमात्रविषयीभावो यस्तद्वशेन अर्थात् तद्विगलनवशेन उन्मिषितः जातः वेद्यान्तरस्य [5]घटादेः सम्पर्केण विषयीभावेन शून्यः अपरिमितभावः रतिवासनासाधारण्यरूपापरिच्छिन्नभावो यस्य तादृशेन। स्वस्मिन् रामाद्यभेदारोपादेव स्ववासनायां रामादिरतित्वस्य रत्यभेदस्य वा आरोपात् तद्वशत्वम्। अनेन स्वस्मिन् रामाद्यभेदस्य स्ववासनायां च रामादिरतित्वस्य रामादिरत्यभेदस्य वा आरोपो दर्शितः। दैवात् कस्यचित् तादृशज्ञानोत्पत्तावपि न वस्तुसिद्धिरित्यतः सकलसामाजिकानामेव तादृशज्ञानरूपं संवादं दर्शयति—**सकलसहृदयेति**। एकत्र दृष्टस्यापरत्र दर्शनं संवादः। तथाच तादृशसंवादाद् वस्तुसिद्धिः। वासनात्मतया स्थितो गुणविशेषः पुनः कीदृशः? प्रदर्शिताकारकस्वज्ञानादभिन्नोऽपि तादृशज्ञानेन गोचरीकृतः। ज्ञानविषययोरभेदकथनमत्र परिणामवादाभिप्रायेण इत्युक्तमेव। तत्रैव स्वाकारवादेन दृष्टान्तमाह—**स्वाकार इवेति**, विषयो ज्ञानादभिन्नो ज्ञानस्यैवाकार इति तत्सिद्धान्तात्, तद्वदित्यर्थः।

(A) पानकेति। 'सरवत्' इति भाषा। तल्लक्षणन्तु—अम्लिकायाः फलं पक्वं मर्द्दितं वारिणा दृढम्। शर्करामरिचैर्मिश्रं लवङ्गेन्दुसुवासितम्॥ अम्लिकाफलसम्भूतं पानकं वातनाशनम्। पित्तश्लेष्मकरं किञ्चित् सुरुच्यं वह्निबोधनम्॥ इति (भावप्रकाशः, पूर्व्वखण्डे द्वितीयभागः)

---

1. '-तेत्रवकार उक्तः' ग। 2. '-रतेः स्ववासनाऽभेदा-' ख। 3. 'सीतादिराहार्यज्ञानं' क-ख। 4. 'प्रमातृ-' ख। 5. 'घटादेः' इति -ग-पुस्तकयोर्न दृश्यते।

प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मा-स्वादमिवानुभावयन् अलौकिक(A)चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

एवंविधरसतापन्नो वासनात्मकगुणविशेषः पुनः कीदृशः ? **चर्व्यमाणतैकप्राणः ;** प्राणो हि रसता, चर्व्यमाणता च साक्षात्क्रियमाणता तद्दशायामेव रसतापन्न इत्यर्थः । अन्यदा तु [1]रत्यादिभिन्न(B)वासनारूप[1]* इत्यर्थः । शाब्दं विभावादिज्ञानं यावत्तिष्ठति अनुभवसिद्धं तावदेव तत्तिष्ठतीत्याह—**विभावादी**ति, विभावादिज्ञानजीविता-वधिरित्यर्थः[2] । उक्तप्रमाया ये सीतारामतद्रतिस्ववासनादयो विषयास्ते सर्व एव रसतापन्नाः चर्व्यमाणा भवन्तीत्याह—**पानके**ति, मरीचकर्पूरादिचूर्णमिश्रिता आमिक्षा पानकम्, तदीयस्य नानाद्रव्यीयरसस्य चर्व्यमाणतादशायां यथा एकत्वाभिमानः तथा नानाविषयैतच्चर्वणायामप्येकत्वाभिमान इत्यर्थः । तत्कारणीभूतज्ञानविषयस्य विभावादेरपि चर्वणागोचरत्वमाह दर्पणेऽपि—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः सम्बलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥ इति ।
(सा, द, ३ प.)

एवं प्रपाणकलक्षणमपि तत्रैव—आम्रमामं जले स्विन्नं मर्दितं दृढपाणिना । सिताशीताम्बुसंयुक्तं कर्पूरमरिचान्वितम् ॥ प्रपाणकमिदं श्रेष्ठं भीमसेनेन निर्म्मितम् । सद्यो रुचिकरं बल्यं शीघ्र-मिन्द्रियतर्पणम् ॥ अन्यानि च पानकलक्षणानि तत्र द्रष्टव्यानि । आमिक्षाघटितलक्षणन्तु अन्यत्र सम्भवति नवेत्यनुसन्धेयम् । रसानुभवे मुनिस्तु दृष्टान्तविधया नाट्यशास्त्रे —'यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिर्भवति । यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधि-भिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ती'-त्याह । 'षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्लुलवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः' इत्याचार्य्याभिनवगुप्तपादकृता व्याख्या ।

(A) चमत्कार इति चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्य्याय इति साहित्यदर्पणकृतः ।

(B) रत्यादिभिन्नेति । अयं भावः, साक्षात्कारो हि रामादिरतिस्ववासनयोरभेदारोप-निबन्धनः, तथाच तादृशाभेदारोपाभावे साक्षात्कारस्याप्यभाव इति तदानीं रती रामादिनिष्ठैव वासना च सामाजिकनिष्ठेति सुग्रहभेदे रतिवासने इति ।

---

1. 'रत्यादिभिन्नो वासनारूप एव, रत्यादिरपि रत्यादिरूप एव' क, 'अरत्यादि रत्यादिभिन्नवासना-रूपः' ग । 2. अतः परं क-पुस्तके 'तथाच विभावादिज्ञानमनेकक्षणस्थायीत्युक्तम्' इत्यधिकोऽशः परिदृश्यते ।

(A)स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्,

---

पुर इत्यादिपञ्चकं स्पष्टम्। 'चमत्कारः' साक्षात्काररूप आस्वादः। [1]तदभिन्नस्य तस्य तत्कारित्वं परिणामवादाभिप्रायेण बोध्यम्, रसतानापन्नदशीयस्य तत्कारित्वात्[1]*। [2]इत्थमुक्तसाक्षात्कारविषयस्यापि वासनादेः साक्षात्काराभिन्नत्वे स्वाकार इवाभिन्नोऽपीत्यनेन प्रकाशिते ज्ञानजन्यज्ञानरूपात्[2]* कार्य्यज्ञानान्तरात्[3]तस्य वैलक्षण्येनापाततः कार्य्यत्वाभावमेव साधयति—स च न कार्य्य इति। यदि ज्ञानोत्तरज्ञानरूपत्वे सति असौ कार्य्यः स्यात् तदा स्वपूर्ववर्त्तिज्ञाननाशक्षणेऽपि स्थितिमान् स्यात् ज्ञानोत्तरज्ञानान्तरवदित्याह—विभावादीति, विभावादिज्ञाननाशक्षणेऽपीत्यर्थः। 'सम्भवः' स्थितिः। न चात्रेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, अनुभवबलेन विभावादिज्ञानरसयोरेकदैव नाशस्य विभावादिजीवितावधिरित्यनेन उक्तत्वात्; अतोऽसौ जन्यज्ञानान्तरवैलक्षण्येन अकार्य एवेत्यापातत एवोक्तम्; अग्रे तु तस्य कार्य्यत्वमपि दुरपह्नवं स्वीकरिष्यत्येव। तथा तस्य वैलक्षण्यमेवेति साधयितुं ज्ञाप्याद्विषयान्तराद् वैलक्षण्येनाज्ञाप्यत्वमपि आपातत एव साधयति—नापीति। सिद्धस्येति घटादिवदज्ञानदशायामपि "सिद्धस्य" स्थितस्य तस्याभावादित्यर्थः। स्वज्ञानात् पूर्वं तस्य रसस्वरूपत्वाभावस्य चर्व्यमाणतैकप्राण इत्यनेनैव उक्तत्वात् तदेव पुनः स्मारयति—अपि त्विति। चर्वणीय इत्यत्र सन् रस इति पूरणीयम्। तथाच चर्वणीयः सन्नेव रसः [4]अन्यदा तु वासनारत्यादिरूप एव न तु रस इत्यर्थः[4]*। नन्वेवं तस्याकार्य्यत्वेऽज्ञाप्यतया अज्ञेयत्वे च विभावादिरपि तस्य न कारको न वा ज्ञापक [5]इत्यायातम्, तथाच 'व्यक्तः स तैरि'त्यादिना कथं तज्ज्ञापकत्वमुक्तम्, कथं वा विभावानुभावेत्यादिभरतसूत्रेण विभावादीनां तन्निष्पादकत्वमुक्तमित्याशङ्कते—कारकेति। दर्शितरीत्या अन्यसाधारणे एव तस्य कार्य्यत्वज्ञेयत्वे न स्तः,

---

(A) रसस्य कार्य्यत्वाभावे ज्ञाप्यत्वाभावे च हेतुः प्रदीपे प्रपञ्चितः विस्तारभयात्तु नेहोल्लिख्यते। रसगङ्गाधरकारमतन्तु 'अभिनवगुप्त'पदटिप्पन्यां व्यक्तीभविष्यति।

---

1. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति, ग-पुस्तके तु '—प्रायेण उक्तं विषयत्वेन। परिणामदशीयवासनावस्थस्य तत्कारित्वात्' इति विशेषः। 2. 'इत्थं परिणामवादालम्बनेन ज्ञानविषययोरभेदसिद्धौ वासन(ना)या रत्यादिज्ञानरूपत्वे सिद्धे कार्य्य-' ख। 3. 'अस्य' ग। 4. 'अचर्वणीयावस्थस्तु न रस इत्यर्थः' ग। 5. 'इत्यायाति' ग।

न क्वचिद्दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादि-प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालि(A)मितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहित--

---

विलक्षणव्यक्तौ तत्रानन्यसाधारणे तु कार्य्यत्वज्ञाप्यत्वे स्त एव इत्यतो विभावादिष्वपि अनन्यसाधारणे कारकत्वज्ञापकत्वे स्त एवेत्यतोऽन्यत्रादर्शनं न दोषः किन्तु विलक्षण-सिद्धौ गुण एवेत्याह—न क्वचिदिति। 'अलौकिकसिद्धेः' लोकसिद्धवस्त्वन्तर-भिन्नसिद्धेः। नन्वेवं 'कोऽप्यजायत रसो निरन्तरम्' इत्यादि लोकव्यवह्रियमाणं कथं तस्य जन्यत्वमित्यतस्तस्य लौकिके अपि कार्य्यत्वज्ञेयत्वे साधयति—चर्वणेति; तस्य विभावादिज्ञानतो निष्पत्ति[1]श्चर्वणा निष्पत्त्यैव उपचरितेत्यर्थः; वासनारत्या-द्यंशे तु न विभावादिज्ञानतो निष्पत्तिः, [2]अपि तु तद्भिन्नस्वस्वकारणत एवेति बोध्यम्, नत्वेतावतैव वासनारत्याद्यंशे अजन्यत्वमुक्तं तयोर्जन्यत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। एवञ्च विशिष्टस्य रसस्य विभावादिज्ञानजन्यत्व एवांशिक उपचारो न जन्यत्व इत्यव-धेयम्[2]*। एवं घटादिसाधारणज्ञाप्यत्वाभावेऽपि स्वेनैव स्वस्य गृह्यमाणत्वाज् ज्ञाप्यत्वं ज्ञेयत्वञ्चास्तीति साधयति—लौकिकेति। लौकिकं(B) यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणं तत्ताट-स्थ्येन तदौदासीन्येन अर्थाद् योगजधर्मेण अवबोधशालिनो मितपरिभाषितस्य योगिनो यज्ज्ञानं यच्च वेद्यान्तरसम्पर्केण रहितं शून्यं विषयान्तराग्राहि स्वात्ममात्र[3]पर्य्यवसितम् आत्माद्वैतग्राहि[3]* परिमितेतरयोगिनः संवेदनं ज्ञानं ताभ्यां

(A) मितयोगी अपरिपक्वयोगी युञ्जानपदवाच्यः, परिमितेतरयोगी परिपक्वयोगी युक्तपदवाच्य इति प्रदीपः।

(B) अत्र घ-चिह्नितपुस्तकस्य पाठः परिगृहीतः। क-ख-ग-चिह्नितपुस्तकेषु दृश्यमानः "लौकिकप्रमाणं प्रत्यक्षादि" इति पाठस्तु "लौकिकप्रमाणताटस्थ्ये"त्याकारवृत्तिग्रन्थानुसारितया सङ्गमनीयः।

---

1. '-श्चर्वणांशनिष्पत्त्यैव-' ग। 2. 'किन्त्वन्यत एवेतार्थः, तथाच विशिष्टस्य तस्य रस(स्य?) विभावादिज्ञान-निष्पाद्यत्व एवोपचारो न तु निष्पाद्यत्वे वासनादीनां स्वस्वकारणनिष्पाद्यत्वात्' ख,—'तथाच विशिष्टस्यैव रसस्य विभावादितो निष्पत्त्युपचारो न तु निष्पाद्यत्वं विशेष्यवासनाद्यंशस्तु स्वकारणनिष्पाद्य एवेति बोध्यम्' ग। 3. '-पर्य्यवसितं स्वात्मनः शोभनात्मनः परमात्ममात्रस्य ग्राहकमद्वैतग्राहि' ख, 'शोभनात्मनि परमात्मनि पर्य्यवसितं समस्तपदार्थानामद्वैतग्राहि' ग।

स्वात्ममात्र-पर्यवसित-परिमिते-तरयोगिसंवेदनविलक्षण-लोकोत्तर--स्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभया-भावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न

बिलक्षणस्य लोकविलक्षणस्य च स्वात्मकसंवेदनस्य गोचर इत्यर्थः। निर्द्धर्मकवासना-ग्रहात् तदंशे निर्विकल्पकत्वम् अन्यांशे सविकल्पकत्वं वक्ष्यते। इदानीं निर्विकल्पका-न्तरवैलक्षण्यान्निर्विकल्पकत्वाभावमपि साधयति—**तद्ग्राहकमिति**। स्वमात्रग्राह्य-त्वादत्र तद्ग्राहकं तद्ग्रहः स्वमेव। **विभावादीति**। परामर्शः ज्ञानम्, तत्प्रधानत्वात् तदधीनत्वात्, तथाच ज्ञानाजन्यनिर्विकल्पकादस्य वैलक्षण्येन निर्विकल्पकत्वाभाव आपाततः साधितः। सविकल्पकान्तराद्वैलक्षण्येन तस्य सविकल्पकत्वाभावमपि आपाततः साधयति—**नापीति**। स्वसंवेदनं स्वात्मकसंवेदनम्, तत्सिद्धत्वात् तन्मात्रग्राह्यत्वात्, सविकल्पकान्तरस्य तु स्वभिन्न[1]स्वानुव्यवसायेन ग्रहात्, (A)[2]तद्वैल-क्षण्येन न तथात्वमिति भावः। इदञ्च गुरुभिन्नानामेव मते; तन्मते तु सर्व्व[3]सवि-कल्पकस्यैव स्वेन ग्रह(B) इत्यवैलक्षण्यमेव। अंशभेदेन तस्य तदुभयात्मकत्वमपि साधयति—**उभयाभावेति**। उभयाभाव उभयभेदः, (C)[4]तेन विशिष्टं स्वरूपं यस्य सः, उभयभिन्नः [5]तद्रूपस्येत्यर्थः। भेदस्याव्याप्यवृत्तित्वमङ्गीकृत्येद[6]मुक्तम्। **पूर्व्ववदिति,**

(A) तद्वैलक्षण्येनेति। साहित्यदर्पणे तु—'तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च। सवि-कल्पकसंवेद्यः' इत्युक्तम्।

(B) स्वेन ग्रह इति। ज्ञानमात्रस्य ज्ञानसामग्रीवेद्यत्वरूपं स्वप्रकाशत्वमिति गुरूणां सिद्धान्तादिति भावः।

(C) उभयाभाव इति। अभावानामधिकरणात्मकतावादिमते यथाश्रुतमेव सङ्गच्छते, नैयायिकैस्तन्मतानभ्युपगमाद् व्याचष्टे तेनेति।

---

1. '-स्वस्वानुव्यवसाययाह्यत्वात्' क-ग। 2. 'वैलक्षण्यमतो' ख। 3. 'सविकल्पकानामेव' ख-ग। 4. 'तेन रूपं स्वरूपं' क। 5. 'तस्यैतदर्थः' ख। 6. '-मुक्तमुभयात्मकत्वमंशभेदात्' ख-ग।

तु विरोधमिति (A)श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।

अलौकिकतत्कारकतज्ज्ञापकविभावादिवदित्यर्थः। **न तु विरोधमिति।** अत्रापि अवगमयतीत्यन्वयः। मिलितानामेव विभावादीनां रसबोधकत्वे भरतसूत्रे द्वन्द्वनिर्देशस्याभिप्राय इति दर्शयितुं प्रत्येकस्य रसबोधनासामर्थ्यं दर्शयति—**व्याघ्रादय** इति, भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणामपि विभावा इत्यर्थः। एवमुत्तरद्वयेऽपि अनुभावा व्यभिचारिण इति द्वयं विधेयं बोध्यम्। **पृथगनैकान्तिकत्वादिति।** अनैकान्तिकत्वं साधारणत्वम्, तच्च नानाफलस्य; तथाच नानाफलसाधारणत्वादित्यर्थः।

(A) रसगङ्गाधरकारास्तु आचार्य्यमतमित्थं विवृण्वते—"वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिसारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणचिदेव रसः, सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेष्यं विशेषणं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वञ्च सिद्धम्, रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वञ्च। चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा, इयञ्च परब्रह्मास्वादात्-समाधेर्विलक्षणा विभावादिविषयसम्वलितचिदानन्दालम्बनत्वात्, भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्। अथास्यां सुखांशभाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्भाने किं मानमिति पर्य्यनुयोगस्य समानत्वात्। 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रिय'मित्यादिशब्दोऽस्ति तत्र प्रमाणमिति चेत्, अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवतीति श्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षञ्चेति प्रमाणद्वयम्। येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता सा शब्दव्यापारभाव्यत्वात् शाब्दी, अपरोक्षसुखावलम्बनत्वाच्च अपरोक्षात्मिका, तत्त्वम्—(असीति) वाक्यजबुद्धिवदित्याहुरभिनवगुप्तपादाचार्य्याः' इति। अभिनवं मतान्तरमपि तत्रैव—'नव्यास्तु काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरञ्च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः। अयञ्च कार्य्यो दोषविशेषस्य, नाश्यश्च तन्नाशस्य, स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखव्यपदेश्यो भवति, स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तद्ग्रहात् तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्चोच्यते'इति। अस्मिन्मते पूर्वोक्तदोषाणामनवकाशः, अन्येषामपि बहूनां मतभेदास्तत्र तैरेव प्रदर्शिताः साहित्यरसिकैर्द्रष्टव्या इत्यलमधिकेन।

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २७ ॥

इत्यादौ,

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।

एवञ्च वर्णितात् प्रत्येकतो विरोधेन [1]न कस्यापि [2]फलस्योत्पत्तिरतो मिलिता निर्द्दिष्टा इत्यर्थः । मिलितनिर्द्देशाच्च साहित्यलाभे दण्डचक्रा[3]दिवन्मिलितानामेव रसबोधकत्वमित्यर्थः । तथाच नानाफलसाधारणेभ्योऽपि सर्व्वसाधारणं यत् फलं तदेव जायते [4]इत्यर्थः । सकलं फलन्तु न सर्वसाधारणमित्यदोषः ।

ननु यत्र श्लोके मिलितानामनिर्देशस्तत्राप्यनुभवसिद्धस्य रसबोधस्योत्पत्तौ का गतिरित्याशङ्क्य श्लोक[5]त्रये मिलितनिर्देशाभावं दर्शयति[5]*—वियदलीत्यादि । तत्राद्ये, हे मुग्धे भद्राभद्रविवेचनशून्ये, (A)दयिते प्रणतिपरे सति प्रसीद, बहुतरोद्दीपकसत्त्वात्, आवश्यकेऽन्यदा प्रसादे तु तव गौरवरक्षा न भविष्यतीति भावः । अतो बहुतरोद्दीपनानि दर्शयति—वियदलीत्यादि । अलिवन्मलिनः अम्बुगर्भश्च मेघो यत्र, वियत् तादृशम्, तथाच तादृशोद्दीपकदर्शनादूर्द्ध्वमुखी स्थातुं न शक्ष्यसि, तथा मधुकरा एव [6]सुस्वरत्वात् कोकिलाः, तेषां कूजितैः दिशां श्रीः, वर्षास्वपि केचित् कोकिला माद्यन्तीत्यतो मधुकरकोकिलयोर्द्वन्द्वो वा । तथाच तच्छ्रवणात् तिर्य्यङ्मुख्यपि स्थातुं न शक्ष्यसीति भावः । तथा अभिनवाङ्कुरा एव अङ्कस्थाः टङ्काः पाषाणदारकास्त्रविशेषा यस्याः, धरणिस्तादृशी, उद्दीपकत्वेन दुःखदायकत्वादङ्कुराणां मर्म्मच्छेदकटङ्करूपणम् । तथाच तद्दर्शनादधोमुख्यपि स्थातुं न शक्ष्यसीति भावः । अत्र मानिनीविप्रलम्भस्य दयित आलम्बनम् तत्प्रणतिमेघाद्य उद्दीपनानीति विभावमात्र[7]स्थितिः ।

परिमृदितेति । मालत्या अवस्थाकथनमिदम् । तस्या अङ्गं परिमृदितमृणालीवत् म्लानम्, बह्वीषु क्रियासु परिवाराणां प्रार्थनाभिः तस्याः कथम्

(A) दयित इति, अत्र विषयसप्तमीति उद्द्योतः ।

---

1. 'नैकस्यापि' ख । 2. 'रसस्यो-' ग । 3. '-दिन्यायेन मिलि-' ख । 4. 'इत्यतो न दोषः' ख । 5. '-त्रयमाह' क । 6. 'सुखकरत्वात्' क । 7. '-सत्त्वम्' ख, '-निर्द्देशः' ग ।

कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥ २८ ॥

इत्यादौ

दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने [1]किं चाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

अप्येका प्रवृत्तिः। बहुवचनेन प्रार्थनाबहुत्वस्य एकवचनेन प्रवृत्तेरेकत्वस्य च लाभः; प्रवृत्त्येकत्वेन तद्विषयक्रियैकत्वलाभश्च। चक्रवर्त्ती तु—क्रियैकत्वलाभाय क्रियाया-मिति पाठं रचयति, तच्च निष्फलम्; अस्मद्व्याख्यानेनैव तत्सिद्धेः। तथा तस्याः कपोलः अभिनवकरिदन्तच्छेदवत् कान्तः पाण्डुत्वात्, छेदेति कृदभिहितभावत्वात् अभिनवच्छिन्नेत्यर्थः, तथाच अतिपाण्डुत्वलाभः। अत एव—

सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।

इति कालिदासकाव्येऽपि कृत्तत्वस्यैव सद्यस्त्वमुक्तम्। चक्रवर्त्ती तु अभिनवेति करिदन्तविशेषणमेवाह। अत्र मालतीविप्रलम्भस्य अङ्गग्लान्याद्यनुभावमात्रस्थितिः।

दूरादित्यादि। निराकरणेन प्रसादान्निवृत्त्या अपक्रान्तस्य नायकस्य पुनरागमने जातभावाया मानिन्याश्चक्षुःक्रियावर्णनमिदम्। दूरादिति सप्तम्यर्थे पञ्चमी, दूरस्थ इत्यर्थः। तथाच जातागसि जातापराधे प्रेयसि दूरगे सति मानिन्याश्चक्षुः अहो, प्रपञ्चचतुरं नानावस्थाप्राप्तिकुशलं जातम्। प्रपञ्चचातुर्यं विवृणोति—दूरादित्यादि, दूरस्थे प्रेयसि स्वसन्निहितागमनार्थम् उत्सुकम् उत्कण्ठितम्, आगते सति विव-लितम्, पूर्वनिराकरणलज्जया संकुचितम्, सम्भाषिणि च निराकरणेऽप्यवैमुख्य-दर्शनात् हर्षेण स्फारितम्, चाटुकरणं विनैव संश्लिष्यति सति पूर्वकोपाविर्भावेण अरुणम्, अञ्चिता आकुञ्चिता, भ्रूलतायास्तथाभावश्च चाटुकरणं विनैव उत्तरोत्तरं प्रवृत्त्या असूयया, व्यतिकरः समूहः, ईक्षणपदञ्च गोलक[2]परमेव अतश्चक्षुरीक्षणयो-र्भेदाद् बहुव्रीहिः। पूर्णं क्षणादिति तु क्वचित् पाठः। वाष्पाम्बुपूर्णता च कोपोत्तरं

---

1. 'कोपाञ्चितभ्रूलतम्' इति पाठान्तरम्। 2. '-परं चक्षुःपदञ्च तेजःपरम्' ख।

इत्यादौ च—यद्यपि विभावानामनुभावाना(A)मौत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपा-सूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां (B)केवलानामे[1]वात्र स्थितिः [2]तथाऽप्येषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ।

प्रसादात्, प्रसादश्च हर्षरूपव्यभिचारि[3]भावो बोध्यः। यद्यपीति पूर्वश्लोके (C)विभावानां मध्यश्लोके अनुभावानां [4]चरमश्लोके व्यभिचारिभावानां केवलानां स्थितिरित्यर्थः। कोपश्च रौद्ररसस्थायिभावोऽपि शृङ्गारे[5]ऽत्र व्यभिचारिभाव इति प्रतिपादितं प्रागेव। एषां स्थितिश्च न वाचकशब्दवाच्यत्वं व्रीडादीनामतथात्वात्, किन्तु शीघ्रप्रतीयमानत्वमेव विवलितत्वादीनामनन्यप्रयोजनकत्वेन शीघ्रं व्रीडादिबोधनात्, बोध्यत्वमात्रन्तु न स्थितिः [6]व्यङ्ग्यभूतान्यद्वयस्यापि तथात्वेन केवलत्वाभावात्। केवलत्वञ्च असामर्थ्यमेव विवक्षितम्; तेन वियदलीत्यादौ प्रसीदेत्यनेन प्रसादस्य हर्षरूपव्यभिचारिभावस्य, दूरादित्यादौ प्रेयस आलम्बनविभावस्य सत्त्वेऽपि केवलत्वमुपपन्नम्। अन्यतमद्वयाक्षेपकत्व इत्यत्र तु द्वयत्वमविवक्षितम्, अनुक्ताक्षेपकत्वे सतीत्येवार्थः। एषामसाधारणत्वमिति शृङ्गारप्रकरणादसाधारण्यम्, तत्प्रकरणलाभस्तु वियदलीत्यादौ [7]प्रणते नायके प्रसाद[7]प्रार्थनया, परिमृदितेत्यादौ तत्प्रबन्धे विरहिण्या मालत्याः [8]प्रक्रान्तत्वेन, दूरादित्यादौ तु मानिनीपदेनैवेति बोध्यम्। अन्यतमाक्षेपश्च अन्यतमस्य व्यञ्जनया बोधनम् [9]तत्र वियदलीत्यादौ प्रसादेन प्रार्थनीयस्याऽऽ-

---

(A) औत्सुक्येति। अत्र व्यभिचारिणि औत्सुक्यस्य स्वशब्दवाच्यत्वेऽपि यथा न दोषत्वं तथा सप्तमोल्लासे स्वयं वक्ष्यते। चेतनधर्म्मस्य तस्य चक्षुषि बाधितत्वेन तद्व्यञ्जकचेष्टाविशेषवत एव तत्पदेनोपस्थापनाद्वा दोषपरिहारो विधेयः।

(B) केवलानामिति। अत्र दूरादुत्सुकमित्यादिश्लोके प्रेयोरूपालम्बनविभावस्य सत्त्वात् केवलानामित्यस्यानुपपत्तिः 'प्रेयसो रत्यनुकूलधर्मवत्तयाऽनिर्देशात् जातागसीति विरुद्धधर्मवत्तया निर्देशाच्च विद्यमानोऽप्यालम्बनविभावोऽविद्यमानकल्प' इति प्रदीपोद्द्योतयोः कथञ्चित् परिहृता; बाष्पाम्बुपूर्णेत्यनुभावसत्त्वेन तदनुपपत्तिशङ्का तु नोल्लिखितेति बोध्यम्।

(C) विभावानामिति। दयितरूपालम्बनविशिष्टवियदाद्युद्दीपनविभावानामित्यर्थः।

---

1. '-मत्र' इति प्रायिकः पाठः। 2. 'तथाऽपीतेषाम्' इति मुद्रितपाठः। 3. '-भावमध्ये गणितो' ग। 4. 'चरमश्लोके चात्र दर्शितव्यभि-' ग। 5. 'अत्र' इति ग-पुस्तके नास्ति। 6. 'व्यङ्ग्यानामपि तथा' ख-ग। 7. 'प्रणतनायकप्र-' ग। 8. 'क्रान्तत्वात्' क-ख। 9. 'तत्र' क।

तद्विशेषानाह—

(४४) श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥२९॥

लिङ्गनादेरनुभावस्य आक्षेपः। परिमृदितेत्यादौ तु अङ्गग्लान्या ग्लानेः, कथमपि प्रवृत्त्या आलस्यस्य, कपोले पाण्डुत्वेन चिन्तायाश्च व्यभिचारिभावानाम्, चिन्तनीयस्य माधवस्याऽऽलम्बनविभावस्य तद्रूपादेरुद्दीपनविभावस्य चाक्षेपः। दूरादित्यादौ तु वाष्पाम्बुव्यंग्यप्रसादेन आलिङ्गनादे(A)रनुभावस्याक्षेप इति (B)त्रितयसत्त्वम्[1]।

'तद्विशेषान्' रसविशेषान्। श्रृङ्गारहास्येत्यादि(C)नाट्यकारिकात्वादेव नाट्ये इत्युक्तम् काव्येऽपीत्यपि बोध्यम्। एषां लक्षणानि तु [2]स्थायिभावभेदादेव रतिस्थायिभावको रसः श्रृङ्गार इत्यादिरीत्या बोध्यानीत्यभिप्रायेण 'व्यक्तः स तै'रित्यादिनैवोक्तप्रायाणीत्यतो विशिष्य नोक्तानि[2]*। दर्पणे तु संज्ञाव्युत्पत्तिमुखेन श्रृङ्गाररसस्यान्यथाप्यन्येषां लक्षणानि तद्विभावादींश्च उक्तवान्। तत्र श्रृङ्गारस्य यथा—

> श्रृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
> उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः श्रृङ्गार इष्यते॥ इति

तदागमनं मन्मथप्राप्तिः, तद्धेतुकः तज्जन्यः वीतरागाणां श्रृङ्गाररसानुद्बोधात्। तद्विभावादयश्चोक्ताः, यथा—

(A) अनुभावस्याक्षेप इति। अत्रेदं चिन्तनीयम्—वाष्पाम्बुन एवानुभावस्य सत्त्वेन तद्व्यङ्ग्यप्रसादेनालिङ्गनरूपानुभावस्याक्षेपो नातिप्रयोजनकः। उक्तञ्च दर्पणकारैः—सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ता इति।

(B) त्रितयसत्त्वमिति। इदञ्चालम्बनोद्दीपनयोर्विभावत्वेनैक्यमित्यभिप्रायेण, तयोर्भेदेन ग्रहणे तु चतुर्णामेव रसबोधकत्वम्, अन्यथा उद्दीपनविरहसद्भावेऽपि रसबोधापत्तेः। न चेष्टापत्तिः पूर्णस्वरूपस्य रसस्याङ्गहान्यापत्तेः।

(C) नाट्यकारिका "नाट्यशास्त्रम्" इति नाम्ना प्रसिद्धस्य ग्रन्थस्य कारिका, तत्र च "श्रृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः" इति प्रथमार्द्धे पाठभेदः। उत्तरार्द्धन्तु एकमेव। श्लोकोऽयं तत्र षष्ठेऽध्याये १६ संख्यकतया मुद्रितः। (गाइकोवाड अरियेण्टाल सिरीज)

---

1. 'सत्त्वम्' इत्यतः परं क-पुस्तके दृश्यमानः 'यद्यप्येकैकस्यैवात्र असाधारणत्वेन तेनैव रसबोधसम्भवस्तथाऽपि व्याघ्रादय इत्यादिना क्रमकार्यकारणभावबलादन्यतमस्याक्षेपः' इत्यंशः टिप्पनी साऽपि अज्ञानविजृम्भितरूपेति प्रतिभाति। 2. 'स्थायिभावकथनादेवोक्तानीत्यभिप्रायः' ख, 'स्थायिभावभेदादेव बोध्यानीति 'व्यक्तः स तै'-रित्यादिनैवोक्तप्रायाणीति' ग।

परोढां वर्जयित्वाऽत्र वेश्याञ्चाननुरागिणीम् ।

आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥ इति ।

अत्र पादत्रयं नायकशृङ्गारे, चतुर्थपादो नायिकाशृङ्गारे । वेश्या चात्र परानूढा । [1]दक्षिणाद्या इति, दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपाश्चत्वारो बालवृद्धरोगीतरे रतिसमर्थाः[1]* । आद्यपदाद् धर्म्मोपयुक्तपरिग्रहः, तेन रतिसमर्थः स्वभर्त्तेत्यर्थः । [2]पर्य्युदस्तपरोढा-विषयत्वे तु[2]* शृङ्गाराभास इति बोध्यम् । तदुद्दीपनविभावादयश्चोक्ताः ; यथा—

चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम् ।

भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्त्तितः ॥

त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः ।

स्थायी भावो रतिः श्यामवर्णोऽयं [3]विष्णुदैवतः ॥

रोलम्बा भ्रमराः । औग्र्यादिवर्ज्जनं सम्भोगशृङ्गार एव । विप्रलम्भे तु जुगुप्सा-मात्रवर्जनम् । जुगुप्सा च बीभत्सस्थायिभावोऽपि रसान्तरे व्यभिचारिभाव इत्युक्तम् ।

हास्यस्य यथा—

विकृताकारवाग्वेशचेष्टादेः कुहकाद्(A) भवेत् ।

हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥

विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य [4]हसेन्नरः ।

तदत्रालम्बनं प्रोक्तं तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥

अनुभावोऽक्षिसंकोचवदनस्मेरता[5]दयः ।

निद्राऽऽलस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥ इति ।

करुणस्य यथा—

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।

धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥

शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।

तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥

(A) कुहकं माया इन्द्रजालमिति यावत् ।

---

1. 'दक्षिणः बालवृद्धरोगीतररतिसमर्थः' क-ग । 2. 'परोढादिविषयत्वे बालकादिस्वभर्तृविषयत्वे स्वभर्त्रन्यविषयत्वे च' ग । 3. 'समुदाहृतः' ख-ग । 4. 'हसेज्जनः' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः । 5. '-दिकः' इति मुद्रितपाठः ।

अनुभावा दैवनिन्दा-भूपात-क्रन्दनादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वास-निःश्वास-स्तम्भ-प्रलपनानि च ॥
निर्वेद-मोहापस्मार-व्याधि-ग्लानि-स्मृति-श्रमाः ।
विषाद-जडतोन्माद-चिन्ताऽऽद्या व्यभिचारिणः ॥ इति ।

प्रलपनपर्य्यन्ता अनुभावा बोध्याः । रौद्रस्य यथा—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः ।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥
मुष्टिप्रहार-पतन-विकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
संग्रामसम्भ्रमाद्यैस्तस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा ॥
भ्रूविभङ्गोष्ठनिर्दंश-बाहुस्फोटनतर्ज्जनम् ।
आत्माऽवदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥
अनुभावास्तथाऽऽक्षेप-क्रूरसन्दर्शनादयः ।
उग्रताऽऽवेग-रोमाञ्च-स्वेद-वेपथवो मदः ॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः । इति ।

उग्रतादयो व्यभिचारिणः तत्पूर्व्वं त्वनुभावाः । वीरस्य यथा—

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।
महेन्द्रदैवतो (A)हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥
आलम्बनविभावाश्च विजेतव्यादयो मताः ।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ॥
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ।
सञ्चारिणस्तु धृति-मति-गर्व-स्मृति-तर्क-रोमाञ्चाः ।
स च धर्मदानयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ इति

[1]रोमाञ्चस्य व्यभिचारिभावत्वाभावेऽपि तन्निदानहर्षपरमेव रोमाञ्चपदम् । स चेति

(A) अत्र हस्तलिखितादर्शपुस्तकेषु दृश्यमानः "मेघवर्ण" इति पाठो लेखकप्रमादकृत एवेति मुद्रितसाहित्यदर्पणसंवादी घ-पुस्तकपाठः परिगृहीतः । इदन्तु चिन्तनीयम्—वीरस्य हेमवर्णत्वं दर्पणकृता कुत उपलब्धम्, नाट्यशास्त्रे "गौरो वीरस्तु विज्ञेयः" इत्यनेन तस्य गौरवर्णत्वस्यैवोक्तत्वात् । स्वर्णं च पीतवर्ण एव प्रसिद्धः स च अद्भुतरसस्यैव वर्ण इति "पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः" इति भरतोक्तेरवगम्यते इति ।

---

1. चयमंशः ख-पुस्तके नास्ति ।

धर्म्मवीरो दानवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्द्धेत्यर्थः दानादिषु सर्व्वत्रोत्साह-सम्भवात्[1]*। भयानकस्य यथा—

भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः।
स्त्री-नीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम्।
चेष्टा घोरतरा तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः॥
अनुभावास्तु वैवर्ण्य-गद्गदस्वरभाषणम्।
(A)पुलक-स्वेद-रोमाञ्च-कम्प-दिक्प्रेक्षणादयः॥
जुगुप्साऽऽवेग-सम्मोह-सन्त्रास-ग्लानि-दीनताः।
शङ्काऽपस्मार-सम्भ्रान्ति-मृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः॥ इति

पुलकहेतुत्वादेव (पुलकैकहेतुत्वादेव ?) अत्र पुलकोऽश्रूद्गम एव। तथाच रोमाञ्चादस्य भेदः। जुगुप्साद्यास्तु व्यभिचारिणः। संभ्रान्तिः भ्रमणं चपलतारूपम्, न तु भयरूपं तस्यात्र स्थायिभावत्वात्।

बीभत्सस्य यथा—

जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः॥
दुर्गन्धमांस'रुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम्।
तत्रैव कृमिपातादिरुद्दीपनमुदाहृतम्॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसंकोचनादयः।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः॥ इति

अत्र च 'तत्र स्यु'रित्यादिकं पश्चादन्वितम्।

अद्भुतस्य यथा—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो (B)गन्धर्व्वदैवतः।
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्॥

(A) 'पुलक' इत्यत्र 'प्रलय' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः, प्रलयो नष्टचेष्टता इति च व्याख्यातमभियुक्तैः।

(B) यद्यपि हस्तलिखितादर्शपुस्तकेषु 'गन्धर्व्व'पदस्थाने 'मन्मथ' इति पाठो दृश्यते तथाऽपि मुद्रितसाहित्यदर्पणसम्मत एव पाठोऽत्र परिगृहीतः। नाट्यशास्त्रे तु "अद्भुतो ब्रह्मदैवतः" इत्युक्त्या अद्भुतस्य ब्रह्मदैवतत्वं प्रतीयते।

---

1. 'पिशित' क-ख-ग, एवं प्रामादिक इति बोध्यम्।

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकना-लिङ्गना-धरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते। यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च-गद्गदस्वर-सम्भ्रमाः॥
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्त्तिताः।
वितर्कावेगसम्भ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः॥ इति।

संभ्रान्तिहर्षाद्या इत्यत्र सम्भ्रान्तिजन्यहर्षाद्या इत्यर्थः, तेनानुभावत्वेनोक्तात् सम्भ्रमादस्य भेदः।

सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति। तत्र दर्पणे—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः॥

इति सम्भोगलक्षणम्, तच्च नायकनायिकयो(A)रेकतरदर्शनादिव्यङ्ग्यसम्भोगे अव्याप्तम्(B)। तथा—

'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ'

इति विप्रलम्भलक्षणम्, तदपि नायकप्रसाद्यमानमानिनीविप्रलम्भेऽव्याप्तमतोऽन्यदेव लक्षणमाह। यथा—

सम्भोगः सुखसम्भिन्नो विप्रलम्भस्तु दुःखयुक्।
रतिस्तयोः प्रकर्षः स्यादाधिक्यात् सुखदुःखयोः॥ इति।

अत एव निःशेषच्युतेत्यादौ वाच्यात्तदन्तिकागमनाद् यादृशं दुःखम्, रन्तुं तदन्तिकगमनाद् व्यङ्ग्यात्ततोऽप्यधिकदुःखमिति दुःखसम्भिन्नरतिव्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यस्यातिशायित्वम्।

अनन्तभेदत्वादिति। भेदः भेदकः, बहुव्रीहिणा भेदानन्त्यादित्यर्थः।

शून्यं वासगृहमिति। अत्र उत्थायेत्यादिसमस्तक्रियासु पूर्व्वपूर्व्वक्रियापेक्षया

(A) अत्र "नायकयोः" इत्येकशेष उचितः।

(B) अत्रेदं चिन्तनीयम्,—ईदृशस्थले विप्रलम्भस्यैव तथा उत्तरत्र सम्भोगस्य च स्वीकारे न किमपि बाधकमिति।

विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥३०॥

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।

आनन्तर्य्यं क्त्वाप्रत्ययतो बोध्यम् । आलोक्य लज्जानम्रमुखीत्यत्र[1] अध्याहृतायां जातेति क्रियायामानन्तर्य्यं बोध्यम् । "लज्जा"इत्येव क्रियापदमिति तु चक्रवर्त्ती । तथापि नम्रमुखीत्यस्यान्वयार्थं तत[1] इत्यध्याहारावश्यकत्वेनेतो विशेषाभावादुपेक्षितम्[1]* ।

बाला समस्तक्रियासु कर्त्री चुम्बितेत्यस्य तु कर्म्म । शयनात् किञ्चिदुत्थानं प्रियजागरणे झटिति संवरणाय, बालात्वेनाप्रागल्भ्यात् । उत्थाने शनैस्त्वञ्च जागरण-हेतुशङ्कानुत्पत्तये । सुचिरनिर्वर्णनञ्च अनुरागान्निद्रानिश्चयाय च । तन्निश्चयाच्च विश्रब्धं जाताश्वासं परिचुम्बनम् । प्रियेण चिरं चुम्बनञ्च भावनिश्चयेन बालायास्त्रास-शङ्काऽपगमाय । चुम्बितेत्यत्र (A)सवृद्धिकर्णपरिशोधनार्थं चिरमिति चक्रवर्त्ती, तच्च प्रहसनमात्रं वस्तुतस्तादृशबुद्ध्यभावात् उत्प्रेक्षायामेव तथात्वौचित्यात् । अत्र द्वयो-रपि परस्परालम्बनिके रती सामाजिकेन स्ववासनायामारोपिते रसः । एवमुत्तरोत्तरं बोध्यम् । निर्द्दिष्टाः स्वस्वक्रियाः स्वस्वरत्यनुभावाः । ता एव व्यत्ययेन परस्पर-रत्योरुद्दीपनानि । शून्यं वासगृहन्तु द्वयो रत्योरुद्दीपनम् । स्वस्वक्रियाव्यङ्ग्यौ हर्षौ द्वयो रत्योर्व्यभिचारिणौ ।

नायिकारतिप्रयोज्यनायकरतावुदाहृत्य नायकरतिप्रयोज्यनायिकारतावुदाहरति—त्वं मुग्धाक्षीति । शय्याप्रान्तोपविष्टाया नायिकायाः स्तनपिधानमुद्घाटयितुं छलेन तद्ग्रन्थिं स्पृशति नायके सति नायिकया सहर्षविलोकित आलीजनश्छलेन निर्यात इति समुदायार्थः । मुग्धाक्षीति मुग्धाङ्गीति वा स्वाभाविकसौन्दर्य्यप्रदर्शनाय सम्बोधनम् । वीटिका ग्रन्थिः । सखी आलीजनस्य नायिका । झटिति निर्याणे नायिकाया लज्जा स्यादतोऽज्ञानाभिनयाय शनैर्निर्याणं तस्यालीकहेतुकथनञ्च । अत्रापि द्वयोरेव रत्योर्द्वावालम्बने । एतादृशोक्ति-वीटिकासंस्पर्शौ नायकरतेरनुभावौ,

---

(A) सवृद्धीति, वृद्धि (सुद इतिभाषा) सहितस्य ऋणस्य परिशोधनार्थमित्यर्थः । तत्र विस्तारिकाग्रन्थस्तु—'चिरं सलाभमूलपरिशोधनात् इदानीं प्रियस्य कालाक्षेपकत्वात्' इति ।

---

1. 'इताध्याहारादेवान्वयादध्याहारापरिहारादविशेष एव' ख, 'इतादध्याहारापरिहारा-' ग ।

शय्योपान्तनिविष्टसस्मित[1]-सखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

अपरस्तु (A) अभिलाष-विरहे-र्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः। क्रमेणोदाहरणम्—

नेत्रोत्सवः स्मितश्च नायिकारतेः। एकतररतेरनुभावा अन्यतररतेरुद्दीपनानि। द्वयोरुक्तानुभावव्यङ्ग्यौ हर्षौ व्यभिचारिणौ। रतिज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः।

अपरस्त्विति। अस्यैतादृशपञ्चोपाधिभिः सङ्कलनसम्भवान्नानन्त्यमिति(B) समस्तसम्भोगस्य त्वभिलाषेण सङ्कलनसम्भवेऽपि एकत्वानपाय इति चाभिप्रायः। हेतुक इत्यत्र हेतुपदं ज्ञापकहेतुपरम्, तत्र च [2]अभिलाषविरहेर्ष्यात्रयमनुभावत्वेन ज्ञापकं रतिजन्यत्वात्तत्त्रयस्य[2]*। प्रवासशापौ तूद्दीपकौ मम प्रियः प्रवसतीति अहं

(A) साहित्यदर्पणे तु पूर्वराग-मान-प्रवास-करुणात्मकतया विप्रलम्भस्य चातुर्विध्यमुक्तम्। सम्भोगविप्रलम्भयोरन्यथा व्याख्यानं प्रदीपे दृश्यते, तच्च "स द्वेधा सम्भोगो विप्रलम्भश्च, तत्र—

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः॥

स च परस्परालोकनालिङ्गनादिभेदादगणेय इत्येक एव गण्यते।

भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते॥

स च सङ्गमपूर्वः, तदन्यश्च ; तत्रान्त्योऽभिलाषहेतुक इत्युच्यते अभिलाषपदेन तद्धेतोरनादिसङ्गमाभावस्य लक्षणात्। आद्यस्तु क्वचिदीर्ष्यया प्रणयेन वा मानरूपः, स ईर्ष्याहेतुक इत्युच्यते ईर्ष्यापदेन मानहेतोरुपलक्षणात्। क्वचित्तु कार्य्यवशाद्देशान्तरस्थितेः। स च प्रवासहेतुकोऽभिधीयते, उत्पद्यमानोत्पत्स्यमानावपि प्रवासौ स्वज्ञानद्वारा विप्रलम्भप्रयोजकाविति नाव्याप्तिः, प्रवासशब्देन ज्ञानलक्षणाद्वा। क्वचिच्छापात्, स च शापहेतुक इति व्यवह्रियते। क्वचिदुक्तत्रितयातिरिक्ताद् गुरुलज्जादितः कारणात्, स एष विरहहेतुक इत्युच्यते। करुणशृङ्गारस्याप्यत्रैवान्तर्भावः" इति।

(B) अत्र 'इति' पदात् परं "अभिप्राय" इति "हृदयम्" इति वाऽऽदर्शभेदेन अधिकः पाठो दृश्यते, स च प्रामादिकः 'च'कारासङ्गतेः।

---

1. '-मुखी' इति पाठभेदः। 2. 'अभिलाषेर्ष्ये द्वे अनुभावौ विरहस्त्वौत्सुक्यरूपो व्यभिचारिभावः रतिजन्यत्वात्तस्य' ख, ग-पुस्तके तु खचिह्नितपुस्तकपाठानन्तरं 'अभिलाषविरहेर्ष्यात्रयमनुभावविधयैव ज्ञापकं रतिजन्यत्वात्तस्य' इति पाठो दृश्यते।

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि(A) भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥३२॥

शापप्रतिबन्धात् प्रियान्तिकं गन्तुं न शक्नोमीति ज्ञाने सति [1]रत्युद्दीपः। [2]अत एव शापपदमत्र प्रियजनप्राप्तिप्रतिबन्धकपरमेव, तेन नृपतिरुद्धत्वादिपरिग्रहः। प्रवासस्तु न प्रतिबन्धकः स्वेच्छया आगमनसम्भवात्[2]*। अभिलाषश्च अभिलषितस्य जनस्य साक्षात् परम्परया वा प्राप्तीच्छा ; तज्जनकेष्टसाधनताज्ञानधारा तु रतिरित्यभिलाष-स्तज्जन्यत्वादनुभावः। कृतसङ्केतस्य नायकस्यानागमने सत्युत्कण्ठा विरहः। तदुक्तम्—

> प्रियः कृत्वा तु सङ्केतं यस्या नायाति सन्निधिम् ।
> सा मनोभवदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता मता(B) ॥ इति ।

[3]सा चोत्कण्ठा रतिजन्यैवेत्यनुभावः व्यभिचारित्वेऽप्यनुभावत्वानपायात्[3]*। पत्यावपकारप्रयुक्तः सानुरागो द्वेष ईर्ष्या। भावि वर्त्तमानं वा प्रियजन-वैदेश्यं प्रवासः। इष्टप्राप्तिप्रतिबन्धिका अनिष्टहेतुर्वा सिद्धवचसो वाक् [4]शापः। [5]एतौ द्वावुद्दीपनविभावावित्युक्तमेव[5]*। तत्राभिलाषहेतुमाह—**प्रेमार्द्रा** इति। श्मशाने माधवस्य पूर्व्वानुभूतमालतीदृक्चेष्टास्वियमाशंसा। सा च मालतीप्राप्तीच्छौपाधिक्ये-वेति परम्परया मालतीप्राप्तीच्छैव। मुग्धदृशो मालत्याः तास्ता दृक्चेष्टा मयि भवेयुः ; दृक्चेष्टात्वलाभायैव मुग्धदृक्त्वोपादानम्। चेष्टाः कीदृश्यः? प्रेम्णा आर्द्राः स्निग्धाः,

---

(A) मामेव लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्ता इमाश्चेष्टा इत्याशामात्रेण सम्भावितास्वित्यर्थः, किं पुन-र्यथार्थतो मां लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्ता इति निश्चितास्विति अपिकारार्थः।

(B) साहित्यदर्पणे तु अस्य द्वितीयार्द्धं "विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता" इत्याकारेण दृश्यते।

---

1. 'विप्रलम्भोद्दीपनात्' ख-ग। 2. *अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्न दृश्यते। 3. 'उत्कण्ठा चौत्सुक्य-रूपत्वाद्व्यभिचारिभाव एव' ख, 'भाव एव (र)-तिजन्यत्वा(त्वे)नुभावः' ग। 4. 'शापः स चोपलक्षणम्, इष्टप्राप्तिप्रतिबन्धकमात्रे तात्पर्य्यं तेन राज्ञा प्रतिरोधादेरपि परिग्रहः, प्रवासस्तु (न) प्रतिबन्धकः किन्त्वागमनेच्छा-रूपकारणाभाव एव इच्छया आगमनसम्भवात्' ख। 5. *अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति।

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥ ३३ ॥

एषा विरहोत्कण्ठिता ।

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलना-वक्रोक्तिसंसूचनम् ।

सतः प्रेम्णः सूचकस्वरूपविशेष एव स्निग्धत्वम्, प्रणयः [1]बन्धुता तत्स्पृशः तत्सूचिकाः, परिचयात् मुहुर्दर्शनात्, रागः अनुरागः, यासु क्रियासु आशंसापरिकल्पितास्वपि अन्तःकरणस्य आनन्देन सान्द्रः व्याप्तः लयः लीनता भवति आनन्दमग्नता भवतीत्यर्थः । लयः कीदृशः? बाह्यकरणस्य व्यापारप्रतिरोधकः । अत्र माधवनिष्ठरतेर्मुग्धदृक मालती आलम्बनम्, तदीयदृक्चेष्टा मुग्धदृक्त्वञ्च उद्दीपनम् । ईदृशाशंसालभ्यया तदप्राप्त्या व्यङ्ग्यमौत्सुक्यञ्च व्यभिचारिभावः । अभिलाष एवानुभावः । माधवरतिर्वै सामाजिके रसोत्पत्तिः । एवंरीत्या सर्वत्र बोध्यम् ।

विरहहेतुकमाह—अन्यत्र इति । कृतसङ्केतस्य नायकस्यानागमनेन उत्कण्ठया अनाप्तनिद्राया नायिकायाः क्रियावर्णनमिदम् । अल्पेतराभिरिति(A)कल्पनाभिर्ग्रस्तचित्ता बाला निशान्तस्य गृहस्य अन्तरे मध्ये निशि निद्रां नाप्नोति । कीदृशी? वृत्तः विवर्त्तनस्य अङ्गपरावृत्तेः व्यतिकरः समूहः यस्याः तादृशी । कल्पनाकारमाह—अन्यत्रेति । नायिकान्तरगृहे व्रजतीति कथा का मिथ्यैव, मय्युत्कटानुरागादिति भावः । मद्विरक्तसुहृद्वाक्याद् व्रजतीत्यपि नेत्याह नाप्यस्येति । नेच्छति द्वेष्टि । फलन्तु न दृश्यत एवेत्यतो विस्मयादाह—नागतश्चेति । "हहहा" विस्मये । प्रक्रम आरम्भः । एषेति । विरहलक्षणमुक्तमेव ।

ईर्ष्याहेतुकमाह—सा पत्युरिति । सापराधे पत्यौ कोपरीतिमजानत्याः क्रियां सख्यां कथयन्त्या उक्तिरियम् । अपराधः अन्यनायिकासमागमः । पत्युः प्राथमिकतज्ज्ञानसमये तदुचिताया अङ्गवलनाया अङ्गभङ्गेः वक्रोक्तेश्च संसूचनं प्रकाशनं सख्या उपदेशं सख्येन सखीत्वेन वा उपदेशं विना न जानाति । तदज्ञाने किं करोतीत्याह—

(A) "इति" एवम्प्रकाराभिः, श्लोकस्थ इतिशब्दोऽयम् ।

---

1. 'वात्सल्यम्' ख ।

स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥ ३४ ॥
प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
जातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३५॥

स्वच्छैरिति, केवलमश्रुभिर्विशिष्टा रोदित्येवेत्यर्थः । केवलपदाद् [1]रोदनोक्तिव्यवच्छेदः । एवकाराद् गृहकर्मकरणव्यवच्छेदः । अञ्जनत्यागादश्रुणः स्वच्छता । पाण्डुत्वादञ्जनाविलत्वाभावाच्च कपोलस्याच्छता । रोदनस्यान्येन ज्ञानेऽपि लज्जते इत्यतः परितो नेत्रपर्य्यासः । अलकानां विकीर्णत्वा[2]ल्लुण्ठनम् । अत्र उपनायिकाविषय[3]द्वेषप्रयुक्ता पत्यावेव सानुरागद्वेषरूपा ईर्ष्या अनुभावः । नेत्रपर्य्यासव्यक्ता लज्जा व्यभिचारिभावः । पतिरालम्बनं तदपचार उद्दीपनम्, नायिकारतिज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

प्रवासहेतुकमाह—**प्रस्थान**मिति । पत्युर्भाविप्रवास[4]ज्ञानेन स्वजीवितं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । हे जीवित, प्रियतमप्रवासे सति त्वया अवश्यं गन्तव्यम्, तथाच तस्मिन् यातुं निश्चितचेतसि सति सर्वे अर्थात् तव सुहृदः समम् एकदा प्रस्थिताः स्वस्थानाच्चलिताः कृतयात्रा इत्यर्थः । तथाच त्वया च गन्तव्ये सति, वल यादिप्रियसुहृत्सार्थः, उ भोः, किं त्यज्यते प्रस्थितेन तेनैव समं गम्यतामित्यर्थः । वलयादिप्रियसुहृदां प्रस्थानमाह —प्रस्थानमिति ; प्रस्थानं यात्रा । बहुदिनव्यापकैतद्वार्त्तया कृशत्वेन वलयभ्रंशः । अस्रेषु पृथक्प्रियसखत्वोपादानम् अत्यन्तप्रियत्वप्रतिपादनाय । तच्चेद्दृशदुःखेऽश्रुपातेनैव जीवितरक्षा भवतीत्यतः स्वरक्षाकारित्वात् । चक्रवर्त्ती तु—[5]जीविताश्रयोर्द्वयोरप्येकहृदयवासित्वेन अत्यन्तप्रियत्वमिति व्याचष्टे, तन्न, चक्षुष्येवास्रवासात् ; धृतेरप्येवं प्रियसखत्वोपादानापत्तेश्च । चित्तस्य गमनेच्छया व्यवसाय एव पुरस्त्वम् गमनं तु सहैवेति, अतः समं प्रस्थिता इति नानुपपन्नम् । अत्र इयमुक्तिरेव अनुभावः । उच्यमानैतदर्थव्यङ्ग्यं दैन्यं व्यभिचारिभावः । प्रियतम आलम्बनम् । तत्प्रवास उद्दीपनम् । नायिकारतिज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

---

1. 'रोदनहेतूक्ति-' ख । 2. '-लुण्ठनम्' क-ख । 3. '-वि[illegible]' ख । 4. '-ज्ञाने' ग । 5. '-जीवि॰ ताश्रुणो-' ख ।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ३६ ॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।

शापहेतुकमाह—**त्वामालिख्येति** । भर्तृशापप्रतिरुद्धप्रियासन्निधिगमनस्य यक्षस्य [1]मेघद्वारा प्रियायामुक्तिरियम् । प्रणयकुपितां त्वां प्रियां धातुरागैः शिलायामालिख्य आत्मानं तव चरणपतितं कर्त्तुं यावदिच्छामि तावदुपचितैर्बाष्पैः मे दृष्टिर्मुहुरालुप्यते अतस्तस्मिन्नपि(A) समये क्रूरः कृतान्तः दैवं नौ आवयोः सङ्गमं न सहते । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इति कोषः । शिलायां लिखनमौज्ज्वल्याय । कुपिताया रक्तत्वेन धातुरागैर्लिखनम् । लिखनं चरणपातश्च द्वयमपि इच्छाविषय एव न तु निष्पन्नमिति भावः । केचित्तु चरणपात एव बाष्पप्रतिरुद्धः, लिखनन्तु निष्पन्नमेवेत्याहुः । चरणपातोऽपि लेखरूप एवेत्यन्ये । अत्रालुप्यते इत्यन्तेन निराकाङ्क्षवाक्येन यक्षस्य विप्रलम्भरतिर्व्यज्यते, प्रिया तदालम्बनं दृष्टिलोपव्यङ्ग्यं दैन्यं व्यभिचारिभावः, इयमुक्तिरेवानुभावः । प्रकरणलभ्यः शाप उद्दीपनम्, यक्षरतिज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः । ननु क्रूर इत्यादिना निराकाङ्क्षवाक्येन व्यङ्ग्यो दैवविषया-सूयारूपव्यभिचारिभावोऽप्यस्तीति कथमयं नासूयारूपव्यभिचारिभावध्वनिरिति चेत्, तदंशे इष्टत्वादेव(B), [2]किन्तु द्वयोरपि निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वेन रसभावयोर्द्वयो-रङ्गाङ्गिभावापन्नसङ्करध्वनिरेवायं वक्ष्यमाणो बोध्यः, तथाऽपि सङ्करघटकविप्रलम्भ-ध्वनित्वमुपपद्यत एव[2]* ।

हास्यरसमुदाहरति—**आकुञ्च्येति** । रुदन्तं विष्णुशर्माणं दृष्ट्वा हसत उक्ति-

---

(A) "तस्मिन्" आलेख्ये इति तु युक्तम्, किमुत साक्षादिति 'अपि'कारार्थः ।
(B) अत्र 'चेत्' इत्यनन्तरं "न, तदंशे स इष्ट एव" इत्येवं पाठः कल्पयितुमुचितः, आदर्श-

---

1. अयमंशः ग-पुस्तके नास्ति । 2. 'किन्तु आलुप्यते इत्यन्तं न विप्रलम्भध्वनिरुपपद्यत एवातो रसभावयो-रङ्गाङ्गितयोपपन्नसङ्करध्वनिरयं द्वयोरपि निराकाङ्क्ष्यवाक्यव्यङ्ग्यत्वात् तथाप्यांशिकध्वनित्वेन तदुदाहरणत्व-मप्रत्यूहमेव' ग ।

तारस्वरं प्रहितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३७ ॥

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाशिषो
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि[A] ॥ ३८ ॥

रियम् । विष्णुशर्मा इति रोदिति । कीदृशं रोदितीत्यत्राह—आकुञ्च्येत्यादि हाहा-हतोऽहमित्यन्तम्, वेश्या मम मूर्ध्नि अशुचिं पाणिमाकुञ्च्य तारस्वरं प्रहितथूत्कञ्च यथा स्यात् तथा प्रहारमदात् । मूर्ध्नि कीदृशे ? प्रतिपदं प्रत्यवयवरूपप्रतिस्थानं मन्त्राम्भसां पृषतैः कणाभिः पवित्रे । अत एव अशुचिपाणिप्रहारेणात्यन्तदुःखाद् रोदनम् । तारेत्यादि द्वयं प्रहारदानक्रियाविशेषणम् । थूत्कं लाला । अत्र एतद्धकुर्हासस्य रुदद्विष्णुशर्मा आलम्बनम् । रोदनकथनमनुभावः । रोदन-वाक्यार्था आकुञ्च्येत्यादयः उद्दीपनानि । रोदनकथनव्यङ्ग्या वक्तश्चपलता व्यभि-चारिभावः । हासज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

करुणमाह—**हा मात**रिति । दह्यमानायां मदालसायां पुरस्त्रीणां रोदनं पूर्वार्द्धार्थः । तत् कथयतः कस्यचिदुक्तिः परार्द्धम् । पौराङ्गनानामित्थं गिरः चित्र-स्थानपीत्यन्वयः । भित्तीः देहलीः । त्वरिताऽसि त्वरितं गताऽसि । धिगिति शीघ्रं नश्वराणां दह्यमानप्राणानां तन्मरणेऽप्यनश्वराणां स्वप्राणानाञ्च निन्दा । दृग्दाहे संस्थानानुपलम्भेनात्यन्तदुःखाद् दग्धे इत्युक्तम् । गिरः कीदृश्यः ? स्वरभङ्ग्या घर्घराः, श्रमान्मध्यरुद्धाः, करुणाः कातर्य्यसूचकाः । घर्घरमध्यरुद्धयोः कर्मधारये तेन सह करुणा इत्यस्य कर्मधारयः । अत्र रुदतीनां शोकस्य दह्यमाना आलम्बनम्, रोदन-मनुभावः, [2]रोदनवाक्यार्थाश्च उद्दीपनानि[2]* । मध्यरोधव्यङ्ग्यः श्रमो व्यभिचारी । शोकज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

पुस्तकानां पाठस्तु समाधानांशे प्रथमान्तपदाभावेन पञ्चम्यन्तस्य दुरुपपादान्वयत्वेन लेखकप्रमाद-कृत इति प्रतिभाति ।

(A) काश्मीरराजजननीमरणे उत्साहयित्रा भट्टनारायणेन रुदितं कृतमिति जयन्तभट्टः । राजपत्न्यां स्वर्यातायां तत्परिजनविलापोक्तिरियमित्यन्ये । इति बालबोधिनी ।

---

1. 'प्रथित थूत्क' मिति पाठान्तरम् । 2. 'दृग्दाहादिरुद्दीपनम्' ख ।

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
(A)नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥३९॥
क्षुद्राः संत्रासमेते विजहित हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

रौद्रमाह—कृतमिति । स्वेच्छामृतद्रोणशिरश्छेदक्रुद्धस्याश्वत्थाम्नोऽर्ज्जुनं(B) सम्बोध्य उक्तिरियम् । इदं स्वेच्छामृतमत्पितृशिरश्छेदरूपं गुरु पातकं यैरुद्गतायुधैः मर्य्यादाशून्यैः अत एव मनुजपशुभिः भवद्भिरर्ज्जुनाद्यैः कृतम् अनुमतं दृष्टं वा, नरकासुरस्य रिपुणा कृष्णेन सहितानां भीमकिरीटिसहितानाञ्च तेषाम् असृङ्मेदोमांसैः अयमहं दिशां दिक्स्थितभूतानां बलिं करोमीत्यर्थः । किरीटी अर्जुनः, मेदः तैलम् । उदायुधानामीदृशाकार्य्यकरणानौचित्यान्मनुजपशुत्वाद्युक्तम् । तदुपपादनार्थम् उदायुधैरिति, अत एव निर्मर्य्यादैरिति । नरकरिपुपदश्लेषात् पातकरिपुत्वमपि सूचितम्, तेन पातककारिणः पातकरिपूंश्च हनिष्यामीत्यतो मत्क्रोधाज्जगदेव नङ्क्ष्यतीति भावः । अयमहमिति एतत्क्षणवर्त्ती अहमित्यर्थः । अत्र अश्वत्थाम्नः क्रोधस्य अर्जुनाद्या आलम्बनानि तेषामकार्य्यम् उद्दीपनम् । तादृशं तर्जनम् अनुभावः । तर्जनव्यङ्ग्यो गर्वोऽमर्षश्च व्यभिचारी । क्रोधज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः । न चात्र वीरो रस इति वाच्यम् असद्वीरत्वेन निन्दितेषु क्रोधस्यैवाविर्भावात् सद्वीर एवोत्साहात् ।

युद्धवीरमुदाहरति--क्षुद्रा इति । हे दृश्यमानाल्पसामर्थ्यत्वेन एते इयन्तः क्षुद्रा हरयः, सन्त्रासं विजहित त्यजत यतो भिन्नशक्रेभकुम्भा अमी मम सायकाः मच्चापान्निष्पतन्तो युष्मद्देहेषु अर्थात् पतितुं लज्जां परं केवलं दधति, न तु पाताभिमुख्यं पौरुषं वा, युष्मद्देहेषु निष्पतन्त इति तु नार्थः निष्पतनस्य पतनरूपत्वाभावात् । सौमित्रे इति मातृसम्बन्धकीर्त्तनम् अवीरत्वख्यापनाय । मेघनादः प्रसिद्ध एतन्नाम्ना, रामन्तु

(A) "पूर्वं दण्डक्रमेण कृतमित्याद्यभिधायानन्तरं क्रोधात् कर्म्म विस्मृत्यानुमन्तुः प्रागुपादानम् । पशुभिरित्यनेन बलिदानयोग्यता ध्वन्यते" इत्युदाहरणचन्द्रिकायां स्पष्टम् ।

(B) "अर्जुनादीन्" इति युक्तं केचिन्मन्यन्ते उत्तरत्र भवद्भिरिति दर्शनात् ।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥४०॥
ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने [1]दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।

किञ्चिदन्वेषयामि । तत्र हेतुमाह—भ्रूभङ्गेति, न तु सोऽपि सामस्त्येन ममान्वेषणपात्र-मिति भावः । अत्र भ्रूभङ्गेत्यादिना रामस्य सद्वीरत्वकथनमुत्साहस्यैवानुभाव इति वीर एवात्र रसः, रामस्तदालम्बनम् । जलनिधिनियमनमुद्दीपनम् । तदन्वेषण-मनुभावः । वानराद्युपेक्षाव्यङ्ग्यो गर्वो व्यभिचारी । उत्साहज्ञे सामाजिके रसोत्-पत्तिः । (A)दानधर्मदयावीराद्युदाहरणानि तु दानाद्यतिशयवर्णनश्लोका बोध्यानि ।

भयानकमाह—ग्रीवेति । मृगहननाय धावितरथस्य मृगक्रियां दर्शयतो दुष्मन्तस्य सारथिं प्रत्युक्तिरियम् । प्रकरणलभ्य एष मृग उदग्रप्लुतत्वात् प्रौढोत्-

(A) केचित्तु "युद्धवीरो धर्मवीरो दानवीर इति त्रिधा । वीरस्यैव च भेदोऽयं कथ्यते सूरिभिः परः ॥" इति वदन्तो दयावीरं नेच्छन्ति । प्रदीपे तु "युद्धवीरो दानवीरो दयावीरश्च" इति वीररसस्य त्रैविध्यमेवोक्तम् । उक्तचातुर्विध्यन्तु साहित्यदर्पणकृत्सम्मतम् । तत्र दानवीरो यथा—चण्डकौशिके द्वितीयेऽङ्के राज्ञ उक्तिः—नन्वयमनुगृहीतस्तर्हि भगवता वैवस्वतो वंशः—

नार्हन्ति सर्वभुवनान्यपि दक्षिणायै सर्वस्वदानविनिवेदनकुण्ठशक्तिः ।
पूर्णां धनैः कुशिकनन्दन तुभ्यमद्य कृत्स्नामिमां वसुमतीं विनिवेदयामि ॥ इति

अत्र दानपात्रं विश्वामित्र आलम्बनम्, भगवत्पदादिव्यक्तस्तदुत्कर्ष उद्दीपनम्, तेन स्थायि-भावस्य राज्ञः सर्वस्वदानोत्साहस्योद्दीपनात् ; ईदृशोक्तिरनुभावः, अनुगृहीत इत्यादिपदव्यङ्ग्या हर्षादयो व्यभिचारिणः, तदुत्साहज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

धर्मवीरो यथा शिशुपालवधे चतुर्दशसर्गे—

आननेन शशिनः कलां दधद्दर्शनक्षयितकामविग्रहः ।
आप्लुतः स विमलैर्जलैरभूदष्टमूर्त्तिधरमूर्त्तिरष्टमी ॥

इत्यन्तः श्लोकसमुदायः । अत्र राज्ञ उत्साहस्य यज्ञ आलम्बनं कृष्णोक्त्या प्राप्तो यज्ञे निर्विघ्नतादृढप्रत्यय उद्दीपनम्, याजकरूपपरिग्रहोऽनुभावः, हर्षो व्यभिचारी यज्ञोत्साहज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः । दयावीरो यथा मृच्छकटिके षष्ठेऽङ्के—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः ।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणार्थिनम् ॥

इति चन्दनकस्योक्तिः, अत्र आर्य्यकश्चन्दनकस्य दयाया आलम्बनम्, आर्य्यकस्य

1. 'बद्धदृष्टिः' इति पाठान्तरम् ।

[1]शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥४१॥
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ [2]पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः (A)करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं (B)स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥४२॥

फालत्वाद् वियति बहुतरं प्रयाति उर्व्यां स्तोकम्, एतत् पश्येत्यर्थः । मृगः कीदृशः ? अनुपतति पश्चाद्धावति स्यन्दने ग्रीवाभङ्गेणाभिरामं यथा स्यात् तथा मुहुर्दत्तदृष्टिः, तथा शरपतनभयात् शरपतन(परि)जिहीर्षातो भूयसा महता पश्चार्द्धेन पूर्वकायं प्रविष्टः कुञ्चिताङ्ग इत्यर्थः । भयपदन्तु नात्र भीतिपरम्, तस्या अत्र स्थायिभावत्वेन शब्दवाच्यत्वे रसत्वानापत्तेः । पश्चार्द्धेनेत्यत्र पृषोदरादित्वात् 'त' लोपः । तथा श्रमविवृतात् मुखाद् भ्रंशिभिः अर्द्धावलीढैः शष्पैः कीर्णवर्त्मा । अत्र मृगनिष्ठस्य भयस्य दुष्मन्त आलम्बनम् । शरपात उद्दीपनम् । सर्वा मृगक्रिया अनुभावाः । वाच्यः श्रमो व्यभिचारी । भयज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

बीभत्समाह—उत्कृत्येति । श्मशाने शवं भुञ्जानं प्रेतं दृष्ट्वा माधवस्योक्तिरियम् । अयं प्रेतरङ्कः प्रेतेषु दरिद्रः अङ्कस्थात् करङ्कात् प्रेतशरीरात् अस्थिसंस्थं स्थपुट-गतमपि क्रव्यं मांसम् अव्यग्रम् अनाकुलं यथा स्यात् तथा अत्तीत्यन्वयः । स्थपुटं ग्रन्थिः । क्रमेण भक्षणादव्यग्रता । भक्षणक्रममेवाह—उत्कृत्येति । कृत्तिं चर्म उत्कृत्योत्कृत्य प्रथमं जग्ध्वेत्यन्वयः । अथ अनन्तरं पृथूच्छोथेन महोत्फुल्लतया भूयांसि बहुलानि अंसस्फिक्पृष्ठपिण्डादिरूपावयवेषु सुलभानि उत्कटदुर्गन्धीनि मांसानि जग्ध्वेत्यन्वयः । अंसः भुजमूलम् । स्फिक् नितम्बः । आदिना ऊरु-परिग्रहः । स्थपुटगतस्यानुपेक्षणादार्त्तत्वम् । तदाकर्षणार्थं च दशनप्रकटनम् । कश्चिदाच्छिद्य नेष्यतीति भयात् पर्य्यस्तनेत्रत्वम् । अत्र माधवनिष्ठजुगुप्साया भक्ष्यः शवो भक्षकः प्रेतश्चालम्बनम् । पूतिगन्धाद्युद्दीपनम् । माधवस्येयमुक्तिः तद्वचनञ्च शरणागतत्वमुद्दीपनम्, ईदृशोक्तिरनुभावः मतिहर्षादयो व्यभिचारिणः, दयोत्साहज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिरिति । सुष्ठुतरोदाहरणानि तु मृग्याणि ।

(A) करङ्कः शिरोऽस्थि । (B) स्थपुटम् अस्थिसन्धिस्थानम् ।

---

1. 'दर्भै-' इति पाठान्तरम् । 2. 'पृथूत्सेध-' इति पाठान्तरम् ।

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥४३॥

एषां स्थायिभावानाह—

(४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः(A) ॥३०॥

स्पष्टम्।

निष्ठीवनञ्चानुभावः। एतद्दर्शनव्यङ्ग्या जडता व्यभिचारिभावः। जुगुप्साश्चे
सामाजिके रसोत्पत्तिः।
अद्भुतमाह—चित्रमिति। सर्वप्रकारप्रकृष्टं कञ्चिन्महापुरुषं दृष्ट्वा कस्यचिदुक्ति-
रियम्। अर्थादनुभूयमानमिदम् अवतारमहत्त्वादिकं चित्रं विलक्षणं न तु विस्मये
अत्र चित्रपदं तस्यात्र स्थायिभावत्वेन शब्दवाच्यत्वे रसत्वानाप्तेः। बत हर्षे।
एषोऽवतारः महान्, एषा कान्तिर्न कापीत्यर्थः। इयं भङ्गिरभिनवैव, धैर्य्यं लोकोत्तरं
प्रभावश्च अहो आश्चर्य्यः। अत्र च प्रभावविषय एव विस्मयः मतेः स्थायिभावः।
इयमाकृतिः काऽपि अनिर्वचनीया। एष विधेः सर्गः सृष्टिर्नूतनः। अत्र वक्तु-
विस्मयस्य महापुरुष आलम्बनम्, तस्य कान्त्यादिकमुद्दीपनम्, वक्तुरियमुक्तिरेवानुभावः।
बतपदार्थौ हर्षो व्यभिचारिभावः। विस्मयज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः (B)। रत्यादीनां
रतिर्हासश्चेति। उक्तरसानामेते यथासङ्ख्यं स्थायिभावाः।
लक्षणानि तूक्तानि दर्पणे। यथा—
रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

कारिकेयं नाट्यशास्त्रे दृश्यते (६ अ, १८ श्लो०)।

(A) कारिकेयं नाट्यशास्त्रे दृश्यते —

(B) रसगङ्गाधरकारास्तु—'चित्रं महानेषे'तिपद्ये विस्मयप्रतीतावपि नात्र अद्भुतरसध्वनित्वं सम्भवति, महापुरुषविषयभावे तस्य 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्' इत्यादाविव गुणीभावात्। दृष्टान्तश्लोके भक्तिप्रतीतिस्तु सहृदयहृदयैकप्रमाणा। तथाच—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव।
गलद्गगनगाम्भीर्य्यं वीक्ष्यास्मि हतचेतना ॥

इति मृद्भक्षणेनाधिक्षेपो न युक्त इति स्ववदनं दर्शयन्तं वासुदेवं प्रति यशोदाया उक्तिरेव सुष्ठूदाहरणमद्भुतरसस्य। अत्र वदनमालम्बनम्, तत्र चराचरदर्शनमुद्दीपनम्, हतचेतनत्वगम्यो

व्यभिचारिणो ब्रूते—

(४६) निर्वेद[१]-ग्लानि[२]-शङ्का[३]ख्यास्तथाऽसूया[४]-मद[५]-श्रमाः[६] ।

आलस्यं[७] चैव दैन्यं[८] च चिन्ता[९] मोहः[१०] स्मृतिर्[११]धृतिः[१२] ॥ ३१ ॥

व्रीडा[१३] चपलता[१४] हर्ष[१५] आवेगो[१६] जडता[१७] तथा ।

गर्वो[१८] विषाद[१९] औत्सुक्यं[२०] निद्रा[२१]ऽपस्मार[२२] एव च ॥ ३२ ॥

रागादिवैकृताच्चेतोविकाशो हास इष्यते ।
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं [1]शोक उच्यते ॥
प्रतिकूलेषु [2]तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोधसंज्ञितः ।
कार्य्यारम्भेषु संरम्भ [3]उत्साहः समुदाहृतः ।
रौद्रशक्त्यादिजनितं [4]वैक्लव्यं मनसो भयम् ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा [5]जुगुप्सेति निगद्यते ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्त्तिषु ।
[6]विस्तारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ॥ इति

'प्रवणायितम्' उत्कट आवेशोऽनुरागरूपः, सोऽपि इष्टसाधनताज्ञानधारारूपः ; नत्विच्छारूपः,अभिलाषहेतुत्वेनोक्तत्वात् । चेतोविकाश उपहसनीयत्वेन ज्ञानं मुखविकाश-रूपहास्यहेतुः । इष्टनाशादिभिरित्यादिपदाच्छोच्यावस्थामात्रपरिग्रहः । वैक्लव्यं दुःखम् । संरम्भः सहर्षप्रवृत्तिः । तैक्ष्ण्यस्य अपचिकीर्षायाः प्रबोध उत्कटत्वम् । रौद्रशक्त्येति रौद्रः क्रुद्धः तस्य क्रोधरूपया शक्त्या ; वैक्लव्यमिह भाविदुःखद्वेषः, तस्य च क्रोधजन्यत्वं तज्जन्यदुःखविषयत्वात्, न तु तज्जन्यं दुःखमेव वैक्लव्यं तदनुत्पत्तिदशायामपि भीत्युपलम्भात् । एवञ्च मनःक्षोभरूपाद्वक्ष्यमाणत्रासरूपव्यभिचारिभावादस्य भेदः ।

रोमाञ्चादिरनुभावः, त्रासादिर्व्यभिचारी । अत्र विद्यमानाऽपि पुत्रगता प्रीतिर्न प्रतीयते व्यञ्जका-भावात्, तत एव च महापुरुषत्वनिबन्धनो भावोऽपीति मन्यन्ते ।

---

1. 'शोकशब्दभाक्' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः । 2. 'तैक्ष्ण्यस्यावबोधः' इति मुद्रितसाहित्यदर्पण-पाठः । 3. 'स्थेयानुत्साह उच्यते' मु-सा-पाठः । 4. 'चित्तवैक्लव्यदं भयम्' मु-सा-पाठः । 5. 'जुगुप्सा विषयोद्भवा' मु-सा-पाठः । 6. 'विस्फार-' मु-सा-पाठः ।

सुप्तं[23] [1]विबोधो[24]ऽमर्षश्चा[25]प्यवहित्थ[26]मथोग्रता[27]।
मति[28]र्व्याधि[29]स्तथोन्माद[30]स्तथा मरण[31]मेव च ॥ ३३ ॥
त्रास[32]श्चैव वितर्क[33]श्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ३४ ॥

विस्तार इति दृष्टहेतुभ्योऽसम्भाव्यत्वज्ञानेन हेत्वनुसन्धाने मनोव्यापारणमेव चेतसो विस्तार इति विस्तारः। एते स्थायिभावाः स्ववासनायामभेदेनारोप्यमाणा रसतामापद्यन्ते इति दर्शितसिद्धान्तोऽवधेयः।

समाख्यातास्त्वति। नामत एव संक्षेपेणोक्ता इत्यर्थः। असंक्षेपकथने तु एकरसस्थायिभावोऽपि अन्यरसे व्यभिचारिभाव इति सूचितम्। अत एव दूरादुत् सुकमागते इत्यादौ कोपोऽपि व्यभिचारिभावत्वेनोक्तः। नामत इत्यनेन च लक्षणान्यन्यत्रानुसन्धेयानीति सूचितम्। तत्र दर्पणे—

(१) निर्वेदस्य यथा— तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्य-चिन्ता-श्रु-निःश्वास-वैवर्ण्यो-च्छ्वसितादिकृत् ॥ इति

(२) ग्लानेर्यथा— रत्यायास-मनस्ताप-क्षुत्-पिपासादिसम्भवा।
ग्लानिर्निष्प्राणताकम्प-कार्य्यानुत्सा हितादिकृत् ॥ इति

(३) शङ्कया यथा— परक्रौर्य्या-त्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य चिन्तनम्।
वैवर्ण्य-कम्प-वैस्वर्य्य-पार्श्वालोका-स्यशोषकृत् ॥ इति

(४) असूयाया यथा— असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता।
दोषेक्षण-भ्रूविभेदावज्ञा-क्रोधे-ङ्गितादिकृत् ॥ इति

(५) मदस्य यथा— सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगतः।
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥ इति

(६) श्रमस्य यथा— खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वास-निद्रादिकृच्छ्रमः। इति

---

1. 'प्रबोधः' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः।

(७) आलस्यस्य यथा—आलस्यं श्रमगर्भाद्यैः [1]पुरुषार्थेष्वनादरः । इति

(८) दैन्यस्य यथा— दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् । इति

(९) चिन्ताया यथा— ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यता-श्वास-तापकृत् । इति

(१०) मोहस्य यथा— मोहो विचित्तता भीति-दुःखा-वेगा-र्थचिन्तनैः ।
घूर्णता-गात्रपतन-भ्रमणा-दर्शनादिकृत् ॥ इति

विचित्तता ज्ञानाजननम् ।

(११) स्मृतेर्यथा— [2]सदृशज्ञान-चिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नमनादिकृत्[2]* ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ इति

(१२) धृतेर्यथा— ज्ञाना-भीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः ।
सौहित्यवचनो-ल्लास-सहास[3]प्रतिभादिकृत् ॥ इति

(१३) व्रीडाया यथा—(A)सङ्कोचश्चेतसो व्रीडा वैवर्ण्याधोमुखत्वकृत् । इति

संकोचः सहसा कार्येषु प्रवृत्त्यजननम् ।

(१४) चपलताया यथा—मात्सर्य्य-द्वेष-रागाद्यैश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सन-पारुष्य-स्वच्छन्दाचरणादयः ॥ इति

(१५) हर्षस्य यथा— (B)मनःप्रसादो हर्षः स्यादिष्टावाप्तिस्तवादिभिः । इति

(१६) आवेगस्य यथा—(C)आवेगः सम्भ्रमो राज-गज-वर्षादिसम्भवः । इति

सम्भ्रमो महत्त्वेन अनवज्ञेयत्वेन वा ज्ञानम्, गजवर्षयोरपि अपकारसामर्थ्यात् तादृशं ज्ञानमस्त्येव ।

(१७) जडताया यथा—अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षण-तूष्णीम्भावादयस्तत्र ॥ इति

अप्रतिपत्तिः कर्त्तव्यमूढता, अतो ज्ञानाजननरूपाद्विचित्ततात्मकान्मोहाद्भेदः ।

(A) 'धार्ष्ट्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद्दुराचारात्' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(B) 'हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(C) आवेगः सम्भ्रमस्तत्र वर्षजे पिण्डिताङ्गता । उत्पातजे स्रस्तताऽङ्गे धूमाद्याकुलताऽग्निजे । राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् । गजादेः स्तम्भकम्पादिपांश्वाद्याकुलताऽनिलात् । इष्टाद्धर्षाः शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ॥ इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

---

1. 'जाड्यं जृम्भासितादिकृत्' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः । 2. अयमंशः क-पुस्तके नास्ति । 3. 'वचनादि-'-क ।

(१८) गर्वस्य यथा— गर्वो मद-प्रभाव-श्री-विद्या-सत्[1]कुलजन्मभिः ।
अवज्ञा-सविलासाङ्गदर्शना-ऽविनयादिकृत् ॥ इति

अवज्ञा परस्मिन् ।

(१९) विषादस्य यथा—उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्वसंक्षयः ।
निःश्वासो-च्छ्वास-हृत्ताप-सहायान्वेषणादिकृत् ॥ इति

निष्प्राणता-ऽनौजस्य-सत्त्वसंक्षयाणां त्रयाणामपि बलहानिरूपत्वेऽपि विभिन्नकारणकत्वेन ग्लानि-दैन्य-विषादानां भेदः ।

(२०) औत्सुक्यस्य यथा—इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्तताप-त्वरा-स्वेद-दीर्घनिःश्वसितादिकृत् ॥ इति

(२१) निद्राया यथा— चेतःसम्मीलनं निद्रा श्रम-क्लम-मदादिजा ।
जृम्भा-क्षिमीलनो-च्छ्वास-गात्रभङ्गादिकारणम् ॥ इति

(२२) अपस्मारस्य यथा—मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपात-कम्प-प्रस्वेद-फेन-लालादि[2]कारणम् ॥ इति

अपस्मारोन्मादयोर्व्याधित्वेऽपि शृङ्गारे एतावेव, भयानकादौ तु ज्वरादिरपीति प्रतिपादनार्थं पृथगुपादानम् ।

(२३) सुप्तस्य यथा— [3]सुप्तं निद्रायमाणस्य विषयानुभवश्च यः ।
कोपा-वेग-भय-ग्लानि-सुख-दुःखादि-[4]कारणम् ॥ इति

(२४) विबोधस्य यथा—निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाऽङ्गभङ्ग-नयनोन्मीलना-ङ्गावलोककृत् ॥ इति

(२५) अमर्षस्य यथा— निन्दाऽऽक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
नेत्रराग-शिरःकम्प-भ्रूक्षेपो-त्तर्जनादिकृत् ॥ इति

अभिनिविष्टता तन्निर्यातनोपायभावना । तेनोत्कट्यापचिकीर्षारूपात् क्रोधादस्य भेदः ।

(२६) अवहित्थस्य यथा—(A)अवहित्थं तु लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनम् । इति

(A) 'भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था । व्यापारान्तरसक्त्यन्यथाऽवभाषणविलोकनादिकरी ॥' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

1. 'कुलतादिजः' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः । 2. '-कारकः' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः ।
3. 'स्वप्नो निद्रामुपेतस्य' मुद्रितसाहित्यदर्पण पाठः । 4. '-कारकः' मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः ।

निर्वेदस्यामङ्गल[1]प्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम्(A)। तेन—

(२७) उग्रताया यथा— (B)अधिक्षेपापमानादेर्श्चिस्तचण्डत्वमुग्रता। इति

चण्डत्वं साहङ्कारतदसहिष्णुत्वम्। तेन क्रोधामर्षाभ्यां भेदः।

(२८) मतेर्यथा— नीतिशास्त्रानुसृत्यादेरर्थनिर्द्धारणं मतिः।

स्मेरता धृतिसन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवाः॥ इति

(२९) व्याधेर्यथा— व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छाकम्पनादिकृत्। इति

(३०) उन्मादस्य यथा—चित्तस्य [2]भ्रम उन्मादः काम-शोक-भयादिभिः।

अस्थानहास-रुदित-गीत-प्रलपनादिकृत्॥ इति

(३१) मरणस्य यथा—[3]शस्त्राद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्। इति

इदन्तु मरणस्यैव लक्षणम्, व्यभिचारिभावत्वन्तु नेदृशस्य मरणस्य, किन्तु चिन्ताकाङ्क्षितस्य जातप्रायस्य वा, तदुक्तम्—

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते।

जातप्रायन्तु तद्वाच्यं चेतसाऽऽकाङ्क्षितञ्च तत्॥ इति

(३२) त्रासस्य यथा— निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः। इति

त्रासो दुःखहेतुर्मनःक्षोभः, भयन्तु भाविदुःखद्वेष इति भेदः। एष च भयानकस्यैव व्यभिचारिभावः अन्यत्रैतदसम्भवादिति बोध्यम्।

(३३) वितर्कस्य यथा— तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्त्तकः। इति

एषां कस्यचित् कचित् स्थायिभावत्वं योग्यतावशात् स्वयमूह्यम्। अमङ्गल-

---

(A) इदन्तु "कुतोऽपि कारणात् क्वापि स्थिरतामुपयन्नपि।

उन्मादादिर्न तु स्थायी न पात्रे स्थैर्य्यमेति यत्॥

यथा विक्रमोर्वश्यां चतुर्थेऽङ्के पुरूरवस उन्मादः" इति साहित्यदर्पणोक्तिविरुद्धमित्यवगन्तव्यम्।

(B) 'शौर्य्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता। तत्र स्वेदः शिरःकम्पतर्जनाताडनादयः॥' इति साहित्यदर्पणः।

---

1. 'प्रायत्वात्' इति पाठान्तरम्। 2. 'चित्तसम्मोह उन्मादः' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणः। 3. 'शराद्यैः' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणः।

(४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

यथा—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।

प्रायस्येति स्वावमाननरूपस्य तस्यामङ्गलत्वं नासंसारिणामित्यतः [1]प्रायस्येत्युक्तम् । स्थायित्वाभिधानार्थमिति स्थायिभावसन्निहितपाठादिति भावः ।

शान्तोऽपीति, तल्लक्षणादिकं तु उक्तं दर्पणे—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिमतः ।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ॥
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमुच्यते ॥
पुण्याश्रम-हरिक्षेत्र-तीर्थ-रम्यवनादयः ।
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ॥ इति

अत्र च शमस्थायिभावत्वकथनं मतान्तर एव, ग्रन्थकृन्मते तु निर्वेद एवास्य स्थायिभावः । न च शमपदमेवात्र निर्वेदपरमिति वाच्यम्—

शमो निरीहावस्थायामात्मविश्रान्तिजं सुखम् ।

इति तत्रैव तल्लक्षणात्(A) । अत एवालम्बनकथनमपि अत्र शमस्थायिभावपक्ष एव, निर्वेदस्थायिभावपक्षे तु अवमाननीयं स्वमेवावलम्बनम् । अनुभावव्यभिचारिणस्त्वाह—

रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः ।
निर्वेद-हर्ष-स्मरण-मति-भूतदयादयः ॥ इति

अत्र च ग्रन्थकृन्मते निर्वेदमपहायैव व्यभिचारिणो बोध्याः । स्मरणमती ईश्वरविषये । भूतदया दैन्यविशेष एव पर्य्यवस्यति, परदुःखेन स्वानौजस्यरूपाया दयाया उक्तदैन्यलक्षणाक्रान्तत्वादित्यतो व्यभिचारिभावत्वम् । अहौ वेति । अहि-

---

(A) इदमुपलक्षणम्, निर्वेदस्य व्यभिचारित्वेनोक्तिरपि शमपदस्य निर्वेदपरत्वाभावे हेतुर्द्रष्टव्यः ।

---

1. 'प्रायत्वादि'ति ख-ग-घ ।

तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्याऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥ ४४ ॥

(४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥ ३५ ॥
भावः प्रोक्तः—

हारादिष्वेकं द्वेषार्हमन्यद्रागार्हम्, उभयत्रैव समदृशो मम शिव शिव शिवेति प्रलपतः क्वचित् पुण्येऽरण्ये दिवसाः कदा यान्ति यास्यन्तीत्यर्थः। कदाशब्दयोगे भविष्यदर्थे वर्त्तमाना(A)। स्त्रैणं स्त्रीसमूहः। अत्र च रागद्वेषराहित्यात् शिवजपे प्रलापत्वारोपाच्च आत्मन उन्मत्तत्वसूचनेन स्वावमानरूपो वक्तुर्निर्वेदः प्रतीयते। तस्य स्वमालम्बनम्, पुण्यारण्यमुद्दीपनम्, इयमुक्तिः शिवजपे प्रलापत्वारोपश्चानुभावः, उक्तजपेन दिवसगामिताशंसाव्यङ्ग्यो हर्ष औत्सुक्यश्च व्यभिचारिभावः ; निर्वेदज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः।

रसनिरूपणानन्तरं रसभावतदाभासेत्यादिक्रमप्राप्तं भावमाह—रतिरित्यादि। रतिरुक्तलक्षणैव, [1]सैव च कान्ताकान्तविषयत्वे शृङ्गारः[1]* अन्यविषयत्वे तु भावः। परन्तु भक्तियोग्यदेवादिविषयत्वे भक्ति[2]रूपा पुत्रादिविषयत्वे स्नेहरूपा बोध्या। **व्यभिचारी तथेति।** रतिरञ्जिता व्यभिचारी चाञ्जित इत्यन्वयः। [3]'अञ्जितः' व्यञ्जितः। [4]व्यञ्जितत्वञ्च निराकाङ्क्षवाक्येनैवेति बोध्यम्, तदैव तस्य प्राधान्यात्, अन्यथा निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यं यत् तद्ध्वनित्वमेवास्य स्यात्। एवञ्च एकत्रैव पद्ये यत्र कान्तादिविषयरत्यादेर्व्यभिचारिभावस्य च व्यङ्ग्यत्वं तत्र निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यं यत् तेनैव तद्ध्वनित्वव्यवहारः, इतरस्य तु तद्धेतुतैवेति विनिगमना। अत एव 'शून्यं वासगृह'-मित्यादौ व्यङ्ग्यस्यापि हर्षस्य निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्ये शृङ्गारे हेतुतैव। यत्र तु द्वयमपि निराकाङ्क्षवाक्यद्वयव्यङ्ग्यं तत्रोभयसङ्करध्वनित्वमेव ; यथा त्वामालिख्येत्यादौ विप्रलम्भासूययोः। व्यभिचारिणाञ्च यथासम्भवमेव भावत्वम्, न तु सर्वस्य

(A) श्लोके "क्वचित्" इत्यत्र "कदा" इति पाठाभिप्रायेणेदमिति बोध्यम्।

---

1. 'सैव कान्तविषयत्वे शृङ्गारः' ख, 'कान्तविषयत्वे शृङ्गारः' ग। 2. '-रूपैव' ख, '-रूपैव सा' ग। 3. 'अञ्जितः स्वातन्त्र्येण व्यञ्जित इत्यर्थः। स्वातन्त्र्यञ्च निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वं साकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वे तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यमपरं रसादिकं प्रति तस्य व्यभिचारिभावत्वमेव' घ। 4. 'व्यञ्जितत्वञ्चानिराकाङ्क्ष-'-ख।

आदिशब्दाद् मुनि-गुरु-नृप-पुत्रादिविषया, कान्तविषया तु व्यक्ता श्रृङ्गारः। उदाहरणम्—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥ ४८ ॥

व्याध्यादीनामतथात्वात्। पुत्रादीत्यादिपदाद् अनुरागपात्रमात्रपरिग्रहः। [1]कान्तेत्येकशेषः(A) तेन कान्ताकान्तद्वयं बोध्यम्[1]*। [2]तद्द्वयश्च उपनायिकोपनायकसाधारणं बोध्यम्[2]*। एवं श्रृङ्गारोऽप्याभाससाधारणः। व्यक्तः अञ्जित इति रूपद्वयं, रौधादिकचौरादिकाभ्यामञ्जिभ्यां सिद्धम्। देवादिविषयरतेर्व्यभिचारिभावस्य च स्वस्व[3]विभावादिभिरेव व्यञ्जन[3]* रसोक्तरीत्या स्ववासनायामारोप[4]रूपम्, तद्रीत्यैव साक्षात्कारश्च बोध्यः[4]*। [5]देवादिविषयरतिव्यभिचारिभावयोरेकस्य निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वे अन्यस्तत्र व्यभिचारिभाव इत्यादि स्वयमूह्यम्[5]*। तत्र देवविषयां रतिमुदाहरति—**कण्ठकोणे**ति। हे ईश मम कालकूटमपि महामृतं यतस्ते कण्ठस्य कोणे एकदेशे विनिविष्टं तज्जातीयमित्यर्थः त्वच्छरीरसम्बन्धान्महामृतमित्यर्थः। [6]भेदेत्यत्र कृदभिहितभावत्वाद् भिन्नेत्यर्थः, तस्यापि तन्मात्रेत्यर्थः, तथाच (B)तन्मात्रवृत्ति यदि[6]* तदा उपात्तम् उपस्थितम् अपि अमृतं न मे रोचते इत्यर्थः। भेदवृत्ति भेदव्याप्यमिति वा अर्थः। अत्र वक्तुर्भक्तिरूपाया रतेर्महेश आलम्बनम्, तदीयमीशत्वमुद्दीपनम्, विषामृतयो रुच्यरुची अनुभावौ, तत्सूचिते हर्षासूये व्यभिचारिणौ, रतिश्च

(A) "कान्तविषया व्यक्ता श्रृङ्गारः" इत्येवं वृत्तिग्रन्थपाठाभिप्रायेणेदम्, कान्ताविषयेति पाठानुसरणे तु एकशेषेण कान्तविषयकत्वलाभो दुष्करः प्रत्ययमात्रकृतभेदैकशेषस्थले पुंस एव शिष्टत्वस्यानुशासनसिद्धत्वात्। तथाच कान्ताविषयेति पाठानुसारिणौ अधस्तादुल्लिखितौ पाठभेदौ लिपिकृत्प्रमादकृतावेव। तयोरप्रामादिकत्वे तु एकशेषपदमुपलक्षणार्थकतया व्याख्याय सङ्गतिर्विधेया।

(B) तन्मात्रेति भवद्वपुर्भिन्नमात्रेत्यर्थः।

---

1. 'कान्तेत्येकशेषात् कान्तविषयकत्वमपि बोध्यम्' क, 'कान्तेत्यत्र कान्तोऽपि बोध्य एकशेषात्' ग। 2. 'कान्ताकान्तौ उपनायकोपनायिकासाधारणौ बोध्यौ' ग। 3. 'विभावानुभावव्यञ्जनं बोध्यम्' ख। 4. '-रूपः साक्षात्कारः' ख। 5. 'परन्तु व्यभिचारिभावस्य निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वे साकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यरत्यादिरिव व्यभिचारिभावो बोध्य इति प्रतिपादितमेव बहुशः' ग। 6. 'भवद्वपुषो भेदो यत्र तत् भवद्वपुर्भिन्नं तन्मात्रवृत्तीत्यर्थः यद्वा वृत्तिपदं व्याप्यपरं तथाच भवद्वपुर्भेदव्याप्यं यदि' ख।

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ ४६ ॥

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

सामाजिके भावोत्पत्तिः । अहौ वेत्यादौ तु शिवजपे प्रलापत्वारोपाद् न तद्विषयभाव इति बोध्यम् ।

मुनिविषयां रतिमाह—हरत्यघमिति । अभ्यागतं नारदं प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिरियम् । भवदीयदर्शनं कर्त्तृ कालत्रितयेऽपि शरीरभाजाम् अस्मादृशाम् अभीष्टभाजनत्वरूपां योग्यतां व्यनक्ति अनुमापयति, तत्र वर्त्तमानकालेऽघहरणम्, एष्यतः आगमिष्यतः शुभस्य हेतुत्वेन भाविकाले शुभवत्ताम्, अतीतकाले च भवद्दर्शनानुमेयां शुभवत्तां पूर्वार्द्धेनाह—हरत्यघमिति । कृतं जनितम् । अत्र मुनिरालम्बनम्, तद्दर्शनमुद्दीपनम्, श्रीकृष्णस्येयमुक्तिरेवानुभावः, अभीष्टवत्ताव्यङ्ग्यो हर्षो व्यभिचारी, मुनिविषयश्रीकृष्णरतिज्ञे सामाजिके भावोत्पत्तिः ।

एवमन्यदपीति । तत्र गुरुविषयरतौ यथा—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् संयमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥

इति कुलगुरुं वशिष्ठं प्रति दिलीपस्योक्तिः । नृपविषयरतौ यथा—

अहो महीयो भूपाल भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥ इति

पुत्रविषयरतौ यथा—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ इति

पितृ-मातृ-विमातृविषयरतौ यथा—

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे ।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥

इत्युत्तररामचरिते रामस्योक्तिः ।

अङ्गितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ४७ ॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

भ्रातृविषयरतौ यथा—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥ इति

कन्याविषयरतौ यथा—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषु या
नाऽऽदत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

इत्याश्रमवृक्षान् प्रति कण्वस्योक्तिः ।

सुहृद्विषयरतौ यथा मम—

दुःखे सुखे रहसि नर्म्मणि तुल्यधर्मा
[1]मर्मान्तिकेऽपि किल कर्मणि शर्मदायी ।
धर्मेऽप्यवैषि रुधिरं चलितो न धर्मे
त्वं मे सखे जगति कोऽस्ति तव द्वितीयः ॥ इति

[2]उदासीनविषयरतौ यथा—

यः पूयते सुरसरि[3]न्मुखतीर्थ-सार्थ-
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन ।
सौजन्यमानजनिरूर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥ इति*[2]

जाने कोपेति । स्वप्नवृत्तं सख्यौ कथयत उक्तिरियम् । जाने स्मरामि । पाणिना मां मा स्पृशेति कृत्वेत्यर्थः । यद्वा मां मा स्पृशेति पाणिनैव कृत्वेत्यर्थः । [4]तथाचोत्तरमकृत्वा हस्तसंज्ञयैव निषिध्येत्यर्थः[4]* । शठेन खलेन । अत्रेति असूया-

---

1. 'मर्मान्तिके' ख । 2. चयमंशः ख-पुस्तके नास्ति । 3. '-न्मुखतीर्थमर्थि-' ग । 4. 'हस्तसंज्ञयैवानुत्तरं निषिध्येत्यर्थः-' क-ख ।

(४९)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

व्यञ्जकवाक्यस्यैव निराकाङ्क्षत्वादिति भावः[1] । अतोऽत्र प्रतीयमानोऽपि विप्रलम्भः असूयाभावस्य व्यभिचारिभावतामेवापन्नः । त्वामालिख्येत्यादौ तु आलुप्यते इत्यन्तं न केनापि साकाङ्क्षीकृतम् । एवञ्च रसकाव्येऽपि भावो भावकाव्येऽपि रसो वर्त्तत एव । तत्तद्ध्वनित्वनियामकन्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव ।

अत एवान्यत्रोक्तम्—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृतासिद्धिरनयो रसभावयोः ॥ इति

न चैवमत्र रसस्य भावाङ्गत्वे [2]वक्ष्यमाणमपराङ्गाख्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यमेव किमिदं न स्यादिति वाच्यम्, अत्र रसस्य असूयानिर्वाहकत्वेन स्वचमत्काराभावादपराङ्गत्वाभावात् ; यत्र स्वस्यैव चमत्कारिता तदङ्गिनस्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव तत्र स्वचमत्कारेणाङ्गिप्रकर्षकस्याङ्गस्यैव अपराङ्गत्वम्, तच्चाग्रे बोध्यम्[2]* ।

तदाभासा इत्यत्र तत्पदस्य रसभावोभयपरामर्शकत्वमभिप्रेत्य व्याचष्टे—**रसाभासा** इत्यादि । अनौचित्येति शृङ्गारादौ यद् यदालम्बनं वर्जितं तत्तदालम्बनकत्वमेव अनौचित्यं बोध्यम् ।

---

1. अतः परं 'आश्वासयामीत्यन्तस्य निराकाङ्क्षवाक्यस्य आख्यातान्तत्वेन निराकाङ्क्षत्वेऽपि यावदित्यनेन साकाङ्क्षीकृतत्वात्' इति क-ख पुस्तकयोरधिकः पाठः टिप्पणीति प्रतिभाति ।

2. 'वक्ष्यमाणापराङ्गाख्य (गुणीभूत) व्यङ्ग्य काव्यं यत् कैलासालयभाललोचनरुचेत्यादिकं वक्ष्यमाणं तद्वदेवेदमपराङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यम्, तत्कथमसूयाभावध्वन्युदाहरणमिति वाच्यम् अङ्गापेक्षया अङ्गस्य चमत्कारित्वेऽपराङ्गता अपरस्याङ्गिनिर्व्वाहकत्वे तु ध्वनित्वमिति भेदात् । अङ्गित्वन्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वेनैव, तदिहासूयानिर्व्वाहकविप्रलम्भस्तदधीनत्वादेवासूयायाः, चमत्कारित्वन्तु असूयाया एव, अपराङ्गे तु अङ्गेनैव चमत्कारोऽङ्गिनस्तु तेनैव चमत्कारित्वम्, निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यतामात्रेण त्वङ्गित्वं तत्रैव दर्शयिष्यते । रसस्य रत्याख्यभावाङ्गत्व एव चमत्कारित्वं व्यभिचारिभावाङ्गत्वे तु तन्निर्व्वाहकत्वमेवेत्युदाहरणेषु स्वयमूह्यम् । नापीदम् अङ्गाङ्गिभावापन्नरसभावसङ्करध्वनिकाव्यं द्वयोर्निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्व एव तथात्वात् । अवधेयमिदं बिम्बस्थानखकान्तिबिम्बेत्यादौ वक्ष्यमाणे तदुदाहरणे त्वामालिख्येत्यादौ च भादानकत्वेन (?) नायकानां तथाविधत्वनियमात् तद्विषयः, एवं रीतिर्भावाभासादावपि बोध्या' ग ।

तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥ ४८ ॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः स्तुम इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

"तत्र" शृङ्गारे । अत्र "दक्षिणाद्याश्च नायका" इत्यनेनाधर्म्यनायकवर्जनात् तेषामनेकत्वेऽप्यधर्म्यत्वध्रौव्येण अनेकोपनायकविषयनायिकारतावुदाहरति—स्तुमः कमिति । हे वामाक्षि सुन्दरनयने, यं पुरुषं विना त्वं क्षणमपि न रमसे न हृष्यसि तं कं स्तुमः तवेदृशानुरागविषयत्वेन तस्य स्तुत्यत्वादिति भावः । तथा यं पुरुषं मृगयसे अन्विष्यसि कोऽसौ, अर्थाज्जन्मान्तरे रणरूपयज्ञस्य मुखे आदौ प्राणान् विलेभे त्यक्तवान् । विपूर्वो लभिस्त्यागेऽपि । त्वत्कर्तृकान्वेषणरूपं फलं जन्मान्तरे सम्मुखरणमरणस्यैवेति भावः । तथा हे शशिमुखि, यं पुरुषं बलादालिङ्गसि स कः सुलग्ने जातः, तथा हे मदननगरि, यं तु पुरुषं ध्यायसि कस्यैषा त्वद्ध्यानरूपा तपःश्रीः । अत्रेति स्तुम इत्यादि वाक्यचतुष्टये 'अनुगतं' सम्बद्धं 'बहुव्यापारोपादानं' कृदभिहितभावत्वात् उपात्ता बहुव्यापाराः सदा रमणमार्गणालिङ्गनध्यानरूपाः, तस्या अनेककामुकविषयमभिलाषं व्यनक्तीत्यर्थः । व्यक्तेनाभिलाषेण च स्वजनकेष्टसाधनताज्ञानधारारूपा रतिर्व्यज्यते इत्यर्थः ; न त्वभिलाषरूपैवात्र रतिस्तस्या अभिलाषव्यङ्ग्यत्वस्यैव प्रागुक्तत्वात् । नन्वीदृशव्यापाराणां स्वीयैकनायकविषयत्वमपि सम्भवति तत् कथं कामुकानेकत्वलाभ इति । अत्र चक्रवर्त्ती—सर्वत्र वर्त्तमानानिर्देशादेककालत्वे लब्धे विभिन्नकालीनानामालिङ्गनान्वेषणादीनाम् [1]एकदैकपुरुषेऽसम्भवात् तदनेकत्वलाभ इति व्याचष्टे, तन्न ; दृष्टः स्वपिति गच्छतीत्यादाविव विभिन्नकालीनक्रियास्वपि तत्तत्कालवर्त्तमानत्वमादाय वर्त्तमानानिर्देशसम्भवादेककालत्वालाभात्, [2]अन्यथा एकपुरुषालिङ्गनकाले अन्यपुरुषस्य कायिकान्वेषणासम्भवात्तद्दोषतादवस्थ्यात् ; न ह्यत्र मानसमन्वेषणं विवक्षितं तस्य ध्यानेन गतार्थत्वात् । अत्रोच्यते—ध्यायसि तु यमित्यत्र पूर्वनिर्दिष्टक्रियाकर्मीभूतस्य पुरुषस्य 'तु' शब्देन ध्यानान्वये [3]व्यवच्छिन्नत्वात् यत्पदचतुष्टयाच्च कामुकानेकत्वलाभः, न हि यं पटं क्षालयसि कोऽसौ यं तु परिधत्से कोऽसावित्युक्तिः

---

1. 'एकदैव' क-ख । 2. 'अन्यथा अनेकपुरुषेष्वपि तदसम्भवात् एक-' ग । 3. 'व्यवच्छेदात्' ख-ग ।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।
तत् किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥ ४९ ॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः सबलता तथा ॥ ३६ ॥

पदैकत्वे सम्भवति, न वा [1]प्रष्टव्यैकत्वे प्रतिप्रश्नं यत्पदनिर्देश उचितः । एवं मदननगरीत्यत्रापि अनेकपुरुषाश्रयनगरीरूपणादपि नानापुरुषविषयानेकमदनाश्रयत्वसूचनं बोध्यम् ।

भावाभासो यथेति । अत्र भावो व्यभिचारिभावः, तस्य चात्र शृङ्गारीयत्वेन शृङ्गारवर्जितानुरागिणीविषयत्वादाभासता बोध्या । **राकेति** । राका पूर्णिमा । तरङ्गितः तरङ्गवदुत्तरोत्तरं जायमानः । तथाच सा इत्थं सौन्दर्यादनुपेक्षणीया, तत् तस्मात् किं करोमि, अत्र अस्यां कथं मैत्रीं विदधे, तत्कर्तृकस्वीकारसमूहे इह क उपाय इत्यर्थः । यत्किञ्चित् स्वीकारस्यानुद्देश्यत्वाद् व्यतिकर इत्युक्तम् । अत्र तत्स्वीकारोपायचिन्तया [2]अननुरागित्वलाभात् तद्विषया चिन्ता अनौचित्यप्रवर्त्तितैवेत्याह—**अत्रेति** । **एवमन्येऽपीति**, रसाभासे निःशेषेत्यादिकं यः कौमारहरेत्यादिकञ्च । भावाभासे तु—

गामारुहम्मि गामेवसामिनअरटिठइं न आणामि ।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ इति

अत्र परपुरुषहरणाधीनो गर्वोऽनुचितः ।

रसभावेत्यादिक्रमप्राप्तान् भावशान्त्यादीनुदाहर्त्तुमाह—**भावस्य शान्तिरित्यादि** । 'शान्तिः' नाशः । 'उदयः' उत्पत्तिः । 'सन्धिः' विरुद्धयोर्द्वयोरवच्छेदकभेदेन एकत्र एकदा स्थितिः । (A)सबलता पूर्वपूर्वभावापेक्षया उत्तरोत्तरभावानां[3]

(A) कारिकास्थः "सबलता"शब्दस्तालव्यादितया बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, उक्तञ्च प्रदीपे "शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम् । न च भावस्य शबलतायाः शान्त्युदयाभ्यामविशेषः शान्तेरुदयस्य वा एकैकस्यास्वादे तद्भेदद्वयोपगमात्" इति । साहित्यदर्पणेऽप्यस्य तालव्यादित्वमुपलभ्यते ।

---

1. 'पुरुषैकत्वे' क । 2. 'अननुरागिणीत्वं लभ्यते' क । 3. '-भावात्मकबलवत्त्वमूहः' ख ।

क्रमेणोदाहरणम्—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत् संप्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्याऽपि
तद् विस्मृतम् ॥ ५० ॥

अत्र कोपस्य

एकस्मिञ्छयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥ ५१ ॥

अत्रौत्सुक्यस्य ।

बलवत्ता (A)बलवत्समूहो वा, न त्वत्र पूर्वभावस्य नाशप्रतीतिरतो भावशान्तितो भेदः। एतेषां निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वे तत्तद्ध्वनित्वं बोध्यम्। तत्र भावशान्तिमुदाहरति—तस्या इति। स्वनायिकाकोपतच्छान्तिवृत्तं सख्यौ कथयत उक्तिरियम्। तत्र सम्भुक्तोपनायिकास्तनरागाङ्कितवक्षसं प्रणमन्तं स्वनायकं प्रति कुपितायाः नायिकाया उक्तिः प्रथमार्द्धम्। तत्र च प्रश्लेष आलिङ्गनम्। मुद्राङ्कितं चिह्नितम्। इति पूर्वार्द्धे तया उक्ते, तन्मुद्राङ्कितत्वं सम्प्रमार्ष्टुं गोपायितुं मया 'क्व तत्' इत्युदीर्य्य सहसा सा आश्लिष्टा, तत्सुखवशात् तया तन्व्याऽपि तत् मुद्राङ्कितत्वं विस्मृतमित्यर्थः। कोपस्येति शान्तिरित्यनुसङ्गः। एवमुत्तरोत्तरमपि। कोपस्य च शृङ्गारे व्यभिचारिभावत्वं दर्शितमेव। कोपहेतोर्मुद्राङ्कितत्वस्य विस्मरणेन कोपस्य शान्तिर्व्यङ्ग्या विस्मृतमिति वाक्यस्य तद्व्यञ्जकस्य निराकाङ्क्षत्वात्।

भावोदयमुदाहरति—एकस्मिन्निति। शयने शय्यायाम्। विपक्षरमणी सपत्नी उपनायिका वा। सुप्त इव निद्रित इव निस्पन्दः चाटुकरणविमुखो मा भूदित्यर्थः। अमन्देति वलितक्रियाविशेषणम्। न चात्र यदि पूर्वकोपः प्रतीयते तदा सन्धिरेव यदि च तन्नाशः प्रतीयते तदा भावशान्तिरेवेति वाच्यं, पुनर्वीक्षणेन उत्सुक्यस्यैव प्रतीतेः, न तु कोप-

---

(A) अत्र "बलवत्समूह" इत्यर्थः जनता इत्यादिवत्'त'प्रत्ययेन कथञ्चिदुपपादनीयः।

---

1. 'च' इति पाठान्तरम्।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीर[1]रभसोत्फालश्च मां कर्षतः।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी (A)हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥८२॥

अत्रावेगहर्षयोः।

काऽकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय [2]मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।

नाशसत्त्वयोरेकस्यापि नाप्यौत्सुक्योदयादेव कोपनाशध्रौव्यात् तन्नाशप्रतीतिः कोपसत्त्वेऽपि चाटुकरणार्थमौत्सुक्योदयसम्भवात्।

भावसन्धिमुदाहरति—उत्सिक्तस्येति। परिरभ्यमाणवैदेहीकस्य भावनोपनीतवैदेहीकस्य वा रामस्य परशुरामागमे परामर्शोऽयम्। तपःपराक्रमोभयनिधेः अत एव उत्सिक्तस्य उद्दृप्तस्यार्थात् परशुरामस्य अभ्यागमात् सत्सङ्गे प्रियता इच्छा वीररभसे वीरोचितोद्यमे उत्फालः उत्कण्ठता च माम् एकतः एकस्यां दिशि कर्षतः, तपःपराक्रमद्वयवशात् यथासङ्ख्यं तद्द्वयेनाकर्षणम्। अन्यतः अन्यस्यां दिशि एषः अनुभूयमानः भावनोपनीतः वा वैदेहीपरिरम्भः मां रुणद्धि मुनिपार्श्व[3]गमनान्निवर्त्तयतीत्यर्थः। परिरम्भः कीदृशः? हरिचन्दनं चन्दनविशेषः तद्वद् इन्दुवच्च शिशिरः स्निग्धः, स्पृहणीयत्वमेव स्निग्धत्वम्। अत एव आनन्दी आनन्दजनकः। अत्रेति। 'आवेगः' मुनावनवज्ञेयत्वरूपः सम्भ्रमः, स च उभयाकर्षणव्यङ्ग्यः। हर्षस्तु परिरम्भरुध्यमानत्वव्यङ्ग्यः। अनयोर्विरुद्धयोरेकदा एकत्र स्थितिरूपः सन्धिरत्र निराकाङ्क्षवाक्यद्वयव्यङ्ग्यः।

भावसबलत्वमुदाहरति—क्वाकार्यमिति। ऊर्वशीविरहात् स्वमरणमुपक्रम्य

(A) हरिचन्दनं देवतरुविशेषः, तथाच "पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥" इत्यमरः। "हरिचन्दनमस्त्री स्यात् त्रिदशानां महीरुहे। नपुंसकं तु गोशीर्षे ज्योत्स्नाकुङ्कुमयोरपि ॥" इति मेदिनी। हरिचन्दनं कोकणे प्रसिद्धम्, अस्य गुणाः—हरिचन्दनन्तु दिव्यं हिमं तदिह दुर्वहं मनुजैः। पित्ताटोपविलोपि वमथु-भ्रम-शोष-मान्द्यमेदोहृत् ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे।

---

1. 'रभसोन्मादश्च' इति पाठान्तरम्। 2. 'नः' इति पाठान्तरम्। 3. 'गमने प्रतिबध्नाती-' ख।

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा।
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥५३॥

अत्र वितर्कौत्सुक्य-मति-स्मरण-शङ्का-दैन्य-धृति-चिन्तानां सबलता। भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च।

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।

पश्चान्निवर्त्तमानस्य पुरूरवस उक्तिरियम्(A)। अत्र कुलमित्यन्तेन चन्द्रकुले स्त्रीविरहा-[1]दात्महत्या त्वकार्य्यमित्येवं विचाररूपो वितर्कः प्रतीयते। भूयोऽपि दृश्येत सेत्यनेन व्यङ्ग्यमौत्सुक्यं [2]विरुद्धोत्तरज्ञानत्वात् ततोऽपि बलवत्। दोषाणामित्यादि-श्रुतमित्यन्तेन व्यङ्ग्या 'सर्वथा तदनुरागो दोषायैवे'त्यर्थनिर्द्धारणरूपा मतिस्ततोऽपि बलवती। (B)श्रुतं वेदः। अहो इत्यादि-मुखमित्यन्तेन व्यङ्ग्यं मुखकमनीयत्वस्मरणं ततोऽपि बलवत्। किमित्यादि-कृतधिय इत्यन्तेन व्यङ्ग्या शङ्का ततोऽपि बलवती। स्वप्नेऽपि सा दुर्लभेत्यनेन व्यङ्ग्यं स्वानौजस्यरूपं दैन्यं ततोऽबलवत्। चेतः स्वास्थ्यमुपैहीत्यनेन व्यङ्ग्या धृतिस्ततोऽपि बलवती। कः खल्वित्यादिव्यङ्ग्या चिन्ता ततो बलवतीत्येवं सबलतेत्याह—अत्रेति। धास्यति पास्यति। बलवतो व्यञ्जने बलवत्त्वाऽपि व्यङ्ग्या। बलवत्समूह इत्यर्थे वा सबलतेति तद्धितान्तं पदम्। भावस्थितेरपि सम्भवात् किमत्र तदनुक्तिबीजमित्यत आह—**भावस्थितिस्त्विति** स्थितभावस्थितिः, सा च भावान्नातिरिच्यते इत्यतो भावोक्तिरेव तदुक्तिः जाने कोपपराङ्मुखीत्यादिकमेव तदुदाहरणमित्याह—**उक्ता उदाहृता चेति**।

नन्वेषूदाहरणेषु सर्वत्रैव रससम्भवाद्र रसध्वनय एव किं नैते इत्यत आह—**मुख्ये रसेऽपीति**, भावाद्यपेक्षया आस्वादाधिक्येन मुख्ये रसे सत्यपि ते कदाचन निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वदशायां साकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यरसस्य अङ्गित्वं प्राधान्यं

(A) यद्यपि पद्यमिदमस्मदुपलब्धेषु विक्रमोर्वशीत्रोटकेषु नोपलभ्यते उर्वशीपुरूरवसावधिकृत्य विरचितं काव्यान्तरमपि न दृश्यते, तथापि १८७९ खृष्टाब्देऽङ्किते पुस्तके १२२ पृष्ठे अधिकपाठरूपेणोपलभ्यत एव। एतेन शुक्रकन्यां देवयानीं दृष्टवतो राज्ञो ययातेरुक्तिरियमिति वदन्तः श्रीवत्सलाञ्छनकमलाकरवैद्यनाथभीमसेनादयः प्रत्युक्ता इति बालबोधिन्यां स्पष्टम्।

(B) "श्रुतं शास्त्रश्रवणम्" इत्युदाहरणचन्द्रिका।

---

1. '-दात्महत्या चकार्य्यम्' ख, '-न्मरणमकार्य्यम्' ग। 2. 'तद्बाधकतया' ग।

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।

(५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः।

तत्र—

(५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते ॥ ३८ ॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।

प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। **भावशान्त्यादय** इत्यत्र भावतच्छान्त्यादय इत्यर्थः अन्यथा [1]भावस्याङ्गित्वावाप्त्यनुक्तिरूपन्यूनतापत्तेः[1]*। **राजानुगतेति** विवाहप्रवृत्तो भृत्यो यथा राज्ञा तद्दिने अनुगम्यते(A) तथा मुख्येनापि रसेन निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यो भावादिः प्रधानीकृत्यानुगम्यत इत्यर्थः।

इत्थमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं समाप्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य प्रपञ्चमाह—**अनुस्वानेति**। अनुस्वानः प्रतिध्वनिः। तस्य खलु जनकीभूतज्ञानोत्तरजायमानत्वरूपः क्रमो लक्ष्यते। तदाभं तत्तुल्यं यथा स्यात् तथा संलक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यस्थितिः व्यङ्ग्यप्रतीतिर्यस्य तादृशस्तु यो ध्वनिः स शब्दसामर्थ्यार्थसामर्थ्योभयसामर्थ्योत्थत्वेन त्रिविध इत्यर्थः। शक्तिरत्र सामर्थ्यम्। उत्थत्वं व्यङ्ग्यत्वम्। तादृशव्यङ्ग्यसम्बन्धाच्चात्र काव्यमपि तथोपचर्य्यते। अनेकार्थस्य शब्दस्येत्यादिना यत्र शाब्दी व्यञ्जनोक्ता तत्र शब्दप्राधान्याच्छब्दशक्त्युत्थम्, यत्र तु वक्तृबोद्धव्येत्यादिना आर्थी व्यञ्जनोक्ता तत्रार्थप्राधान्यादर्थशक्त्युत्थम्, यत्र तु एकस्मिन् व्यङ्ग्ये परस्परनिरपेक्षस्य शब्दस्यार्थस्य च सामर्थ्यं तत्रोभयशक्त्युत्थम्। शब्दस्य शक्यार्थ एव व्यञ्जनायाः स्वीकृतत्वाच्छाब्द्यां व्यञ्जनायां शक्तिसहकृतैव व्यञ्जना बोधिकेति मन्तव्यम्। संक्षिप्य व्याचष्टे—**शब्दशक्तीति**। 'अनुरणनं' प्रतिध्वनिः, इयमनुस्वानपदव्याख्या।

तत्र व्यङ्ग्यद्वैविध्याच्छब्दशक्त्युद्भवद्वैविध्यमाह—**अलङ्कारोऽथेति**। वस्तु-

---

(A) वरस्य पुरोगामित्वमुक्तं मनुना "चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः। स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च॥" इति।

---

1. 'भावस्याङ्गित्वबीजानुक्त्यापत्तेः' क-ख।

वस्त्वेवेति अनलङ्करणं वस्तुमात्रम्। आद्यो यथा—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं
देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः॥ ८४॥

अथवेत्यर्थः। शब्दात् प्रधानत्वेनेत्यन्वयः। शाब्द्यां व्यञ्जनायामर्थस्यापि व्यञ्जकताया उक्तत्वात् प्राधान्यमात्रं शब्दस्येति भावः। अनलङ्करणमिति अलङ्कारभिन्नमित्यर्थः। अनलङ्कारमिति क्वचित् पुस्तके पाठस्तु प्रामादिक एव पुंलिङ्गस्यालङ्कारशब्दस्य नञ्-तत्पुरुषे नपुंसकलिङ्गत्वानुपपत्तेः, बहुव्रीहिणा त्वलङ्कारभिन्नत्वालाभात्। (१)

शब्दशक्त्युत्थमलङ्कारमुदाहरति—उल्लास्येति, येन देवेन प्राकरणिकेन राज्ञा कालकरवालं कृष्णायसखड्गं महाम्बुवाहमिव उल्लास्य तस्य धाराभिः जलैरिव रिपूणां त्रिजगति ज्वलितः सकल एव प्रतापो निर्वापितः। करवालमहाम्बुवाहमित्यत्र धाराजलै-रित्यत्र च पुरुषव्याघ्रादिवदुपमासमासः, न तूभयत्रैव रूपकं राज्ञि इन्द्ररूपणाभावे तस्य महाम्बुवाहोल्लासकत्वस्य प्रतापे वह्निरूपणाभावे जलानां तन्निर्वापकत्वस्य चासम्भवात्। [1]न च राज्ञ इन्द्रत्वं प्रतापस्य वह्नित्वञ्च गुणसिन्धुरित्यत्र गुणस्य जलत्वमिव व्यङ्ग्यमिति वाच्यम् उपमासमाससम्भवे धर्म्मिणि व्यङ्ग्यरूप्यबोधानुदयस्य ग्रन्थकृत्सम्मतत्वात्,[1]* अन्यथा दशमोल्लासे—

पादाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरसिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः।

इत्यत्र अम्बुजे मञ्जीरबाधात् पादः अम्बुजमिवेत्युपमासमासस्यैव परिग्रहो वक्ष्यमाणोऽनुपपन्नः स्यात्, मञ्जीरे व्यङ्ग्यभ्रमररूपणे रूपकसमासस्यापि सम्भवात्; उपमासमासासम्भवे तु भवत्येव गुणसिन्धुरित्यत्र गुणे व्यङ्ग्यजलरूपणम्। अत एव इन्द्रोपमाध्वन्युदाहरणमेवेदं न त्विन्द्ररूपकध्वनिः। देवेन कीदृशेन? जरठं कठिनम् ऊर्जितञ्च गर्जितं यस्य तादृशेन। अत्र इत्थं प्रकरणाद् राजान्वयिन्यर्थेऽवगते इन्द्ररूपो-ऽप्यर्थः शब्दशक्त्या व्यञ्जनया प्रतीयते। तथाहि येन देवेन इन्द्रेण प्रकृष्टस्तापो यस्य

---

१. 'न च देवपदश्लेषाद् राज्ञीन्द्ररूपणमिति वाच्यं ग्रन्थकृता इन्द्रोपमाया एव वक्ष्यमाणत्वात्। न च तेनापि कथं रूपकं नापेक्षितमिति वाच्यं तदुल्लासितमेघधाराजलेन प्रतापनिर्वापणासम्भवात्। न च प्रतापे व्यङ्ग्यवह्नि-रूपणमस्तु गुणसिन्धुरित्यादौ गुणे व्यङ्ग्यजलरूपणमिव मण्डलाग्रलतामित्यादौ मण्डलाग्रलतायां व्यङ्ग्यनायिका-रूपणमिव चेति वाच्यम्, अन्यथोपपत्तिसम्भवे व्यङ्ग्यरूपणबोधस्य बुद्ध्यनारोहे ग्रन्थकृदभिप्रायात्' ख।

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय[1] इत्युपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद् विभो मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥८८॥

सः, अर्थाद् रिपूणामस्त्राग्निः वृष्टिधाराजलैर्निर्वापितः, किं कृत्वा ? कालकरं कृष्णरश्मिं बालं नवीनं महाम्बुवाहमुल्लास्य ; येन कीदृशेन ? कठिनोर्ज्जस्वलगर्ज्जितेन, तत्प्रयोज्यमेघगर्जनस्यैव तदीयत्वात् । तथाच तद्व्यञ्जकश्लिष्टपदप्रयोगाद् राज्ञीन्द्रोपमायां वक्तुस्तात्पर्य्यमुन्नीयते तत इन्द्रोपमाऽपि अत्र व्यङ्ग्या, अन्यथा प्रकृतासम्बद्धेन्द्रप्रत्यायकशब्दप्रयोगोऽनुपयुक्तः स्यादित्याह—अत्रेति । 'अभिधायकत्वं' प्रत्यायकत्वम् । 'मा प्रसाङ्क्षीत्' मा प्रसक्तं भूत् । प्राकरणिकः राजा, अप्राकरणिकः इन्द्रः ; 'उपमानोपमेयभावः' उपमा । 'कल्पनीयः' व्यङ्ग्यः । दर्शितानिष्टप्रसक्त्या तत्कल्पने वक्तुस्तात्पर्य्यस्य ग्राहितत्वादिति भावः । उपमाया अलङ्कारत्वादलङ्कारव्यञ्जनासिद्धिरित्याह—**इत्युपमालङ्कार** इति । अत्र चक्रवर्त्ती—व्यङ्ग्यबोधे अनिष्टप्रसक्तिबोधस्याहेतुत्वादर्थापत्तिमूलकानुमान एव तस्य हेतुत्वाच्च कल्पनीय इत्यत्र अनुमेय इत्येवार्थः । तदनुमानानन्तरञ्च उपमालङ्कारो व्यङ्ग्य इत्युक्तम् उपमालङ्कार इति व्याचष्टे, तन्न, [2]दर्शितानिष्टप्रसञ्जनस्य कवितात्पर्य्यग्राहकतयैव दर्शितत्वात्, न तु व्यङ्ग्यबोधकतया[2]* । तथा कल्पनीय इत्यत्र अनुमेय इति व्याख्याने उपमानोपमेयभावात्मिकाया उपमाया अनुमेयत्वव्यङ्ग्यत्वद्वयकथनानुपपत्तेः 'न[3] ह्यनुमेयस्य वह्यादेर्व्यञ्जनया पुनर्बोधः'[3]* ।

शब्दशक्तिमूलमलङ्कारान्तरमाह—**तिग्मरुचिरेति** । हे देव भवान् विभाति । कीदृशः ? शत्रूणां तिग्मो मित्राणां रुचिरश्च प्रतापो यस्य तादृशः ; विधुराणां शत्रूणां निशाकृत् चिन्तया दिनस्यापि निशारूपकरणात्, निशा कालरात्रिर्वा । तथा मधुरा लीला यस्य (सः), मत्या मानतत्त्वे प्रमाणतत्त्वे वृत्तिः व्यवसायो यस्य तादृशः । प्रतिपदे प्रतिस्थाने पक्षाणां [4]सपक्षाणाम् अग्रणीः श्रेष्ठः ।

---

1. 'इत्यत्रोपमा-' इति पाठान्तरम् । 2. '-दर्शितानिष्टप्रदर्शनस्य कवितात्पर्य्यमात्रोन्नायकत्वेन व्यङ्ग्यबोधकत्वाभावात् अनुमानानुत्थापकत्वाच्च' ख । 3. 'अननुभावात् व्यञ्जकशब्दविरतेश्च' क, 'अननुभवाद्ग्राह्यव्यञ्जकशब्दज्ञानविरतेः' ग । 4. 'प्रतिपक्षाणाम्' ख ।

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो ।
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥ ५६ ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥५७॥

अत्र व्यतिरेकः । अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता ।

अत्रेति, एकपदमत्र समासैकपदम्, तस्य भङ्गेन विभक्त्यन्ततया द्विपदत्वज्ञाने इत्यर्थः । तथाच द्विपदत्वज्ञानसाहाय्यादखण्डपदस्यैव स्वशक्तिमूलो विरोधालङ्कार इत्यर्थः । तथाहि तिग्मरुचिः सूर्य्यः अप्रतापः प्रकृष्टतापशून्यः, विधुः चन्द्रः अनिशाकरः भाशून्यश्च, मधुः वसन्तः लीलाशून्यश्च, मतिमान् तत्त्वव्यवसायशून्यश्च ; प्रतिपत् तिथिः पत्तानादिभूता च, इति विरोधो व्यङ्ग्य एव, शक्तेः प्रकरणनियन्त्रितत्वेन स्वातन्त्र्याभावात् ।

द्विपदत्वज्ञानाभावेऽप्यखण्डपदव्यङ्ग्यं विरोधमाह—**अमित** इति । हे विभो त्वम् असताम् अहितोऽसि । कीदृशः ? समित् युद्धं ततः प्राप्तैरुत्कर्षैः अमितः अपर्य्याप्तः, साधुयशोभिः सहितश्च । अत्र अमितः मितशून्यः समितः मितसहितश्चेति अहितः हितशून्यः सहितः हितयुक्तश्चेति विरोधः ।

शब्दशक्तिमूलं व्यतिरेकालङ्कारमाह—**निरुपादानेति**, तस्मै शूलिने नमः । कीदृशाय ? उपादानस्य समवायिकारणस्य सम्भारं विना चित्रं नानाकारं जगद् अभित्तौ अनाश्रय एव तन्वते । शुक्रशोणितादिसमवायिकारण-मातृजठराद्याश्रयसापेक्षत्वेऽपि स्तुतित्वादारोप्येदमुक्तम् । कला चन्द्रकला तया श्लाघ्याय । अत्रेति शिल्पचातुरी-बोधककलाशब्दस्य आलेख्यबोधकचित्रशब्दस्य च सामर्थ्याद् हरितालाद्युपादानसापेक्ष-भित्त्याद्यधिकरणकचित्रलेखकाद्वैलक्षण्यरूपो व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः । ननु वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा प्रकर्षकत्वे सत्येवालङ्कारत्वमिति हारादिवदलङ्कारा इत्यग्रे वक्ष्यति तेषां व्यङ्ग्यत्वे त्वास्वादपात्रतया प्राधान्यात् परप्रकर्षकत्वाभावेन कथमलङ्कारत्वमित्यत आह—**अलङ्कार्य्यस्यापीति** । श्रमणः सन्न्यासी, तस्य तद्दशायां ब्राह्मण्याभावेऽपि यथा दशान्तरीयब्राह्मण्यमादाय तथा व्यपदेशः तथा वाच्यतादशीयमलङ्कारत्वमादाय तथा व्यपदेश इत्यर्थः ।

वस्तुमात्रं यथा—

पन्थिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरं पेक्खिउण (A) जइ वससि ता वससु ॥५८॥

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥५९॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

(५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥३९॥

पन्थिअ ण एत्थेति—

पथिक नात्र संस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥ इति संस्कृतम् ।

निवासार्थिनं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम् । संस्तरं शयनीयकटम् मनाग् अल्पमपि तन्नास्ति । प्रस्तर एव वयं स्वपिम इति दर्शयति प्रस्तरस्थल इति । पयोधरं मेघम् । शयनीयोपकरणादिकं निवासोपकरणं नास्त्येव मेघप्रतिरुद्धगतिकतया यदि वस्तुमिच्छसि तद्वसेत्यापाततोऽभिप्रायः । शब्दशक्तिमूलमत्र गूढं व्यङ्ग्यमाह— अत्रेति । इदञ्च परदारगमननिषेधकशास्त्रार्थकस्य प्राकृतश्लिष्टसत्थरपदस्य, स्तनार्थकसंस्कृतश्लिष्टपयोधरपदस्य, प्रस्तरस्थं स्त्रीजनं पुमान् लाति सम्भोगार्थमत्र गृह्णातीत्येवमर्थकप्रस्तरस्थलपदस्य च सामर्थ्याल्लब्धम् ।

शब्दशक्त्या सात्ताद्व्यङ्ग्यं वस्तूदाहृत्य तद्व्यङ्ग्यालङ्कारद्वारा व्यङ्ग्यं वस्तूदाहरति— शनिरशनिश्चेति । हे नरेन्द्र त्वं यस्मै कुप्यसि शनिर्ग्रहः अशनिर्वज्रञ्च तम् उच्चैर्निहन्ति, यत्र जने पुनः प्रसीदसि स उदार अनुदारश्च भाति । अत्र पूर्व्वार्द्धे अशनिशब्दस्य शक्त्या शनिविरुद्धे व्यञ्जिते तद्द्वारा व्यङ्ग्यं वस्तु दर्शयति—अत्रेति । परार्द्धे तु विरोधालङ्कारमात्रं न तु तद्द्वारा दर्शितवस्तुव्यञ्जनम् तत्रैककार्य्यकरणाप्रतीतेः ।

अर्थशक्त्युद्भवमाह—अर्थशक्त्युद्भवोऽपीति । अर्थशक्त्युद्भवोऽप्युच्यत इति शेषः । तत्र अर्थो व्यञ्जक इत्यर्थः । अर्थशक्त्युद्भवेऽपीति क्वचित् पाठः सुगम एव । व्यञ्जकः

(A) अत्र "पेक्खिअ उण" इति पाठे "प्रेक्ष्य पुनः" इति संस्कृतं बोध्यम् ।

प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः।

स्वतः सम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्यमानः, कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि

सोऽर्थस्त्रिविध इत्याह—**सम्भवीति**। स च वाच्यो व्यङ्ग्यो[1]* वेत्यनियम इति बोध्यम्। प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वेत्यत्र [2]प्रौढोक्तिः कवेः तेन कविना उम्भितस्य निबद्धस्य जनस्य वा इत्याह—**कवेस्तेनोम्भितस्य वेति**[2]*। मात्रपदात् स्वतः सम्भवित्वव्यवच्छेदः। तथाच वक्तृद्वैविध्याद् द्विविध इत्यर्थः। स्वतः सम्भविना सह तु त्रिविध इति। प्रौढोक्तिश्च (A)अलीकार्थकत्वेऽपि प्रतिभामात्रा-धीनार्थिका उक्तिः। स्वतःसम्भविपदार्थं व्याचष्टे—**अत्रेति**। अपित्वित्यर्थे याव-दिति। **बहिरपीति** [3]तादृशशब्दाद् बहिः, प्रमाणेनापीत्यर्थः[3]*। [4]**औचित्येनेति** अनेनेदमुक्तं निर्दिष्टविशेषणविशेष्यव्यक्त्योः संसर्गस्यालीकत्वेऽपि तत्सदृश-विशेष्यान्तरे तादृशविशेषणसंसर्गे दृष्टे सत्यपि निर्दिष्टव्यक्त्योरपि तथात्वस्यौचित्येन सम्भावनया स्वतःसम्भवित्वमिति निर्दिष्टव्यक्तिसदृशेऽपि तद्विशेषणादर्शने तु प्रौढोक्त्यैव तत्सिद्धिः। एवञ्च अधरो म्लानकमलमिति रूपकं स्वतःसम्भवितया वक्ष्यमाण-मुपपत्स्यते [5]शोणत्वसाधर्म्येण अधरसदृशे कमलदल एव म्लानकमलदलाभेददर्श-नात्[5]*। तथा धम्मिल्लः श्यामलाङ्गः स्मर इति प्रौढोक्तिसिद्धतया वक्ष्यमाणं रूपक-

---

(A) अत्र अलीकानां ज्ञानासम्भवेन तद्विषयकशब्दप्रयोगोऽपि न सम्भवतीति नाऽऽशङ्क-नीयम्, "अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि" इति न्यायेन तेषां शाब्दज्ञानसम्भवात्।

---

1. 'वेत्यनियमः उदाहरणे बोध्यः' ख। 2. 'कवेस्तेनोम्भितस्य वा प्रौढोक्तिर्बोध्या' ख। 3. 'तादृश-प्रमाणाद्बहिःप्रमाणादपीत्यर्थः' ख। 4. 'औचित्येन सम्भाव्यमान इत्यस्यायमभिप्रायः रूप्यरूपकयोर्या आहार्या-भेदबुद्धिस्तत्र रूप्यमाणस्य प्रसिद्धत्वे तादृशबुद्धिरूपसम्भावनाया औचित्यात्तत्र स्वतः सम्भवित्वं रूप्यमाणस्या-प्रसिद्धत्वे तु तदभेदसम्भावनाया अनौचित्यात् प्रौढोक्तिमात्रसिद्धत्वमिति। अत एवाग्रे "अधरो म्लानकमल-दलम्" इति रूपकं स्वतःसम्भवितया उदाहरिष्यति म्लानकमलदलस्य प्रसिद्धत्वात् "धम्मिल्लः श्यामलाङ्गः-स्मरः" इति रूपकं प्रौढोक्तिसिद्धतया उदाहरिष्यति श्यामलाङ्गस्मराप्रसिद्धेरिति' ख। 5. 'म्लानकमल-दलरूप्यमाणस्य प्रसिद्धेः' ग।

निर्मितः, कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः। वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः, तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः।

क्रमेणोदाहरणम्—

अलससिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥९०॥

श्चोपपत्स्यते, बहुद्दीपकतया धम्मिल्लसदृशे उद्दीपकान्तरे [1]श्यामलाङ्गस्मराभेदादर्शनेन[1]* प्रौढोक्त्यैव तत्सिद्धेः श्यामलाङ्गस्मरस्यैवाप्रसिद्धेः। परन्तु सादृश्याधीनविशेष्य-विशेषणभावरूपकस्थले [2]एव सदृशं विशेष्यान्तरं ग्राह्यम्, अन्यत्र तु निर्दिष्टव्यक्त्यो-रेव स्वतःसम्भवित्वासम्भवित्वे ग्राह्ये इति मन्तव्यम्[2]*(A)। एवमुक्तत्रिविधार्थस्य वस्त्वलङ्कारभेदेन षड्विधत्वं कारिकोक्तं व्याचष्टे— **वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसा-विति**। षड्विधानां तेषां व्यङ्ग्या अपि वस्त्वलङ्कारभेदेन द्वादशविधा इति कारि-कोक्तं व्याचष्टे—**तस्य वस्तु वेति**। **द्वादशभेद** इति द्वादशव्यङ्ग्यवत्त्वेन काव्य-स्यापि द्वादशत्वम्। एवञ्च स्वतःसम्भविनोर्वस्त्वलङ्कारयोरेकैकस्य वस्त्वल-ङ्कारौ द्वौ द्वौ व्यङ्ग्याविति स्वतःसम्भविव्यङ्ग्याश्चत्वार एवमपरद्वयव्यङ्ग्या अपि चत्वारश्चत्वार इति द्वादशत्वं(B) बोध्यम्। **क्रमेणे**ति स्वतःसम्भविव्यङ्ग्यवस्त्वलङ्कार-चतुष्कादिक्रमेणेत्यर्थः।

तत्र स्वतः सम्भविवस्तुव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—**अलसेति**—

अलसशिरोमणिर्धूर्त्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ इति संस्कृतम्।

(A) अतःपरं "सादृश्यघटितत्वाभावे तत्सादृश्यस्याननुसन्धेयत्वात्, अन्यथा प्रौढोक्ति-सिद्धतया वक्ष्यमाणानां सर्व्वेषामेव स्वतःसम्भवित्वापत्तेः प्रमेयत्वादिना तत्सदृशे क्वापि तद्विशेषणसंसर्गध्रौव्यात्" इत्यधिकः पाठः क-चिह्नितपुस्तके दृश्यते, स च टिप्पनीति प्रतिभाति।

(B) अत्र विभागस्य वैचित्र्याधीनतया कविनिबद्धोक्तौ अतादृशकविकाव्यापेक्षया अधिक-चमत्कारित्वस्य सहृदयानुभवसिद्धत्वेन कविनिबद्धजनोक्तिः कवेरेवोक्तिः ततश्च मूलोक्तस्य

---

1. 'क्वरि वा श्यामलाङ्गस्मरभेदादर्शनात्' ग। 2. 'एव सादृश्यवटकशोषवोद्दीपकत्वादिधर्म्मेण तद्विशेष्यसदृशं' ग।

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते।

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः! शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि(A) ॥६१॥

पतिंवरायां धात्र्याः प्ररोचनोक्तिरियम्। अत्रायमिति प्रकरणगम्यो विशेष्यः। अत्र अलसशिरोमणित्वेनाप्रवासित्वं धूर्त्ताग्रिमत्वेन रतिचातुर्य्यं धनसमृद्धिमयत्वेन अदरिद्रत्वञ्च व्यङ्ग्यं वस्तु स्वतःसम्भवि, तद्व्यङ्ग्यञ्च कुमारीबोधरूपं वस्तु सामाजिकबोध्यमाह—अत्र **ममैवोपभोग्य** इति, एतत्त्रितयविशिष्टो वरो मयैवान्विष्यते नान्ययेत्येवकारार्थः। **वस्त्विति** कुमारीबोधरूपं वस्त्वित्यर्थः। कुमारीहर्षोऽपि परार्द्धव्यङ्ग्यो बोध्यः, तदंशे व्यभिचारिभावध्वनित्वमेवेति बोध्यम्।

(२) स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—धन्यासीति। रात्रिवृत्तान्तालापिनीनां

विभागस्य व्याघात इत्याशङ्काया नावसरः। न खलु स्वतो मधुरस्यापि सलिलस्य निदाघमध्यन्दिनोपानयननिर्म्मितम् उपकरणस्य वा शयनाशनताम्बूलादेः प्रेयसीकरकमलरचनादिकृतं विशेषं न कश्चिदभ्युपैति। उक्तं हि कविना—'द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखे प्रमेया, इति। नायिकादीनां साधारणीकरणव्यापारके काव्येऽपि समानोऽयं न्यायः। अत एव साहित्यदर्पणेऽपि "न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारिणीति" इति। एतेन "कवि-तदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथग्भावेन गणनोचिता उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः" इति रसगङ्गाधरकारोक्तमपि निरस्तं तत्कृतवैचित्र्यविशेषस्य केनाप्यननुभवादिति स्पष्टमेतत् प्रदीपोद्द्योते।

(A) धन्यासीति। "रसकथापराम्रु सखीषु मध्ये रतिकालीनं स्वप्रियालापं कथितवतीं काञ्चित् प्रहसन्त्याः कस्याश्चिदुक्तिरियम्। हे सखि, या त्वं रतान्तरेषु रतमध्येषु प्रियेण सङ्गमेऽपि सुरतयोगेऽपि विश्रब्धं विश्वासयुक्तं निःशङ्कमिति यावत्, चाटुकानां प्रियवाक्यानां शतानि कथयसि सा त्वं धन्याऽसीति सोल्लुण्ठनम्। हे सख्यः, प्रियेण नीवीं वस्त्रग्रन्थिं प्रति करे प्रणिहिते नीव्यां करोऽर्पयितव्य इति प्रणिधानस्य सङ्कल्पस्य विषयीकृते सति ; न त्वर्पिते अवाचकतापत्तेः ; यदि किञ्चिदपि स्मरामि तदा शपामि शपथं करोमीत्यन्वयः। यद्यपि "शपथे शपेः" इत्यनुशासनादात्मनेपदमुचितं तथाप्यङ्गस्पर्शपूर्वकमिथ्यात्वनिरासस्य मुख्यशपथस्यात्राविवक्षितत्वान्न दोषः। प्रियसङ्गमेष्वालापादिषु तत्रापि रतमध्येषु न पुनरादावन्ते वा इति वा अर्थः। यदि किञ्चिदपि

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः ।

दर्पान्ध(A)गन्धगजकुम्भकपाटकूट-
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।

सखीनां मध्ये रतिकाले बाह्यकथालापिनीं काञ्चित् सखीमुपहसन्त्या अताद्दृश्याः सख्या उक्तिरियम् । विश्रब्धं विश्वासः निःशङ्कत्वं तेन रत्यनुपयुक्तचाटुकशतानि या त्वं रतान्तरेषु रतिमध्यकालेष्वपि कथयसि सा त्वं धन्याऽसीत्यर्थः । रतान्तरेष्विति बहुवचनात् प्रतिदिनमेवं भावः सूचितः । अन्तरं मध्यम् । एतेनोपहासाधिक्यम्, ईदृशकालेऽत्यन्तरतावेशस्यैवौचित्यात् । स्वोत्कर्षं सूचयति—नीवीमिति । तत्सूचने च बह्वीनामवधानाय सख्य इति बहुवचनम् । शपामि शपथं करोमि । अत्र पूर्वापरार्द्धवाक्यार्थद्वयव्यङ्ग्यं वस्तु उपहसनीयनायिकायाः सामाजिकानाञ्च बोध्यमाह—अत्रेति । व्यतिरेकः उपमानीभूतामुपहसनीयनायिकामपेक्ष्य उपमेयीभूताया वक्त्र्या आधिक्यरूपः । अत्र चण्डीदासः—उक्तालापेनोपहसनीयनायिकाया 'अधन्यत्वे तात्पर्य्यग्रहात्[1]* धन्यत्वबाधात्तदधन्यत्वं लक्षणागम्यमेव, अतः अहन्तु धन्येत्यंशो व्यतिरेकैकदेश एव व्यङ्ग्य इत्याह, तन्न ; प्रागेवाधन्यत्वस्य ग्रहे आहार्य्यस्य पश्चात् तद्ग्रहे त्वनाहार्य्यस्य धन्यत्वबोधस्य सम्भवात् तेनाधन्यत्वस्य व्यञ्जनेऽनुपपत्त्यभावात् ।

(३) स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—दर्पान्धेति । यस्य राज्ञः करे कृपाणः

स्मरामीति वाक्यमध्ये सख्यः शपामीत्यस्य प्रवेशाद् गर्भितत्वं प्रकृते गुण एव विवक्षितार्थस्य सत्यत्वप्रत्यायनार्थत्वात् । सोल्लुण्ठोक्तावेकस्या एव सौभाग्यगर्विताया सम्बोध्यत्वाद् धन्यासीत्येकवचनम् । स्वोत्कर्षसूचने तु बह्वीनां तथात्वात् सख्य इति बहुवचनमिति नासङ्गतिः । अत्र च रतिकालेऽपि विषयान्तरवेदनेन रागस्य कृत्रिमतामावेदयता चाटुकथनेन त्वमधन्येति ध्वन्यते । अन्तराऽपिशब्दाभ्यामत्यन्तानौचित्यप्रकाशनद्वारा तदतिशयः । एवञ्च बहुवचनस्य प्रति रतिसमयं तथाभावसूचनद्वारा तद्गाङ्कत्वम् । एवं शतानीति प्रातिपदिकवचनयोश्चेति । तथा उत्तरार्द्धं स्मरणाभावेन प्रियकरस्पर्शमात्रेण सम्मोहानन्दसन्थरतया अकृत्रिमरागातिशयं सूचयता अहं धन्येति व्यज्यते । इत्थञ्च उभयसम्बलनेन व्यतिरेकालङ्कारलाभ इति बोध्यम् । अतः स्वतःसम्भविना वस्तुना अलङ्कारध्वनिः" इत्युदाहरणचन्द्रिका । उद्योतेऽप्येवम् ।

(A) "यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः ।
तं गन्धहस्तिनं विद्यान्नृपतेर्विजयावहम् ॥" इति

---

1. 'अधन्यत्वस्य ग्रहेण' क ।

वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः

कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥६२॥

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात् करिष्यते इति वस्तु।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः।

ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥६३॥

अत्र(A) विरोधालङ्कारेणाऽधरनिर्दंशनसमकालमेव शत्रवो व्यापा-

वीरैः कालीकटाक्ष इव व्यलोकि। कृपाणः कीदृशः? दर्पान्धस्य गन्धगजस्य स्वीयमद-गन्धेन अन्यगजत्रासकगजस्य कुम्भ एव स्फारत्वेन कपाटः तस्य कूटे अग्रभागे संक्रान्त्या पतनेन निघ्नैः सम्बद्धैः घनशोणितैः शोणकान्तिः। कालीकटाक्षः कीदृशः? कोपेन कषाया शोणा कान्तिर्यस्य तादृशः। अत्रेति, शोणत्वसाधर्म्येण उपमितस्य खड्गस्य उपमानकटाक्षगतं धर्मान्तरं व्यञ्जनागम्यमित्याह—सकलेति।

(४) स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—गाढकान्तेति। यो राजा युधि निजाधरं निर्दशन् अरिवधूजनस्य ओष्ठरूपाणि विद्रुमस्य प्रवालस्य दलानि पत्राणि गाढस्य कान्तदशनक्षतस्य व्यथारूपात् सङ्कटात् अमोचयत्, क्रोधेन स्वाधरं निर्दश्य निहते शत्रौ तद्वधूनां रतिकालीनः कान्तकर्त्तृकोऽधरदंशो निवृत्त इत्यर्थः। अत्रेति अधरदंशकत्वाधरदंशमोचकत्वयोरापाततो भातेन विरोधेनेत्यर्थः। दृश्यमानमोच्यमान-भेदात् न विरोधः। समकालमेवेति निर्दशन्निति वर्त्तमाननिर्देशात् तत्कालीनमोचनेन

"स्वेदं मूत्रं पुरीषञ्च मज्जां चैव मतङ्गजाः।

यस्याऽऽघ्राय विमाद्यन्ति तं विद्याद् गन्धहस्तिनम् ॥"

इति वा गन्धगजलक्षणम्।

(A) "अत्र निर्दशन्निति वर्त्तमाननिर्देशादधरदंशनमोचनयोः कार्यकारणयोः पौर्वापर्य-विपर्ययरूपा अतिशयोक्तिः। इयमेव वृत्तौ विरोधपदेनोक्ता। तन्मूलत्वात् स्वतःसम्भविनाऽ-लङ्कारेण दंशनव्यापादनयोर्यौगपद्यरूपसमुच्चयालङ्कारध्वनिः। तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या वृत्तावपि समुच्चय एवोक्त इति ध्येयम्" इत्युदाहरणचन्द्रिकाकारेण विरोधतुल्ययोगितापदयो-रर्थान्तरं प्रदर्शितम्। प्रदीपकारस्यापि "अत्र निजाधरदंशनवैरिवधूजनोष्ठदंशनव्यथामोचनयोः पौर्वापर्याभावलक्षणया अतिशयोक्त्या अलङ्कारेण दंशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति "समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद्‌ या गुणक्रिया" इत्युक्तलक्षणः समुच्चयालङ्कारो द्योत्यते। एव एव च तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या तुल्ययोगितेति कैश्चिदुच्यते" इत्युक्तवतोऽयमेवाभिप्रायः। तथाच तुल्ययोगिताशब्दस्यार्थान्तरकल्पना टीकाकृतैव कृतेति न मन्तव्यम्।

दिता इति तुल्ययोगिता। मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्न्निवर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षा च। एषूदाहरणेषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः।

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम्।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥६४॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते।

तद्धेतुशत्रुव्यापादनस्यापि तत्कालीनत्वलाभ इति भावः। कार्यकारणयोः शत्रुव्यापादनाधरदंशनयोः समकालत्वन्तु बाधितमप्याहार्य्यप्रतीतिविषय एव कारणस्य शीघ्रकारिताव्यञ्जकमित्यवधेयम्। तुल्ययोगितेति, यद्यपि द्वयोः समकालत्वबोधनं समुच्चयालङ्कार एव 'धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्ति'मित्यादिषु वक्ष्यते न तु तुल्ययोगिता तस्याः प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा सकृदेकधर्मान्वयरूपत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् तथाऽपि तुल्यमेककालं योगितेत्येवं योगार्थेन समुच्चयालङ्कार एवार्थः। उत्प्रेक्षाऽप्यत्र व्यङ्ग्येत्याह—मम क्षत्येति। तद्बुद्धिरिति, एतादृशबुद्धिरेव निर्दशन्निति वक्तुरुत्प्रेक्षा सामाजिकैः प्रतीयते इत्यर्थः।

(५) कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यचतुष्के उदाहर्त्तव्ये कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यवस्तूदाहरति—कैलासस्येति। कैलासस्य मुख्यशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः वेणुना रागपर्य्यापणैः सह विबुधरमणीभिर्गीयमानां यदीयां कीर्त्तिं श्रुत्वा सरसबिसिनीकाण्डत्वेन संजातशङ्काः दिङ्मातङ्गाः श्रवणस्य समीपदेशरूपे पुलिने धर्त्तुं हस्तमावर्त्तयन्तीत्यर्थः। कीर्त्तिवद् धावल्योपपादनाय बिसिन्याः(A) काण्डस्य सरसत्वमुक्तम्। धावल्यस्य श्रोत्राग्राह्यत्वादाह—स्रस्तापाङ्गा इति, तथाच अपाङ्गेनैव धावल्यग्रह इति भावः। अत्रेति, 'वस्तुना' उक्ताशङ्कया हस्तावर्त्तनरूपेण, स्वतोऽसम्भवात् कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धेन। येषामिति हस्तिनामपि तथात्वात्।

(A) आदर्शपुस्तकेषु "बिसिन्याः" इत्यतः परं 'पद्मिन्याः' इति पदं दृश्यते, तच्च विवरणभूतं लिपिकरप्रमादेन टीकायामन्तर्भूतमिति सम्भाव्यते।

केसेसु (A)बलामोडिअ तेण समरम्मि जअसिरी गहिआ।
जह कन्दराहिं विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥९५॥

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा। एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः। न प्रपलाय्य गता-

---

(६) कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—**केसेसु** इति।

केशेषु [1]बलात्कृत्य तेन समरे जयश्रीगृ हीताः।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः॥ इति संस्कृतम्।

तस्य विधुराः शत्रवः कन्दराभिर्यथा स्वकण्ठे संस्थापिता भवन्ति तथा जयश्रीः समरे तेन केशेषु बलात्कृत्य गृहीतेत्यर्थः। तेन पराजिताः शत्रवो गुहासु पलाय्य तिष्ठन्तीत्यर्थः। अत्रेति, केशेषु ग्रहणं चुम्बनार्थमित्यभिप्रायेणेदम्। जयश्रियः केशग्रहणं कन्दराभिः स्वकण्ठेऽरिस्थापनञ्चालीकत्वात् कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धमत्र व्यञ्जकम्। अत्र च श्लोके केशग्रहणस्य चुम्बनार्थत्वप्रापकाभावादन्यदाह(B)—एकत्रेति। 'काव्यहेतुः' हेत्वलङ्कारः(C)। अत्र च कण्ठग्रहणस्य प्रकृतानुपयुक्तत्वादन्यदाह—न, प्रपलाय्येति, स्वरक्षणार्थं स्वकण्ठे नायकग्रहणमिति भावः। 'अपह्नुतिः'

(A) "बलामोडिअ" इत्यस्य संस्कृतं "बलादामोट्य" इति केचित्, "बलात् मुटित्वा" इत्यन्ये, "बलात्कारेण" इत्यपरे। "बलामोडि"शब्दो बलात्कारे देशी इत्युदाहरणचन्द्रिकाकारः।

(B) अत्र "यत्तु केशग्रहावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्तीत्युत्प्रेक्षा व्यज्यत इति तद्भवेदेवं यदि पूर्वं कन्दरादीनां नायिकात्वाद्यारोपः स्यात्, अन्यथा केशग्रहणस्य मदनोद्दीपकत्वायोगात्; तदभ्युपगमे च न वस्तुमात्रस्य व्यञ्जकत्वम् किंतु समासोक्तेरलङ्कारस्य" इति प्रदीपोक्तेरुत्प्रेक्षापक्षपरित्यागे हेत्वन्तरमपि सम्भवतीति ध्येयम्।

(C) अत्र हेत्वलङ्कारः काव्यलिङ्गमेव "अभेदेनाभिधाहेतुर्हेतोर्हेतुमता सह" इत्युक्तलक्षणस्य हेत्वलङ्कारस्यात्र असम्भवात् "हेतुमता सह हेतोरभेदाभिधानमभेदतो हेतुः" इति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् इत्यादिना

---

1. "बलामोडि तह" इति पाठान्तरं प्रदीपे।

स्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च ।

गाढालिङ्गणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।

माणंसिणीण माणो पीलणभीअ व्व हिअआहिं ॥६६॥

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

जा(A) ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहबद्धविणिवेसा

दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥ ६७ ॥

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् [1]अजलजाब्जा-

पलायनस्य । चकारः अत्र वाऽर्थे समुच्चयस्य उक्तयुक्त्या बाधात् ।

(७) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—गाढालिङ्गणेति ।

गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।

मनस्विनीनां मानः पीडनभियेव हृदयात् ॥ इति संस्कृतम् ।

रभसोद्यते बलादुद्यते । अत्रेति, मानस्य भयाभावात् उत्प्रेक्षायाः प्रौढोक्त्यैव सिद्धिः । अत्र यद्यपि मानापसरणस्यैवेदं व्यङ्ग्यं तथाऽपि तत्सहकृताया उत्प्रेक्षाया अपि इदं व्यङ्ग्यमित्यभिप्रायः ।

(८) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—जा ठेरमिति ।

या वृद्धमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।

दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ इति संस्कृतम् ।

ठेरः वृद्धे देशी । वृद्धम् अत्र अर्थात् ब्रह्माणम् । तदीयभुवनान्यत्वप्रदर्शनेन तस्यैवो[2]पहसनीयत्वौचित्यात् । "ब्रह्मणोऽपि पद्मासनत्वादत्र कविवदने अम्बुरुहरूपणम्, तदैव तस्योपहसनयोग्यतासम्भवात्[3]" । वाणी चात्र कवित्वरूपैव तस्या एव कविवदनस्थितेः, अतस्तत्कर्तृकोपहासोत्प्रेक्षाया भुवनान्यत्वदर्शनोत्प्रेक्षायाश्च कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—अत्रेति । नवमिवेत्यन्तं भुवनान्यत्वोत्प्रेक्षाया

मूलकृता स्वयं तस्य खण्डनाच्च । "एकत्रैव संग्रामे विजयदर्शनात् तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यलिङ्गम्" इत्युक्तवतः प्रदीपकारस्याप्ययमेवाभिप्राय इत्यवगन्तव्यम् ।

(A) "ठेर" इति "स्थविर"शब्दस्यापभ्रंशः ।

---

1. 'अजडासनस्था' इति पाठान्तरम् । 2. '-वोपहसनीयत्वलाभात्' क । 3. 'कविवदनस्याम्बुरुहत्वरूपणं पद्मासनस्य ब्रह्मण उपहासार्थम्' क ।

सनस्था निर्मिमीते इति व्यतिरेकः। एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः।

जे लङ्कागिरि(A)मेहलाभिखलिआ संभोगखिण्णोरई-

फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम्।

ते एण्हिं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो

जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा विअ(B) ॥६८॥

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते।

अजलजाङ्गेत्यादिकमुपहासोत्प्रेक्षाया व्यङ्ग्यम्। अजलजं यदङ्गं मुखात्मकं पद्मं तदासनस्थेत्यर्थः। 'व्यतिरेकः' वाण्या उपमेयाया उपमानब्रह्मापेक्षया आधिक्यरूपः।

(६) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यचतुष्के उदाहर्त्तव्ये तादृश-वस्तुव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—जे लङ्केति।

ये लङ्कागिरिमेखलाभिस्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-

स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम्।

ते इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो

जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव॥ इति संस्कृतम्।

कविनिबद्धाया विरहिण्या उक्तिरियम्। अत्र वाता इति विशेष्यं पूरणीयम्, मलयानिला इति तु विशेषणपदमेव न विशेष्यपदं तेषां लङ्कागिरिमेखलातो-ऽभिस्खलनाभावात्। तथाहि—ये वाताः लङ्कागिरेः सुवेलस्य मेखलातः अभि-स्खलिताः, मलयागमने सति मलयानिलाः, सम्भोगखिन्नानामुरगीणां स्फाराभिरुत्फुल्ल-फणावलीभिः कवलने सति दरिद्रत्वं क्षीणत्वं प्राप्ताः; ते इदानीं विरहिणीनां निःश्वास-सम्पर्किणः सन्तः शिशुत्वेऽपि बहला निविडाः सन्तः तारुण्येन पूर्णा इव जाता इत्यर्थः। सुवेलतो मलयागमने समुद्रलङ्घनात् शैत्यम्, मलयानिलत्वेनैव चन्दनसौरभम्, क्षीणत्व-प्राप्त्या मान्द्यं वायोरत्र बोध्यम्। (C)आहारो द्विगुणः स्त्रीणामित्यतो भक्षणाधिक्य-लाभाय उरगीत्वोपादानम्, सम्भोगखिन्नत्वेन तत्राप्याधिक्यम्। अत्रेति, अस्यार्थस्य

(A) 'लङ्कागिरिमेखलासु खलिआ' इति पाठे 'लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः' इति संस्कृतम्।

(B) जे लङ्केति। कर्पूरमञ्जरीसट्टके देव्या विभ्रमलेखाया निदेशेन विचक्षणानाम्न्या सख्या कृतं वसन्तवर्णनमिदमिति बालबोधिन्यामुक्तम्।

(C) "आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा। षड्गुणोऽध्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥" इति सम्पूर्णः श्लोकः।

सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम्।

पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरियम्॥६९॥

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना, प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा।

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं।

रत्तंसुअं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ॥ ७०॥

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण

अलीकत्वेन वक्त्र्याः प्रौढोक्त्यैव सिद्धिः, तद्व्यङ्ग्यमाह—निःश्वासैरिति। 'ऐश्वर्य्यं' बलम्। अत्र च तारुण्यपूर्णत्वोत्प्रेक्षाया अपीदं व्यङ्ग्यं बोध्यम्।

(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—सहीति।

सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम्।

प्रियदर्शनविशृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम्॥ इति संस्कृतम्।

सख्याः सख्यां स्वमानभ्रंशकथनमिदम्। मानस्य स्थाने विशृङ्खलः व्याकुलः, स्वव्याकुलत्वस्य क्षणेऽप्ययमारोपः। तेन धीरत्वेन। अपसृतं पलायितम्। सहसेतीत्यत्र 'इति'शब्दस्य अपसृतमिति इत्येवं योजना। तथाच—वाक्यसमाप्तावेव अत्र इतिशब्दः "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु" इति कोषात्। अत्रेति, 'वस्तुना' मानाश्वासनपूर्वकधैर्य्यपलायनरूपेण, कविनिबद्धाया वक्त्र्याः प्रौढोक्त्यैव सिद्धेन। विभावनेति प्रसादकारणस्य प्रार्थनस्याभावात्। उत्प्रेक्षाऽत्र स्पष्टैव। 'प्रियदर्शनस्य' धैर्य्यविरोधिनः [1]सौभाग्यबलमवस्थानविरोधि[1]*।

(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—ओल्लोल्लेति।

आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तः(A)।

रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते॥ इति संस्कृतम्।

आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैः अर्थात् परनायिकाकृतैः मम लोचनयोः रक्तांशुकं प्रसादो दत्तः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इत्यर्थः। अत्रेति। वहसीत्यन्तः प्रश्नाकारः, तदाक्षेपकमुत्तरं श्लोकार्थः उत्तरालङ्काररूपः। स च क्षतकर्तृकरक्तांशुकदानालीकत्वेन कवि-

---

(A) अत्र टीकाकृता 'दत्तः' इत्यनुवादः प्राकृते 'दिण्णो' इति पाठाभिप्रायेणेति प्रतिभाति। अस्माभिस्तु बहुमुद्रितपुस्तकसंवादी 'दिण्णं' इति पाठो गृहीतः, तस्य संस्कृतं 'दत्तम्' इति।

---

1. अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।

न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

महिलासहस्सभरिए(A) तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।

अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ॥७१॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण 'तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते' इति विशेषोक्तिः । एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः । एवं द्वादश भेदाः ।

निबद्धाया नायिकायाः प्रौढोक्त्यैव सिद्धः, तद्व्यङ्ग्यमाह—न केवलमिति, 'न गोपायसि' मम दुःखजननार्थं दर्शयसीत्यर्थः । न केवलं तत्, अपि तु मम दुःखजननार्थं दर्शितानां तेषां प्रसादपात्रमहमेव जाता मम दुःखन्तु तैर्न जनितमिति भावः । अत्र लोचनयोः प्रसाददानस्य वाच्यत्वेऽपि लोचनवत्याः प्रसादपात्रत्वं व्यङ्ग्यमेवेति नानुपपत्तिः ।

(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—महिलेति ।

महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।

अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ॥ इति संस्कृतम् ।

नायकस्यानेकनायिकाभावनादुःखेन कृशाया नायिकाया अवस्थां तस्मिन्नावेदयन्त्या दूत्या उक्तिरियम् । अमान्ती अवकाशमलभमाना । दिवसं व्याप्य(B) । तनयति तनूकरोति, तनुशब्दात् करोत्यर्थे नामकारितान्तमिदम् । अत्रेति, बहुनायिकाक्रान्तहृदये स्थानाप्राप्तिरङ्गतनूकरणे हेतुर्हेत्वलङ्कारः(C) ; स च अलीकत्वाद्दूत्याः प्रौढोक्त्यैव सिद्धः । तद्व्यङ्ग्यमाह—तनोरिति । 'न वर्त्तते' इति तनयतीति वर्त्तमाननिर्देश-साहाय्यादेव हेत्वलङ्कारव्यङ्ग्यमिदं बोध्यम् । विशेषोक्तिरिति तनोस्तनूकरणं कारणं ततसत्त्वेऽपि हृदयवासरूपफलाभावात् ।

(A) 'भरिए' इत्यस्य 'भरिते' इत्यनुवादः, सर्वेषु मुद्रितपुस्तकेषु दृष्टोऽपि चिन्त्यः । तत्र 'भरः संजातोऽस्ये'त्यर्थे इतच् ।

(B) "अनुदिनम्" इत्यस्य व्याख्यानमिदम् ।

(C) अत्र हेत्वलङ्कारः काव्यलिङ्गमेव, तथा व्याख्याने बीजं 'केशेषु बलात्कारेणे'त्यत्रोक्तमेव । "हेत्वलङ्कार" इत्यत्रैकवचनमविवक्षितं महिलासहस्रभरणस्य स्थानालाभे तस्य च तनोस्तनूकरणे हेतुत्वोक्तेः पदार्थहेतुकस्य काव्यलिङ्गालङ्कारद्वयस्य सम्भवादिति प्रदीपकाराणामभिप्रायः ।

(५५) शब्दार्थोभयभूरेकः——

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

शब्दार्थोभयेति, कुत्रचिद्विशेषणांशे स्वातन्त्र्येण शब्दशक्त्या क्वचिद्विशेषणांशे तु स्वातन्त्र्येणार्थशक्त्या एकस्यैव व्यङ्ग्यस्यार्थसमाजसिद्धमुभयव्यङ्ग्यत्वमित्यर्थः । अतः शब्दशक्त्युद्भवस्यार्थशक्त्युद्भवस्य च प्रपञ्चेनैवास्य प्रपञ्चो गतार्थ इत्यभिप्रायेणाह—एक इति । चक्रवर्त्ती तु उपमालङ्काररूप एवायं सम्भवतीत्यत उक्तम् एक इतीत्याह, तन्न ; व्यञ्जकार्थस्य स्वतःसम्भवित्वादिभेदेन भेदप्रसक्तेर्दुर्वारत्वात् । अतन्द्रेति । प्राकरणिकाऽत्र श्यामा रात्रिः कं जनं सानन्दं न करोति । कीदृशी ? अनलसचन्द्राभरणा (A)तारकास्तरला यस्यां तादृशी, मन्मथोद्दीपिका च । अत्रोभयशक्तिव्यङ्ग्याया नायिकाया उपमा उभयशक्त्युत्था । तथाहि समुद्दीपितमन्मथेत्यत्र अर्थशक्त्यैव नायिका व्यङ्ग्या नायिकाया एव मन्मथोद्दीपने प्राधान्यात् ; तथा नायिकाविशेषवाचक(B)श्यामापदशक्त्या अनल्पकर्पूराभरणेत्येवमर्थकातन्द्रचन्द्रपदशक्त्या तारकावत् तरलो हारमध्यगो (मणिः) यस्यास्तादृशीत्येवमर्थकतारकातरलापदशक्त्या च स्वातन्त्र्येऽण नायिका व्यङ्ग्या, तत्प्रतीतौ च नायिकेव रात्रिरिति नायिकोपमाऽपि प्रतीयते इति । निरुपादानेत्यादौ तु चित्रपदकलापदसाहाय्यं विना निरुपादान इत्यादेरर्थस्य न चित्रकरव्यञ्जकत्वमिति तत्र शब्दशक्तिमात्रोद्भवत्वम् ।

(A) अत्र रात्रिपक्षे तारकाभिस्तरला भास्वरा इत्यर्थः समीचीनतया प्रतिभाति 'तरलं चञ्चले षिङ्गे भास्वरेऽपि त्रिलिङ्गकम् । हारमध्यमणौ पुंसि यवागूसुरयोः स्त्रियाम् ॥" इति मेदिनीकोषात् ; उदाहरणचन्द्रिकोक्तरीत्या बहुव्रीहौ तु तस्य विशेषणबोधकतया पूर्वनिपातापत्तेः । हारमध्यगतमणिबोधकता च रात्रिपक्षे न युक्ता' अर्थद्वयोपस्थापनस्य प्रकृतेऽपेक्षितत्वात् रूपकेणोपमाया बाधप्रसङ्गाच्चेति ध्येयम् ।

(B) "श्यामा यौवनमध्यस्था' इति "शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला । तप्तकाञ्चनवर्णा च सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥" इति च श्यामालक्षणम् ।

(५६)———भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति ध्वनेः ।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(५७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथाहि—नव रसाः, तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च, सम्भोगस्यापि परस्परावलोकनाऽऽलिङ्गन-परिचुम्बनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-सूर्यास्तमय-चन्द्रोदय-षड्तुवर्णनादयो बहवो भेदाः; विप्रलम्भस्याभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि विभावानुभाव-व्यभिचारिवैचित्र्यम्, तत्रापि नायकयोरुत्तम-मध्यमाऽधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देश-काला-ऽवस्थादिभेदा इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यम् । का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमत्वं तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

(५८) वाक्ये द्व्युत्थः—

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

अष्टादशेति । लक्षणामूलौ द्वौ, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एकः, शब्दशक्त्युद्भवौ द्वौ, अर्थशक्त्युद्भवा द्वादश, उभयशक्त्युद्भवश्चैक इत्यष्टादश(A) ।

अनुभावभेदादपि रसादीनां भेदसम्भवमाह—**परस्परेति** । उद्दीपनविभावभेदादपि भेदसम्भवमाह—**कुसुमोच्चयेति** । **वर्णनादय** इति, [1]ऋतुषट्कादिवद् वन्द्यादिना तद्वर्णनस्याप्युद्दीपकत्वमित्यभिप्रायः[1]* ।

वाक्ये इति । वाक्यव्यङ्ग्य एवेत्यर्थः [2]व्यञ्जकशब्देन सह व्यञ्जकार्थवाचकशब्दस्य वाक्यत्वप्राप्तिध्रौव्यात् द्व्युत्थस्य पदव्यङ्ग्यत्वासम्भवात्[2]* ।

(A) अत्र लक्षणामूलस्य द्वैविध्यम् अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यभेदात्, शब्दशक्त्युद्भवस्याभिधामूलस्य द्वैविध्यञ्च व्यङ्ग्ययोर्वस्त्वलङ्कारयोर्द्वैविध्यादित्यवधेयम् । अन्यत् स्पष्टम् ।

---

1. 'यद्यपि ऋतुषट्कमेवोद्दीपकं नायकनायिकाभ्यां तद्वर्णनमपि परस्परत्युद्दीपकं बोध्यम्, कविवर्णनस्यैव ताभ्यामनूयमानस्यातथात्वात्' क । 2. 'व्यञ्जकयोर्द्वयोर्वाक्यत्वध्रौव्येण द्व्युत्थस्य पदव्यङ्ग्यत्वाभावात्' क ।

(५६)—पदेऽप्यन्ये—

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि। (A)एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव [1]पदव्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्याऽपि भारती भासते। तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

(१) यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति॥ ७३॥

पदेऽपीति, पदव्यङ्ग्या अपीत्यर्थः। इत्यादिपदश्चात्र व्यङ्ग्यपरमेव न तु तत्सम्बन्धिकाव्यपरं काव्यस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात्। अपि शब्दस्योक्तसमुच्चयपरत्वमाह— अपिशब्दादिति। अत्र (B)'क्रिया वा कारकान्विता' इति यद्वाक्यलक्षणमुक्तं तादृशवाक्यभिन्नमेव पदं विवक्षितम्, तथाच न चलति विमुह्यतीत्यनयोरग्रे पदत्वकथनं नानुपपन्नम्, नञर्थस्युपसर्गार्थयोः कारकत्वाभावात्, असमासे [2]तदन्वयेऽपि कारकान्वितक्रियात्वाभावात्[3]*। नन्वेषां पदव्यङ्ग्यत्वे महावाक्यव्यङ्ग्येन रसादिना तत्रावश्यं स्थातव्यम्, तथाच महास्वादपात्रे तस्मिन् सत्येषामकिञ्चित्करत्वमित्याशङ्क्य निरस्यति—एकावयवेति नासिकास्थमुक्तादिनेत्यर्थः। वाक्यव्यङ्ग्यमहावाक्यव्यङ्ग्य(C)-रसभावादिरूपा भारती अर्थात्मककाव्यरूपा। 'पदव्यङ्ग्येन' लक्षणामूलादिसतदशात्मकेन। [3]अत्र च वस्त्वलङ्काररूपा ये पदव्यङ्ग्यास्ते महावाक्यव्यङ्ग्यरसाद्यनुवृत्तय एव तदुपकारकाः। पदव्यङ्ग्यो रसादिस्तु रसभावादिप्रकर्षरूप एवेत्यसौ तद्वृत्तिः सन्नेव रसाद्युपकारकः। न च स्वप्रकर्षः स्वोपकार एव कथमसौ स्वोपकारक इति वाच्यं प्रकृष्टत्वेन ज्ञायमानत्वस्यैव उपकारत्वाज्ज ज्ञातेन प्रकर्षेण प्रकृष्टत्वज्ञानजननात्[3]*। 'पदप्रकाश्यत्व' इति पाठः शोभनः, 'पदप्रकाशत्व' इति पाठे तु पदात् प्रकाशो येषामिति बहुव्रीहिः। क्रमेणेति लक्षणामूलादिक्रमेणेत्यर्थः।

यस्य मित्राणीति। अत्र द्वितीयमित्रादिपदानां पौनरुक्त्यापत्त्या अर्थान्तर-

(A) एष एवार्थो ध्वनिकारेणोक्तः "एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी। पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती" इति।

(B) 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इत्यमरकोषः (स्वर्गवर्गे शब्दादिवर्गः)।

(C) तथाच वृत्तौ "वाक्यव्यङ्ग्या" इत्यत्र वाक्यपदं वाक्यमहावाक्योभयपरमिति भावः।

1. 'पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. 'तदन्वयेन व्यञ्जकत्वेऽपि पदत्वानपायात्' क।

3. चयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्वनियन्त्रणीयत्व-स्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः ।

(२) खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम् ।
हिअअवअस्सबहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥ ७४ ॥

अत्र विमुह्यन्तीति ।

संक्रमितवाच्यलक्षणेत्याह—अत्रेति । तथाच यस्य मित्राणि आश्वस्तानि शत्रवश्च [1]नियन्त्रणीयाः अनुकम्प्यश्च स्नेहपात्रं स जातः प्रकृष्टजन्मा स जीवति प्रकृष्टजीवन इत्यर्थः ।

तदपकारे द्वेषः अनुकम्पा, उपकार्यत्वेन सदैव ज्ञानं स्नेह इत्यनुकम्पास्नेहयोर्भेदः । आश्वस्तत्वादिरूपेण मित्रादेरेव उपस्थापनाद् अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यलाक्षणिका एते शब्दाः, तद्व्यङ्ग्यश्च मित्रादिषूचितव्यवहारित्वेन तस्य महत्त्वं तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य तादृशपुरुषविषयभावस्य उपकारकं महत्त्वेन ज्ञाने तत्र भावातिशयात्[2] तेन एकावयवेत्याद्युक्तेरुपपत्तिः । अत्र च मित्रादिपदानां प्रत्येकैकवाक्यस्थत्वात् परस्परानन्वितत्वेन पदत्वम्, त्वामस्मीत्यादौ तु वच्मीति पदस्य पृथक्वाक्यस्थत्वेऽपि तत्कर्मभूतलाक्षणिकविद्वदादिपदार्थे तदन्वयाद् वाक्यतैव । (१)

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकपदव्यङ्ग्यमाह—खलेति ।

खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथाऽपि धीराणाम् ।
हृदयवयस्यबहुमता न हि व्यवसाया विमुह्यन्ति(A) ॥ इति संस्कृतम् ।

कृतसङ्केतनायकानागमनोत्कण्ठिताया नायिकाया स्वहृदयाश्वासनमिदम् । न हि विमुह्यन्ति न हि विपरीता भवन्ति । अत्रेति, विमुह्यन्तीति पदम् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकमित्यर्थः । प्राणिधर्मस्य विमोहस्य व्यवसाये बाधेन विपरीतलक्षणया अत्यन्ततिरस्कृतत्वात् । तथा च खला एव विपरीतव्यवसाया न तु धीरा

(A) खलेति, यद्यपि खलानां दुष्टानां व्यवहारा दारुणा इष्टप्रतिबन्धका दृश्यन्ते, तथाऽपि सदर्थग्राहितया हृदयरूपेण वयस्येन मित्रेण बहुमता अनुमोदिता धीराणां व्यवसाया उद्योगा न विमुह्यन्ति न प्रतिबन्धा भवन्तीत्यर्थः । अथवा खलप्रतारणया स्वार्थसाधने न विसंवदन्तीत्यर्थः, इत्युदाहरणचन्द्रिका ।

---

1. 'निःशेषेण यन्त्रणीयाः' ख-ग० । 2. 'भावाधिक्यात्' ख-ग० ।

(A)लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान्॥ ७५॥

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते। यथा वा—

(३) मुग्धे! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।

इति वाक्यार्थे धीराणां महत्त्वं व्यङ्ग्यं तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य उपनायकविषयशृङ्गार-रसाभासस्य प्रकर्षकम्, धीरे तस्मिन् महत्त्वेन रत्यतिशयात्। उपकृतं बहु तत्रेत्यादौ तु लाक्षणिकपदानामेकवाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वं बोध्यम्। विमुह्यन्तीत्यत्र व्युपसर्गेण समासाभावेऽपि पदत्वमुपपादितमेव प्राक्। (२)

असंलक्ष्यक्रमं पदप्रकाश्यमाह—लावण्यं तदिति। अत्रेति, प्रकाश्यन्ते शक्त्यैवेति शेषः तदादीनां तथैव शक्तेः, तद्व्यङ्ग्यश्चात्र महावाक्यव्यङ्ग्यविप्रलम्भनिष्ठः प्रकर्ष एव पूर्वानुभूतसुख[1]हेतुस्मरणे विप्रलम्भप्रकर्षात्[2] तस्य तत्प्रकर्षकत्वञ्च उपपादितमेव प्राक् तदादीनाञ्चात्र प्रत्येकैकवाक्यस्थत्वात् पदत्वमेव। न च तदा सुधास्पदमभूदित्यत्रैव सर्वेषामन्वयाद् वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वमिति वाच्यं तल्लावण्य-मित्यनेनैव पूर्वानुभूतज्ञाने विप्रलम्भप्रकर्षोदयेन तादृशपदेन तद्व्यञ्जने सुधास्पद-मित्यत्रान्वयस्यानपेक्षणीयत्वात्। अत्र च अनुभवैकेत्यादिना व्यङ्ग्यप्रदर्शनमेव कृतं घटत्वादिनैव तदादीनां शक्तेरिति केचिद्व्याचक्षते तन्न, अनुभवैकगोचरत्वस्य वस्तुरूपत्वेन तद्व्यञ्जनायां असंलक्ष्यक्रमव्यञ्जकत्वोदाहरणानुपपत्तेः; स इत्युक्ते बोद्धुरननुभूतार्थस्य [3]अनुभूतलुप्तसंस्कारस्यार्थस्य वा[3]* घटत्वादिना बोधाभावाच्च। विप्रलम्भे उदाहृत्य सम्भोगेऽप्युदाहरति—यथा वा मुग्धे इति। पत्याव-

---

(A) मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥ इति लावण्यलक्षणम्।

---

1. अत्र 'हेतु' पदं ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति। 2. अत्र 'विप्रलम्भ' इत्यतः परं 'प्रकर्षबोधात् स च महावाक्यव्यङ्ग्यविप्रलम्भस्य प्रकर्षकः। न च प्रकर्षः कथं प्रकर्षक इति वाच्यं प्रकृष्टत्वेन ज्ञानजनकस्यैव प्रकर्षकत्वात् प्रकर्षस्य च विशेषणस्य स्वज्ञानद्वारा तथात्वात्' इति ख-ग-पुस्तकयोरधिकः पाठः। ग-पुस्तके अतः परमपि 'इयांस्तु विशेषो यस्य मित्राचीतत्रादिषु पुरुषस्त्रीचितव्यवहारित्वादिव्यञ्जनाद्वारा तद्विषयो भाव-प्रकर्षो व्यङ्ग्योऽत्र तु साक्षादिति' इत्यंशोऽधिकः। 3. अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥

अत्र भीताननेति। अनेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते। भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाहृियते।

(४) रुधिरविसरप्रसाधितकरबालकरालरुचिरभुजपरिघः[A]।
झटिति भ्रूकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभाति नृप भीमः ॥७७॥

वक्रभावां सखीं वक्रभावाचरणायोद्वेजयन्त्याः सख्या उक्तिः पूर्वार्द्धं मुग्धे मुग्धतयेत्यादिकम्। सख्या एवं प्रतिबोधिता नायिका भीतानना सती तां सखीं नीचैरित्यादिकं प्रतिवचः प्रत्युत्तरमाहेत्यन्वयः। यद्वा मानं धत्स्वेत्यादि वचः प्रतिवचः, नीचैः शंसेत्याहेत्यर्थः। प्रतिबोधनीयमर्थमाह—मुग्धे इत्यादि। मुग्धे उपदेशाग्राहिणि मुग्धतया यथोचिताचरणमूढतया नेतुमित्यादि। तर्हि किं करोमीत्यत्राह—मानमित्यादि। धत्स्व गृहाण। बधान बन्दीकुरु, प्रियरतिं प्रत्यधीरा मा भूरित्यर्थः। ऋजुताम् अवक्रताम्। अत्रेति, नायिकायाः सम्भोगशृङ्गारोऽत्र महावाक्यव्यङ्ग्यः। भीताननेत्यनेन तत्प्रकर्षो व्यज्यते तदप्रीतिजनकवाक्येन भयात्तदनुरागात्मिकाया रतेः प्रकर्षलाभात्; अन्यथा नीचैः शंसनाभिधानस्य प्रतारणरूपताया अपि सम्भवात्। तदेवाह—**अनेन हीति**। 'युक्तता' अनुरागाधीनत्वेन अप्रतारणरूपता। शून्यं वासगृहमित्यादौ तु नेदृशं किमपि पदमित्यतो वाक्यमेव तत्र व्यञ्जकम्। **भावादीनामिति** भावादीनां प्रकर्षस्येत्यर्थः भावादीनां महावाक्यव्यङ्ग्यत्वेन पदप्रकाश्यत्वाभावात्। 'नाधिकं' न इतोऽधिकम्। तथाच एतदुदाहरणेनैव तद्गतार्थमिति भावः। चक्रवर्त्ती तु—अमृततुल्यस्य रसस्य कणाऽप्यास्वाद्या मधुतुल्यस्य भावादेस्तु कणा नाऽऽस्वाद्या, अतो रसकणायामिव भावादिकणायां नाधिकं वैचित्र्यमिति व्याचष्टे, तन्न; रसादिप्रकर्षस्यैव प्रकाश्यत्वात् व्यञ्जकाल्पत्वेन व्यङ्ग्याल्पत्वाभावेन[B] रसादेः कणस्यैवासम्भवाच्च; न हि महाप्रदीपाल्पप्रदीपाभ्यां व्यङ्ग्यत्वेन घटादेर्महत्त्वाल्पत्वे। (३)

शब्दशक्तिमूलमलङ्कारं पदप्रकाश्यमाह—**रुधिरेति**। हे नृप भीमः भीषणीय

(A) "परिघः" अर्गलः, अयश्रीनिरोधकत्वादित्युदाहरणचन्द्रिकायां स्पष्टम्।

(B) व्यञ्जकाल्पतया व्यङ्ग्यस्याप्यल्पत्वमिति नियमाभावेनेत्यर्थः।

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

(८) (A)भुक्ति-मुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नाऽऽनन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥

भवान्(B) विभातीत्यन्वयः । "विसरः" व्रणम्, "प्रसाधितः" मण्डितः, "करालः" भीषणः, "करवालः" खड्गः, "परिघः" मुद्गरः, "विटङ्कितम्" उच्चनीचीकृतम्, "पट्टः" स्फारदेशः । अत्र अनेकार्थकभीमपदसामर्थ्यात् राज्ञि भीमसेनोपमा व्यङ्ग्या वीरत्वं व्यञ्जयन्त्या तया च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य राजविषयभावस्य प्रकर्षो व्यङ्ग्यः वीरे भावातिशयात् । उल्लास्य कालेत्यादौ तु एकवाक्यस्थानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । (४)

शब्दशक्तिमूलं पदप्रकाश्यं वस्त्वाह—**भुक्तिमुक्ती**ति । जनान्तरसन्निधावुपनायके उपस्थिते पुराणाद्यागमप्रशंसाव्याजेन तदागमनाधीनं हर्षं व्यञ्जयन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । सदागमः सच्छास्त्रं पुराणादिकं कस्य जनस्य आनन्दनिस्यन्दं न विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्त्योः स्वर्गापवर्गयोः कर्त्ता, एकान्तसमादेशनं तत्त्वोपदेशः तत्परः तत्कारी । व्यङ्ग्यार्थस्तु सदागमः सत्पुरुषस्यागमनं कस्य मद्विधजनस्य आनन्दनिस्यन्दं न विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्त्योः सुरतोपभोगगृहकर्म्मत्यागयोः कर्त्ता, एकान्तसमादेशनं रहस्यलीलोपदेशः तत्परः । एवंविधस्त्वर्थोऽनेकार्थकसदागमपदप्रकाश्यः, तदभावे एकार्थकभुक्त्यादिपदेभ्य ईदृशार्थबोधानुदयात्, स च उपनायकप्रशंसारूपत्वान्महावाक्यव्यङ्ग्यतद्विषयरसाभासप्रकर्षकः प्रशस्ते रत्याधिक्यात् । पन्थिअ ण एत्थेत्यादौ तु एकवाक्यस्थितानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । [1]न च व्यञ्जकपदानामेकवाक्यस्थितत्वेऽपि एकैकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वं विवक्षितम्,

---

(A) "भुक्तिः" सम्भोगः, "मुक्तिः" विरहादिदुःखत्यागः ।

(B) अत्र उदाहरणश्लोके "विभासि नृप भीम" इति काव्यप्रदीपादिसम्मतः पाठः, स तु ज्यायान्, "नृप" इति सम्बोधनानन्तरं भवत्पदप्रयोगस्य तदनुसारिक्रियापदप्रयोगस्य वा असर्वसम्मतत्वादिति ध्येयम् ।

---

1. 'न च तत्र स्वस्वव्यङ्ग्यभेदेन तेषामेकव्यञ्जकत्वभावात् पदत्वेनैव व्यञ्जकत्वमिति वाच्यम्, तत्र विभिन्नस्वस्वव्यङ्ग्यद्वारा यद्युपभोगक्षमोऽसीत्येकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वात्' ख-ग ।

(६) सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुना-पद्द्योत्यं व्यज्यते ।

अन्यथा वक्ष्यमाणे तदप्राप्तिमहादुःखेत्यादौ एकवाक्यस्थयोरपि अशेषचयपदयोर्व्यङ्ग्य-द्वयबोधकत्वात् पदत्वेन व्यञ्जकतोदाहरणमनुपपन्नं स्यात् ; तथाच 'पन्थिअ ण एत्थे'-त्यत्र शास्त्रादिविभिन्नव्यङ्ग्यव्यञ्जकानां सत्थरादिपदानां कथं वाक्यत्वेन व्यञ्जकत्व-मिति वाच्यम्, प्रत्येकतत्तद्व्यञ्जनद्वारा यद्युपभोग इत्याद्येकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेन वाक्य-त्वात् । *[1]अत्रेति उद्देश्यनिर्वाहकत्वेन व्यञ्जनाया एवात्र मुख्यत्वमुक्तम् । [1]अमुख्य-येति पाठस्तु क्वचित् सुगम एव[1]* । (५)

स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाश्यमाह—सायमिति । उपनायकेन पथ्युप-भुक्तां स्नात्वाऽऽगतां सखीमुपहसन्त्याः सख्या उक्तिरियम् । तव सौकुमार्यमधुना आश्चर्यम्, येन सौकुमार्येण अभितः सर्वाङ्गे क्लान्ताऽसि । क्लमज्ञापकमाह—नेत्रद्वन्द्व-मिति । यतस्तव नेत्रद्वन्द्वं मीलनस्य व्यतिकरं समूहं विना आसितुं स्थातुं न शक्नोति । सौकुमार्यातिरिक्तस्तव ईदृशक्लमहेतुस्तु नास्त्येवेत्याह—सायमिति । अनेन क्लमहेतु-रातपो नास्ति प्रत्युत क्लमनिवृत्तिहेतू स्नान-मलयजाङ्गलेपावेव स्त इति दर्शितम् । अत्र च सायंपदस्य त्रिमुहूर्त्तात्मकसायाह्नपरत्वे तत्रातपसम्भावनां निरस्यति—यातोऽस्तेति । विस्रब्धं स्वैरम् । अत्रागतिः इहागमनम् । एतेन भयाद् द्रुत्याद्वा क्लमो नास्तीति दर्शितम् । विस्रब्धमन्देति क्वचित् पाठः । अत्रेति 'वस्तुना' वाक्यार्थेन स्वतःसम्भविना । अधुनापदेति । ईदृशक्लमस्य सौकुमार्यप्रयुक्तत्वे दिनान्तरेऽप्येवं स्यादतोऽधुनापदादाधुनिकक्लमहेतुलाभ इति भावः । अत्र च महा-वाक्यव्यङ्ग्य उपहासः व्यङ्ग्यमिदञ्च तत्प्रकर्षकं परपुरुषसम्बन्धेनाधिकोपहाससिद्धेः । अलसशिरोमणीत्यादौ तु एकविशेष्यकपदत्रयस्य वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । (६)

---

1. अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति ।

(७) तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ ८० ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका[(A)] ॥ ८१ ॥

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं च अशेष-चयपद-द्योत्ये अतिशयोक्ती ।

स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदप्रकाश्यमाह—तदप्राप्तीति । जगत्सूतिं जगज्जनकम् । परं सर्वोत्कृष्टम्, ब्रह्मस्वरूपिणम् चिन्तयन्ती पूर्वोक्तनायिकातोऽन्या गोपकन्यका निरुच्छ्वासतया निरुद्धप्राणवायुतया मुक्तिं गता कृष्णवियोगान्मृता मुक्तेत्यर्थः । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिरित्यत आह—तदप्राप्तीति । भोगेन हि पापपुण्यक्षयः, अतस्तदप्राप्तिजन्यमहादुःखेन समस्तपापस्य तच्चिन्ताजन्यविपुलसुखभोगेन समस्तपुण्यस्य च क्षयवतीत्यर्थः । पापपुण्ययोः सामस्त्यलाभश्च अशेष-चयपदाभ्याम् । अत्रेति । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिप्राप्तिरूपं स्वतःसम्भवि वस्तु प्रकृतवाक्यार्थः तद्व्यञ्जकौ च अतिशयोक्त्यलङ्कारावित्यर्थः । तथा हि मुक्तेरुपयोगितया प्रकृतानां समस्तपापफलानां पापविशेषफलेन तदप्राप्तिदुःखेनाप्राकृतेन मुक्त्युपयोगितया प्रकृतानां समस्तपुण्यफलानाञ्च पुण्यविशेषफलेन तच्चिन्ताविपुलसुखेनाप्राकृतेन स्वभेदेन निर्देशात्मकनिगरणरूपावेतौ अलङ्कारौ,

"निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्"

इति तल्लक्षणात् । निगरणं हि प्रकृतस्य स्वशब्देनानुक्त्या उक्ताप्रकृताभेदेन व्यञ्जनया प्रतीतिः, कमलमनम्भसीत्यत्र अप्रकृतेन कमलेन प्रकृतस्यानुक्तस्य मुखस्येव । तौ चालङ्कारौ पापपुण्यसामस्त्यप्रापकाभ्यामशेषचयपदाभ्यां द्योत्येते कारणसामस्त्येन तत्फलसामस्त्यद्योतनात् । तदाह—अशेषचयपदेति । धन्याऽसि या कथयसीत्यादौ तु

(A) अत्र अन्या गोपकन्यका मुक्तिं गतेत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—तदप्राप्तीति तच्चिन्तेति च, प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति सिद्धान्तादिति भावः । "चिन्तयन्ती" इत्यनेन साक्षात्कारहेतुर्निदिध्यासनमुक्तम् । निरुच्छ्वासतयेत्यस्य नास्ति उच्छ्वासः प्राणोत्क्रमणं यस्याः सा, तत्तयेत्यर्थः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' इति श्रुतिरत्रार्थे प्रमाणम् । परब्रह्म निर्गुणं ब्रह्म, परापरभेदेन ब्रह्मणो द्वैविध्यं शास्त्रे प्रसिद्धम् । सुगममन्यत् । विष्णुपुराणस्थमेतत् पद्यद्वयम् ।

(८) क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम्।

बत वीर तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम्॥ ८२॥

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन 'विधिरपि त्वामनुवर्त्तते' इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु।

(९) तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो(A)।

ईदृशपदाभावान्महावाक्यमेव व्यञ्जकम्। तौ चालङ्कारौ गोपीविप्रलम्भव्यञ्जिकाया मुक्तेरुपपादकस्य समस्तपापपुण्यक्षयद्वयोपपादकत्वेन महावाक्यव्यङ्ग्यगोपी [1]विप्रलम्भप्रकर्षकौ विप्रलम्भप्रकर्षकमुक्त्युपपादनद्वारत्वात्[1]*। न च अशेषचयपदयोर्व्यञ्जकयोरेकवाक्यस्थत्वेन कथं पदत्वमिति वाच्यम्, विभिन्नस्वस्वव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेन पदत्वात्, एकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वे सत्येव तादृशयोर्वाक्यत्वात्। (७)

स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदद्योत्यमाह—क्षणदाऽसाविति। अक्षणदा अनुत्सवदा। अवनं रक्षकम्, वनस्य पलायनस्थानत्वात्; नन्द्यादित्वात् कर्त्तरि युः। व्यसनं द्यूतादिकौतुकम्। अव्यसनम् अविस्तीर्णम्; यद्वा अविभिर्मेषैः असनं शिरःप्रहारेण क्षेपणम्; तादृशं व्यसनम् आपत्, त्वदादिष्टैर्मेषैः शिरसा प्रहृत्य त्वदरयो निःसार्यन्ते इत्यर्थः। तत्र च अक्षणदादिशब्दोपस्थाप्यः शब्दशक्तिमूलः क्षणदादेः क्षणदात्वादिपराङ्मुखत्वरूपो विरोध आपाततो भासते, स एवार्थान्तरन्यासेन समर्थ्यते पराङ्मुखे त्वयीति; त्वयि पराङ्मुखे सति तान् प्रति न केवलं क्षणदादेरेव स्वस्वधर्मत्यागेन पराङ्मुखत्वमपि तु सर्वेषामेव पराङ्मुखत्वमित्यर्थः। स चार्थान्तरन्यासो द्रष्टृचरत्वात् स्वतःसम्भवीति तद्व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति। 'विरोधाङ्गेन' विरोधनिर्वाहेन। विधिरपीत्यादेः सर्वपदद्योत्यता च सर्वत्वेन विधेरपि लाभात् शत्रून् प्रति पराङ्मुखत्वस्यैव वाच्यत्वेन तदनुवर्त्तनस्य व्यङ्ग्यत्वम्, तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य राजविषयभावस्य प्रकर्षकमेव विधिनाऽप्यनुवर्त्तनीये भावप्रकर्षोदयात्। दर्पान्धेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद्वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (८)

स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदद्योत्यमाह—तुह वल्लहस्सेति।

(A) "गोसम्मि" इति पदं "प्रभाते" इत्यर्थे देशी। अस्य संस्कृतं 'प्रातः' इति काव्यप्रदीपटीकाकारः। अत्र "कमलदलो" इति पुंस्त्वं प्राकृते लिङ्गानियमादिति व्यक्तमुद्द्योतादौ।

---

1. 'विप्रलम्भस्य प्रकर्षव्यञ्जकौ विप्रलम्भाधीनमुक्ति हेतुभूतयोः समस्तपापपुण्यफलभोगयोस्तदप्राप्तिदुःखतच्चिन्तासुखाभ्यामभेदेनाध्यवसानात् तादृशदुःखस्यातिशयत्वलाभेन विप्रलम्भातिशयलाभात् दुःखसम्भिन्नरतिरूपस्य विप्रलम्भस्य दुःखाधिक्येनाधिक्यात्' ख-ग,।

इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महीसंमुहं ॥ ८३ ॥

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम्। एषु स्वतः-सम्भवी व्यञ्जकः।

(१०) राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावं।
एकच्छत्तं [1]विअ कुणइ भुअणरज्जं विजम्भन्तो ॥ ८४ ॥

तव वल्लभस्य गोशे आसीदधरो म्लानकमलदलम्।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥ इति संस्कृतम्।

रात्रावत्यन्तचुम्बितपत्यधरां नवयौवनां वधूं प्रति कस्याश्चिदुक्तिरियम्। गौः शेतेऽस्मिन्निति गोशं प्रभातम्। नववधूः नवयौवना वधूः। अधरस्य म्लानकमलदलत्वेन रूपणाद् म्लानिहेतुपत्यधरात्यन्तचुम्बनप्रकाशनाद् मुखनमनम्। अत्र च रूप्यरूपकयो[2]रभेदसंसर्गस्यालीकत्वेऽपि रूपकहेतुना शोणत्वरूपसाधर्म्येण अधरसदृशे कमलदल एव म्लानकमलदलाभेददर्शनाद् अधरेऽप्यौचित्येन सम्भावितस्य म्लानकमलदलाभेदात्मनो रूपकालङ्कारस्य स्वतःसम्भवित्वमिति प्रागेव दर्शितम्[2]*। तद्व्यङ्ग्यश्च अधरम्लानिहेतुरत्यन्तचुम्बनमित्येवंरूपो हेत्वलङ्कारः। स च रूपकबोधकम्लानकमलदलप्रकाश्य इत्याह—अत्रेति। व्यङ्ग्यश्च म्लानिहेतुश्चुम्बनं परार्द्धरूपमहावाक्यव्यङ्ग्यवधूलज्जायाः [3]प्रकर्षकं स्वकर्तृकात्यन्तपत्यधरचुम्बनप्रकाशाल्लज्जाधिक्यात्। गाढकान्तेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (६)

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाश्यमाह—राईसु इति

रात्रिषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम्।
एकच्छत्रमेव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥ इति संस्कृतम्।

अत्र य इत्यस्य प्रकरणलभ्यः कामो विशेष्यः। भुवनराज्यं भुवनराजत्वम्। अत्र अनङ्गस्य चापास्फालनपूर्वकभुवनाधिकारकरणस्यालीकत्वेन तद्रूपं वस्तु कवि-

---

1. 'विय' इति क्वचित् पाठः। 2. '-रभेदरूपसंसर्गस्यालीकत्वेन रूप्यस्य म्लानकमलदलस्य प्रसिद्ध्या स्वतःसम्भवित्वं रूपकस्य बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानः इत्यत्र व्याख्यातमेव' ख-ग। 3. 'प्रकर्षव्यञ्जक' ख-ग।

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ।

(११) निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो
दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले ।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र
व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥ ८९ ॥

प्रौढोक्त्यैव सिद्धम्, तद्व्यङ्ग्यमाह—अत्र येषामिति। तेभ्य इत्यत्राऽपाये पञ्चमी, तेभ्योऽपेतो बहिर्भूत इत्यर्थः, निर्द्धारणे तु पञ्चम्यनुपपत्तेः(A)। पराङ्मुख इत्यन्तं जाग्रद्भिरित्यादेर्हेतुप्रदर्शनरूपम्, ईदृशश्च व्यङ्ग्यं प्रजानां सामस्त्यप्रापकभुवनराज्यपदादेव प्रकाशत इत्याह—भुवनेति। तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य समस्तजनशृङ्गारस्य प्रकर्षकं जाग्रद्भिरित्यादिना तत्प्रकर्षस्य स्पष्टत्वात्। कैलासस्येत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। एकच्छत्तं विश इत्यत्र एकच्छत्रमिवेति संस्कृतमाह चक्रवर्त्ती, तन्न; तदा उत्प्रेक्षाया एव व्यञ्जकतापत्तेर्न तु वस्तुनः(B)। (१०)

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदप्रकाश्यमाह—निशितेति। अराले युवत्या वक्रभावहेतुत्वेन कुटिले वयसि यौवने सति सुदृशो दृशि अनङ्गो निशितस्वशरधिया स्वबलमर्पयति, सा चार्पितबला दृग् यत्र दिशि निपतति तत्र दिशि अवस्था अर्थाद् यूनां विरहकालीनाः क्रमिक्यो दश दशाः व्यतिकरं मिलनम् एत्य समुन्मिषन्ति जायन्ते। दशावस्थाश्च—

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ।
[1]अधृतिश्चाप्यनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।
मृतिश्चेति क्रमाज् ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥

इति वात्स्यायनोक्ताः। तासाञ्च क्रमिकाणां युगपदुन्मेषरूपं वस्तु वाक्यार्थः स्वतोऽ-

---

(A) वोपदेवानुयायिनस्तु "निर्द्धारेऽधिकेन क्रियान्तःकालाध्वनोश्च ङी च" इति सूत्रेण निर्द्धारेऽपि पञ्चमी सम्भवतीति प्राहुः।

(B) "न तु वस्तुनः" इति व्यञ्जकत्वं सम्भवतीति शेषः। पूर्वत्र व्यञ्जकत्वापत्तेरित्यत्र व्यञ्जकत्वापत्तिरिति प्रथमान्तपाठः समीचीनः।

---

1. 'अधृतिः स्यादना-' इति मुद्रितपुस्तकपाठः।

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः।

(१२) वारिज्जंतो वि पुणो संदावकदत्थिएण हिअएण।

थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥ ८६ ॥

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति 'ण चलइ'पदद्योत्यं वस्तु।

सम्भवात् कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धं, तद्व्यङ्ग्यश्चात्र क्रमिकाणां युगपदुन्मेषो विरुद्ध इत्येवंरूपो विरोधालङ्कारः, स च युगपत्ताबोधकव्यतिकरपदप्रकाश्य इत्याह—अत्रेति। परस्परविरोधोऽत्र कालिकः, तदलीकत्वादविरोधः। स च विरोधो महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकाद्रष्टृयुवजनशृङ्गारस्य प्रकर्षकः युगपद्विरुद्धसर्वावस्थोदयेन तेषां शृङ्गाराधिक्यलाभात्। 'केसेसु बलामोडिअ' इत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (११)

कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाश्यमाह—वारिज्जंतो वीति—

वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन।

स्तनभरवयस्यतया विशुद्धजातिर्न चलति(A) तस्या हारः॥

इति संस्कृतम्।

सन्तापकदर्थितेन हृदयेन पुनः पुनर्वार्यमाणोऽपि तस्या हारो विशुद्धमुक्ताजातीयघटितः, स एव च श्लेषाद् विशुद्धब्राह्मणादिजातीयत्वेन अध्यासितः; स्तनभरस्य वयस्यतया न चलति नापगच्छति विशुद्धजातीयस्य वयस्यत्यागाभावादित्यर्थः। पुनरित्यत्र पुनः पुनरित्यर्थः। एवञ्च विशुद्धजातित्वमनपगमे हेतुरिति हेत्वलङ्कारो वाक्यार्थः कवि प्रौढोक्त्यैव सिद्धः, तस्यानपगमहेतुत्वस्यारोप्यत्वेनावास्तवत्वात्। तद्व्यङ्ग्यं वस्त्वाह—हारोऽनवरतमिति, वार्यमाणस्यानपगमे कम्प-नैयत्यात्, अत एव न चलतीति पदद्योत्यं तत्; नञर्थस्य कारकत्वाभावात् तदन्वयेन व्यञ्जकस्यापि न चलतीत्यस्य असमासेऽपि पदत्वमेवेति प्राग् दर्शितम्। व्यङ्ग्येन हारकम्पेन च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकाविप्रलम्भस्य प्रकर्षः हारकम्पकतापेन(B) विप्रलम्भातिशयलाभात्। गाढालिङ्गनेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (१२)

(A) 'से' इत्यस्य 'अस्याः' इत्यनुवादः बालबोधिन्यां दृश्यते।

(B) तापपदमत्र तापजन्यदीर्घनिःश्वासादिपरमिति बोध्यम्।

(१३) सो मुद्धसामलंगो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसंगरे जअइ ॥ ८७ ॥

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति खंधपदद्योत्या विभावना । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदप्रकाश्यमाह—सो सुद्धेति ।

स शुद्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसङ्गरे जयति ॥

इति संस्कृतम् ।

रत्युत्तरं नायिकास्कन्धपतितश्लथबन्धकेशदर्शनात् पुनरुद्दीप्तमदनस्य नायकस्य पुनः सुरतवर्णनमिदम् । धम्मिल्लः संयतः केशपाशः । शुद्धश्यामलाङ्गः स एव, शुद्धः श्यामलाङ्गः स्मरः तस्या नायिकायाः स्कन्धाद् बलं गृहीत्वा सुरतसङ्गरे जयति पुनः सुरतयुद्धप्रवर्त्तकत्वादुत्कर्षवानित्यर्थः । मुग्धेति पाठे मुग्धश्यामलाङ्ग इति संस्कृतम् । कीदृशः ? कलितधम्मिल्लात्मकललितनिजदेहः । अत्रेति, [1]श्यामलाङ्गः स्मरस्य प्रसिद्धत्वमत्रारोप्यैवोक्तम्, स्मरस्य तथात्वाभावात् । तथाच तद्भेदस्य धम्मिल्ले रूपकघटकोद्दीपकत्वधर्मेण तत्सदृशे उद्दीपकान्तरे स्मरे वाऽदर्शनाद् रूपकमिदं कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धम्,[1]* तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—रतिविरतावपीति । अभिलाषहेतो रत्यनुत्तरकालस्याभावेऽपि अभिलाषरूपफलव्यक्त्यात्मिका विभावनेत्यर्थः,

'क्रियायाः प्रतिरोधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' ।

इति तल्लक्षणे क्रियापदस्य कारणमात्रपरत्वेन रत्यनुत्तरकालस्यापि क्रियापदार्थत्वात् । तस्याः स्कन्धपदद्योत्यतामुपपादयति—मुहुराकर्षणेनेति, आकर्षणात् स्कन्धप्राप्तेः प्रायशो रत्युत्तरं सम्भवात् रत्यनुत्तरकालाभावप्रापकं स्कन्धपदं तद्द्योतकम् । तत्कालीनाभिलाषात्मिकया च विभावनया महावाक्यव्यङ्ग्यशृङ्गाररसोत्कर्षः स्फुट एव । जा ठेरं व हसन्तीत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१३)

---

1. 'श्यामलाङ्गस्मररूपकमिदं रूप्यमाणश्यामलाङ्गस्मराप्रसिद्धा तदस्वीकत्वेन कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धमिति प्रागेव दर्शितम्' ख-ग ।

(१४) णवपुण्णिमामिअंकस्स सुहअ को त्तं सि भणसु मह सच्चं ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज ॥ ८८ ॥

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं (A)न तत इति णवेत्यादि-पओसेत्यादिपदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते ।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदद्योत्यमाह– णवपुण्णिमेति ।

नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य सुभग कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।
का (B)सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य(C) ॥ इति संस्कृतम् ।

उपनायिकागृहे जिगमिषुं स्वनायकमुपहसन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । हे सुभग नवीनपूर्णिमाचन्द्रस्य कस्त्वमसि किंसम्बन्धयसि पुत्रो भ्रात्रादिर्वा, तन्मम स्थाने सत्यं भणेत्यर्थः, तादृशसम्बन्धित्व एव तद्धर्मक्षणिकानुरागित्वस्य त्वय्युपपत्तेरिति भावः । तथा तव सौभाग्यं समग्रं यस्यां तादृशी का अद्य चन्द्रस्य प्रदोषरजनीव, चन्द्रस्यापि प्रदोषरजन्यां क्षणिकरागात् । अत्र साधर्म्योपलम्भात् पुत्रत्वभ्रातृत्वादिरेव सम्बन्धः षष्ठ्यर्थः प्रश्नविषयः । स च अचेतनस्य चन्द्रबिम्बस्य पुत्राद्यभावादलीक इति तद्विषयप्रश्नोऽप्यलीकः कविनिबद्धाया नायिकायाः प्रौढोक्त्यैव सिद्धः, एवं प्रदोषरजन्यां सौभाग्यस्यालीकत्वेन तदुपमितायां सौभाग्यप्रश्नोऽप्यलीकः । तत्र प्रथमप्रश्नव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—मयीवेति । चन्द्रस्य नवत्वेन तदीयरक्तिमार्थके रक्तपदे स्मारिते श्लिष्टस्य तस्यार्थयो रक्तिमानुरागयोरेकत्वाध्यासात् (ध्यवसायात् ?) प्रथममनुरक्तस्त्वमित्यन्तं वस्तु व्यङ्ग्यं तच्च णवेत्यादिपदप्रकाश्यम्, न तत

(A) न तत इत्यादि । ततः तदनन्तरं प्रथमानुरागफललाभानन्तरमित्यर्थः, न तस्यामनुराग इति शेषः । अस्य पदद्योत्यकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यवस्तूदाहरणत्वम्, "अत्र पदे रजनी वेत्युपमानैरपेक्ष्येण कथं व्यञ्जकत्वमिति चिन्त्यम्" इति वदता प्रदीपकारेणाक्षिप्तम् । तत्र "इव पदानुपादानेऽपि प्रदोषरजनी तव का इत्येतावताऽपि व्यञ्जनासिद्धिः सम्भवती"ति यत् कैश्चित् परिह्रियते तदपि न मनोरमम्, श्लोके सत 'इव'पदस्यानुपादानकल्पनानौचित्यात् अनुपादानकल्पस्य तु उदाहरणान्तरत्वात् प्रदोषरजनी तव का इत्युक्तावतिशयोक्तिसापेक्षस्यैव व्यञ्जकत्वापातेन तद्दोषतादवस्थ्याच्च तावताऽपि क्षणिकानुरागनायकानुरागिण्याः सौभाग्यप्रश्नव्यङ्ग्यस्योपहासस्यालाभात् । वस्तुतः टीकाकृदुक्तप्रथमप्रश्नव्यङ्ग्याभिप्रायेणास्य वस्तुव्यङ्ग्यवस्तूदाहरणत्वसम्भवे द्वितीयार्द्धे अलङ्कारस्य व्यञ्जकत्वेऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् ।

(B) सौभाग्येन समग्रा सम्पूर्णा ईदृशनायकरत्नलाभेन या आत्मानं पूर्णसौभाग्यं मन्यते तादृशीत्यर्थः ।

(C) अत्र उद्द्योतः—"खण्डितासा वृद्धपरवध्वनुरक्तं स्वामिनं प्रतीयमुक्तिः । [illegible]ः प्रथमोदितः

(१८) सहि णवणिहुवणसमरम्मि अंकवालीसहीए णिविडाए ।
हारो [1]णिवारिओ च्छिन्निअं[1] * [2]उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअं॥८९॥

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः कहंपदगम्यः ।

इति तु प्रदोषरजन्युपमितोपनायिकासौभाग्यप्रश्नव्यङ्ग्यं तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्योपहासस्य प्रकर्षकं क्षणिकानु[3]रागित्वेन उपहासाधिक्यलाभात् । जे लङ्कागिरीत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१४)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदद्योत्यमाह— **सहि णवणिहुवणेति** ।

सखि नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निविडया ।
हारो निवारितश्छित्त्वा उच्छ्रीयमाणस्ततः कथं रमितम् ॥

इति संस्कृतम् ।

स्वोद्देश्यनिधुवनप्रतिबन्धकहारनिवारकत्वेन अङ्कपाली (A)आलिङ्गनमेव सखी अत्यन्तप्रत्यासन्नत्वेन निविडया तया छित्त्वा [4]उच्छ्रीयमाणः गलितद्वित्रिमौक्तिको हारो निवारितः ततः कथं रमितमित्यर्थः । रमितमिति कारितान्तं परस्परेण परस्पररतिः कथं कारितेत्यर्थः । अत्रालिङ्गनरूपायाः सख्या हस्ताद्यभावाद् विवक्षितस्तादृशो हारच्छेदोऽलीकः ; तथाच तज्जन्यरतौ प्रश्नोऽ[5]प्यलीकत्वात् कविनिबद्धायाः सख्याः प्रौढोक्त्यैव सिद्धः, तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—अत्रेति । "वस्तुना" उक्तप्रश्नार्थ-

---

पूर्णिमासम्बन्धी मृगाङ्कश्चन्द्रः तस्य त्वं कः सखा भ्राता वाऽसि तत् सत्यं भण तत्सम्बन्धित्वं विना क्षणिकानुरागित्वस्य तत्स्वभावस्य त्वय्यनुपपत्तेः ; तथा चन्द्रस्य प्रदोषरजनीव तव का नायिका सौभाग्यं नायकानुरागादि समग्रं सम्पूर्णं यस्यां तथाभूता । प्रदोषः रजनीमुखम् । प्रदोष एव यथा रजन्यां चन्द्रानुरागसामग्र्यं तथा तव तस्यामित्यर्थः । नवत्वेन चाञ्चल्यं क्षणानुरागित्वम् । पूर्णिमाचन्द्रः प्रदोषे रज्यतेऽनन्तरन्तु विरज्यते एवं पूर्णिमामृगाङ्कत्वेन नायिकान्तरानुरागित्वं कलङ्कित्वम् । प्रदोषपदेन प्रकृष्टदोषवत्त्वम् । यत्तु (ये तु ?) नवः प्रतिपदुदित इति व्याचक्षते तेषां पूर्णिमापदासङ्गतिः स्पष्टैव" इति ।

(A) 'अङ्कपाली परीरम्भे कोटिधात्रिकयोरपि' इति कोषः ।

---

1. 'निवारिओ विअ' इति प्रदीपादिसम्मतः पाठः । 2. 'उच्चेरन्तो' इत्युदाहरणचन्द्रिकाधृतपाठान्तरम् ।
3. '-रागित्वचणतरत्त्यमाणनायिकासौभाग्याभ्यां' ख-ग । 4. 'उड्डीयमानः' ख-ग । 5. '-प्यलीकार्थत्वात्' ख-ग ।

(१६) पविसंती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहं ।
खंधे घेत्तूण घडं हा हा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किं ति ॥९०॥

अत्र हेत्वलंकारेण संकेतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदा अपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंतिपदद्योत्यम्। यथा वा—

(१७) विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण घडेण[1] तरलतरदिट्ठिं ।
वारप्फंसमिसेण अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥९१॥

रूपेण। 'व्यतिरेकः' उपमानाद् रत्यन्तराद् वैलक्षण्यरूपः। कहंपदेति, व्यञ्जकीभूतप्रश्नवाचकत्वात् कथंपदं (A) व्यञ्जकम्, व्यङ्ग्यञ्च रतिवैलक्षण्यं महावाक्यव्यङ्ग्यतदुभयशृङ्गारप्रकर्षकमेव। सहि विरइउण इत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (१५)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदद्योत्यमाह—**पविसन्ती** इति।

प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम्।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिषि सखि किमिति ॥

इति संस्कृतम्।

नष्ट इत्यत्र घट इति शेषः। किमिति रोदिषि, बुद्धिपूर्वकघटभङ्गे रोदनवैयर्थ्यादिति भावः। **अत्रे**ति, नायिकया बुद्धिपूर्वकं कृतो घटभङ्गः रोदनहेतुत्वेन दर्शितः, अत्र (अतः ?) हेत्वलङ्कारः, स च वस्तुतो हेतुत्वाभावात् कविनिबद्धसखीप्रौढोक्त्यैव सिद्धः। तद्व्यङ्ग्यं वस्त्वाह—**सङ्केते**ति। तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य सखीविषयवक्तृभावस्योपकारकं समीहितसाधनानुमत्या सखीविषयस्नेह[2]भावाधिक्यलाभात्; तस्य किमिति पदद्योत्यता च रोदनवैयर्थ्यबोधकेन तेन समीहितसाधनानुमतिलाभात्। ओल्लोलेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। ननु घटभङ्गस्य रोदनहेतुत्वमौचित्येन सम्भाव्यत एवेत्यतः स्वतःसम्भव्येवायं हेत्वलङ्कार इत्यत आह—**यथा वे**ति। (१६)

(A) अत्रोदाहरणश्लोके नवनिधुवनसमर इति रूपकसत्त्वेऽपि तन्नैरपेक्ष्येण पदस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वं सम्भवतीति पदद्योत्यवस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारोदाहरणसङ्गतिरिति बोध्यम्।

---

1. "कुडेण" इति प्रदीपादिधृतः पाठः, घटेनेति तदर्थः। 2. '-भावातिशय-' क, 'भावनातिशय-' ग।

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेने(A)त्यपह्नुत्या वस्तु ।

(१८) जोह्नाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउत्सुअमणा सा ।
बुड्ढा वि णवोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ
तुह हिअअं ॥ ९२ ॥

विश्रृङ्खलां त्वां सखि दृष्ट्वा घटेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण आत्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥

इति संस्कृतम् ।

विश्रृङ्खलां व्याकुलां त्वां दृष्ट्वा घटेन आत्मा गुरुक इत्यतो हेतोर्द्वारस्पर्शव्याजेन विभिन्नः भेदितः, अन्तर्भूतकारितार्थत्वात् । पतनहेतौ गुरुत्वे स्वनाशेनापि परोपकारित्वरूपं गुरुत्वमध्यासितम् (अध्यवसितम् ?) श्लेषात् । अत्रेति, नायिकया कारितस्य द्वारस्पर्शस्य भेदहेतुत्वापह्नवेन स्वस्मिन्नेव तद्धेतुत्वारोपरूपया अपह्नुत्येत्यर्थः । घटस्याचेतनस्य तदसम्भवात् कविनिबद्धसखीप्रौढोक्त्यैव तत्सिद्धिः । तद्व्यङ्ग्यं वस्त्वाह—किमितीति । नदीगमनायेत्यादिकन्तु अपह्नुतिबीजप्रदर्शनं न त्वपह्नुतिशरीरम् । चिन्तितमित्यन्तं तु अपह्नुतिविषयस्वज्ञानकथनम् । तत् किमितीत्यादेः सखीपदद्योत्यता च सखीकृत्यत्वादेवेदृशोपदेशस्य । तादृशोपदेशरूपं व्यङ्ग्यञ्च महावाक्यव्यङ्ग्यसखीविषयवक्त्रीभावस्य प्रकर्षकं स्पष्टमेव । (१७)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदद्योत्यमाह—जोह्नाइ इति ।

ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनाः सा ।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥ इति संस्कृतम् ।

गलितयौवनोपनायिकाप्रसक्तं स्वनायकमुपहसन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । वृद्धाऽपि सा नायिका ज्योत्स्नामधुरसाभ्यां दत्तेन तारुण्येन उत्सुकमनाः यतः परवधूः,

---

(A) अत्र प्रकृतार्थगोपनमात्रम् अपह्नुतिः, न तु तत्रोपमानोपमेयभावोऽप्यावश्यक इत्यभिप्रायः, नायिकया इच्छाकृतघटभङ्गे घटकर्तृकस्वस्फोटनरूपं फलमत्रोत्प्रेक्ष्यमिति प्रतीयमानोत्प्रेक्षालङ्कारोऽत्र व्यञ्जक इति तु विभावनीयम् ।

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः ।

(A)एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

(६०) ....प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥

यथा—गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ९३ ॥

अतस्तव चित्तं हरति, न तु सौकुमार्येण तारुण्येन च। अत्रेति, 'काव्यलिङ्गं' हेत्वलङ्कारः चित्तहरणहेतुपरवधूत्वरूपः, स च नायिकायाः प्रौढोक्त्यैव सिद्धः, विरूपया परवध्वा चित्तहरणाभावेन परवधूत्वे चित्तहरणस्य हेतुत्वावास्तवत्वात् । 'आक्षेपः' आक्षेपनामा अलङ्कारः,

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषविधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

इति तल्लक्षणात् ; वृद्धामित्यादिकन्तु तादृशनिषेधसम्पादकतयैवोक्तमिति बोध्यम् ; परवध्वभिलाषादेव आक्षेपोपपत्तेः तस्य परवधूपदप्रकाश्यता, तस्य च महावाक्यव्यङ्ग्यपत्युपहासोपकारकत्वम् अयुक्तकारित्वेन अनिर्वचनीयचरितस्य उपहास्यत्वात् । महिलासहस्रेत्यादौ तु ईदृशपदाभावात् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१८)

पञ्चत्रिंशदिति द्व्युत्थो वाक्यप्रकाश्यत्वेनैकविध एव, अन्ये तु सप्तदश पदवाक्यप्रकाश्यत्वेन द्वैगुण्याच्चतुस्त्रिंशदिति पञ्चत्रिंशदित्यर्थः ।

प्रबन्धेऽपीति, द्वादशविधोऽर्थशक्तिभूः सः नैकरूपमहावाक्यात्मक (अनेकमहावाक्यात्मक ?)प्रबन्धव्यङ्ग्योऽपीत्यर्थः । तथाच पदवाक्याभ्यामिव प्रबन्धेनाप्यर्थशक्त्युद्भवा द्वादश व्यङ्ग्या इत्यर्थः । यद्यपि तदप्राप्तिमहादुःखेत्यादिपद्यद्वयात्मकमहावाक्यमपि प्रबन्ध एव, तथाऽपि तत्र अशेषचयपदयोर्व्यञ्जकत्वात् पदप्रकाश्यता तादृशपदाभाव एव प्रबन्धप्रकाश्यता । तत्र स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु प्रबन्धप्रकाश्यमाह—अलमित्यादिपद्यद्वयेन । श्मशाने मृतबालकं त्यजतस्तद्बन्धून्

A. एष्विति चतुर्षूदाहरणेषु, निष्पन्नशरीर इति व्यञ्जक इति शेषः ।

न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥९४॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम्;

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ ९५ ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ ९६ ॥

इति निशि (A) विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं(B) च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते। अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तर-भयान्नोदाहृताः, स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः। अपिशब्दात् पद-वाक्ययोः।

प्रति गृध्रस्य वाक्यमिदम्। 'कालधर्मं' मरणम्। 'दिवा प्रभवतः' दिवा भक्षण-प्रभोः। 'पुरुषविसर्जनं' पुरुषाणां श्मशानत्यजनम्। तथाच यूयं श्मशानादप-गच्छतेत्येवं वस्तु स्वतःसम्भविनः प्रबन्धार्थरूपवस्तुनः प्रबन्धस्य च व्यङ्ग्यमित्यर्थः। गोमायूक्तिरूपप्रबन्धस्यापि तादृशमेव व्यङ्ग्यमाह—आदित्योऽयमिति। आदित्य-सत्त्वाद् युष्माकं रात्रिञ्चरतोऽपि भीतिर्नास्तीति दर्शितम्। स्नेहकरणं स्थितिरेव, तत्फलमाह—जीवेदपीति। बहुविघ्न इत्यनेन विघ्नरहितमुहूर्त्तान्तरे जीवनसम्भा-वना दर्शिता। तत्सम्भावनायां हेतुमाह—अमुमिति। कनकवर्णाभत्वेन रूपविप-र्ययाभावात् जीवनसम्भावना। बालत्वेन मृत्युकालाप्राप्त्या मृत्युहेतुयौवना-धीनापचाराभावेन च जीवनसम्भावना। मूढा इत्यत्र बाला इति पाठान्तरम्, शिशुबुद्धय इत्यर्थः। 'विजृम्भमाणस्य' भक्षणार्थं वर्त्तमानस्य। व्यावर्त्तनं श्मशान-त्यागतः परावर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्पर्यासिकम्। अत्रापि जनव्यावर्त्तनरूपं वस्तु तादृशवस्तुव्यङ्ग्यम्। अन्ये त्वेकादशेति स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारा-दय इत्यर्थः(C)। अपिशब्दादिति प्रबन्धेऽपीत्यपिशब्दात् उक्तसमुच्चयपरादित्यर्थः।

(A) भक्षणे प्रकटशक्तिकस्येत्यर्थः।
(B) व्यावर्त्तनं निवर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्परमित्यर्थः।
(C) प्रबन्धगता इति शेषः।

(६१) (A)पदैकदेश-रचना-वर्णेष्वपि रसादयः ।

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।

रुद्दस्स तइअणअणं पव्वई परिचुम्बिअं जअइ ॥ ९७ ॥

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि समानेऽपि हि स्थगन-

पदैकेति । रसादय इत्यनेन असंलक्ष्यक्रमा उक्ताः, ते च प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गरूपैः पदैकदेशैः, दीर्घसमासादिरूपाभी रचनाभिर्वर्णविशेषैश्च(B) व्यज्यन्त इत्यर्थः । प्रकृत्या इति धातुप्रकृतेरित्यर्थः । रइकेलि इति

रतिकेलिहृतनिवसनाकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।

रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ इति संस्कृतम् ।

रतिनग्नीकृतया पार्वत्या करद्वयेन हरस्य नयनद्वये पिहिते चुम्बनपिहिततत्तृतीयनयनवर्णनमिदम् । रतिकेलौ हृतनिवसना अर्थात् पार्वती तस्याः करकिसलयेत्यर्थः, प्राकृते समासे निवसनेत्यत्र ह्रस्वः(C) । यद्वा हृतम् अर्थात् पार्वत्या निवसनं येन स चासौ करकिसलयरुद्धनयनयुगलश्चेति कर्मधारयः तादृशस्येत्यर्थः । [1]करश्च अर्थात् पार्वत्याः । 'जयति' उत्कृष्टम् ; करद्वयपिहितनयनद्वयापेक्षया शृङ्गारानुभावचुम्बनपिहितत्वेन शृङ्गारोत्कर्षव्यञ्जकत्वात् ; अतः शृङ्गारोत्कर्षो जिधातुरूपप्रकृतिव्यङ्ग्य इत्याह—अत्रेति(D) । न त्विति, नयनोत्कर्षवाचको जिधातुरेव शृङ्गारोत्कर्ष-

---

(A) "अत्र पदैकदेशेत्युपलक्षणम्, पुरुषव्यत्ययपूर्वनिपातादयोऽपि ग्रहीतव्या इति सारबोधिनीकारः । पुरुषव्यत्ययपूर्वनिपातादयः पदैकदेशधर्मत्वात् पदैकदेशा एव गण्यन्ते इति प्रदीपप्रभयोः स्पष्टम् । प्रकृतिरपि धातुरूपा नामरूपा चेति द्विविधा, उपसर्गाणां स्वातन्त्र्येनार्थाप्रत्यायकत्वात् पदैकदेशत्वं बोध्यमित्युद्द्योतः" इति बालबोधिनी ।

(B) लघु'र''ण'प्रभृतिभिः ।

(C) प्राकृते समासे ह्रस्वानङ्गीकारे 'रतिकेलिहृतनिवसनकरे'त्यादि संस्कृतमभिप्रेत्य व्याचष्टे यद्वेति ।

(D) एवमेव व्याख्यातं प्रदीपे 'अत्र रतिव्यक्तौ' 'जि'धातुरूपप्रकृतेः प्राधान्यम् । यतः स्थगनव्यापारसाम्येऽपि अन्यनेत्रयोः कराभ्यां पिधानमस्य तु लोकोत्तरेण कर्मणेति तदेवोत्कृष्टं धन्यजीवितमिति रत्युत्कर्षप्रयोजकमनया व्यज्यते । अत एव जयतीत्युक्तम् न तु शोभते इत्यादि' इति ।

---

1. 'करस्तु-' ख ।

व्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम्।
यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः(A) ॥ ९८ ॥

व्यञ्जने समर्थः न तु तत्कान्तिवाचकः शुभधातुरित्यर्थः, अतः शृङ्गारोत्कर्षव्यञ्जक-चुम्बनपिहितत्वात्(B) तृतीयनयनमेव उत्कृष्टमित्याह—**समानेऽपि ही**ति, नयनद्वय-पिधाने समानेऽपि हीत्यर्थः। **लोकोत्तरेणे**ति लोकविलक्षणेनेत्यर्थः, [1]शृङ्गारानु-भावकत्वाच्चुम्बनस्य। **तदेवे**ति तृतीयनयनमेवेत्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु—तृतीयनयन-पिधानमेवेत्यर्थ इत्याह, तन्न; वाच्यस्योत्कर्षस्य तत्रानन्वितत्वादेव व्यङ्ग्यस्य तु लोकोत्तरपदेनैव व्याख्यातत्वात्, अतः पिधानोत्कर्षव्याख्यानमसदेव। नामप्रकृते-रपि व्यञ्जकत्वमुदाहरति—**यथा वा प्रेयानि**ति। पादानतः सोऽयं प्रेयान् कान्तया सशपथमपाकृतः सन् उन्मनाश्च सन् वासभवनाद् यावद् द्वित्राण्येव पदानि न याति

(B) अत्र "पिहितत्वात्" इत्यतः परम् आदर्शपुस्तकेषु दृश्यमानः "तदेव" इत्यंशो लिपिकरप्रमादकृत इत्यनुमीयते वृत्तिस्थस्य "तदेव" इत्यस्य ऊर्ध्वं व्याख्यातत्वादिति चिन्तनीयम्।

(A) अत्र प्रदीपोद्योतः—सशपथमित्युभयान्वयि। सोऽयमिति प्रियतरत्वेन प्रसिद्धः प्रेयान् शपथेन सहितं यथा स्यात्तथा पादयोरानतः कान्तया च सशपथं निराकृतः सन् उन्मना उत्सुकमना वासभवनात् क्रीडागृहाद् द्वित्राण्येव नाधिकानि पदानि न द्वाराणि यावन्न याति न तु यातः तावत् कृतप्रणामकं यथा स्यात्तथा धावित्वैव धृतः स्थापितः। धृङ् अवस्थाने, अस्मादन्त-र्भाविण्यर्थात् कर्मणि क्तः। अत्र यातीत्युक्तं न तु यात इत्युक्तम्, तेन गमनानुकूलव्यापार-दशायामेव तथाभाव इति ध्वन्यते। धावित्वैवेत्यनेन धावनाविषयेऽपि तथाभावकरणादौत्-सुक्यातिशयो ध्वन्यते। पाणिसम्पुटे प्रणामार्थं कृताञ्जलौ गलन् नीवीबन्धो यस्यां क्रियायां तद् यथा भवति तथेति धारणक्रियाविशेषणम्। रागौत्कव्यात् स्खलतो नीवीबन्धस्य प्रणामाञ्जलि-नैवालम्बनात् तदेवोपायनस्थानीयं कृतमिति भाव इति केचित्। त्वराऽतिशयद्योतनाय धावन-क्रियाविशेषणमित्यन्ये। पूर्वं हि कृतप्रणामकस्यापाकरणमधुना प्रणामपूर्वकं धारणमिति

---

1. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति।

अत्र पदानीति न तु द्वाराणीति ।

तिङ्सुपोर्यथा—

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाऽङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति किरणस्य(A) साध्यमानत्वम् । निवृत्तेति निवर्त्तनस्य

तावद् धावित्वैव कृतप्रणामकं यथा स्यात् तथा प्रत्युत कान्तया धृतः । प्रत्युतेत्यपाकरणवैपरीत्ये । पाणिसम्पुटेत्यादिकं धारणक्रियाविशेषणम् । गलदिति पाठे गलन्नीवीबन्धस्य पाणिसम्पुटवृत्तित्वमर्थः, न तु पाणिसम्पुटे गलनं गलत एव पाणिसम्पुटधृतत्वात् । लसदिति पाठे तु नीवीबन्धस्य गलत्वमूह्यम् । 'अहो' इति तादृशगतिवैचित्र्यविषयविस्मये । प्रेम्णो गतिः स्वभावः । कान्ताया औत्सुक्यरूपव्यभिचारिभावध्वनिरयम् । पत्युः स्वल्पपदगमने सति धरणे तदुत्कर्षधीरतो बहुवचनं विना पदरूपप्रकृतिभाग एव तस्य व्यञ्जक इत्याह—पदानीति । द्वाराणीत्यपेक्षया पदानीत्यस्यैव औत्सुक्यव्यञ्जकत्वमित्याह—न त्विति ।

प्रत्ययस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—तिङ्सुपोरिति । पथि पथि अङ्कुराणामाभा शुकचञ्चूनामिव चारुः(B) । अत्र शुकचञ्चुतुल्यत्वात् पत्राङ्कुरा एव अङ्कुरपदार्थाः [1]त एव च उद्दीपकाः । 'वीरुधां' लतानां 'लासकः' नर्त्तकः । नरि नरीति नृशब्दस्य सप्तम्यां रूपम् । द्राक् झटिति । चर्चा प्रसङ्गः । किरणस्येति, न च कॄ विक्षेपे इत्यस्य

वैपरीत्यं प्रत्युतपदगम्यम् । लसन्नीवीति पाठे गलनमार्थिकम् । अर्थान्तरं न्यस्यति—अहो प्रेम्ण इति । गतिः स्वभावः । प्रेयान् कान्तयेत्याभ्यां परस्परं विरहाक्षमत्वं ध्वन्यते" इति ।

(A) अत्र प्रदीपोद्द्योतः—'किरणस्येति क्षेपणस्येत्यर्थः । औणादिक'क्यु'प्रत्ययान्तः । किरति तमांसीति व्युत्पत्त्याऽस्य मयूख एव शक्तत्वात् चिन्त्यः किरणपदप्रयोगः । विकरणस्येति वक्तुं युक्तम्' इति ।

(B) अत्र "शुकचञ्चूनामिव चारुः" इत्यनेन 'अङ्कुराणामाभा शुकचञ्चूनामाभेव चारुः' इत्यर्थस्य प्रदर्शनमेव कृतम् , श्लोकस्थसमासस्य व्यासवाक्यन्तु शुकचञ्चूवत् चारुरिति 'उपमानस्य सामान्यवाचिना' इत्यनेन कर्मधारयः ।

---

1. 'त एव च उद्दीपकाः' इत्यंशः ख-पुस्तके नास्ति ।

सिद्धत्वं तिङा सुपा(A) च, तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते।

युटि करणमित्येव रूपं सम्भवति उणादौ साधितं किरणपदन्तु रश्मिवाचकमेव न विक्षेपवाचकमिति वाच्यम्, करणं कीरिति भावकिबन्तस्य नामकारितान्तत्वे युटि किरणरूपसिद्धेः। **तिङा सुपा चेति,** किरतीत्यत्र किरणस्य साध्यमानत्वं निवृत्तेत्यत्र निवृत्तेः सिद्धत्वं तिङ्सुब्विभक्तिलभ्यम्; एवमतीतत्वञ्च क्तप्रत्ययलभ्यम्। एवञ्च द्योत्यते इत्यत्र उच्यत इत्येवार्थः, एषामर्थानां

(A) अत्र प्रदीपः 'अत्र किरतीति तिङा किरणस्य साध्यता, तिङ्योगे साध्यतयैव धात्वर्थोपस्थितेः। निवृत्तेति सुप्प्रत्ययेन निवृत्तेः सिद्धता, सुप्प्रयोगे तथैव प्रकृत्यर्थप्रतीतेः, तत्रापि क्त-प्रत्ययेनातीतता प्रकाश्यते इति विकरणनिवृत्त्योः कारणकार्यभूतयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिप्रकाशो रसोत्कर्षं पर्यवस्यति। यत्तु लटा साध्यत्वं क्तप्रत्ययेन भूतत्वमिति व्याख्यानम्, तदयुक्तम्, सुप्तिङ्भ्यां सिद्धत्वसाध्यत्वमभिधाय 'तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतत्वम्' इति वृत्तिव्याख्यानेन विरोधात्' इति। व्याख्यातञ्च उद्द्योतकारैः "अत्रायं भावः—तिङः क्रियागतवर्त्तमानत्वद्योतनद्वारा तद्गतोत्पद्यमानत्वरूपसाध्यत्वव्यञ्जकत्वम्। एवं निवृत्तपदं निवृत्तिकर्त्रर्थकम्, तदनुवादकेन तदुत्तरसुपा स्वप्रकृत्यर्थविशेषणनिवृत्तौ सिद्धत्वं व्यज्यते; इतरासमभिव्याहृतसुपो निवृत्तिरित्यादौ तद्व्यञ्जकत्वस्य इष्टत्वात्; निवृत्तिर्भविष्यति निवृत्तः स्यादित्यादौ तथाऽप्रतीतेरितरासमभिव्याहृतेति। विकरणनिवृत्त्योरिति कारणकार्यभूतयोरित्यर्थः। अतिशयोक्तिप्रकाश इति अयं व्यङ्ग्य एव। रसोत्कर्ष इति निवृत्तेः शीघ्रत्वबोधनद्वारा वसन्तस्योद्दीपकत्वातिशयाभिव्यक्तेरिति भावः" इति।

सुधासागरकारस्तु "अत्र किरतीति तिङा किरणस्य साध्यत्वं तिङ्योगव्यञ्जनया साध्यतयैव धात्वर्थोपस्थितेः। निवृत्तेति सुप्प्रत्ययेन निवृत्तेः सिद्धत्वं सुब्योगव्यञ्जनया तथैव प्रकृत्यर्थप्रतीतेः। उक्तञ्च वैयाकरणभूषणे—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः॥ इति।

तथाच क्रियान्तरानुत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्वं वा साध्यत्वम्। एतदेव च असत्त्वभूतत्वम्। क्रियान्तरोत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं कारकानन्वयितावच्छेदकरूपवत्त्वं वा सिद्धत्वम्। एतदेव च सत्त्वभूतत्वम्। अत एव—

'असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते'

इति वैयाकरणैरुक्तम्। तत्र सिद्धत्वेऽपि क्तप्रत्ययेनातीतत्वं व्यज्यत इति किरणनिवृत्त्योः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्कारप्रकाशो रसोत्कर्षं पर्यवस्यति" इत्याह। विस्तरस्तु तत्रैव द्रष्टव्यः।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना(A) ॥ १०० ॥

तत्तद्वाच्यत्वात्, तथाच [1]कारणे सायककिरणे साध्यत्वं कार्यायां माननिवृत्तौ च सिद्धत्वं बाधितमप्याहार्यं बोधयन्तस्तिङादयो[1]* माननिवृत्तेः शीघ्रोत्पन्नत्वमभिव्यज्य तद्द्वारा शृङ्गारोत्कर्षं व्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

प्रपञ्चयति-**यथा वा लिखन्निति** । बहुदिनव्यापकमानवतीं प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे कठिने, तव प्राणतुल्यो दयितः अवनतः सन् भूमिं लिखन् बहिरास्ते, एवं तव सख्यश्च निराहाराः सततरुदितैः उच्छूननयनाश्च, तव चेयमवस्था कृशतरेत्यर्थः, बहुदिनव्यापकान्मानात् कार्श्यम्, तस्मादधुना मानं विसृज । अत्र सकलक्रियाकारकस्थतिङ्सुपां(B) नायकस्य मोहरूपव्यभिचारि-

---

(A) व्याख्यातमिदमुद्योते—"बहुदिनव्यापिमानवतीं प्रति सख्या इयमुक्तिः । प्राणानां दयितः प्राणदयितः, तेन दयितदुःखेन त्वत्प्राणा अपि दुःखिता भविष्यन्तीति भावः । यद्वा तव प्राणा इव सोऽस्माकं दयित इत्यर्थः, तथाच त्वत्प्राणा इव सोऽस्माकं रक्षणीय इति भावः । ईदृशोऽपि भूमिं न तु भूमौ ; तेनाकाङ्क्षितस्य कर्मणोऽनुद्देश्यत्वं ध्वन्यते । लिखन् न तु लिखतीति, तेन लिखनस्याबुद्धिपूर्वकत्वरूपमप्राधान्यं ध्वन्यते । बहिर्न तु गृहमध्ये, तेन नायकस्यात्युद्वेगः । आस्ते न तु आसीत्, तेनैवमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्तता ध्वन्यते । तथा सख्यः सर्वा वयस्या निर्गत आहारो यासां तथाभूताः सत्यः सततं निरन्तरं यत् रुदितं तेनोच्छूने जातशोथे नयने चक्षुषी यासां तथाभूताः, सन्तीति शेषः । तथा पञ्जरशुकैः हसितं पठित-मन्यच्च सर्वं परित्यक्तम्, अज्ञानामपीदृश्यवस्था किं पुनरस्माकमिति भावः । पञ्जरेत्यनेन अन्यत्र गमनासामर्थ्यम् । शुकेनेत्येकवचनन्तु न कृतम्, एकस्य शिक्षादिनाऽपि तथा ज्ञान-सम्भवात् । सर्वमित्यस्य शरीरधारणोपयोगि भोजनादिकमपीत्यर्थः । अत एव कठिने । 'इयम्' उत्तरोत्तरवर्द्धमानासह्यपीडाजनिका । 'अधुना' वसन्तचन्द्रिकादिभिरुद्दामे मन्मथ-विलसिते सतीत्यर्थः । मानं विसृज निःशेषेण त्यजेत्यर्थः" इति ।

(B) सकलक्रियेति लिखनासनक्रिये इत्यर्थः । कारकेति भूमिमिति कर्मकारकेत्यर्थः ।

---

1. 'सायककिरणमाननिवृत्त्योः कारणकार्ययोः पौर्वापर्यविपर्यये आहार्यतया अवगते' घ ।

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति, तथा आस्ते इति (A)न तु आसित इति, अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति; भूमिमिति(B)न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम्।

भाव एव व्यङ्ग्य इत्याह—अत्रेति(C)। 'लिखन्' इत्यत्र शतृङुक्तलिखनकृतेः कृत्यन्तरसाकाङ्क्षतया विधेयत्वाप्रतीत्या उपेक्षात्मकज्ञानाधीनत्वमेव प्रतीयते अतोऽत्र अनुपेक्षात्मकज्ञानस्य विरोधी मोहः सुबन्तशतृङ्ग(D) प्रतीयते। लिखतीति करणे तु आख्यातोक्तकृतेर्निराकाङ्क्षत्वेन विधेयतयैव प्रतीत्या तन्निदानमनुपेक्षात्मकज्ञानमपि प्रतीयेत न तु मोह इत्याह—न तु लिखतीति। मुग्धावस्थयैवाधुनाऽपि स्थितिर्वर्त्तमानालभ्येत्याह—अपि त्विति। एवञ्च आस्ते इत्यत्र तिङा व्यङ्ग्य दर्शितेऽपि 'तथा आस्त इती'ति यत् क्वचित् पुनर्लिखनं तत् 'न त्वासित' इति दर्शयितुमनुवाद एव कृत इति बोध्यम्। आसित इति निर्देशे तु मोहानुवृत्तिर्न प्रतीयते इति भावः। भूमिमितीति। भूमिमिति करणे उन्मीलितचक्षुःसाध्यं भूमिविषयज्ञानमेव प्रतीयते न तु मननसाध्यं लेख्यविषयज्ञानम् अतो लेख्यविषयो मोह एव प्रतीयते, भूमाविति करणे तु सकर्मकलिखधातोः कर्मीभूतलेख्यविषयज्ञानमपि प्रतीयते न तु लेख्यविषयो मोह इत्याह—न तु भूमावितीति। तथाच लेख्यविषयो मोहः प्रतीयत एवेत्याह—न हि बुद्धिपूर्वकमिति।

(A) वर्त्तमानत्वस्य प्रत्ययवाच्यत्वमतेऽपि व्यङ्ग्यमाह "न त्वासितः" इति। एवञ्च स्थित्यतीतत्वव्यवच्छेदो व्यङ्ग्य इत्युद्द्योते।

(B) भूमिमित्यत्र द्वितीयाया व्यङ्ग्यमुक्तं प्रदीपे—"न तु भूमाविति, तेन बुद्धिपूर्वकं भूमौ न किञ्चिल्लिख्यत इति सुब्विभक्त्या व्यज्यते" इति। तद्व्याख्यानञ्च "भूमावित्युक्ते आकाङ्क्षितस्य कर्मण उद्देश्यत्वं प्रतीयते, न चात्र तथेति भावः" इत्युद्द्योते।

(C) अत्र लिखन्निति 'शत्रा लिखनस्याप्राधान्यमबुद्धिपूर्वकत्वरूपम्' व्यज्यत इत्युक्तं प्रदीपे। तस्य च व्याख्यानम् 'शत्रेति, आख्यातान्तक्रियाविशेषणत्वे शत्रा इतरक्रियेष्टसाधनत्वज्ञानाधीनकृतिसाध्यत्वपर्यवसितनान्तरीयककृतिसाध्यत्वरूपमप्राधान्यं स्वप्रकृत्यर्थगतं बोध्यते। अत एव गच्छन्नित्युक्ते किं करोतीति प्रधानक्रियाप्रश्नः सङ्गच्छत इति बोध्यम्' इत्युद्द्योते।

(D) यद्यपि शतृप्रत्ययः सुपः प्रकृतिरेव तथाऽपि तिङादेशिलकारविकृततया तिङ्त्वेनोदाहृत इति बोध्यम्। प्रदीपेऽप्येवम्।

सम्बन्धस्य यथा—

(A)गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ १०१ ॥

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्यर्थः।

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्' इति कालस्य।

एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः।

वचनस्य यथा—

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कण्ठाणं तस्स पेम्मस्स।
ताणं भणिआणं सुन्दर! एरिसिअँ जाअमवसाणं ॥१०२॥

सम्बन्धस्येति सम्बन्धार्थकविभक्तेरित्यर्थः, तस्या एव पदैकदेशत्वात्। गामारुहस्मीति—

ग्रामरुहाऽस्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं(B) न जानामि।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि॥
इति संस्कृतम्।

कलहे नागरस्त्रियं प्रति ग्राम्यस्त्रिया उक्तिरियम्। ग्रामरुहा ग्रामभवा। नागरिकाणामित्यनादरे षष्ठी। [1]तस्या अनादरः सम्बन्धश्चार्थः[1]*। तथा च नागरिका अनादृत्य तासां पतीन् हरामीत्यर्थः। अनादरश्च पतिकर्तृकोऽपि परम्परया तद्भर्तृकर्तृको बोध्यस्तन्मूलकत्वात्तदनादरस्य। अत्रेति, अनादरबोधनद्वारा वक्त्र्या गर्वरूपव्यभिचारिभावो व्यङ्ग्य इत्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु—अनादरमेव व्यङ्ग्यं व्याचष्टे, तन्न; अनुशासनानुशिष्टस्यार्थस्य वाच्यत्वादेव अनादरस्य वस्तुरूपत्वेन तद्व्यञ्जनया रसादिव्यञ्जकत्वोदाहरणत्वानुपपत्तेश्च। रमणीय इति। [2]आसीदिति सम्प्रति त्वमर्पकवलितः क्षणान्न भविष्यतीति भावः[2]*। कालस्येति कालार्थकविभक्तेरित्यर्थः। अत्रापि गर्वो व्यङ्ग्यः।

वचनस्येति एकद्व्यादिवचनस्येत्यर्थः।

(A) 'गामारि अम्हि' इति प्रदीपधृतं पाठान्तरं तस्य संस्कृतं 'ग्रामीणास्मि' इति प्रभायाम्।

(B) नगरस्य स्थितिं वैदग्ध्यरूपां मर्यादामित्यर्थः।

---

1. चयमंशः ख-पुस्तके नास्ति। 2. चयमंशः ख-पुस्तके नास्ति।

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते ।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

(A)रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ ॥१०३॥

ताणं इति—

तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः ।
तेषां भणितानां सुन्दर ईदृशं जातमवसानम् ॥ इति संस्कृतम् ।

कृतावज्ञं नायकं प्रति तत्पत्न्याः प्रीतिभर्त्सनमिदम् । अत्रेति ; बहुवचनैर्गुणादि-बाहुल्यम्, एकवचनेन च [1]अन्तराऽविच्छेदेन प्रेमैकत्वं द्योत्यते उच्यते इत्यर्थः । तद्द्वारा नायिकाविप्रलम्भोत्कर्षो व्यङ्ग्यः पूर्वानुभूततत्तत्स्मरणाद् दुःखाधिक्यात् ।

पुरुषव्यत्ययस्येति व्यत्ययितमध्यमोत्तमपुरुषयोरित्यर्थः । रे रे इति । रे रे इति शान्तपुरुषस्य स्वचित्तं प्रति साक्षेपसम्बोधनम् । चञ्चललोचनायाम् अञ्चिता गमिता रुचिर्येन, रे रे तादृश चेतः, एणनयनां हरिणाक्षीमालोक्य किं नृत्यसि नर्त्तकवत् लोलं भवसि । महिमानं वैराग्यरूपम् । नृत्यहेतुं तदभिमानं पृच्छति किं मन्ये किं मन्यसे इत्यर्थः । विहरिष्यसे विहरिष्यामि । विहारार्थनृत्याभ्युपगमे ततो निवर्त्त-यति—बत हतामिति, हतां निन्द्याम् इमाम् अन्तराशां मुञ्च । अमोचने दोषमाह—एषेति,

---

(A) अत्र एणनयनामालोक्य स्थिरं प्रेम यत्र तादृशं महिमानं माहात्म्यं विषयानासक्त्यादिना लब्धमुत्कर्षं प्रमुच्य त्यक्त्वा किं कस्मात् नृत्यसि नर्त्तकवद्धर्षात् लोलं भवसि । किं मन्ये मन्यसे इत्यर्थः । एवं विहरिष्यसे इत्यस्यापि विहरिष्यामीत्यर्थः । अन्तराशाम् अन्तर्विद्यमानामाशां विहरणविषयिणीमित्यर्थः । चञ्चललोचनाञ्चितरुचे इत्यस्य चञ्चललोचनायामञ्चिता गमिता रुचिरभिलाषो येन तथा, चञ्चलाभ्यां लोचनाभ्यामञ्चिता प्रकटीकृता अर्थान्नायिकया रुचिरभिलाषो यत्र तत् इति वा अर्थः । अत्र एणीमिति विहाय एणेति पुंलिङ्गेन यथा त्वयि नयनव्यापारादि करोति एवमन्यत्रापि पुरुषे यथा वा त्वं नयनयोर्व्यापारमस्यां करोष्येवमन्येऽपि पुमांस इति नास्यां साधारण्यामनुराग उचित इति सूचयतीति उद्योते स्पष्टम् । अन्यत् सुगमम् । अत्र "प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च" (पाणिनीये १।४।१०६ सू,) इति सूत्रेण मन्यतेरुत्तमपुरुषस्तत्समभिव्याहृतविपूर्वहरतेर्मध्यमपुरुष इति बोध्यम् ।

---

1. 'अन्तराविच्छेदरूपं' क-ख ।

अत्र प्रहासः। पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः।
ये क्ष्माशक्र ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

वत खेदे ; एषा आशा। अनयैवाशया कण्ठबद्धशिलारूपया संसाराब्धौ मङ्क्ष्यसी-त्यर्थः। अत्र प्रहासो व्यत्ययितपुरुषद्वयव्यङ्ग्य एव पुरुषद्वयान्तपदयोर्वाक्यत्वनियमेन तत्र शक्त्यभावादिति केचित्। उत्तमपुरुषस्यैव प्रहासे शक्तिर्मध्यमपुरुषस्तु तद्ग्राहक एवेत्यन्ये (A)। [1]तद्द्वारा च शान्तरसोत्कर्षो व्यङ्ग्यः[1]*।

पूर्वनिपातस्येति पूर्वनिपतितपदरूपसमासैकदेशस्येत्यर्थः। येषामिति। दोर्बलमेव न तु नीतिवलम्, सम्मताः ज्ञाताः ; नीतिवलमात्रमपि न बलमित्याह—तैरपीति। तैः (B)बुद्धिस्थैः किं कार्यं किमपि कर्त्तुं न शक्यमित्यर्थः। हे क्ष्माशक्र हे पृथिवीन्द्र ये पुनरित्यन्वयः। नयः नीतिः। कान्तक्रमाः कमनीयव्यवसायाः। ते भवादृशाः परं केवलम्। पवित्राः त्रिजगति द्वित्रा नैव स्युः एकस्तु कदाचिद् यदि

(A) अत्र उद्द्योतकाराः—प्रहासे च नोत्तमपुरुषस्य शक्तिः, ततस्तदप्रतीतेः तस्माद् व्यञ्जकानुशासनमेव तद् (प्रहासे च इत्यादिसूत्रम्) इति भावः। तेन च शान्तरसः प्रकृष्यते। अत एव प्राक् पदैकदेशादीनामसंलक्ष्यव्यञ्जकत्वमेवोक्तं सङ्गच्छते इति। एवं सुधा-सागरेऽपि—ननु 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' इति सूत्रेण पुरुषव्यत्ययविधानात् प्रहासो वाच्य एवेति चेत्—उच्यते, अभिधा हि पदशक्तिरिति निर्विवादम्, तत्र प्रहासे तावन्नो-त्तमपुरुषस्याभिधा ततस्तदप्रतीतेः, न चोत्तमपुरुषमात्रं पदं न वा नैयायिकरीत्या प्रहासो वाक्यार्थ इति शङ्क्यं पदार्थसंसर्गरूपताविरहात्। किन्तु प्रहासे विवक्षिते अनुशिष्टेन पुरुष-व्यत्ययेन स प्रतीयते इति दिक् इति।

(B) अत्रोदाहरणपद्यस्थेन तैरिति पदेन पूर्वोक्तयत्पदार्था न परामृश्यन्ते दोर्बलमेवेत्येव-कारेण तेषां नीतिबलशून्यत्वावगमात् तैरित्यनेनोपस्थापितानाञ्च केवलनीतिबलशालितया अप्राशस्त्यकीर्त्तनस्यावश्यकत्वादित्यत आह बुद्धिस्थैरिति। बाहुबलशून्यास्तु बुद्धिस्थाः।

---

1. चिह्नितांशः ख-पुस्तके नास्ति।

अत्र पराक्रमस्य (A)प्राधान्यमवगम्यते ।

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि [1]वीर धनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।

दिवसेन तु नरप ! भवानयुद्ध (B)विधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥१०५॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।

स्यादित्यर्थः । अत्रेति द्वन्द्वे पूर्वनिपतितपदार्थेऽच्चितरवरूपप्राधान्यावगमात्(C) । तथाच पराक्रमिराजविषयभावोऽत्र व्यङ्ग्यः ।

विभक्तिविशेषस्येति, अपवर्गे विहितायास्तृतीयाया इत्यर्थः । प्रधनेति, हे वीर टङ्काररूपधनुर्ध्वनिभृति युद्धपथे तव विधुरैः शत्रुभिः दिवसं व्याप्य अयोधि ; हे नरप, भवांस्तु युद्धविधिसिद्धसाधुवादपदं यथा स्यात् तथा दिवसेन अयुद्ध साधुवादपदयुद्धफलसिद्धौ दिवसवृत्तियुद्धसमाप्तिमानित्यर्थः । अत्रेति, फलसिद्धौ क्रियायाः समाप्तिरपवर्ग इत्यपवर्गलक्षणम् ; तस्मिन्नर्थे च 'अपवर्गे तृतीया' (२।३।६) इति पाणिनिसूत्रेण विहिता तृतीया युद्धसमाप्तिपूर्वभूतां फलप्राप्तिं द्योतयति वक्तीत्यर्थः अनुशासनानुशिष्टस्यार्थस्य वाच्यत्वात् ; राजविषयभावातिशयश्च तद्व्यङ्ग्य इत्यर्थः ।

(A) पूर्वनिपातस्य पदैकदेशधर्मत्वेन तद्व्यङ्ग्यं पदैकदेशव्यङ्ग्यमेव इति हृदयम् ।

(B) विधिसिद्धयोरीश्वरसिद्धयोः साधुवादस्य विधिसिद्धस्यानाहार्यस्य वा साधुवादस्य पदं स्थानं यथा तथेत्यर्थः । सुगममन्यत् ।

(C) अयम्भावः—अत्र नयपराक्रमशब्दयोर्द्वन्द्वे अल्पाच्तरतया नयशब्दस्य पूर्वनिपाते प्रसक्तेऽपि "अभ्यर्हितञ्च" इति वार्त्तिकसूत्रस्य "अल्पाच्तरम्" इति पाणिनि-(२।२।३४) सूत्रापेक्षया बलवत्त्वाभ्युपगमेन उदाहरणपद्ये कृतः पराक्रमशब्दस्य पूर्वनिपातः पराक्रमपदार्थस्य प्रशस्ततरतामवगमयति । अत एव "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" इति निर्देशेनेदं ज्ञाप्यते इति चतुर्थे भाष्यम् । 'अल्पाच्तरम्' 'अजाद्यदन्तम्' इति सूत्राभ्यामर्जुनस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते तमकुर्वन् ज्ञापयति सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वमितीति तत्त्वबोधिनीकाराः । तथाचात्र प्राधान्यस्य पदाशक्यतया पूर्वनिपातस्य तद्व्यञ्जकत्वमेव । तेन व्यङ्ग्यवस्तुना च राजविशेषविषयभावोत्कर्ष एवेति न पदैकदेशस्य असंलक्ष्यक्रमव्यञ्जकत्वकथनानुपपत्तिरिति ।

---

1. 'धीरधनु-' इति पाठान्तरम् ।

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥

अत्रानुकम्पावृत्तेः 'क'रूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते(A) ॥१०७॥

भूयो भूय इति । मालतीमाधवनाटके(B) "लवङ्गिकया इति निवेदितम्" इति चूर्णकेनान्वयः । भवनवलभी भवनोपरि भवनम् । तुङ्गवातायनम् उच्चगवाक्षः । तत्रस्था मालती तन्निकटस्थया नगरीरथ्यया राजमार्गेण पर्यटन्तं माधवं भूयो भूयो दृष्ट्वा दृष्ट्वा लुलितलुलितैः अत्यन्तकोमलैः अङ्गकैस्ताम्यतीत्यर्थः । अङ्गकैरिति तान्तिज्ञापकत्वे विशेषणे वा तृतीया । साक्षादित्यव्ययम्, कामरत्योर्द्वयोरपि विशेषणम् । नवं नवयौवनम् । अत्रेति, अनुकम्पार्थक "क"रूपतद्धितेन मालत्या विप्रलम्भातिशयो व्यज्यते इत्यर्थः, विप्रलम्भातिशयादेव अनुकम्पनीयावस्थाप्राप्तेः । कप्रत्ययस्य तद्धितत्वञ्च पाणिनिमते बोध्यम् ।

उपसर्गस्यापि स्वतःप्रयोगाभावात् पदैकदेशत्वम्, अतस्तद्व्यङ्ग्यमाह— परिच्छेदेति । मकरन्दं प्रति [1]माधवस्योक्तिरियम् । मम कोऽपि विकारः अन्तर्मानसं जडयति तत्र तापञ्च कुरुते इत्यर्थः । परिच्छेदेत्यादीनि विकारविशेषणानि । परिच्छेदः इयत्ताज्ञानम् ।

(A) व्याख्यातमिदमुद्द्योते—परिच्छेदेति । तत्रैव (मालतीमाधवे) मकरन्दं प्रति माधवस्य स्वावस्थाकथनमेतत् । परिच्छेद इयत्तामतिस्तद्रहित इत्यर्थः । सकलानां सामान्यविशेषशक्तलाक्षणिकव्यञ्जनिकानां वचनानामविषयः, तैर्निर्वक्तुमशक्य इति भावः । पुनरन्यदा कालान्तरे अस्मिन् जन्मनि अनुभवपथं तद्विषयत्वं यो न प्राप्त इत्यर्थः । विवेकप्रध्वंसादिति विवेको दोषगुणविभागः, 'प्र'शब्देन समूलोन्मूलनलक्षणः प्रकर्षस्तेन मोहप्रकर्षस्तेन च रागातिशयस्तेन च विप्रलम्भातिशयो व्यङ्ग्यः । तद्धेतुकामुपचितिं वृद्धिं प्राप्तो यो महामोहः सकलविषयाणामज्ञानं विपरीतज्ञानं वा यत्र तादृशश्चासौ गहनश्च, दुर्लङ्घ्य इत्यर्थः । ईदृशः कोऽप्यनिर्वचनीयो विकारः अन्तः अन्तःकरणं जडयति विषयग्राहिवृत्तिविषये स्तब्धं करोतीत्यर्थः' इति ।

(B) नाटकपदमत्र रूपकपरं मालतीमाधवस्य प्रकरणत्वादिति बोध्यम् ।

---

1. 'माधवस्य स्वावस्थाकथनमिदम्' घ० ।

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया
किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्
न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम्॥ १०८॥

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य।

(A)रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम्।

पुनःशब्दोऽत्र त्वर्थे। अस्मिन् जन्मनि त्वनुभवपथं यो न गतवान्, जन्मान्तरे तु तदनुभवोऽस्तु मा वेत्यर्थः। केचिद् आवृत्तिबोधकमेवात्र पुनःशब्दं व्याचक्षते, तन्न; तदा पुनर्जन्मनीति वा पुनरनुभवपथमिति वा अन्वयः स्यात्, तदुभयमपि न सम्भवति प्राग्जन्मप्रागनुभवयोरावृत्तिरूपत्वाभावात्, चरमस्यैवावृत्तिरूपत्वात्। [1]विवेकस्य इतरभेदविचारस्य प्रध्वंसात् निःशेषाभावात् उपचितेन महामोहेन विवेकविपरीतज्ञानेन[1]* गहनः व्याप्तः। अत्रेति, निःशेषतारूपध्वंसप्रकर्षबोधनाद् विप्रलम्भातिशयो व्यङ्ग्य इत्यर्थः। कृतञ्चेति। नृपं प्रति मन्त्रिवाक्यमिदम्। गर्वोऽत्र क्रोधफलको बोध्यः। किमन्यद्वक्तव्यमित्यर्थः। एवं सत्येव नः अस्माकं द्विषः निहता अमोघक्रोधत्वादिति भावः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारमाह—तमांसीति। मौलितां मौलिस्थताम्। अत्रेति। 'तुल्ययोगिता' तुल्यमेककालं योगिता समुच्चयालङ्कार इत्यर्थः। प्राकरणिकत्वेनाप्राकरणिकत्वेन वा नियतानां क्रियागुणाद्येकधर्मान्वयरूपायास्तुल्ययोगिताया अत्रासम्भवात्। द्योतकता चात्र वाचकतैव, चकारद्वयस्यैककालवाचकत्वात् [2]तद्द्वारा च[2]* राजविषयभावप्रकर्षो व्यङ्ग्यः। चकारयोः पदैकदेशत्वञ्च पदान्तरोत्तरवर्त्तित्वनियमात्, [3]अत एव निपातत्वमपि। वाचकता चानयोः परस्परोपसन्धानादेव[3]*।

एकत्रैव बहूनां पदैकदेशानां व्यञ्जकत्वमाह—रामोऽसाविति। रावणं प्रति

(A). रामोऽसाविति। राघवानन्दनाटके रावणमुद्दिश्य कुम्भकर्णस्योक्तिरियमित्युदाहरणचन्द्रिकाकारः। उद्द्योतकारैस्तु 'रावणमुद्दिश्य विभीषणोक्ति'रित्युक्त्वा व्याख्यातमिदम्—

---

1. 'विवेक इतरतो व्यावृत्तिबोधः तस्य प्रकृष्टो ध्वंसः निःशेषत्वं किमिदं किमिदं वेति विकारत्वं मोहः तेन' क-ख। अत्र घ-चिह्नितपुस्तकस्य पाठो गृहीतः, ग-चिह्नितपुस्तके तु एष भागो नास्त्येव।
2. 'औपसन्धानिकी शक्तिरियम्, तथाच' ख। 3. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति।

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनाम-प्रातिपदिक-

मन्त्रिवाक्यमिदम्। भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तप्रसिद्धिमपि तं देवः भवान् यदि पुनर्न जानाति, तत्र अस्मद्भाग्यविपर्ययादेव तदित्यर्थः। प्रसिद्धिप्राप्तिं दर्शयति—वन्दी वेति। वन्दी स्तुतिपाठकः। एकबाणस्याहतिर्यत्र तादृशा ये श्रेणीभूतविशाल-तालाः तेषां विवराणि बाणकृतानि तदुद्गीर्णैः सप्तभिः निषादर्षभगान्धारादिभिः(A) स्वरैर्यस्य यशांसि मरुद् गायति, [1]सप्तविवरोत्थितसप्तशब्देषु निषादर्षभादिसप्त-स्वरत्वाध्यासादिदमुक्तम्[1]*। अत्र पदैकदेशानां स्वस्वार्थबोधनद्वारा रावणत्रासरूप-व्यभिचारिभावव्यञ्जकत्वं दर्शयति—अत्रेति। असावित्यत्र [2]प्रकृतिमात्रेण पुरःप्रायत्व-

---

*'रामः सकलभुवनजनमनोरमणः, एतेन सर्वे तद्धितकारिण इति व्यज्यते। असौ खरदूषणादि-हन्तृत्वेनातिप्रसिद्धः विलक्षणधैर्यगाम्भीर्यशाली च भावनया प्रत्यक्षायमाणश्च। विक्रम-गुणैरिति केवलं प्रसिद्धिं प्राप्त इत्युक्तौ सदोषगुणैरपि प्रसिद्धिसम्भवः यथा सम्बोध्यरावणस्य, तन्निवृत्त्यर्थं गुणैरिति। न केवलं गुणैरपि तु विक्रमजैः। एतेन सीतादानस्यावश्यकत्वं व्यज्यते। साऽपि न ग्रामे न नगरे नापि भुवने किन्तु भुवनेषु, तेष्वपि न कृशाम्, किन्तु पराम्; तेनाज्ञातत्वनिरासः। यद्वा विक्रमगुणैः प्रकृष्टां सिद्धिं जयलक्षणां भुवनेषु प्राप्त इत्यर्थः। एतेन सर्वथाऽपि युद्धेऽजेयत्वं ध्वन्यते। तमपि यद्देवो न जानाति तदस्मद्भाग्यविपर्ययादेव न तु त्वद्भाग्यविपर्ययात् त्रैलोक्यनाथतादृशमहापुरुषहस्तेन मरणेऽपि मोक्षलक्ष्मीविलासलाभेन तस्यापि भाग्यफलत्वात्। अस्माकं पुनश्चिरकालजीविनां त्वादृशप्रभुविपद्दर्शनात् त्वद्वियोगाच्च निरन्तरदुःखदावानलपच्यमानानां परं भाग्यविपर्यय इति भावः। यदिपरमिति निपात-समुदायोऽवधारणार्थः। देवो दिव्यज्ञानवानपीत्यर्थः। अत्र भाग्यविपर्ययादित्युक्तं न तु अभाग्यादिति, तेन त्वादृशप्रभुलाभात् सार्वदिकातिशयसुखलाभेनाभाग्यविरहेऽनुमितेऽपि भाग्यान्येव विपरीतफलदत्वेन परिणतानीति ध्वनिः। अस्मद्भाग्येत्यनेन समस्तरक्षःकुलस्यैव तथात्वं प्रतीयते। प्रसिद्धिहेतुभूतं विक्रमगुणोदाहरणमाह—वन्दीति। वन्दी वैतालिकः। एकबाणाहत्या जातानि यानि श्रेणीभूतविशालतालानां विवराणि तदुद्गीर्णैरित्यर्थः। एक-बाणाहतेति पाठः स्पष्टः। रामेण किल सुग्रीवप्रत्ययाय सप्त तालवृक्षा एकबाणेन भिन्ना इति प्रसिद्धिः' इति।

(A) 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः' इत्यमरः।

1, अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति। 2, 'विभक्त्यर्थं विना सर्वनाम' ख।

वचनानां न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः, भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन (A)न त्वभावमुखेनाभिधानस्य।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य, तरुणत्वे इति

व्यञ्जनात् सर्वनाम्नः, भुवनेष्वित्यत्र भुवनपदेन त्रैलोक्यबोधनात् गुणैरित्यत्र गुणपदेन(B) दोषव्यावृत्तिबोधनाच्च प्रातिपदिकयोरुभयत्रैव बहुवचनेन तदनेकत्वबोधनात् वचनस्य च त्रासव्यञ्जकत्वमित्याह—**सर्वनाम्नेति**। बहुवचनसमासनियतास्मत्पदस्यापि त्रासव्यञ्जकत्वमित्याह—**न त्वदितीति**। एकवचनसमास एव त्वन्मदी नियते, (C)तथा अकृत्वा कृतस्य सर्वगोष्ठ्याक्षेपकस्य अस्मदिति निर्देशस्येत्यर्थः। विपर्ययपदस्यापि तद्व्यञ्जकत्वमाह—**भाग्येति**। 'अन्यथा सम्पत्तिः' दुर्भाग्यत्वेन [1]निष्पत्तिः। **न त्वभावेति** भाग्याभावात् सत्फलाभाव एव न त्वसत्फलम्, दुर्भाग्यत्वे त्वसत्फलमिति भावः।

विदग्धप्रयोज्यस्वरूपविशेषरूपपदैकदेशस्यापि व्यञ्जकत्वमाह—**तरुणिमनीति**। तरुणिमनि तारुण्ये कलां चातुरीं कलयति प्रकाशयति सति तथा भ्रुवोरग्रे कर्त्तरि अनुमदनधनुः मदनधनुषः समीपे स्वयमेव कलां पठति सति सकलललनामौलिमियमधिवसति सकलनारीमूर्द्धन्या भवतीत्यर्थः। **अत्रेति**। तरुणिमनीत्यत्र इमनिच्, अनुमदनेत्यत्राव्ययीभावः, मौलिमधिवसतीत्यत्र कर्मभूताधारस्य मौलेः

(A) न त्वभावेति। तथोक्तौ हि भाग्यस्य सार्वदिकाभावप्रतीतौ सम्पत्तेरपि तथाभावः प्रतीयेत इति भावः इत्युद्द्योते। अन्ये तु अभावमुखेनोक्तौ अभाग्यादित्येव वक्तव्यम्, तथा च भाग्यात्यन्ताभावात् सम्पत्त्यभाव एव प्रतीयेत न तु भाग्यध्वंस इति तात्पर्यमाहुः।

(B) अत्र गुणैरित्यत्र प्रकृतिप्रत्यययोर्द्वयोरेव व्यञ्जकत्वेऽपि व्यङ्ग्यभेदसत्त्वान्न पदैकदेशव्यञ्जनोदाहरणत्वासङ्गतिरिति ध्येयम्।

(C) तथा अकृत्वेति। एकवचनसमासपरिहारेण कृतस्य अस्मदितिबहुवचनसमासस्येति फलितार्थः 'सर्वगोष्ठ्याक्षेपकस्य' समस्तरक्षःकुलपरामर्शिन इत्यर्थः।

---

1. 'परिणामः' ख।

धनुषः समीपे इति मौलौ वसतीति त्वादिभि[1]स्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित् स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्। वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते। अपि-शब्दात् प्रबन्धेषु नाटकादिषु। एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः।

(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्(A)—

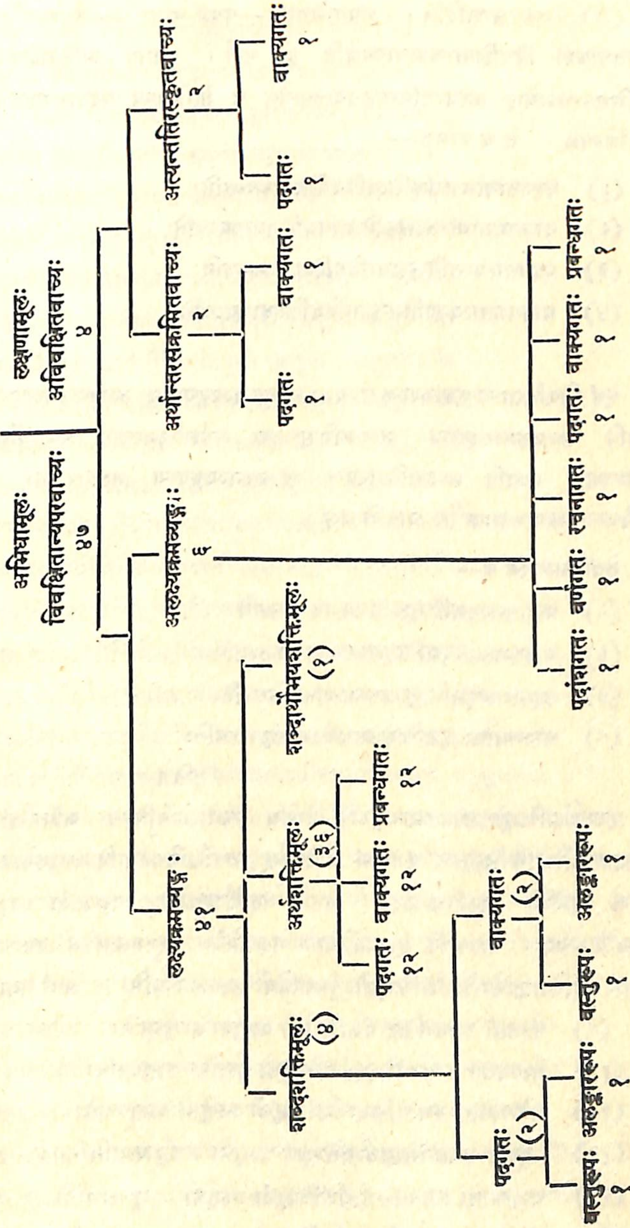
व्याख्याताः।

तद्बोधकशब्दस्येत्यर्थः। एषां स्वरूपस्येत्यर्थः। एषां स्वरूपस्य विदग्धविशेषप्रयोज्यगाढसंस्कृतरूपत्वात् तदपि रसोत्कर्षव्यञ्जकमित्यर्थः। अत्र च अव्ययीभावस्य रचनारूपत्वमन्यद्वयस्य पदैकदेशत्वम्, तत्समानार्थकमगाढसंस्कृतस्वरूपन्तु न तद्व्यञ्जकमित्याह—**तरुणत्व इतीति**। 'त्वादिभिः' त्वप्रत्ययादिभिः। **अस्ति कश्चिदिति** अनुभवैकगम्यो न विशिष्य वक्तुं शक्य इत्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु—अत्र कोमलवर्णस्वरूपमेव स्वरूपविशेष इति व्याचष्टे, तन्न; तदा वर्णानामेव व्यञ्जकतापत्तेः, तस्य चानुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात्। **अपि-शब्दादिति** वर्णेष्वपीत्यपि-शब्दादित्यर्थः। कुलकरूपमहावाक्यात्मकप्रबन्धव्यावर्त्तनाय—**नाटकादिष्विति**। आदिशब्दात् नाटिकापरिग्रहः। [2]नाटकादिषु अन्तरा रसान्तरसम्भवेऽपि[2]* प्रबन्धव्यङ्ग्य एको रसः। **एवं रसादीनामिति** असंलक्ष्यक्रमत्वेन एकविधतया गणितानामित्यर्थः। **पूर्वगणितेति** पदवाक्यप्रकाश्यतया पञ्चत्रिंशन्मध्ये गणिताभ्यामित्यर्थः। **षडिति** पदैकदेशरचनावर्णप्रबन्धव्यङ्ग्यतया गणितचतुर्भेदमिलनेन षडित्यर्थः। एवञ्च पदवाक्यप्रकाश्यौ द्वौ पूर्वगणितौ विहायात्र गणिताः पदैकदेशादिव्यङ्ग्याश्चत्वार एव इति सिध्यति। तथा च पूर्वगणिताः पञ्चत्रिंशत्, कुलकरूपप्रबन्धव्यङ्ग्या अर्थशक्त्युद्भवा द्वादश पदैकदेशादिव्यङ्ग्याश्चत्वार इत्येकपञ्चाशत् ध्वनयो भवन्तीत्याह—**भेदास्तदेकेति**।

---

1. '-स्तुल्येऽप्येष' इति क्वचित् पाठः। 2. 'नाटकादावन्तरा रसान्तरे सत्यपि' ख।

अयमत्र ध्वनेर्विभागप्रकारः ।



(A) एकपञ्चाशदिति। अयमभिप्रायः—प्रथमं तावद् ध्वनेर्लक्षणाऽभिधामूलकत्वेन अविवक्षितवाच्यः विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ भेदौ। तत्रापि अविवक्षितवाच्यस्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वेन अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन च द्विविधस्य पदवाक्यगतत्वेन पुनरपि द्वैविध्ये चातुर्विध्यम्। ते च नामतः—

(१) पदगतार्थान्तरसंक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनिः

(२) वाक्यगतार्थान्तरसंक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनिः

(३) पदगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनिः

(४) वाक्यगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनिः

इति।

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य प्रथमतः लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन च द्वौ भेदौ। तत्रापि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलतया अर्थशक्तिमूलतया शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया च त्रैविध्यम्। तत्रापि शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वस्तुरूपतया अलङ्काररूपतया च द्विविधस्य पदवाक्यगतत्वेन चातुर्विध्यम्।

तेषां नामानि च—

(५) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनिः

(६) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनिः

(७) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनिः

(८) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनिः

इति।

एवमर्थशक्तिमूले लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्येऽपि अर्थस्य स्वतःसम्भवितया कविप्रौढोक्तिसिद्धतया कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धतया च प्रथमं त्रैविध्यम्, ततस्त्रिविधस्यापि वस्तुरूपत्वेनालङ्काररूपत्वेन च प्रत्येकं द्वैविध्ये षड्विधत्वम्। पुनः षड्विधस्यापि व्यङ्ग्यतया व्यञ्जकतया च द्वैविध्ये द्वादशविधत्वम्। तस्यापि द्वादशविधस्य पदगतत्वेन वाक्यगतत्वेन प्रबन्धगतत्वेन च प्रत्येकं त्रैविध्ये षट्त्रिंशत्प्रकारोऽर्थशक्तिमूलोऽनुरणनरूपो लक्ष्यक्रमध्वनिः। तेषां नामानि च—

(९) पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः

(१०) वाक्यगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः

(११) प्रबन्धगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः

(१२) पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः

(१३) वाक्यगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः

(१४) प्रबन्धगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः

(१५) पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः

(१६) वाक्यगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(१७) प्रबन्धगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(१८) पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(१९) वाक्यगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(२०) प्रबन्धगतः स्वतःसिद्धर्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(२१) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः
(२२) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः
(२३) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः
(२४) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः
(२५) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः
(२६) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः
(२७) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(२८) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(२९) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(३०) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(३१) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(३२) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(३३) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः
(३४) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमुलो वस्तुना वस्तुध्वनिः
(३५) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः
(३६) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः
(३७) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः
(३८) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनिः
(३९) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(४०) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(४१) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
(४२) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(४३) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
(४४) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः

इति ।

शब्दार्थोभयशक्तिमूलो लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्तु वाक्यमात्रगतत्वेन एकविध एव । स च

(६३)——तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन संकरेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्टया चेति चतुर्भिर्गुणने—

इत्थं शुद्धानेकपञ्चाशद्ध्वनीनुक्त्वा एतेषामन्योन्ययोजनमाह—तेषाञ्चान्योन्येति। योजनस्यैव प्रकारमाह—सङ्करेणेति। व्याचष्टे—न केवलमिति। अपि तु इत्यर्थे यावदिति। त्रिरूपं सङ्करं व्याचष्टे—संशयास्पदत्वेनेति। अयं ध्वनिरयं ध्वनिर्वेति संशयविषयत्वं तत्त्वम्; प्रकृष्यमाणत्वप्रकर्षकत्वम् अनुग्राह्यानुग्राहकभावः, एकेन व्यञ्जकेन उभयव्यञ्जनम् एकव्यञ्जकानुप्रवेशः, इति त्रिविधेन सङ्करेण एतत्त्रितय[1]भिन्नरूपया परस्परनिरपेक्षत्वात्मिकया एकप्रकारया संसृष्ट्या चेत्यर्थः।

---

(४५) शब्दार्थोभयशक्तिमूलो ध्वनिः।

इति व्यपदिश्यते। एकचत्वारिंशदिमे ध्वनिभेदा विवक्षितान्यपरवाच्येषु लक्ष्यक्रमाः। विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयो भेदः अलक्ष्यक्रमस्तु पदांश-वर्ण-रचना-पद-वाक्य-प्रबन्धगतत्वेन षड्विध एव। ते च—

(४६) पदैकदेशगतालक्ष्यक्रमः रसादिध्वनिः।

(४७) वर्णगतालक्ष्यक्रमः रसादिध्वनिः।

(४८) रचनागतालक्ष्यक्रमः रसादिध्वनिः।

(४९) पदगतालक्ष्यक्रमः रसादिध्वनिः।

(५०) वाक्यगतालक्ष्यक्रमः रसादिध्वनिः।

(५१) प्रबन्धगतालक्ष्यक्रमः रसादिध्वनिः।

इति ज्ञातव्याः। एवमेते मिलिता एकपञ्चाशद् भवन्तीति।

---

1. '-बहिर्भूतया' ख।

(६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः(A) (१०४०४)

वेदखाब्धीति। अङ्कानां वामतः क्रम इति नियमेन वेदाश्चत्वारः (४) तद्वामे खं शून्यं (०४) तद्वामे अब्धयश्चत्वारः (४०४) तद्वामे वियत् शून्यं (०४०४) तद्वामे चन्द्र एकः (१०४०४) इत्यङ्काः। एवं चतुरधिकचतुःशतोत्तरमेकमयुतं ध्वनय इत्युक्तम्। ननु एकपञ्चाशतश्चतुर्गुणने चतुरधिकद्विशतमेव भवति, तत् कथं वेदखेत्याद्यङ्का इति चेन्न, प्रथमस्य स्वजातीयेनैकेन

(A) यद्यपि तेषामित्यादिना 'चन्द्राः' इत्यन्तेन वाक्यस्य निराकाङ्क्षतासम्पादनार्थम् एकमेव सूत्रं गणयितुमुचितम्, तथाऽपि मुद्रितबहुपुस्तकसंवादार्थमुक्तक्रमेण सूत्रसंख्या गृहीता। व्याख्यातमिदं प्रदीपे—"संशयेनाङ्गाङ्गिभावेनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधः सङ्करः, उक्तप्रकारत्रयं विना संयोगः संसृष्टिः। एवमेकपञ्चाशतो भेदानामेकपञ्चाशता भेदैर्योजनमिति तावतां तावद्गुणनेन सहस्रद्वयम् एकाधिका षट्शती च; संयोजनञ्च संसृष्ट्यादिचतुष्प्रकारैरिति तावतां चतुर्भिर्गुणने दश सहस्राणि चतुरधिकानि चत्वारि शतानि च सम्पद्यन्ते। न च अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन सङ्करस्थलेऽनुग्राहकस्याङ्गतया गुणीभाव इति न ध्वनिसङ्करत्वमिति वाच्यम्, तत्र हि स्वतश्चमत्कारिण एव तस्य किञ्चित्परोपकारितामात्रम्, न तु शेषशेषिभाव एवेति।

नन्वस्तु एकपञ्चाशद्भेदेष्वेकतराणां पञ्चाशता योजनम्, स्वस्य तु स्वेन कथं योजनेति चेत् न, व्यक्तिभेदमादाय विजातीयवत् सजातीयेनापि सङ्करादिसम्भवादिति सूत्रकर्तुराशयः। अत्रार्वाचीनाः 'गणनेयमयुक्ता, अग्रिमाग्रिमभेदस्य योजने एकैकभेदह्रासात्। तथाहि—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्येन योजने यो भेदः स एव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्येन योजनायाम्, एवमन्यत्रापि। तस्मात्

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु।
समार्धेनासमो गुण्य एतत् सङ्कलितं लघु॥

इत्युक्तदिशा द्विपञ्चाशदर्द्धेन षड्विंशत्या एकपञ्चाशतं गुणयेत्। तथाच 'रसदस्राग्निमेदिन्यः' (१३२६) इति त्रयोदशशतानि षड्विंशत्यधिकानि जायन्ते। योगश्चतुष्प्रकारक इति तेषु चतुर्भिर्गुणितेषु 'वेदाभ्रदहनेषवः' (५३०४) इति पञ्चसहस्राणि चतुरधिकं शतत्रयं सङ्कीर्णभेदा इत्येव ज्याय इति वदन्ति।

अत्र ब्रूमः—अनुभवसिद्धौ तावत् पुण्ड्रकादीक्षुरसेष्विव ध्वनिष्वपि हृद्यत्वातिशयानतिशयौ। तथा च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य यत्रातिशयस्तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्येन तद्योजनम्। यत्र तु तद्वैपरीत्यं तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्येतरेण योजनमिति व्यपदेशः। एवमन्यत्राप्यूह्यम्। एतदेव प्राधान्यमादाय गणना सौत्री। नन्वेवं यत्रोभयोस्तुल्यमेव चारुत्वम्, तत्र भेदान्तरं स्यादिति, मैवम्; अपकर्षाभावस्यातिशयपदेन विवक्षितत्वात् तत्रोभयभेदसङ्करस्वीकारात्। एतादृशे

स्वविजातीयैः पञ्चाशता च [1]सह चतुर्गुणने एकस्यैव चतुरधिकद्विशतत्वम्, एवञ्च पञ्चाशतस्तावदङ्केन(A) पूरणे भवन्त्येव वेदखेत्यादयोऽङ्काः[1]*। परन्तु औत्सर्गिकीं रीतिं दृष्ट्वा ग्रन्थकृता [2]अप्रणिधानादिदं लिखितम्। प्रणिधानतस्त्विदं श्लथमेव। तथाहि—प्रथमस्यैकपञ्चाशता सह चातुर्विध्ये गणिते द्वितीयस्य प्रथमेन सह चातुर्विध्यं [3]पूर्वगणनायामेव गणितमिति द्वितीयस्य पञ्चाशतैव सह चातुर्विध्यं गणनीयम्, एवं तृतीयादेरपि पूर्वपूर्वेण सह चातुर्विध्यस्य पूर्वगणितत्वात् तदपहायैव गणनीयत्वे चरमस्य सजातीयेनैव सह चातुर्विध्यं गणनीयमेवं रीत्या एकशताधिकपञ्चसहस्रह्रासे चतुरधिकद्विशतोत्तरपञ्चसहस्राण्येव भवन्ति[3]*। दर्शिता चेयं रीतिर्विरोधालङ्कारे। तत्र हि—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्या[4]मथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥ (१०म उल्लासः)

इति वदता जात्यादिचतुर्णां जात्यादिचतुर्भिः सह विरोधे षोडशत्वप्रसक्तौ पूर्वपूर्वेण सह परपरस्य विरोधं पूर्वगणनाप्रविष्टमपहायैव दशविधत्वमुक्तमिति। किञ्च

वास्थाने पदालम्बनमात्रमेव महत् पौरुषमिति सहृदयभावमास्थायालोचनीय"मिति। तत्रेदं चिन्त्यते—एवं रीत्या मूलोक्तसंख्यायाः कथञ्चिदुपपादनेऽपि किञ्चेत्यादिना टीकाकृदुक्तस्य केषाञ्चिद् ध्वनीनामेकव्यञ्जकानुप्रवेशासम्भवेन संख्याह्रासस्य दुष्परिहरतया 'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः' इत्यस्यानुपपत्तिरेवेति।

(A) तावदङ्केनेति चतुरधिकद्विशतरूपेणेत्यर्थः।

---

1. 'सह प्रत्येकं चातुर्विध्ये एकस्यैव चतुरधिक-द्विशतरूपत्वम्, एवं रीत्या एकपञ्चाशतामेव (-शत एव ?) प्रत्येकं तादृशसङ्ख्यात्वे भवन्त्येव वेदखेत्याद्यङ्काः, तथाहि (?) चतुरधिकद्विशतस्य एकपञ्चाशद्गुणने तादृशाङ्कसिद्धिः। (तथाहि ?) वाक्यप्रकाशार्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिरूपकाव्यस्य व्यङ्ग्यमर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिव्यङ्ग्यान्तरेण संशयास्पदम्, एवमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिव्यङ्ग्यासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यादिभिः पञ्चाशता सह प्रत्येकं संशयास्पदमेकधा एकपञ्चाशत् संशयास्पदम्। एवं तदेव व्यङ्ग्यं तादृशव्यङ्ग्यान्तरादिभिः सह प्रत्येकमनुग्राह्यानुग्राहकभावापन्नमित्यपरमेकपञ्चाशद्भेदा, पुनरपि तादृशव्यङ्ग्यान्तरादिप्रत्येकमेकव्यञ्जकव्यञ्जितमित्यपरमेकपञ्चाशद्भेदा ; तथाच तादृशव्यङ्ग्यान्तरादिभिः प्रत्येकं संशयास्पदत्वादित्रितयराहित्येन एकत्र स्थितिरूपया संसृष्ट्याऽप्यन्यदेकपञ्चाशद्भेदा, इत्येकस्यैवार्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिव्यङ्ग्यस्य चतुरधिकद्विशतत्वम्। एवमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिव्यङ्ग्यादीनामपि पञ्चाशतः प्रत्येकं चतुरधिकद्विशतत्वमिति भवेदेव वेदखाब्धीत्यादिसंख्या निराबाधेति' ख। 2. 'अप्रणिधानादेवोक्तम्' क। 3. 'पूर्वगणनायां प्रविष्टमित्यतस्तदपहायैव पञ्चाशता सह चातुर्विध्यं गणनीयमित्येवं रीत्या तृतीयस्योनपञ्चाशता चतुर्थस्याष्टचत्वारिंशता इत्येवं रीत्या चरमस्य स्वेनैव सह चातुर्विध्यं गणनीयमित्यतो द्वाविंशदुत्तरैकशताधिकपञ्चसहस्राङ्कह्रासे द्वासप्तत्युत्तरद्विशताधिकपञ्चसहस्राण्येव भवन्ति न वेदेत्याद्यङ्काः' क। 4. '-मपि' इति मुद्रितपुस्तकपाठः।

शुद्धभेदैः सह—

(६५)———शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥ ४४ ॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

[1]खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई(A) ॥ १११ ॥

---

[2]पदैकदेश-पद-वाक्य-महावाक्यानामेकव्यङ्ग्यस्यान्यतरेणाव्यञ्जनात् कथं तेषामेकव्यञ्जकानुप्रवेश (B)इत्येतावताऽपि (C)बहुतरह्रासे वेदखाब्धीत्याद्युक्तमविचारसुभगमेव[2]* ।

वेदखेत्यादौ [3]शुद्धभेदानपि प्रवेश्य गणने संख्याधिक्यमाह—**शुद्धभेदै**रिति । शराः पञ्च, इषवः पञ्च, युगानि चत्वारि, खं शून्यम्, इन्दुरेकः, एवम् १०४५५ । तत्र संशयास्पदत्वरूपं सङ्करमुदाहरति—**खणपाहुणिआ** इति—

क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति पश्चाद्वलभीगृहे अनुनीयतां वराकी ॥ इति संस्कृतम् ।

(A) क्षणेति । व्याख्यातमिदमुद्द्योतकारैः—'देवरानुरक्तामुपनायिकामुत्सवगतां तत्पत्नी कटूक्तामनुनेतुं देवरं प्रति कस्याश्चिदुक्तिरियम् । त्वज्जाययाऽतिदुरुक्तिभिः पीडिताय अपि त्वय्यनुरागदर्शनेन हे सुभग हे देवर ते तव यः क्षण उत्सवस्तत्र क्षणमात्रं वा प्राघुणिका अतिथिः सा ते तव जायया न तु प्रियया किमपि अवाच्यं भणिता गृहपश्चाद्भागवलभीगृहे रोदिति । अतो वराकी उत्तराशक्तत्वात् त्वय्यासक्तत्वाच्च दीना अनुनीयताम् । अत्रानुनयो रोदननिवर्त्तको व्यापारः । तेन सम्भोगो व्यङ्ग्यः । गृहपश्चाद्भागेत्यनेन विजनता । क्षणप्राघुणिकेत्यनेन दुःखातिशयौचित्यम् । स्वगृह उत्सवसत्त्वेन सर्वेषां जनानां व्यासक्तचित्तत्वञ्च' इति । "पडोहरशब्दो गृहपश्चाद्भागे देशी ; प्रतिवेशिवाचीत्येके" इत्युदाहरणचन्द्रिका ।

(B) इत्येतावतापीति । इदमुपलक्षणम्—शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्य शब्दार्थोभयशक्त्युत्थव्यङ्ग्यान्तरादिना एकाश्रयानुप्रवेशासम्भवोऽपि द्रष्टव्यः ।

(C) बहुतरह्रास इति । इदमत्र चिन्तनीयम्—लक्षणामूलव्यङ्ग्यवत् व्यञ्जनामूलव्यङ्ग्य-

---

1. 'क्षणपा-' इति क्वचित् पाठः । 2. 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्विवक्षितवाच्यपदव्यङ्ग्ययोर्वाक्यप्रकाश्यपदप्रकाश्यपदैकदेशप्रकाश्यानाञ्च एकव्यञ्जकानुप्रवेश एव न सम्भवति व्यञ्जकानां परस्परविभिन्नरूपत्वादिति कथमेकपञ्चाशदात्मकव्यञ्जकानुप्रवेश इत्यतोऽपि बहुतरह्रासे वेदखेत्याद्युक्तमविचारसुभगमेव' क । 3. 'शुद्धभेदप्रवेशेन' क ।

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणे(A)ऽर्थान्तरे संक्रमितः (B)किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः।

देवरं प्रति प्रसक्तामुत्सवे तद्गृहागतां तत्पत्न्या निर्भर्त्सिता(C) मनुनेतुं ज्येष्ठभ्रातृपत्न्या उक्तिरियम्। क्षणः उत्सवः, तत्र प्राघुणिका अभ्यागता। पडोहरः पश्चादर्थे देशी, वराकी दुःखिता। अत्रेति। 'अनुनयः' प्रीतिजननम्, प्रीतिविशेषजननस्तूपभोगः, तत्त्वेन संक्रमितवाच्योऽनुनय इत्यर्थः, तथाच तादृशलक्षणया उपभुज्यतामित्यर्थः। तद्व्यङ्ग्यञ्च दुःखापनयनम्। किमनुरणनन्यायेनेति। अनुनयो वाच्यो विवक्षित एव किमुपभोगस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जक इत्यर्थः। न चैवमुपभोगस्य लक्षणीयत्वव्यङ्ग्यत्वसंशय एवानेन दर्शितो न तु व्यङ्ग्यद्वयस्य संशयास्पदत्वं दर्शितमिति वाच्यं

सम्भवस्यापि 'उअ णिच्चल' इत्यादौ प्रदर्शितत्वेन तद्गणनाऽप्युचिता। एवं शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्य वस्त्वलङ्काररूपतया द्वैविध्यं सम्भवतीति टीकाकृदुक्तरीत्या ह्रासवत् किञ्चिदाधिक्यमपि भवितुमर्हति। सर्वथा तु वेदखेत्याद्युक्तेरसङ्गतिः स्थितैव। एतेन 'वेदखाग्निशराः' (५३०४) इति साहित्यदर्पणकारोक्तिरपि प्रत्युक्तेति।

(A) अर्थान्तरे संक्रमित इति। अयं भावः—कोपमानादिचित्तविकारनिवर्त्तकव्यापारविशेषोऽनुनयः पादपतनादिरूपः, स च कान्तादावुपभोगजन्योऽपीति अनुनयस्य सामान्यविशेषभावसम्भवेन उपभोगजन्यतादृशव्यापारोऽत्र अनुपूर्व'नी'धातुना लक्ष्यते, लक्षणाबीजन्तु सुभगेत्यादिपदप्रतीयमानतात्पर्यानुपपत्तिरेव, प्रयोजनञ्च लक्ष्यार्थगतातिशय इति सन्देहस्य प्रथमकोटौ लक्षणामूलत्वम्, एवञ्च द्वितीयकोटौ उपभोगस्यैव व्यङ्ग्यतया व्यङ्ग्यभेदोऽपि सन्देहसङ्करे आवश्यकतया टीकाकृत्सम्मत उपपद्यते इति बोध्यम्। अत्र अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणया अनुनीयतामित्यस्य उपभुज्यतामित्यर्थस्तु न क्वापि दृष्टः। प्रभाकाराणान्तु "कोपाभावाद्व्याजरूपतयोच्यमानोऽनुनयो लक्षणया उपभोगप्रतिपादकः उपभोगगतसामञ्जस्यं व्यङ्ग्यम्, अथवा बाधाभावाद्वाच्य एवोपभोगव्यञ्जक इत्यर्थः। उभयथाऽप्युपभोग एव तात्पर्यपर्यवसानात् सन्देहस्यादोषत्वम्" इति वदतां सन्देहसङ्करध्वनौ एकव्यङ्ग्यविषय एव संशय आवश्यक इति मतमिति प्रतिभाति। अत्र बालबोधिनीकारस्य 'सन्देह इति, तथा चात्र व्यङ्ग्यसन्देहेनैतन्मूलक एवाविवक्षितवाच्यध्वनिविवक्षितान्यपरवाच्यध्वन्योरपि सन्देहरूपः सङ्करालङ्कारः' इत्युक्तिः वस्तुव्यङ्ग्यध्वनिसन्देहस्यालङ्कारलक्षणानाक्रान्तत्वात् चिन्त्या।

(B) 'किम्' पदात् परं पक्षान्तरव्यञ्जको वाकार आर्थो बोध्यः।

(C) अनुनेतुमिति अनुनाययितुमित्यर्थः, समानकर्तृकत्वे तुमो विधानात् उक्तिकर्तृभूताया ज्येष्ठभ्रातृपत्न्या अनुनयकर्तृत्वाभावात् देवरस्यैव तथात्वादिति बोध्यम्।

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव(A) ॥ ११२ ॥

व्यङ्ग्ययोर्दुःखापनयनोपभोगयोस्तत्संशयाधीनसंशयविषयत्वात् । तथाच उपभोगेन दुःखमपनीयतामिति वा उपभुज्यतामिति वा अनयोक्तमिति सामाजिकसंशयास्पदत्वं लक्षणामूलव्यङ्ग्य-स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यवस्तुनोरिति संशयास्पदत्वम् ।

अनुग्राह्यानुग्राहकतासङ्करस्य एकव्यञ्जकानुप्रवेशसङ्करस्य संसृष्टेश्चैकमुदाहरणमाह—स्निग्धेति । रामस्येयमुक्तिः । घनाः स्निग्धश्यामलकान्तिव्याप्ताकाशाः चलद्-

---

(A) स्निग्धेति । "स्निग्धा श्लक्ष्णा श्यामला या कान्तिस्तया लिप्तं निविडसम्बद्धं वियदाकाशं यैः, वेल्लन्त्यो बद्धपङ्क्तितया बहुतरं शोभन्त्यः (शोभमानाः ?) सविलासं खेलन्त्यो वा बलाकानां (बलाकाः ?) पक्षिविशेषाणां पङ्क्तयो येषु तथाभूता घना मेघाः एव घना निविडाः (?) कामं यथेष्टं सन्तु । तथा शीकरिणोऽम्बुकणशालिनः, तेन शैत्यमान्द्ये, तादृशा वाता अपि सन्तु । एवं पयोदो मेघः सुहृत् केकाजनकाह्लादजनकतया मित्रं येषां तेषां केकापदसान्निध्यात् मयूराणां कला अव्यक्तमधुरा आनन्दजन्या वाण्यः सन्तु; आनन्देन कण्ठजाड्याद्व्यक्तता । यद्वा पयोदस्य सुहृदां तदुदयोल्लासिनामित्यर्थः । अत एवानन्दकेकाः पयोदोल्लासे तत्सुहृदामानन्दौचित्यात् । शेषं प्राग्वत् । कामं सन्तु तावता न मे क्षतिरिति भावः; तदेवाह—दृढमतिशयेन कठोरहृदयोऽहं रामः सकलदुःखपात्रत्वेन प्रसिद्धोऽस्मि, अत एव सर्वमुक्तोद्दीपकातिशयजनितक्लेशं सहे । उत्तमपुरुषैकवचनमेतत् । अत्रैतादृश-दुःखजनकसमाजेऽपि प्राणधारणादात्मन्यप्रकारो व्यङ्ग्यः । वैदेही विदेहराजपुत्री तु राजापत्यत्वात् स्त्रीत्वाच्च सुकुमारतया दुःखाक्षमा विदेहस्य कामस्याश्रया (आश्रयः) च कथं भविष्यति कथं जीविष्यति । तज्जीवनं न सम्भाव्यते इत्यर्थः । हहाहेति समुदायः खेदातिशये, भावनोपनीतां सीतां सम्बोध्य; हहा हा देवि धीरा भव । देवत्वेन धैर्यौचित्यम् । ......अत्र रामपदेन दुःखपात्रतालक्षणया व्यज्यमानस्य राज्यत्यागजटावल्कलधारणपितृशोकाद्यधिगत-दुःखसहनातिशयस्यावगमे व्यञ्जनयाऽवगतैः शोकावेगधैर्यनिर्वेदादिभिः परिपुष्टो विप्रलम्भः प्रकाश्यत इति बोध्यम्" इत्युद्द्योतव्याख्यासंक्षेपः । "यत्तु—सीतामरणं सम्भाव्य पृथ्वीं प्रत्याह—'हे सर्वंसहे वसुधे देवि, धीरा भव दुहितृशोकेन त्वं मा विदीर्णा भूः' इत्यर्थो मदीयः इत्युक्त्वा पूर्वोक्तार्थेऽज्ञानकृतत्वाभिधानं कस्यचित्, तत् काव्यहृदयानभिज्ञतया जल्पितमिति सुहृदयैरुपेक्ष्यम्' इत्युदाहरणचन्द्रिकायां विशेषः । अत्र दृढमिति 'कठ कृच्छ्रजीवने' इति ओरन्-प्रत्ययान्तकठधातूपस्थाप्येऽर्थे अन्विततया क्रियाविशेषणे द्वितीया, तस्य कारकत्वातिदेशाच्च

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह (A) रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यानु-

बलाकाश्च, तथा पयोदसुहृदां मयूराणाम् आनन्दजन्याः केकाः कला गभीराः; एते उद्दीपकाः कामं यथेष्टं सन्तु, मम किञ्चित् कर्तुं न क्षमा इति भावः। यतः दृढम् अतिशयं कठोरहृदयः रामोऽस्मि दुःखसहिष्णुरस्मि, अतः सर्वमेव अहं सहे। हहा खेदे। वैदेही त्वनीदृशी कथं भविष्यति कथं सत्तावती स्यात्, तस्मात् हा देवि धीरा भवेत्यर्थः। अत्रेति(B)। द्रवद्रव्यस्य व्यापनमेव लेपः कान्तेस्तु द्रवद्रव्यत्वाभावेन तद्बाधात् लिप्तपदं

'स्फुटं चलच्चामरयुग्मचिह्नैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम्' इतिवत् सापेक्षत्वेऽपि समासो न दोषाय। अथवा दृढं सहे इत्यन्वयः।

(A) रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्येति। ननु कठोरहृदय इत्यत्र हृदयपदं मनः-परम्, 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यभिधानात्, तथाच अपार्थिवे तस्मिन् कठोरपदार्थस्य प्रस्तरादिसाधारणकाठिन्यस्य बाधेन कठोरपदमेव दुःखसहिष्णौ लाक्षणिकम्, एवञ्च रामपदस्य दुःखसहिष्णुरामे लक्षणाकथनमनुचितमिति चेन्न कठोरहृदय इत्यस्य कठिनवक्षःस्थल इत्यर्थेऽभिप्रायात्। वक्षःस्थलस्य काठिन्येन च बहुतरदुःखेऽपि अविदीर्णत्वमात्रं व्यज्यते। विरहादिना हृदयविदारणञ्च कविसमयेऽपि ख्यातम् 'यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः' इत्युक्तेः। वर्णितञ्च तथा कविभिः—

"भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे हतासुभिः प्राणसमः समं गमः" (नैषधचरितं ९मः सर्गः)

"ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि विपद्यते यदि" (नैषधचरितं १मः सर्गः)

"हा हा देवि स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः" इत्यादिभिः। (उत्तररामचरितम् ३यः अङ्कः)

अतोऽत्र कठोरहृदयपदेन कथञ्चिदपि दुःखसहिष्णुत्वाप्रतीतेर्युज्यत एव रामपदे लक्षणेति सुधीभिर्विभावनीयम्।

(B) अत्रेति। अत्र ध्वनिसङ्कर उपपादितः प्रदीपकारैः—अत्र मुख्यार्थबाधाल्लिप्तपदं सम्पर्कं लक्षयदतिशयं व्यनक्ति। पयोदे चाचेतने सौहृदाभावात् सुहृत्पदमुपकारित्वं लक्षयत्तदतिशयं प्रतिपादयति, पयोदानां मयूरनिष्ठकेकाद्युपकारशीलत्वात्। रामपदञ्च सर्वसहत्वानुपयुक्तशक्यार्थतया सकलदुःखभाजनत्वं लक्षयत् सीतां विनाऽपि जीविष्यामीति व्यञ्जयदेव विप्रलम्भं व्यनक्ति। तदत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामित्यनयोरत्यन्ततिरस्कृत-वाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह राम इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन सङ्करः, तयोरुद्दीपकत्वात्। रामपदेन चैकव्यञ्जकानुप्रवेशे वा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः रामोऽस्मीत्यनेनैव लक्षणामूलस्य विप्रलम्भस्य च व्यञ्जनाद् विप्रलम्भे वाच्यव्यङ्ग्ययोऽप्यस्य प्राधान्यात्' इति।

व्याख्यातमिदमुद्द्योतकारैः—'मुख्यार्थेति, द्रवद्रव्यस्य सर्वावयवावच्छेदेन संयोगो लेपनम्।

ग्राह्यानुग्राहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तर-संक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थ उल्लासः।

व्याप्ते अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, विरहोद्दीपकत्वं तद्व्यङ्ग्यम्। तथा पयोदसुहृदामित्यत्र अचेतनस्य पयोदस्य हृदयाभावेन पयोदसुहृत्पदं पयोददर्शन-नर्त्तितत्वेन रूपेण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, तत्केकानां विरहोद्दीपकत्वञ्च तद्व्यङ्ग्यम्, अनयोर्व्यङ्ग्ययोरुक्तत्रिविधसङ्कराभावेन संसृष्टिमात्रम्। **ताभ्यां सहेति**, ताभ्यां विरहोद्दीपकत्वाभ्यां सहेत्यर्थः। **रामोऽस्मीत्यर्थान्तर-संक्रमितेति**, दुःखसहिष्णुत्वरूपेण रामस्यैव उपस्थापनादर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-लक्षणा, तद्व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। तच्च प्रियाविरहेऽप्यम्रियमाणत्वेन स्वावधीरणम्। **अनुग्राह्येति** रामस्य स्वावधीरणम् अनुग्राह्यं विरहोद्दीपकत्वद्वयञ्च तदनुग्राहकम्, घनकेकयोर्विरहोद्दीपकत्वज्ञानात् तदानीमम्रियमाणत्वेन स्वावधीरणोद्दीप्तेः। **रामपदलक्षणेति**, रामपदेन (A)स्वावधीरणस्यैव तत्कारणविप्रलम्भस्यापि व्यञ्जनात्। [1]ध्वन्योरित्यत्र ध्वनिपदं व्यङ्ग्यपरमेव[1] *।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृत-काव्यप्रकाशादर्शे
ध्वनिनिर्णयस्य चतुर्थः प्रतिबिम्बः।

सम्पर्को दृढसम्बन्धः। पयोदे चेति, सौहृदं चित्तवृत्तिविशेषः। पयोदाः सुहृदो येषामिति बहुव्रीहिरिति भावः। तद्ध्वनयन्नाह—पयोदानामिति। अत्यन्ततिरस्कृतेति, लेपनसुहृत्त्वयोः सर्वथा-ऽनन्वयादिति भावः। संसृष्टिरिति, त्रिरूपसङ्कराभावादिति भावः। अर्थान्तरेति दुःखसहिष्णुत्वेन रामस्य वाच्यस्यैवान्वयादिति भावः। सङ्कर इति पूर्वोक्तात्यन्ततिरस्कृतवाच्याभ्यां सहेत्यर्थः। तयोरुद्दीपकत्वादिति,तद्व्यङ्ग्ये(ङ्गो ?) विप्रलम्भ इति भावः। रामोऽस्मीत्यनेनैवेति, रामपदलक्ष्येण विप्रलम्भव्यञ्जनेऽपि रामपदस्य सहकारित्वादिति भावः। सीतां विना न जीविष्यामीति लक्षणामूलवस्तुनश्च वाच्यतः प्राधान्येनैव ध्वनित्वप्रयोजकत्वं बोध्यम्' इति।

(A) स्वावधीरणं निर्वेदः। स च व्यभिचारिभावः। तथाच वृत्तौ रसपदम् आस्वाद्यत्व-रूपेण व्यभिचारिभावपरं विप्रलम्भस्य महावाक्यव्यङ्ग्यस्य केवलरामपदव्यङ्ग्यत्वाभावात्, रामपदस्य तु वाक्यैकदेशत्वेन व्यञ्जकत्वमस्त्येवेति न क्षतिः। सकलदुःखसहिष्णुरामोपस्थापक-तया विप्रलम्भव्यञ्जनायां प्राधान्यात् प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन रामपदस्यैव तद्व्यञ्जकत्वोपगमे तु रसपदं मुख्यमपि सम्भवतीति ध्येयम्।

---

1. 'रसध्वनिपदञ्च ध्वन्यमानरसपरमेव बोध्यम्' ख।

पञ्चम उल्लासः

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(६६) (A अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

कामिनीकुचकलसवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढमित्यादि । सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यश्चेति द्वयम् । व्यङ्ग्यमेवमिति इत्यष्टविधं व्यङ्ग्यम्, एवं सति तत्सम्बन्धाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यस्यापि भिदा भेदा अष्टौ इत्यर्थः । तत्र अगूढस्य गुणीभूतत्वमुपपादयति—कामिनीति । 'गूढं' [1]विदग्धैकवेद्यम् ।

(A) अगूढमिति । व्यङ्ग्यमिति द्वितीयश्लोकस्य प्रथमपदं प्रथमश्लोकस्थप्रथमान्तैः सम्बध्यते । तथाच अगूढं व्यङ्ग्यम्, अपराङ्गं व्यङ्ग्यमित्यादिरर्थः । 'एवम्' अगूढत्वादिना प्रकारेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य अष्टौ भेदा इति समुदायार्थः । प्रत्येकं पदानि तु व्याख्यातानि प्रदीपे—अगूढम् असहृदयैरपि वेद्यम्, तादृशं वाच्यायमानतया न तथा चमत्करोति यथा कामिनीकुचकलसवद् गूढम् । 'अपरस्य' रसादेः स्वनैरपेक्ष्येण लब्धसिद्धेः, 'अङ्गम्' उपकारकम् । वाच्यसिद्ध्यङ्गं वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तत् । अस्फुटं सहृदयानामपि दुःखसंवेद्यम् । सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये इति सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यञ्चेति द्वयम् । काकाक्षिप्तं यया काका विना वाक्यार्थ एव नात्मानं लभते तथा प्रकाश्यम्, काका हठेनोपस्थितमिति वा । असुन्दरं वाच्यापेक्षया अचारु । वाच्यापेक्षया अचमत्कारकारित्वेन व्यङ्ग्यस्य गुणीभावः, तच्च स्वत एवासुन्दरत्वेन अगूढत्वादिविशेषणसप्तकेन वा इति ।

---

1. 'ख (स ?) हृदयैक-' ख ।

अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि(A) ॥११३॥

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

---

(१) यस्यासुहृदिति शत्रुसेवया जीवतो नृपस्य स्वाभ्युदयचेष्टार्थं केनाप्युद्विज्यमानस्य तं प्रत्युक्तिरियम् । असुहृदा कृता तिरस्कृतिः तिरस्कारः, सा यस्य मम कर्णावेत्य तप्तसूचीनामिव व्यधव्यतिकरेण युनक्ति असुहृत्कृततिरस्कार'वार्त्ताऽपि यस्य मम कर्णदुःसहा आसीदित्यर्थः, एष सोऽहं काञ्चीगुणग्रन्थनभाजनम् अस्मि मालादिग्रन्थकोऽस्मीत्यर्थः । अतः सम्प्रति जीवन् न भवामि किं स्वाभ्युदयचेष्टामावहामि करोमीत्यर्थः । चक्रवर्त्ती तु—मया कृततिरस्कृतिः असुहृद् यस्य मम शरणागतः सन् तप्तसूचीनां व्यधव्यतिकरेण स्वकर्णौ युनक्ति शरणागतानां पाश्चात्यानामीदृशव्यवहारादिति व्याचष्टे, तन्न ; तादृशव्यवहारस्य अदृष्टत्वात् तादृशव्यतिकरस्य सुतरामभावाच्च । अत्रेति, अजीवत उक्त्यसम्भवात् जीवन्निति पदं प्रकृष्टजीविपरमित्यर्थः । अर्थान्तरेति, नञ्साहाय्यात् मृतप्रायत्वरूपस्य तद्व्यङ्ग्यस्यागूढत्वमिति शेषः, जीवन् न भवामीत्युक्ते मृतप्रायत्वस्य सर्वजनवेद्यत्वात् ।

(A) यस्येति । कीचककृतपराभवं निवेदयन्तीं द्रौपदीं प्रति बृहन्नलारूपस्यार्जुनस्योक्तिरियमिति सुधासागरकाराः । अर्जुनस्य बृहन्नलादशायां स्वाभ्युदयाय किमिति न चेष्टसे इति केनापि पृष्टस्य वाक्यमिदमित्युद्द्योतकाराः । यस्य मम असुहृत् शत्रुः कृततिरस्कृतिः सहजशत्रुत्वादेव कृतमद्विषयकटुवाक्यप्रयोगः सन् एत्य परम्परया श्रुततदाचरणस्य मम समीपमागत्य कर्णौ स्वीयश्रवणे तप्तसूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति स्वहस्तेनैव तप्तसूचीभिर्भिनत्तीत्यर्थः, कर्णपीडाजनके कर्णपीडातिशयभोगदण्डस्यैव युक्तत्वादिति भावः । एतेन वक्तुः सापराध एव दण्डविधायकत्वं सम्मुखमागतस्य स्वहस्तेन दण्डग्रहणात् प्रभावातिशयश्च गम्यते । स एषोऽहं शत्रूणां काञ्चीगुणग्रथनभाजनमस्मि, एतेन कर्मकरसुलभतिरस्कारोऽपि प्रतीयते । ग्रथनपदं 'ग्रथ् ग्रथि कौटिल्ये' इति चन्द्रगोमिणा पठिताद् ग्रथ्धातोर्निष्पन्नम् । अन्यत् सुगमम् । व्याख्यान्तरमुद्द्योतादौ द्रष्टव्यम् ।

---

(१) '-वार्त्ता श्रूयमाणापि' ख ।

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा

गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।

एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-

पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥ ११४ ॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।

दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः

केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी(A) ॥११५॥

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । "तस्याप्यत्र" इति युक्तः पाठः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकव्यङ्ग्यस्यापि अगूढत्वमाह—उन्निद्रेति । प्रातर्मानिनीं प्रति उद्दीपकप्रदर्शनमिदम् । कोकनदमत्र रक्तपद्मम् । एतद् रवेर्बिम्बं चकास्तीत्यन्वयः । अत्रेति, वक्त्रसंयोगात्मकचुम्बनस्य रविबिम्बे बाधात् स्पर्शमात्रे चुम्बिपदस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणा । चुम्बनवदुद्दीपकत्वं तद्व्यङ्ग्यं सर्वजनवेद्यम् । अत्यन्तेति, एतद्व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः, अगूढत्वमिति तच्छेषः । अर्थशक्त्युद्भवस्याप्यगूढत्वमाह—अत्रासीदिति । पुष्पकेण गमने सीतां रणस्थलं दर्शयतो रामस्योक्तिरियम् । विधिपर्यन्तानुधावनं बन्धनमोक्षस्यापि सूचनार्थम् । भवद्देवर इति सम्बन्धप्रदर्शनमनुरागोत्पादनाय । द्रोणाद्रिः गन्धमादनः । दिव्यैर्लक्ष्मणशरैः इन्द्रजिदत्र लोकान्तरं प्रापित इत्यन्वयः । शराणां कर्तृताप्रदर्शनं लक्ष्मणस्य तत्र अवहेलासूचनार्थम् । राक्षसपतेः रावणस्य । अत्रेति, अनुरणनरूपस्य मयेत्यस्य अगूढत्वमिति शेषः । केनापीत्यनेन कर्तृप्रदर्शने कृते कर्त्रन्तरबाधेन मयेत्यस्य सर्वजनवेद्यत्वात् ; कर्तृप्रदर्शनाभावे तु भवत्येव मयेत्यस्य गूढत्वमित्यभिप्रायेणाह—तस्याप्यत्रेति । युक्त एतदपेक्षया प्रशस्त इत्यर्थः । तदगूढत्व एव ध्वनित्वं नायकस्य धीरोदात्तत्वात्क्षतिश्चेति भावः ।

(A) श्लोकेऽस्मिन् प्रतिवाक्यम् अत्रेति पदोपादानं प्रत्येकमेवाद्भुतत्वं व्यनक्तीति प्रदीपे स्पष्टम् ।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं (A)रसादि अनुरणनरूपं वा ।

यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ ११६ ॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

---

(२) अपरस्याङ्गमिति व्याचष्टे—अपरस्येति । रसादेरङ्गं रसादि वाक्यार्थीभूतस्याङ्गन्तु अनुरणनरूपमिति यथासङ्ख्यं बोध्यम् । वाच्यस्येत्युक्तौ पदार्थस्यैवाङ्गित्वं स्यादत उभयसाधारण्यार्थं वाक्यार्थीति । उदाहरिष्यति च यथासङ्ख्याभिप्रायेणैव । चक्रवर्त्ती तु—वाक्यार्थीभूतस्याप्यङ्गं रसादिकम् । अन्यथा—

तदिदमरण्यं यत्र दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।

विचरन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥

इत्युदात्तालङ्कारोदाहरणतया दशमोल्लासे यद्वक्ष्यते तत्र 'न चात्र वीरो रसः' इत्याशङ्क्य—'तस्येह अङ्गत्वा'दिति समाधानेन वाक्यार्थीभूतस्यारण्यविचरणस्याङ्गत्वेन वीररसप्रदर्शनं ग्रन्थकृतोऽनुपपन्नं स्यादिति व्याचष्टे, तन्न ; तस्य अङ्गताप्रदर्शनेन तदङ्गघटितस्योदात्तालङ्कारस्यैव ग्रन्थकृता दर्शितत्वात् न त्वपराङ्गत्वस्य, 'महताञ्चोपलक्षण'मिति तल्लक्षणे हि 'उपलक्षणम् अङ्गभावः' इति व्याख्यास्यति, अङ्गभावश्च तत्र परम्परया वीररसोत्साहेन रामस्य प्रकर्षो रामसम्बन्धाच्चारण्यमहत्त्वमिति, अपराङ्गत्वन्तु साक्षादङ्गस्यैवेति । अयं स इति । भूरिश्रवसः समरपतितं हस्तमालोक्य तत्पत्न्या रोदनोक्तिरियम् । अत्रेति, 'शृङ्गारः करुणस्य' अङ्गमित्यर्थः । रसनोत्कर्षणादिव्यङ्ग्यः शृङ्गारो ह्यत्र चमत्कारी करुणस्य प्रकर्षकः तदभावे करुणपुष्ट्यभावात्, पूर्वानुभूतसुखसम्भिन्नरतिस्मरणेन पतिमरणे करुण[1]प्रकर्षात् । अङ्गिनिर्वाहकाङ्गस्य तु अङ्ग्यपेक्षया चमत्काराधिक्याभावात् नापराङ्गत्वम् । यथा 'जाने कोपपराङ्मुखी'-त्यादौ असूयानिर्वाहकाङ्गस्य शृङ्गारस्य । न चात्र शृङ्गारोऽपि निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्य

(A) अत्र 'निष्पन्नस्य रसस्यापराङ्गत्वाभावाद् रसपदेनात्र स्थायिभावो द्रष्टव्यः' इति प्रदीपः ।

---

1. '-चमत्कारात्' कॉ ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्ध[1]समिद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥ ११७ ॥

अत्र भावस्य रसः ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाऽम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।

एवेति कथं तस्य करुणाङ्गत्वमिति वाच्यम्, मृतालम्बनकत्वेन तस्य तदानीं (A)रसत्वा-प्राप्त्या करुणाङ्गत्वादेव ।

इदानीं भावमङ्गिनं कृत्वा रसादीनां सर्वेषां तदङ्गत्वं प्रदर्शयिष्यन् भावाङ्गं रसमाह—**कैलासे**ति । मानिन्याः पार्वत्या महेशेन पादप्रणामे कृते कोपापगमात् तन्नेत्रा-रुण्यनाशवर्णनमिदम् । कैलासालयो महेशः प्रणामकाले तद्भाललोचनस्य आग्नेयस्य ज्योतिर्मयत्वेन अरुणस्य रुचा निर्वर्त्तिता निष्पादिता [2]अलक्तकस्य व्यक्तिः प्रकाशो यस्याः तादृशी गिरिभुवः पार्वत्याः सा पादनखद्युतिः वो युष्मान् त्रायताम् । सा का इत्याह—**स्पर्द्धे**ति ; यया पादनखद्युत्या पार्वत्याः नेत्रयोः रूढा जाता शोण-त्वात् कोकनदानुकारेण रक्तोत्पलसादृश्येन सरसा कान्तिः सद्यः समुत्सार्यते पादपतनेन कोपाधीनस्य नेत्रारुण्यस्य नाशात् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते स्पर्द्धेति, पादनखद्युति-रहमरुणा कथमन्याऽपि द्युतिः अरुणा आस्तामित्येवं स्पर्द्धाबन्धेन समिद्धया दीप्त-येव । **अत्रे**ति, त्रायतामिति निराकाङ्क्षवाक्येन व्यङ्ग्यस्यापि नः पार्वतीविषय-भावस्येत्यर्थः । 'रसः' महेशशृङ्गारः अङ्गमित्यर्थः । स च निर्वर्त्तितालक्तकव्यक्ति-रित्यन्तसाकाङ्क्षवाक्यलभ्येन पादपतनेन व्यङ्ग्यः ।

भावस्याङ्गं भावमाह—**अत्युच्चा** इति । अम्भोधय इत्यत्रापि परितः स्फुरन्ती-त्यन्वयः । न क्लान्ताऽसीत्यत्र हे पृथिवीति सम्बोधनमूह्यम् । स्तुतिमित्यत्र च

(A) अत्र रसत्वाप्राप्तेरित्येतावानेव पाठो युक्ततया प्रतिभाति 'कथं तस्य करुणाङ्गत्व'मिति प्रश्ने 'रसत्वाप्राप्त्या करुणाङ्गत्वादेव' इत्युत्तरस्याशोभनत्वादिति ध्येयम् ।

---

1. '-समृद्धयेव' इति पाठान्तरम् । 2. 'अलक्तकस्येव' क ।

आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ११८ ॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

वन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारां निधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥११९॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ ।

सनमस्कारामित्यूह्यम्, तदैव [1]स्तुतिमितीत्यत्र इतिकारेण 'नम' इत्यन्तस्य परामर्श-सम्भवात्[1]* । प्रस्तौमि करोमि । तावदिमां भुवं बिभ्रत् तव भुजः स्मृतः, ततो वाचो मुद्रिता इत्यन्वयः । बिभ्रदित्यत्र श्लेषवशात् [2]पालने धारणाभ्यासादिदमुक्तम् । अत्रेति उभयत्र [3]रतिभावत्वकथनं स्वरूपकथनमात्रम्, भावान्तरप्रसक्त्यभावेन अङ्गयावर्त्तकत्वात् ।

भावस्याङ्गे रसाभासभावाभासावाह—वन्दीकृत्येति । हे नृप, तव द्विषां मृगदृशः पत्नीः वन्दीकृत्य ते तव सैनिकाः ताः पश्यतस्तत्प्रेयसः अनादृत्य ताः श्लिष्यन्तीत्यादि । अनादरे षष्ठी । लान्ति गृह्णन्ति । तैः प्रत्यर्थिभिस्तु त्वं स्तूयसे । स्तुत्याकारमाह—अस्माकमिति । [4]दुष्कृतैर्दृष्टत्वेऽपि भयाद्वैपरीत्येन सुकृतैरित्यादिस्तुतिः[4]* । आपन्निवर्त्तकत्वेन सम्बोधयति—औचित्येति । तत् तस्मात् अखिला विपदो विध्वस्ताः । अत्रेति [5]परोढाविषयत्वाद् रसाभासः, शत्रुविषयत्वाच्च भावाभासः । अनयोराख्यातान्तनिराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वेऽपि राजस्तुतिपर्यवसायकत्वेन अस्वातन्त्र्यादङ्गतैव ।

---

1. 'तुभ्यं नम इत्युक्त्या (क्त्या ?) नमस्कारस्यैवोक्तत्वेऽपि स्तुतिमितीत्यत्र इतिपदेन स्तुतिपरामर्शकेनापि नमस्कारपरामर्शसम्भवात्' ख । 2. 'पोषणे' क । 3. 'रतिभावत्वेन कथनं' क । 4. 'सुकृतैरित्यापन्निवर्त्तनायोक्तम्' ख । 5. 'परोढानुरागिणीविषयत्वात्' ख ।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात्(A) ॥१२०॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥ १२१ ॥

अत्र त्रासोदयः ।

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विस्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात् कपटवटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥

भावाङ्गं भावप्रशममाह—अविरलेति । ददृशे अस्माभिः, तवेक्षणे त्वत्कर्मकदर्शने सति स मदः क्षणात् क्वापि गतः नष्ट इत्यर्थः । अत्रेति, अविरलेत्यादिव्यङ्ग्यस्य राजवैरिविषयवक्तृभावस्य नाशः, तन्मदनाशव्यङ्ग्यराजविषयवक्तृभावस्याङ्गमित्यर्थः । चक्रवर्त्ती तु—शत्रूणां मदरूपव्यभिचारिभावस्य नाश एवाङ्गमित्याह तन्न ; मदस्य गमनाभावेन तन्नाशस्य क्वापि गत इत्यनेन लक्षणयैव गम्यत्वात् न तु व्यञ्जनया व्यङ्ग्यस्यैव च गुणीभूतत्वेनोदाहर्त्तव्यत्वात् ।

भावाङ्गं भावोदयमाह—साकमिति । हे विभो, कुरङ्गकदृशा सुहृद्भिरपि साकं सह तव वैरिणि मधुपानलीलां कर्तुं प्रवृत्ते सति, अन्यार्थकं तव नाम केनापि गृहीतं सत्[1] तेषामवस्थां विषमां व्याकुलत्वेन विपर्यस्ताम् अकरोदित्यर्थः । अत्रेति, पूर्वार्द्धे त्रासाप्रतीत्या तदनुवृत्त्यभावात् परार्द्धे "तत्प्रतीत्या तदुदयः"[2] । स चात्र निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्योऽपि राजस्तुतित्वात् तद्विषयभावस्यैव पर्यवसायकः, तेन तद्विषयभावस्य अङ्गम् ।

भावाङ्गं भावसन्धिमाह—असोढेति । तपस्यन्तीं पार्वतीं जटिलविप्ररूपेण

(A) अविरलेति । अस्य पद्यस्य द्वितीयादिपादत्रयं सुन्दरीवृत्तेन निबद्धम्, प्रथमपादस्तु वृत्तान्तरेणेति उपजातिवृत्तमिदम् । 'अनिशैः करवालकम्पनैः' इति पाठे तु सुन्दरीवृत्तमेवेति बोध्यम् ।

---

1. 'सत्' इत्यतः परं ख-पुस्तके 'तत् कर्तृ' इत्यधिकः पाठो दृश्यते । 2. 'एव तदन्वयः' ख ।

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

पश्येत् कश्चिचल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः कासि यासि(A) ।

छलयतो महेशस्य वर्णनमिदम् । कपटवटुवेशापनयने युगपत् एकदा त्वराशैथिल्याभ्यामभियुक्तः स्मरहरः वः प्रमोदं दिश्यात् ; तत्र त्वराहेतुः प्रथमचरणार्थः ; तत्काले उल्लसन् उद्बुध्यमानः असहभावो दुःसहत्वं यस्य तादृशस्य तपसः असोढा सोढुमसमर्थः ; तपःकृष्टत्वेन स्वरूपमदर्शयित्वा स्थातुमसामर्थ्यात् । शैथिल्यहेतुर्द्वितीयचरणार्थः । विश्रम्भो विश्वासः ।

भावाङ्गं भावसबलत्वमाह—पश्येदिति । हे पृथ्वीपरिवृढ पृथ्वीप्रभो अरण्यवृत्तेः भवद्विद्विषः कन्या (B)भक्षणार्थं वन्यफलकिसलयान्याददाना अर्थात् आकर्ष्टुकामं

(A) पश्येदिति । अत्र पश्येत् कश्चिदित्याद्यवान्तरवाक्यैः प्रतिपाद्यपुरुषस्य अभिप्रायव्यञ्जकाः चेष्टाविशेषा ऊहनीयाः तदनुसारेणैव कुमार्या उत्तरोत्तरवाक्यानि सङ्गच्छन्ते । तथाहि—पश्येत् कश्चिदित्यत्र यूनोरेकान्तावस्थानेऽनौचित्यसम्भावनया शङ्का । शङ्कामवगणय्य प्रवृत्ते तस्मिन्नाह 'चल चपल रे' इति । चपल स्वच्छन्दाचरणाचञ्चलेत्यर्थः । अनेन रागानुविद्धा असूया । चपलत्वेन सम्बोधनाद् बद्धानुरागेण तेन प्रणयमाने व्यञ्जिते आह—का त्वरेति, अत्र मनोरथसिद्धेरवश्यम्भावितया धृतिः । अहेतुकविलम्बासहिष्णुतया पुनः प्रवृत्ते तस्मिन्नाह अहं कुमारीति ; अत्र कुमार्या मम नैवं स्वातन्त्र्यमुचितमिति स्मृतिः । पूर्ववाक्येण तस्य प्रत्यङ्मुखप्रस्थानोद्यममालोक्याह—हस्तालम्बं वितरेति । ईदृशप्रार्थना श्रान्तजनस्यैवेति अत्र श्रमः । हस्तालम्बनेऽपि कृतं विशेषं दृष्ट्वा पुनराह 'ह ह हा व्युत्क्रमः' इति । तत्र प्रथमे दैन्यं स्पष्टम्, द्वितीये तु विवाहात् परमेव ईदृशस्यालम्बनस्य युक्ततया प्रागेव तत्करणे क्रमोल्लङ्घनमिति विबोधः । अनौचित्याल्लज्जया हस्तं परित्यज्यैवापसरति तस्मिन्नाह—कासि यासीति । अत्रौत्सुक्यं स्पष्टम् । कुमारीणामीदृशो भावस्तत्रभवता कालिदासेनापि वर्णितः । तथाच शाकुन्तले—

अप्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपाः
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने ।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लब्धान्तरत्वा-
दाबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्यः ॥ इति । शेषार्द्धमस्य सुगमम् ।

(B) भक्षणार्थमिति भक्षणाद्यर्थमित्यर्थः । किसलयानां शयने उपयोग इति बोध्यम् ।

इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः

कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ १२३ ॥

अत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-(A)विबोधौत्सुक्यानां सबलता।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदय-भावसन्धि-भाव-सबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येव-मुक्तम्।

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि [1]'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती'ति क्वचित्केनचिद् व्यवहारः।

कश्चिदित्थम् अभिधत्ते ; कन्या च तत्रैव जातभावा बोध्या। किमभिधत्ते इत्याह—पश्येदिति। तत्र पश्येदित्यत्र शङ्का व्यङ्ग्या, चल चपल रे इत्यत्र असूया, का त्वरा इत्यत्र धृतिः, अहं कुमारीत्यत्र कौमार्यस्मरणरूपा स्मृतिः, हस्तालम्बमित्यत्र श्रमः, ह ह हा इत्यत्र दैन्यम्, व्युत्क्रम इत्यत्र एतादृशोक्तिर्ममानुचिता इत्येवंरूपा मतिरेवात्र विबोधः। क्वासि यासीत्यत्र औत्सुक्यं व्यङ्ग्यम्। तत्र च श्रमापेक्षया दैन्यं विहाय सर्वमुत्तरोत्तरं बलवत्। त्वमित्यर्थे असीति अव्ययम्। [2]एषां सबलता च राज[2]*-प्रयोज्यत्वाद् राजविषयभावप्रकर्षकाङ्गम्। एते चेति, ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्त इति यत् (पृः ६४) प्रागुक्तम् तदिदं दर्शितम्।

ननु सर्वत्रैव अपराङ्गेऽङ्गिनं रसादिकमादाय कथं न ध्वनिव्यवहार इत्यत आह—यद्यपीति। प्रायशः स नास्तीत्यर्थः, शुद्धध्वनौ सङ्करसंसृष्ट्यभावात्। 'स्वप्रभेदादिभि'रित्यादिपदात् स्वप्रभेदद्वयस्येव ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यद्वयरूपपरप्रभेदयो-रपि सङ्करो बोध्यः। समाधत्ते—तथाऽपीति। 'प्रधानेन' [3]चमत्काराधिक्यरूप[3]* प्राधान्यवता, न तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यतया प्रधानेनेत्यर्थः, तदा अपराङ्गेऽपि अङ्गिनस्तथात्वात् ध्वनिव्यवहारापत्तेः। एवञ्च द्वयोस्तुल्यचमत्कारित्वे निराकाङ्क्ष-

---

(A) विबोध इति। अत्र विबोधः 'नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्द्धारणं मति'रित्युक्तलक्षण-मतिरूपः, 'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः' इत्युक्तलक्षणविबोधस्तु अनिद्रितायाः कन्याया न सम्भवतीति विभावनीयम्।

---

1. 'प्राधान्येन' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. 'एषां व्यङ्ग्यानां वने स्थापितशत्रुकराज-' ख। 3. 'चमत्कारकत्वाधीन-' क।

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषुघटना
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता(A) ॥ १२४ ॥

वाक्यव्यङ्ग्यत्वे वा अङ्गाङ्गिभावसत्त्वे तत्सङ्करस्तदसत्त्वे संसृष्टिः, अङ्गिमात्रस्य चमत्कारित्वे तु शुद्धध्वनिः,[1] अङ्गमात्रस्य चमत्कारित्वे तु अपराङ्गमिति विषयविभागः।

इत्थं रसाङ्गं रसादिकमुदाहृत्य वाक्यार्थस्याङ्गेऽनुरणनरूपे उदाहर्त्तव्ये वाच्यालङ्कारस्याङ्गं शब्दशक्तिमूलमनुरणनरूपमलङ्कारमाह—**जनस्थान** इति। दरिद्रस्योक्तिरियम्। तुल्यशब्दवाच्यतारूपसाधर्म्यात् मया रामत्वं प्राप्तं राम इवाहं जात इत्यर्थः। तुल्यशब्दवाच्यत्वरूपं साधर्म्यमाह—जनस्थान इति। कनकमयमृगस्य तृष्णया प्राप्तीच्छया अन्धितधिया रामेण जनस्थाननाम्नि दण्डकारण्यैकदेशे भ्रान्तं मया तु जनानां स्थाने कनकरूपया मृगतृष्णया मरीचिकया अन्धितधिया भ्रान्तम्; (B)कनके मृगतृष्णारूपणञ्च

(A) जनेति। व्याख्यातमिदमुद्द्योतकारैः—कस्यचिद् राजसेवानिर्विण्णस्य कवेरुक्तिः। मया रामत्वं रामधर्मः, तत् प्राप्तम्, कुशलं परिणामसुरसम् उद्वेगनिरासनिपुणं वा वसु धनं यस्य तद्भावः कुशलवसुता सैव कुशलवौ सुतौ यस्या इति व्युत्पत्त्या सीता सा तु नाधिगता। रामत्वं कथं प्राप्तं तदाह—कनकस्य मृगो मार्गणं प्रार्थना वा तत्र या तृष्णा कनके वा या मृगतृष्णा निष्फलाऽऽशा सैव कनकमृगे मारीचे तृष्णा तया अन्धिता धीर्यस्य तादृशेन मयेत्यर्थः। यद्वा अन्धितधिया करण(भूत)या जनानां स्थाने ग्रामनगरादौ भ्रमणमेव दण्डकारण्ये भ्रमणम्, तत् कृतम्। वै निश्चयेन देहीति वचनमेव वैदेहीति सीतासम्बोधनवचनम्, तत् प्रतिपदं प्रतिस्थानम् उद्गतमश्रु यत्र तद् यथा भवति तथा प्रलपितम्। भर्त्तुः भरणकर्त्तुर्धनिकस्य परिपाटीषु सेवारचनासु अलमत्यर्थं का घटना न कृता वद। अथवा काभर्त्तुः कुत्सितभर्त्तुः वदनपरिपाटीषु मिथ्याभाषणप्रकारेषु घटना उपपत्तिः, वदनपरिपाटीषु मुखविचलनादिषु तदाशयाद्युन्नयनार्थं घटना उपायो वा, स एव लङ्काभर्त्तुः रावणस्य वदनपरिपाट्यां (मुख)पङ्क्त्यामिषुघटना अलमत्यर्थं कृतेति श्लेषोपस्थापितानामभेदारोपाद् रामत्वोपपत्तिरिति।

(B) रामतर्कवागीशस्तु—'केचित्तु' इत्यनेन कनकइत्यादिसाधर्म्यादित्यन्तं ग्रन्थमुद्धृत्य तत्र 'तन्न, स्वरूपसतः कनकस्य बुद्ध्यन्धीकरणासम्भवात् तत्प्राप्तीच्छायां लक्षणाऽवश्यमङ्गीकार्या,

---

1. अतः परं ख-पुस्तके 'अङ्गस्य तु तत्र तद्व्यभिचारिभावरूपतया तद्बोधकत्वमात्रम्' इत्यंशोऽधिको दृश्यते।

अत्र [1]शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

दुष्प्राप[2]जलार्थिनो मृगतृष्णायामिव दुष्प्रापे कनकेऽपि प्रवृत्तेस्तादृशप्रवृत्तिविषयत्व-साधर्म्यात्[2]* । रामेण प्रतिपदं पदे पदे[3] उदश्रु यथा स्यात् तथा वैदेहीति वचः प्रलपितम् ; मया तु वै इत्यनेन सम्बोध्य कातर्यादुदश्रु यथा स्यात् तथा देहीति वचः प्रतिपदं प्रतिस्थाने प्रलपितम् । रामेण लङ्काभर्त्तू रावणस्य वदनानां मुखानां परि-पाट्यां पङ्क्तौ परिपाटननिमित्तं वा इषुघटना(A) कृता, मया तु भर्त्तुः प्रभोः परि-पाटीषु परिचर्यानिमित्तं का घटना अलम् अत्यर्थं न कृता तद् वद ; कुशलं दारिद्र्याप-नायकं वसु धनं यस्य तथाता मया तु नाधिगता, रामेण तु कुशलवौ सुतौ यस्याः सा सीता प्राप्तैव इति तु-शब्दलभ्योऽर्थः । अत्रेति । 'उपमानोपमेयभावः' उपमा, रामत्व-प्राप्तिव्यङ्ग्या ; 'वाच्याङ्गतां' 'वाच्यस्य व्यतिरेकालङ्कारस्य'[4]* (B)अङ्गतां प्रकर्षकताम् कविना नीत इत्यर्थः । व्यतिरेकालङ्कारोऽत्र अप्राप्तकुशलवसुताकस्य उपमेयस्य दरिद्रस्य प्राप्तकुशलवसुताकात् रामादुपमानाद् आधिक्यरूपो नञा वाच्यः, आधिक्यञ्च प्रतिपाद्यस्य विषादस्याधिक्यात्(C) । उपमानोपमेयभाव इत्युपलक्षणम्, रामरूपकमपि

एवञ्च तत्र निरुक्तसाधर्म्यासम्भवाद् रूपकासङ्गते'रिति दूषणमाह । अत्र तत्सम्मतं व्याख्यानन्तु—'कनकस्य मृगतृष्णाभ्यामन्वेषणप्राप्तीच्छाभ्यामन्धितधिये'ति ।

(A) लङ्काभर्त्तू रावणस्य वदनपरिपाटिनी कण्ठच्छेदिनी इषुघटना इति कर्मधारयोऽपि सम्भवतीति बोध्यम् ।

(B) अत्र दर्पणकाराः—'अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव रामत्वमवगम्यते, वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता तद्गोपनमपाकृतम् ; तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतया अङ्गतां नीत'मिति वदन्ति ।

प्रदीपकारास्तु—वाच्याङ्गभावेन शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमस्य गुणीभावे श्लोकमिममुदाहृत्य 'अत्र पादत्रयद्योत्याऽपि रामेण सहोपमा 'मयाऽऽप्तं' रामत्वमित्यनेन वाच्यतां नीता, तदङ्गं च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो द्वितीयोऽर्थः' इत्युपपादयन्ति ।

(C) विषादस्याधिक्यादिति । 'उपमानान्न्यूनताऽथवे'त्युक्तवतां दर्पणकृतां मते तु अत्र उपमेयस्य दरिद्रस्य प्राप्तकुशलवसुताकाद् रामादप्राप्तकुशलवसुताकत्वरूपन्यूनतोक्त्या द्वितीयो व्यतिरेकभेदः साधु सङ्गच्छते इति बोध्यम् ।

---

1. 'शब्दशक्तिमूलोऽनु-' इति पाठान्तरम् । 2. '-र्थिनः···कनके च सुप्रापकत्वभ्रमविषयत्व-रूपसादृश्यात्' ख । 3. अतः परं ख-पुस्तके 'स्थाने स्थाने' इत्यधिकं दृश्यते । 4. 'वाच्यस्य कुशलवसुताऽप्राप्त्या प्राप्ततत्कात् रामाद्व्यतिरेकरूपस्य अलङ्कारस्य' क ।

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः(A) ॥ १२८ ॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरवि-कमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

तादृशं बोध्यम् । यद्यपि उपमानोपमेयभावो व्यतिरेकालङ्कारशरीरनिर्वाहक एव, तथाऽपि बहुविशेषणनिर्वाह्यत्वे सति वैचित्र्याधिक्यात् प्रकर्षकोऽपीत्यवधेयम् ।

[1]अर्थशक्त्युत्थमनुरणनरूपमलङ्कारमपि वाच्याङ्गमाह[1]*—आगत्येति । प्रातर्मानिनीं प्रति नायकस्योक्तिरियम् । हे तन्वङ्गि, सहस्ररश्मिः सूर्यः सम्प्रति आगत्य एतामम्भोजिनीं पादेन रश्मिना पतनेन प्रभाते शनैः प्रसादयति एतत् पश्य । कीदृशः? क्वचिदपि द्वीपान्तरे क्षपितरात्रिकः । अम्भोजिनीं कीदृशीम्? सूर्यवियोगेन विसंष्ठुलाङ्गीं व्याकुलाङ्गीम्, अङ्गमत्र पुष्पमेव । (B)अत्रेति, नायकेत्यत्र एकशेषः नायिकानायकवृत्तान्त इत्यर्थः । स च क्वचिदपि नायिकागृहे क्षपितरात्रिको नायकः प्रातरागत्य वियोगविसंष्ठुलाङ्गीं नायिकां पादपतनेन शनैः प्रसादयतीत्येवंरूपः । वस्तुरूप इति । [2]समासोक्तिरूपस्याप्यस्य वस्तुत्वानपायादित्युक्तम्,

---

(A) आगत्येति । अत्रोक्तं बालबोधिन्याम्—'विनैवानुनयमपगतमाना नायिका सख्या उपालभ्यते । तथाहि—सहस्ररश्मिरित्यनेन बहुनायिकावत्त्वं ध्वन्यते । अम्भोजिनीमित्यनेन वर्ण्यायाः पद्मिनीत्वम्, क्वचिदपि इत्यनेन उपनायिकागृह एवेति निश्चयाभावः, तत्रापि यामत्रयमेव न त्वधिकमिति । एवञ्च ईदृशोऽपि ईदृशीं स्वयमेवागत्य पादपतनेनानुनयति, ईदृशो हि कामिनो-र्व्यवहारः ; त्वं पुनर्बहुतरकालं परनायिकासक्ते धूर्त्ते विनैवानुनयं मानं त्यक्त्वा प्रसन्नाऽसीत्युपालम्भः । एवञ्च नायकनायिकावृत्तान्तकथनमेवाभिप्रेतम् । स च वृत्तान्तो व्यज्यमानो वाच्ये रविकमलिनीवृत्तान्तेऽभिन्नतया चारोप्यमाणस्तस्य प्रकृतार्थतां सम्पादयन् तदुत्कर्षमाधत्ते इत्यङ्गतयैवास्ते । अयमेव समासोक्त्यलङ्कार इत्युद्द्योतादौ स्पष्टम्' इति ।

(B) अत्र प्रदीपकाराणामुपपादनप्रकारस्तु—'अत्रार्थशक्तिमूलो नायकनायिकावृत्तान्तो

---

1. 'अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपं व्यङ्ग्यमप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारं वाक्यार्थीभूतवस्तुनोऽङ्गमाह' घ । 2. 'अत्र वस्त्वलङ्कारयोर्भेदकथनानुपयोगादलङ्कारस्यापि वस्तुत्वानपायात् समासोक्त्यलङ्काररूप इत्यर्थः, अप्रकृतकथनेन प्रकृतस्य व्यङ्ग्यस्य समासोक्तित्वात्' ख ।

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२६॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्।

अवस्तुरूप इत्येवम् अकारप्रश्लेषो वा[2]*। निरपेक्षेति नायकवृत्तान्तरूपव्यङ्ग्यनिरपेक्ष-त्यर्थः, तदन्वयं विनैव वाच्य-रविकमलिनीवृत्तान्तप्रतीतेः। अनेन व्यङ्ग्यप्रतीतिसापेक्ष-वाच्यप्रतीतेर्वक्ष्यमाणवाच्यसिद्ध्यङ्गाद्व्यवच्छेदः कृतः। अध्यारोपेणेति रवि-कमलिनीवृत्तान्त एव नायक इत्येवमध्यारोपेण स्थित इत्यर्थः। रविकमलिनीवृत्ता-न्तस्य मानिन्यां प्रदर्शनानुपयोगेन नायकवृत्तान्तारोपेणैव तदुपयुक्ततारूपः प्रकर्ष इत्यतोऽङ्गमित्यर्थः। अगूढे वाच्यतुल्यचमत्कारित्वेन अपराङ्गे तु स्वचमत्कारस्य परार्थतया वाच्यादनतिशयो बोध्यः।

(३) वाच्यसिद्ध्यङ्गमाह—वाच्यसिद्धीति। [1]आपाततः प्रतीतस्य वाच्यार्थस्य प्रतिसन्धीयमानानुपपत्तिनिरासकं व्यङ्ग्यं वाच्यसिद्ध्यङ्गम्[1]*। भ्रमिमिति। अप-कारकत्वेन श्यामत्वेन च जलद एव भुजगः, तज्जन्यं प्राकरणिकं जलमत्र विषम्, 'विषमप्सु च' इत्यमरकोषात्। तच्च जलं वियोगिनीनां भ्रम्याद्यष्टकं करोतीत्यर्थः वृष्टिजलस्य वियोगोद्दीपकत्वात्। प्रलयं नष्टचेष्टताम्। तमः चक्षुषि तिमिरम्। अत्रेति(A), अनेकार्थस्य विषशब्दस्य प्रकरणेन जले वाचकत्वे नियमनात् हालाहलं

वाच्यरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेण तदङ्गतयैव स्थितः; समासोक्तौ 'उपोढरागेण विलोल' इत्यादौ सर्वत्र प्रतीयमानार्थोपस्कृतवाच्यस्यैव प्राधान्यात्। अयं च पादपतनेनेति श्लिष्टशब्द-सद्भावेऽपि न शब्दशक्तिमूलत्वेन व्यपदेश्यः किन्त्वर्थशक्तिमूलत्वेन, प्राधान्येन व्यपदेश इति न्यायात्; तद्वार्तिकेणापि नायकनायिकावृत्तान्तव्यक्तिसम्भवाच्च। न चोपमाऽत्र व्यङ्ग्या 'उल्लास्य काल-' इत्यादिवत् श्लेषाभावात्। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वम्, रविकमलिनीवृत्तान्तस्यै-तन्नैरपेक्ष्येणैव सिद्धेः' इति।

(A) अत्र प्रदीपकाराणां वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वोपपादनप्रकारस्तु—अत्र हालाहलरूपो विषशब्दार्थो व्यङ्ग्यः, जलेऽभिधानियमनात्; स च जलदभुजगेति रूपणस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोति, अन्यथो-पमासन्देहसम्भवात्' इति। तथा चन्द्रिकाकारा अपि—अत्र अप्रकृतत्वेन व्यङ्ग्यं हालाहलं जलद-भुजगेति रूपकस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्, अन्यथा जलदस्य भुजगत्वायोगेन भुजग इव जलद

---

1. 'प्रथमं जनितान्वयबोधस्य वाक्यस्यार्थे पश्चादनुपपत्त्यवतारे तादृशानुपपत्तिनिरासकं यत्तस्यैव व्यङ्ग्यं तद् वाच्यसिद्ध्यङ्गम्, तादृशव्यङ्ग्यवत् काव्यमपि तन्नामकम्' च।

यथा वा—

> **गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते**
> **किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।**

व्यङ्ग्यमेव, तच्च आपाततः प्रतीयमानस्यापि जलदे भुजगरूपणस्य वाच्यस्य प्रतिसन्धीयमानानुपपत्तिनिरासकृत् । तथाहि [1]प्राकरणिकतया विषशब्दवाच्यजले भुजगजन्यत्वबाधेन भुजगरूपणस्य वाच्यस्य प्रतिसन्धीयमानानुपपत्तिः, जले हालाहलरूपणेन व्यङ्ग्येन तु तदनुपपत्तिनिरसनात् तत्सिद्धिः(A), हालाहलस्य भुजगजन्यत्वेनानुपपत्त्यभावात् । न च 'विद्वन्मानसहंसे'त्यत्र यथा मनसि मानससरोवररूपणं राज्ञि हंसरूपणसिद्धिकृत्त्वेन परम्परितरूपकं तद्वदत्रापि जले हालाहलरूपणस्य भुजगरूपणसिद्धिकारित्वेन परम्परितरूपकत्वं स्यादिति वाच्यं तत्रोपायभूतरूपकस्यापि प्राकरणिकत्वेन वाच्यत्वम्, अत्र तु अप्राकरणिकत्वाद् व्यङ्ग्यत्वमिति भेदात्[1]* ।

उदाहरणान्तरप्रदर्शनबीजं स्वयमेव प्रदर्शयिष्यन्नाह—**यथा वेति । गच्छामीति ।**

इति पूर्वपदार्थप्रधानोपमितसमासाश्रयणेनोपमालङ्कारापत्तेः ; व्यङ्ग्याभिन्नत्वेनाध्यवसिते तु जलदे भुजगत्वोपपत्तेरुत्तरपदार्थप्रधानरूपकसिद्धिः' इति वदन्ति ।

(A) तत्सिद्धिरिति वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वसिद्धिरित्यर्थः ।

---

1. 'जले रूप्यमाणव्यङ्ग्यं हालाहलं विना शुद्धजलस्य भुजगजन्यत्वबाधेन जलदे भुजगरूपण एव प्रतिसन्धीयमानाया अनुपपत्तेर्जले हालाहलरूपणेनैव निरासात्, हालाहलस्यैव भुजगजन्यत्वेनानुपपत्तिनिरासात् । न त्वत्र विषशब्दस्य हालाहले प्रसिद्धत्वादसौ वाच्यार्थ एव तत् कथं व्यङ्ग्यम्, अत एव न निहतार्थत्वदोषो वेति चेन्न, प्रसिद्धिवशादुपस्थितस्यापि तस्य तदिष्टप्रकरणवशाद्बाधेन जले एव प्रकरणेन नियन्त्रिते वाचकत्वे अनेकार्थविषशब्दार्थस्य तस्य व्यङ्ग्यत्वस्यैव प्राक् प्रतिपादितत्वात् । निहतार्थदोषस्तु श्लेषादौ नास्त्येवेति वक्ष्यते । अत्र वाच्यरूपकसिद्धिकृत् रूपकमपि वाच्यम्, तत्र वक्ष्यमाणं परम्परितरूपकमेव ; विद्वन्मानसेत्यत्र राज्ञि हंसरूपणस्य वाच्यस्य वाच्यस्य(?) सिद्धित्वात् मनसि मानससरोवररूपकं वाच्यमेव हंससरसोर्द्वयोरपि प्रथममेव बोधे तात्पर्येण वाच्यत्वात्, तादृशतात्पर्याभावे मनसि हंससाधर्म्यस्य प्रथममेव स्फुरणादापाततः प्रतीयमानत्वाभावात्' ख । ग-चिह्नितपुस्तकन्तु अत्र खण्डितम् । 'जलधाराज्जलदे (न च मेघजले ?) भुजगजन्यत्वाभावेऽपि जलदे तदभिन्नत्वबोधे सति जलदजन्यत्वं तत्रास्तीत्यतः कथमनुपपत्त्यवतार इति वाच्यम्, अन्वयानुयोगिषु रूपमाणप्रतियोगिकस्यैवान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । अत एव 'सौभाग्यं वितनोतु वक्त्रशशिनो-ज्योत्स्नेव हासद्युति'रित्यत्र हासद्युतेः शशिन्यनन्वयात् रूपकासम्भवादुपमासमासमेव स्वीकरिष्यत्यग्रे । ननु विद्वन्मानसहंसेत्यादौ तु प्रकृतरूपणोपायस्याप्रकृतरूपणस्य परम्परितरूपत्वं वक्ष्यते तत् कथमत्र भुजरूपणोपायस्य हालाहलरूपणस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति, चेन्न, अत्र हालाहलरूपणस्यापि प्रकृतत्वादङ्गत्वाच्च । अत्र (तत्र ?) तु द्वयोर्वाच्यत्वादेव' घ ।

इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्
आश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥ १२७ ॥

अत्राऽच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य। एतच्चैकत्र एकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः।

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता
नादृष्टेन न दृष्टेन (A)भवता लभ्यते सुखम् ॥ १२८ ॥

इत्यामन्त्रणवाक्यस्य पूर्वार्द्धरूपस्य भङ्ग्या व्यङ्ग्यार्थेन सूचितो यो वृथाऽवस्थानखेदः तेन अलसां गोपीमाश्लिष्यन् अत एव पुलकोत्कराञ्चिततनुः हरिः वः पातु। पूर्वार्द्धस्य वाच्यार्थस्तु हे अच्युतनामक अहं गच्छामि, भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते? नैव; अपि तु स्वगार्हस्थ्योचितचेष्टयैव, प्रत्युत विजनस्थयोरावयोः अन्यथैव हतजनो दुर्जनः सम्भावयतीत्येवंरूपः। अत्र च यावद् व्यङ्ग्यार्थो न प्रतिसन्धीयते तावत् इत्यामन्त्रणेत्यादिवाक्यार्थः प्रतीयमानोऽपि प्रतिसन्धानात् अनुपपद्यमानतयैव भासते, व्यङ्ग्यार्थरूपा भङ्गिस्तु प्रतीता तदनुपपत्तिनिरासकृत्। स च व्यङ्ग्यार्थो यथा—हे अच्युत मद्विधनायिकादर्शनेऽपि धैर्यच्युतिरहित, भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते? नैव, अपि तु उपभोगेनैव; उपभोगे सति तु दुर्जनानामन्यथा सम्भावनाऽपि न दुःखाय, विदग्धजनस्य सम्भावना तु सुखायेत्येवंरूपः। उदाहरणान्तरप्रदर्शनबीजमाह—एतच्चेति। 'एकत्र' भ्रमिमरतिमित्यत्र, तत्र हि वाच्यव्यङ्ग्ययोरेकः कविर्वक्ता, 'तद्गतत्वेन' तत्सम्बन्धित्वेन, 'अपरत्र' गच्छामीत्यत्र, तत्र हि वाच्यार्थस्य वक्ता कविः, व्यङ्ग्यार्थस्य तु वक्त्री गोपीति [1]वाच्यसिद्ध्यङ्गे वाच्यसाधकत्वेन परार्थतया वाच्यादनतिशयो बोध्यः[1]*।

(४) अस्फुटमिति विदग्धैरपि क्लेशगम्यत्वं तत्त्वम्। अदृष्ट इति। अत्र भवता सुखमेव न लभ्यते इत्येव व्यङ्ग्यमक्लेशगम्यम्, दर्शितं तु विवक्षितं व्यङ्ग्यं विदग्धैरपि क्लेशगम्यमेव। क्लिष्टं श्लिष्टमिति पुस्तकभेदेन पाठविकल्पः, क्लेशगम्यमित्येव तु सर्व-

---

(A) भवता इति हेतौ तृतीयेति उदाहरणचन्द्रिकाकारादयः।

---

1. 'वाच्यसिद्ध्यङ्गस्य वाच्यार्थसिद्धिमात्रेण स्वातन्त्र्याभावात्, परमुखनिरीक्षकत्वेन वाच्यादनतिशयित्वं बोध्यम्' ख।

अत्राऽदृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम्।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥१२९॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचन-व्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः।

स्यार्थः। [1]चित्रकाव्यस्यास्फुटाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च अस्फुटव्यङ्ग्यवत्त्वाविशेषेऽपि चित्रे स्फुटालङ्कारवत्त्वम्, अस्फुटे तु गुणीभूतव्यङ्ग्ये न तथेति भेदः। न च तर्हि चित्रं कथं गुणीभूतरूपादितोऽधमं प्रागुक्तं सङ्गच्छते इति वाच्यम्, अत्रास्फुटस्यापि व्यङ्ग्यस्य चमत्काराधिक्यम्, चित्रे तु स्फुटालङ्कारवशादेव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारतिरोधानादधमत्वमित्यभिप्रायात्[1]* क्लेशगम्यत्वादेवात्र वाच्यादनतिशयो बोध्यः।

(५) सन्दिग्धेति। प्राधान्यमत्र रसादिव्यञ्जकत्वेन। तथाच प्रतीतस्य रसादेर्व्यञ्जकं किं वाच्यं व्यङ्ग्यं वेति औत्तरकालिकसन्देहविषयत्वं तत्त्वम्। हरस्त्विति। कुमारसम्भवे आकालिके वसन्ते जाते सर्वेषामेव कामभावोद्गमे हरस्यापि किञ्चित् [2]तथात्ववर्णनमिदम्। चन्द्रोदयस्य आरम्भे उत्पत्तिदशायाम्। अत्रेति, महेशशृङ्गारव्यञ्जकत्वात् प्रधानम्। न च द्वयमेव तद्व्यञ्जकत्वात् प्रधानमित्यतस्तुल्यप्राधान्यमेव अस्त्विति वाच्यम्, धैर्यपरिवृत्तेः किञ्चित्त्वेन चुम्बनेच्छापर्यन्तायास्तस्या निश्चेतुमशक्यत्वात्, दर्शनादेव विरतिसम्भवात्[2]*। तथाच व्यङ्ग्यसंशयाधीन एव तत्प्राधान्यसंशय इति बोध्यम्। अत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोर्द्वयोरपि प्राधान्यस्य संशयितत्वाद् वाच्यादनतिशयः[3]।

---

1. 'स्फुटव्यङ्ग्यरहिते चित्रे तु स्फुटालङ्कारसत्त्वादितो भेदः। तर्हि कथमितोऽधमं तदिति चेत् क्लेशगम्येनापि व्यङ्ग्येनात्र चमत्कारस्तत्र तु न, स्फुटालङ्कारतिरोहितत्वादतोऽधमत्वम्' क। 2. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति। ग-पुस्तकन्तु अत्र खण्डितम्। 3. अतः परं क-पुस्तके 'वाच्यस्य निश्चितत्वेऽपि तत्प्राधान्यस्य संशयितत्वादेव' इत्यंशोऽधिको दृश्यते।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये
[1]जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्त्रियाणामिव रक्षसां क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्।

काकाक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।

---

(६) तुल्यप्राधान्यमिति। अत्रापि रसादिव्यञ्जकतयैव प्राधान्यम्। ब्राह्मणेत्यादि। दिग्विजये परशुरामं जिगीषुं रावणं प्रति तत्त्रासजनकं मन्त्रिवाक्यमिदम्(A)। भवतामेव भूतये, न तु स्वार्थं ब्रवीमीत्यर्थः। तथेति ब्राह्मण इत्यर्थः। मित्रञ्चेति चार्थोऽत्र बोध्यः। अन्यथेति अतिक्रम इत्यर्थः। दुर्मनायते इति भविष्यत्सामीप्ये वर्त्तमाना। अत्रेति, '[2]वाच्यस्य' मित्रब्राह्मणदौर्मनस्यस्य। समं प्राधान्यमिति द्वयोरपि असंशयितत्वेन त्रासरूपव्यभिचारिभावव्यञ्जने द्वयोः साम्यात्, शापपापोत्पादकत्वेन हि वाच्यात् त्रासः, दर्शितव्यङ्ग्यात्तु साक्षात् त्रासः ; [3]स च व्यञ्जनया सामाजिकबोध्यः[3]*। अत्र प्राधान्यसाम्यादेव वाच्यादनतिशयः।

(७) काक्वेति। आक्षिप्तत्वं [4]सहसा बोधत्वम्। तथाच शाब्दबोधतः प्रागेव पदार्थविधया [5]उपस्थितिः। मथ्नामीति। सहदेवं प्रति सन्धिकरणासहिष्णो-

---

(A) ब्राह्मणेति। महावीरचरिते द्वितीयेऽङ्के रावणमुद्दिश्य परशुरामप्रेषितपत्रस्थतया पद्यमिदमुपलभ्यते, अतो दिग्विजय इत्यादिकं टीकाकृद्वाक्यं साहित्यदर्पणटीकायामप्येतत्समानार्थकं रामचरणतर्कवागीशवाक्यञ्च सन्दिग्धप्रामाण्यकमिति मन्तव्यम्। अत्र श्लोके 'भवतामेव न तु ब्राह्मणानाम्, जामदग्न्ये जीवति तेषामनिष्टस्यासम्भवादिति भावः। भवतामेवेति बहुवचनेन सकलसभ्याऽऽक्षेपः। अन्यथा ब्राह्मणातिक्रमस्यात्यागे तथा तादृशं जन्मनः प्रभृति सकलरहस्यवेदीत्यर्थः (एतेन सत्यामपकारेच्छायां तत्साधने प्रयासापेक्षा नास्तीति सूच्यते) इत्युदाहरणचन्द्रिकायां विशेषः। 'दुर्मनायते इति गम्भीरोक्त्या चमत्कारित्वात् विग्रहवत् सन्धेरपि विवक्षितत्वाच्च' इति प्रदीपः।

---

1. 'जामदग्न्यश्च वो' इति पाठान्तरम्। 2. 'त्रासं जनयित्वाऽकार्यतो निवर्त्तनीयमिति हि नीतिः, त्रासजनकत्वेनैवात्र चमत्कारः; त्रासस्तूक्तव्यङ्ग्येनेव मित्रब्राह्मणातिक्रमेणापीति प्राधान्यग्रहतुल्यता' घ। 3. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति। 4. 'सह बोधत्वम्' ख। 5. 'उपस्थाप्यत्वमित्यर्थः' ख।

संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू

सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ १३१ ॥

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम्।

असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणंतीए।

घरकम्मवावडाए वहुए सीअन्ति अंगाइं ॥ १३२ ॥

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम्।

भीमस्योक्तिरियम्। मथ्नामीत्यादौ सर्वत्र भविष्यत्सामीप्ये वर्त्तमाना, मथिष्यामीत्याद्योऽर्थाः। उरस्तः हृदयात्। सुयोधन इति दुर्योधनस्य अपरं नाम। भवतां नृपतिरित्यनेन स्वानभीष्टसन्धिकरणात् स्वनृपतित्वाभावसूचनम्। अत्र कृतकौरवशतवधादिप्रतिज्ञस्य भीमस्य न मथिष्यामीत्युक्तिर्बाधितार्था, अतोऽत्र शिरश्चालनसहकृता काकुः प्रतीयते, तया च 'न न मथिष्यामी'त्यादिरीत्या अपरनञर्थ आक्षिप्यते। तथाच नञर्थद्वयेन एवकारार्थः पर्यवस्यतीत्याह—**अत्रेति**। **मथ्नाम्येवेत्यादीति**, मथ्नाम्येवेत्यादेरेकदेश एकनञर्थ एव व्यङ्ग्यो बोध्यः, एकनञर्थस्य वाच्यत्वेन नञ्द्वयार्थात्मकस्य एवकारार्थस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात्। अत्र 'व्यङ्ग्यस्यापि नञर्थस्य वाच्यनञर्थसहभावेनैव उपस्थित्या'[1]* शाब्दबोधजननाद् वाच्यतुल्यत्वेन वाच्यादनतिशयो बोध्यः।

(८) **असुन्दरमिति**। रसादिबोधजनने [2]वाच्यसापेक्षव्यङ्ग्यत्वं तत्त्वम्। अत एवास्य वाच्यमुखनिरीक्षकत्वेन वाच्यादनतिशयो बोध्यः। एतदुदाहरणं ग्रामतरुणमित्याद्येव दर्शितम्। सौलभ्यात्तु तत्तुल्यमन्यदाह—**वाणीरेति**।

वाणीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।

गृहकर्मव्यापृताया बध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति संस्कृतम्।

अत्रेति। इति व्यङ्ग्यादित्यत्र इत्यादिव्यङ्ग्यादित्यर्थः। तथाच 'बधूश्च तत्र न गता' इत्येतत्पर्यन्ताद् व्यङ्ग्यादित्यर्थः। अयं भावः—बध्वा अगमनमात्रं न

---

1. 'वाच्येन नञर्थेनैव वाच्यव्यङ्ग्यनञर्थेनापि शाब्दबोधतः प्रागुपस्थितेन' ख। 2. 'वाच्यसाहाय्यसापेक्ष-' ख।

(६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

यथायोगमिति—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्(A) ॥

(ध्वन्यालोकः, उद्द्योतः २, श्लोकः ३०,)

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

तदीयविप्रलम्भव्यञ्जकम् अगमनस्य तस्या अकार्यत्यागेन गृहकर्मसमापनानन्तरं जिगमिषयाऽपि वा सम्भवात्, किन्तु शकुनिकोलाहलश्रवणेन सीददङ्ग्या बध्वा अगमनमेव तद्व्यञ्जकमिति वाच्याङ्गावसादसहकारेणैव रसव्यञ्जने वाच्यमुखनिरीक्षकत्वात् अस्वातन्त्र्येण वाच्यन्यूनचमत्कारीति । वाच्य उक्तहेतुकोऽङ्गावसादस्तु उक्तव्यङ्ग्यनिरपेक्ष एव रसव्यञ्जक इति सोऽधिकचमत्कारी, शकुनिकोलाहलस्योद्दीपकत्वेन तदधीनाङ्गावसादस्यैव व्यङ्ग्यनिरपेक्षस्य यथोक्तव्यङ्ग्यं विनाऽपि विप्रलम्भव्यञ्जकत्वात् ।

एषामिति उक्तद्विविधव्यङ्ग्यानामित्यर्थः । 'भेदाः' प्रभेदाः । पूर्ववदिति, ध्वनेर्यथा लक्षणादिमूलकत्वादिभेदेन एकपञ्चाशद्विधत्वम्, तथा एषामपि प्रत्येकमेकपञ्चाशद्विधत्वेन अष्टाधिकचतुःशतरूपत्वमित्यर्थः । तत्रैव कश्चिद् भेदो गुणीभूतो न सम्भवतीत्याह—यथायोगमिति, यथासम्भवमित्यर्थः । असम्भवस्थलं दर्शयति—व्यज्यन्त इति । 'ध्वन्यङ्गता' काव्यस्य ध्वनित्वनिर्वाहकता । 'काव्यवृत्तेः' तादृशकाव्यप्रवृत्तेः । 'तदाश्रयात्' ध्वनित्वाश्रयणात् । ननु किमत्र बीजमिति चेत् काव्यस्य चमत्कारस्तावत् व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यत्वेन अलङ्कृतित्वेन च, तत्र व्यङ्ग्यत्वेन चमत्कारस्य अगूढत्वादिना गुणीभावेऽपि अलङ्कृतित्वेन चमत्कारस्य अगुणीभाव एवेति बीजम्(B) । न चैवं शब्दशक्त्या अलङ्कारेण वा

(A) 'काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रया अलङ्कारप्रवणा' इत्यभिनवगुप्ताचार्याः ।

(B) अत्र प्रदीपकाराः—ननु यद्यलङ्कारापेक्षया वस्तुमात्रस्य नातिशयनियमस्तदा कथमलङ्कारेण वस्तुमात्रव्यञ्जने ध्वनित्वमिति चेदुच्यते—स एवार्थो वाच्यः सन् न तथा चमत्करोति यथा व्यङ्ग्यतामापन्न इत्यनुभवसिद्धम्, अतो वाच्यता अपकर्षहेतुर्व्यङ्ग्यता चोत्कर्षायेति स्थितम् । यत्र चालङ्कारेण वस्तुमात्रं व्यङ्ग्यं तत्रालङ्कारस्य वाच्यत्वेन किञ्चिदपकर्षाद् वस्तुमात्रस्य च व्यङ्ग्यत्वेन किञ्चिदुत्कर्षाद् युज्यत एव ध्वनित्वम्; यत्र तु वस्तुनाऽलङ्कारो व्यज्यते तत्र वस्त्व-

(६८) (A)सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः।

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः। तदुक्तं ध्वनिकृता—

स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा॥ इति

(ध्वन्यालोकः, उद्द्योतः ३, श्लोकः ४४)

व्यङ्ग्यस्यालङ्कारस्यापि तथात्वेन वस्तुमात्रेणेति मात्रपदेन कथं [1]व्यञ्जकालङ्कारव्यवच्छेदः कृत इति[1]* वाच्यं तत्र व्यञ्जकेन शब्दश्लेषालङ्कारेण वाच्यार्थालङ्कारेण च काव्यस्य चमत्कृतत्वात् [2]व्यङ्ग्यालङ्कारस्य वाच्यतुल्यचमत्कृतिप्रयोजकत्वेन [3]वाच्यादनतिशयाद् गुणीभावात्[3]*।

सालङ्कारैरिति, 'तैः' [4]गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदैः, 'सालङ्कारैः' चकारात् निरलङ्कारैश्च 'ध्वनेः' सङ्करादिचतुर्विधैः 'योग' इत्यर्थः। तेषां सालङ्कारेणापि प्रभेदवृद्धिप्रदर्शनार्थं सालङ्कारैरित्युक्तम्। सालङ्कारता च स्फुटालङ्कारवत्ता, तेन निरलङ्कारताऽस्फुटालङ्कारवत्तैव, अलङ्कारमात्राभावे सालङ्कारत्वघटितकाव्यलक्षणानुपपत्तेः। स्फुटालङ्कारवत्त्वमपि अस्फुटप्रख्यं (-टाख्यं ?) प्रभेदं विहायैव बोध्यम्, तस्य स्फुटालङ्कारवत्त्वे चित्रकाव्यत्वापत्तेः। अयमेव हि चित्रास्फुटयोर्भेदः प्राग् दर्शितः[4]*। **अलङ्कारयुक्तैरिति**, इयं 'सालङ्कारै'रित्यस्य व्याख्या। 'अलङ्कारै'रिति तु अर्थवशलभ्यं व्याख्यातम्, अपराङ्गस्य रसवदाद्यलङ्काररूपत्वात्, **स गुणीति**। स ध्वनिः स्वैः प्रभेदैः गुणीभूतव्यङ्ग्यैश्च सहेत्यर्थः।

लङ्कारयोर्वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वाभ्यामतिशयेनैवोत्कर्षापकर्षाविति कुतो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वावकाशः। इदन्तु चिन्त्यम्, एवं चारुत्वाभावनिबन्धनं गुणीभूतत्वं मा भूत्, अगूढत्वादिनिबन्धने तु तस्मिन् को वारयितेति।

(A) अस्य प्रदीपकारकृतं व्याख्यानन्तु 'सालङ्कारैरिति विभिन्नार्थैकरूपनानाशब्दैकशेषः, एकत्रालङ्कारपदस्य भावप्रधानत्वात्। (अयम्भावः एकशेषे अलङ्कारपदमलङ्कारत्वपरं तत्सहितः अलङ्कार एवेति सालङ्कारपदमेव अलङ्कारं बोधयति इत्येकत्र, अन्यत्र सालङ्कारपदम् अलङ्कारसहितार्थकमिति सरूपाणामिति सूत्रेण एकशेष इति) तथाच तैरेवालङ्कारैरलङ्कार-

---

1. 'तद्व्यावर्त्तनमिति' क। 2. 'व्यङ्ग्यनिष्ठस्यालङ्कृतित्वस्य वा' क। 3. 'गुणीभूतत्वमितत्रभिप्रायात्' क। 4. 'गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैश्चेतरार्थः। तेन निरलङ्कारैस्तैश्च ध्वनेर्योगाद् यथा प्रभेदवृद्धिस्तथा सालङ्कारैरपि तैः प्रभेदान्तरवृद्धिरिति दर्शितम्' क।

(६६) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्याऽतिभूयसी ॥४७॥

एवम् अनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम्।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि—किञ्चि[1]द्वाच्यतासहं किञ्चित्त्वन्यथा,(A) तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रं विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथाऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते, तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे(B) तस्याप्रतिपत्तेः, तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां

सङ्कलनेन पुनरिति। गुणीभूतव्यङ्ग्यमपि न पृथक्, किन्तु व्यङ्ग्यवत्काव्यमेव ध्वनिरिति सङ्कलनम्। त्रिरूपत्वादिति वाच्यतासहस्य वस्त्वलङ्काररूपत्वाद् द्वैविध्यं वाच्यताऽसहन्त्वेकमिति त्रिरूपत्वम्। वाच्यतासहमिति, व्यङ्ग्ययोर्वस्त्वलङ्कारयोर्वाचकेन शब्देनापि तत्रैव काव्ये वक्तुं शक्यत्वात्। किञ्चित्तु अन्यथेति रसादिलक्षणस्यार्थस्य तत्काव्यस्थशब्देनोक्तौ तु रसादित्वमेव न तस्य सम्भवतीति स्वयमेव व्याख्यास्यति। यद्यपीत्यादेरर्थः प्रागेव व्याख्यातः। स हीति, 'रसादिशब्देने'त्यत्र तत्काव्यस्थेनेति शेषः। 'तत्प्रयोगे' तत्काव्यमध्ये तत्प्रयोगे।

सहितैश्च तैरित्यर्थः। तेन ध्वनिना गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारेण च ध्वनेर्योग इति पूर्वापराभ्यामुक्तं भवति' इति।

(A) अन्यथेति वाच्यताऽसहमित्यर्थः।

(B) तस्याप्रतिपत्तेरिति। रसादिपदप्रयोगे स्वशब्दवाच्यतादोषोऽप्युद्द्योतकारैरुक्तः। तथाहि "अभिधानस्य च तादृशे विषये दोषतां वक्ष्यतीत्यपि बोध्यम्। पूर्वं विभावादिभिर्व्यञ्जितस्य रसस्य क्वचिद् रसादिपदेनानुवादे तु न दोषः; यथा—शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रमित्यादौ। यद्यपि वस्त्वलङ्कारयोरपि वस्त्वलङ्कारपदाभ्यामभिधानेऽपि न

---

1. '-द्वाच्यतां सहते' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः।

विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयत इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव, (A)मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः।

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्। शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम्।

तेनासौ व्यङ्ग्य एवेति, अनेन वाच्यतामात्रनिरासः साक्षात्कार्यत्वन्तु सिद्धान्तितमेवेति बोध्यम्। नन्वेवं रसादिरूपविषयनियन्त्रितैव व्यञ्जनावृत्तिरस्तु नान्यविषयेत्यत आह—अर्थान्तरेति। प्राक् प्रतिपादितमिति, यस्य प्रतीतिमाधातुमित्यादिना नाभिधा समयाभावादित्यादिना एवमप्यनवस्था स्यादित्यादिना चेत्यर्थः। ननु तथाऽपि शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना नाद्रियतामित्यत आह—शब्दशक्तिमूले त्विति। अनभिधेयस्येति अभिधामात्रेण प्रतिपादयितुमशक्यस्येत्यर्थः, केवलाया अभिधाया प्रकरणादि[1]कुण्ठितत्वादिति भावः। व्यञ्जनासहकारेणाभिधायास्तु तद्बोधकत्वमस्त्येवेति बोध्यम्। [2]तेन सहेत्युपमाध्वनौ बोध्यम्[2]*। निर्विवादमिति [3]शक्तिमात्रजन्यबोधादस्य बोधस्य वैलक्षण्यानुभवेन निर्विवादमित्यर्थः[3]*। ननु

चमत्कारस्तथाऽपि पदसमन्वयबलेन प्रतीतानां चमत्कारित्वमस्त्येव। रसादीनां तु नैवम्, विभावादिमुखेन प्रतीतानामेव चमत्कारित्वादिति भावः" इति।

(A) मुख्यार्थबाधाद्यभावादिति। अयमर्थः—आक्षेपसमाधानाभ्यामुपपादित उद्द्योतकारैः। तथाहि "ननु यष्टीः प्रवेशयेत्यादाविव तात्पर्यविषयानुपपत्त्या लक्षणाऽस्त्वित्यत आह—आदीति। अतात्पर्यविषयस्यापि रसस्य प्रत्ययात्, रसस्य स्वप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिरूपत्वेन तस्मिन् लक्ष्ये प्रयोजनान्तरासम्भवात्, विभावादिवाचकेषु पदेषु कुशलादिपदवत् प्रसिद्ध्यभावेन रूढ्यसम्भवेन च न लक्षणेति भावः। प्रयोजनादिकं विना तु न लक्षणा, तस्या हेतुत्रयसापेक्षत्वनियमात्। तदन्तरेण भवन्ती वृत्तिस्तु व्यञ्जनैव, मात्सर्यमात्रात्तु लक्षणेत्युच्यते इति दिक्" इति।

---

1. 'प्रतिरुद्धत्वादिति' ख। 2. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति, ग-पुस्तकन्तु अत्र खण्डितम्। 3. 'यद्यपि प्रथमार्थबोधस्योत्तेजकत्वस्वीकारो द्वितीयार्थस्य व्यङ्ग्यत्वं निषिद्धवान्नातो विवादोऽस्त्येव, तथापि प्रतिबोध्यबोधाजनकस्य प्रतिबन्धकाविघटकस्य वा ज्ञानस्योत्तेजकत्वासम्भवेन निष्कम्पप्रवृत्तिजनकादभिधामात्रजन्यबोधादस्य वैलक्षण्यानुभवेन विलक्षणकार्यस्यास्य विलक्षणकारणजन्यत्वेन च व्यञ्जनारूपकारणसिद्धिरिति प्रागुक्तयुक्तिरेवाचेति भावः' ख।

अर्थशक्तिमूले [1]तु विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्य-रूपाणां पदार्थानामाकांक्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् परस्पर[2]संसर्गे यत्रापदार्थोऽपि [3]विशेषवपुर्वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे (A)का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्। येऽप्याहुः—

तथाऽपि अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना नाद्रियतां तदन्तिकमेव रन्तुमित्यादिबोधस्तु शक्त्यैवास्ताम्[4], न तु मानसस्तद्बोधः शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन शाब्दत्वात्; नापि लक्षणया तद्बोधः, मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। [5]न च श्रुतशब्दस्य तत्र शक्तिग्राहकाभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, अगृहीतयैव शक्त्या तद्बोधस्य स्वीकार्यत्वात्[5]*। न च तर्हि तत्र तादृशशब्दस्य शक्तौ किं प्रमाणमिति वाच्यम्, लक्षणया अजन्यः शाब्दबोधः शक्तिजन्य एवेति व्याप्तेरेव तत्र प्रमाणत्वादित्यत-स्तस्या व्याप्तेर्व्यभिचारमादौ नैयायिकमते[6] दर्शयति—**अर्थशक्तिमूले त्विति।** ननु शक्तिग्रहकालदृष्टव्यक्तिविशेष एव शक्तिग्रहः, तथाच शाब्दबोधविषये तद्भिन्नव्यक्त्य-न्तर एव व्यभिचारो दर्श्यताम्, किं संसर्गे व्यभिचारप्रदर्शनेनेत्यतस्तत्रापि शक्ति-र्गृह्यत एवेत्यतो न व्यभिचारः, किन्तु तदीयसंसर्ग एव व्यभिचार इति दर्शयति—**विशेषे सङ्केत** इति। 'विशेषे' शक्तिग्रहकालदृष्टमात्रव्यक्तिविशेषे। **न युज्यते** इति आनन्त्यव्यभिचाराभ्यामिति भावः। 'सामान्यरूपाणां' सामान्यधर्मावच्छिन्ना-नाम्, तथाच सामान्यलक्षणयैव समस्तव्यक्तिषु शक्तिग्रह इत्यभिप्रायः। [7]'परस्पर-संसर्गे' इत्यत्र भासमानतया तैरभ्युपगत इति शेषः[7]*। 'यत्र' नैयायिकमते, 'अप-दार्थः'' पदाशक्यः, 'विशेषवपुः' संसर्गरूपः, 'वाक्यार्थः' वाक्येनैव प्रतिपाद्यः। तथाच अशक्ये तत्रैव तद्व्याप्तेर्व्यभिचारोऽनेन दर्शितः। 'का वार्त्ता' कः प्रसङ्गः।

(A) का वार्त्तेति। विस्तारितोऽयमर्थः प्रदीपकारैः। तथाहि "अर्थशक्तिमूलेऽप्येवमङ्गी-कर्त्तव्यम्, यतः पदेभ्यः प्रथमं पदार्थस्मृतिः, अथ पदार्थविशेषाणामन्वयविशेषरूपस्य वाक्यार्थस्य प्रत्ययः, ततो व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति तृतीयकक्षायां कुतोऽभिधायाः प्रसरणम्, द्वितीयकक्षायामेव तदनपेक्षणात्। यतोऽभिहितान्वयवादेऽशक्य एवान्वय आकाङ्क्षादिवशेन प्रतीयते, शब्दबुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति च सर्वसिद्धम्" इति। व्याख्यातं चैतदुद्द्योते—"विशेषरूपस्य

---

1. 'ऽपि' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 2. '-संसर्गो' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 3. 'विशेषरूपो' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 4. अतः परं क-पुस्तके 'सा च तदर्थऽगृहीतैव बोधिका' इत्यधिकं दृश्यते। 5. अयमंशः क-पुस्तके नास्ति। 6. अतः परं ख-पुस्तके 'पदार्थसंसर्गे' इत्यधिकं दृश्यते। 7. 'एतेषां परस्परसंसर्गेऽर्थाद्भासमाने' ख।

(१) शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥(A)

इत्थं नैयायिकमते तद्व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शयित्वा संसृष्टपदार्थशक्तिवादिनां मीमां-

गवान्वितकर्मत्वादिरूपस्य। तदनपेक्षणादिति वाक्यार्थस्यापदार्थसंसर्गरूपस्य अपूर्वत्वेन अनभिधेयत्वे कथं व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमिति भावः। तदेवोपपादयति—यतोऽभिहितेति। एवं च अपूर्वत्वाद्वाक्यार्थ इव व्यङ्ग्यार्थेऽपि सङ्केतग्रहो न सम्भवतीति भावः। परमार्थस्तु "अयं भावः—यन्मते वाच्यार्थबोधविषयीकृतमपि संसर्गं शक्योपस्थापनपरिक्षीणशक्तिरभिधा नाव-भासयतीति तदर्थं तात्पर्यवृत्तिरवलम्ब्यते, तन्मते वाक्यार्थबोधोत्तरकालिकायां व्यङ्ग्योपस्थितौ नैवाभिधाप्रभाव इति किमु वक्तव्यम्" इति बालबोधिन्याम्।

(A) शब्दवृद्धेति। कारिकाद्वयस्य आकरो नाद्याप्युपलब्धः, सुगमतार्थं व्याख्यान्तराणि तूद्ध्रियन्ते। तत्र 'अत्र कारिकाद्वये प्रतिवाक्यं 'बालः' इत्यध्याहार्यम्। प्रत्यक्षपदमत्र करण-परम्। तथाच बालः 'शब्दवृद्धाभिधेयान्' शब्दः श्रूयमाणः 'देवदत्त गामानय' इत्यादिवाक्य-रूपः, वृद्धौ प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धौ, अभिधेयोऽर्थः गवानयनादिरूपः, एतान् 'प्रत्यक्षेण' प्रत्यक्ष-हेतुना श्रोत्रादिना 'अत्र' व्युत्पत्तिकाले 'पश्यति' साक्षात् करोतीत्यर्थः। तत्र श्रोत्रेण शब्दं चक्षुषा च वृद्धाभिधेयान् साक्षात् करोतीति भावः। एतेन प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धप्रयुज्यमान-शब्दगवानयनादिक्रियाणां प्रत्यक्षविषयत्वमुक्तम्। श्रोतुश्चेति, चकारः प्रतिपन्नत्वमित्यनन्तरं योज्यः। अनुमानपदमत्र करणल्युडन्तम्। 'श्रोतुः' प्रयोज्यवृद्धस्य 'प्रतिपन्नत्वं' वाक्यार्थाभि-ज्ञत्वं च (कर्म) 'अनुमानेन' अनुमितिकरणभूतया 'चेष्टया' गवानयनादिचेष्टारूपेण हेतुना पश्यतीति सम्बन्धः। 'पश्यति' जानाति अनुमिनोतीत्यर्थः। 'अयम् एतच्छब्दजन्यैतदर्थ-गोचरज्ञानवान् एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वात्, इत्यनुमानाकारः। चेष्टयेत्यत्रापि श्रोतुरित्यस्यान्वयो बोध्यः। अन्यथाऽनुपपत्त्येति अन्यथाऽनुपपत्त्या अर्थापत्त्या इत्यभेदान्वयः। अनन्तरं 'द्व्यात्मिकां' वाचकत्वं वाच्यत्वं चेति द्विविधां 'शक्तिं' सङ्केतापरनामकं वाक्यवाक्यार्थयोः सम्बन्धम्, अन्यथाऽनुपपत्त्या 'गामानयेत्यादिवाक्यश्रवणात् गवानयनाद्यर्थज्ञानम् एतद्वाक्ये-नैतदर्थस्य वाच्यवाचकभावसम्बन्धं विना अनुपपन्नम्' इत्यनुपपत्त्या (इत्यनुपपत्तिरूपया) 'अर्थापत्त्या' अर्थापत्त्याख्यप्रमाणेन (हेतुना) 'बोधेत्' जानीयादित्यर्थः। अन्ये तु—'द्व्यात्मिकाम्' आश्रयभूतस्य वाक्यस्य वाचकत्वम् विषयभूतस्यार्थस्य वाच्यत्वमेव द्वयम् आत्मा स्वरूपं यस्या-स्तथाभूतामिति, वाच्यवाचकरूपं द्वयम् आत्मा आत्मीयं प्रतियोग्यनुयोगिभूतं यस्यास्तादृशीमिति च व्याचख्युः। अनन्तरं च 'त्रिप्रमाणकम्' उक्तरीत्या प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयाधिगतं 'सम्बन्धं' सङ्केतम् अवबोधेत (आवापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य गौरेवार्थः, अम्-विभक्तेः कर्मत्वमिति रीत्या विशेषतः पदपदार्थनिष्ठतया) अवधारयेदिति कारिकाद्वयार्थ इति बालबोधिनीकाराः।

(२) अन्यथाऽनुपपत्त्या तु [1]बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्याऽ[2]वबुध्यन्ते संबन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥

सकानामपि मते तद्व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शयितुं(A) शक्तिग्रहप्रकारप्रदर्शिकां परकीय-

---

शब्दवृद्धेति । प्रत्यक्षपदं करणपरम् । तत्र श्रोत्रेण शब्दं पश्यति साक्षात्-करोतीत्यर्थः । तथा चक्षुषा वृद्धैरभिधेयान् गवानयनादींश्च साक्षात्करोतीत्यर्थः । श्रोतुः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नत्वं कार्यताज्ञानवत्त्वं चेष्टालिङ्गरूपेणानुमानेन अवबुध्येतेत्यग्रेतनेनान्वयः । अन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं विना कार्यानुपपत्त्या, द्वयात्मिकां कार्यकारणत्वरूपां शक्तिं बोधेत् जानीयादित्यर्थः । अर्थापत्त्या तदर्थसम्बन्धं विना वाक्यस्य तज्ज्ञानजनकत्वानुपपत्त्या सम्बन्धं वाच्यवाचकभावरूपम् अवबुध्येतेत्यर्थः सम्बन्धाभावे हि तद्वाक्यादर्थान्तरस्यापि बोधः स्यादित्यतिप्रसङ्ग इति भावः । त्रिप्रमाणकमिति, प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयमूलक-मित्यर्थः" इति प्रभा ।

"प्रतिपन्नत्वं प्रतिपत्तिर्ज्ञानमिति यावत् । अवबुध्येतेत्यग्रिमे णान्वयः । 'अनुमानेन चेष्टये'ति चेष्टारूपानुमितिजनकज्ञानविषयहेतुनेत्यर्थः । 'अन्यथाऽनुपपत्त्या' कारणं विना कार्यानुप-पत्त्येत्यर्थः । 'बोधे' बोधनिष्ठकार्यतानिरूपिताम्, 'द्वयात्मिकां' द्वयं कार्यं कारणं च आत्मा प्रतियोगी यस्यास्तां कारणत्वरूपां शक्तिं बुध्येतेत्यग्रिमेणान्वयः । बोधेदिति पाठे ज्ञान-निरूपितामिति शेषो बोध्यः । 'सम्बन्धं' वाच्यवाचकभावरूपम् । एवं शक्तिग्रहं त्रिप्रमाणक-माहुरित्यर्थः । अनुपपत्तिरर्थापत्तिरेव" इत्युद्द्योतः ।

"शब्दः गामानय इत्यादि वाक्यम्, वृद्धौ प्रयोज्यप्रयोजकौ, अभिधेयगवानयनादिरूपः संसर्गः । प्रत्यक्षेण तद्धेतुना चक्षुषा श्रवणेन च । अत्र व्युत्पत्तिकाले । पश्यति जानाति । श्रोतुः प्रतिपन्नत्वं ज्ञानवत्त्वम् । चेष्टया अङ्गक्रियया अनुमानेन अनुमितिकरणेन चेष्टया (चेष्टायाः ?) हेतोरित्यर्थः । अयम् एतच्छब्दजन्यैतदर्थगोचरज्ञानवान् एतच्छब्दश्रवणानन्तर-मेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वादित्यनुमानाकारः । चकारः प्रतिपन्नत्वमित्यनन्तरं योज्यः । श्रोतुः प्रतिपन्नत्वमपि जानातीत्यर्थः । अन्यथेत्यादि, द्वयोः वाक्यवाक्यार्थयोः आत्मा स्वरूपं यस्याः (इति) शक्तिविशेषणम् आश्रयत्वेन शब्देषु विषयत्वेन च अर्थेषु वृत्तेः । अनुपपत्तिश्च शब्दादर्थ-ज्ञानं वृत्तिं विना अनुपपन्नम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । सा च शक्तिः स्वाभाविकसम्बन्धत्वा-(दित्या) द्याकारा । अर्थापत्त्या आवापोद्वापदर्शनसहकृतया, सा च आनयनाद्यन्विते गवि गोपद-शक्तिस्तदितराप्रतिपाद्यत्वे सति प्रतिपाद्यत्वरूपा । त्रिप्रमाणकं प्रत्यक्षमनुमानमर्थापत्तिश्चेति प्रमाणत्रयम्, अनुपपत्तेरपि अर्थापत्तिभेदत्वात् । सिद्धमतस्यानुवादोऽयम् । तदनुपपत्तिस्तत्-समर्थनं च अप्रकृतत्वान्नोद्भावित"मिति चक्रवर्ती । बालबोधिनीत उद्धृतमिदम् ।

(A) अतः परं क-पुस्तके 'शक्तिग्रहकालदृष्टायामेव संसृष्टव्यक्तौ तन्मतेऽपि शक्ति-

---

1. 'बोधे शक्ति' इत्यद्द्योतसम्मतः पाठः । 2. 'अवबोधेत' इति 'अवबुध्येत' इति च पाठान्तरे ।

इति प्रतिपादितदिशा—

'देवदत्त गामानय' इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद् देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति 'अनेनास्माद् वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः' इति तच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते ।

कारिकामाह—**येऽप्याहुः शब्दवृद्धेति**(A) । येऽपि अन्विताभिधानवादिन आहुरिति दूरे अन्वयः । **शब्दवृद्धेति** । गामानय इत्यादिः शब्दः, गवाद्यानेता व्युत्पन्नो वृद्धः ; गवाद्यानयनरूपोऽर्थोऽभिधेयः, 'प्रत्यक्षेण' इन्द्रियेण, 'पश्यति' जानाति, शब्दस्याचाक्षुषत्वात् । चेष्टया अनुमानेन इत्यन्वयः, ज्ञायमानलिङ्गकरणत्वस्य तत्सिद्धान्तत्वात् । **अन्यथेति**, अस्मात् शब्दाद् अस्मिन्नर्थे : अस्य प्रतिपन्नत्वम् अनयोरर्थशब्दयोः सम्बन्धं विना अनुपपन्नमित्येवंरूपा अर्थापत्तिरेव अन्यथाऽनुपपत्तिः । **द्वयात्मिकामिति** विषयतासम्बन्धेन द्वयोरर्थशब्दयोः आत्मा स्वरूपं यस्या इति विग्रहेण तदुभयविषयामित्यर्थः, ईश्वरेच्छात्मिकाया अतिरिक्ताया वा शक्तेरुभयविषयत्वात् । अनेन अखण्डवाक्यतदर्थयोः प्रथमं शक्तिग्रहं दर्शयित्वा पश्चात् पदपदार्थयोः शक्तिग्रहं दर्शयति—**अर्थापत्त्येति** । अर्थापत्तिरत्र आवापोद्वापरूपा । बोधेदित्यत्र बालकः कर्त्ता ; बुधिर्भौवादिकः । अवबुध्यन्ते इत्यत्र बालकाः कर्त्तारः ; बुधिर्दैवादिक आत्मनेपदी । ईदृशव्याख्यानुसारिणी वृत्तिर्बोध्या । 'अखण्डवाक्यवाक्यार्थयोः शक्तिग्रहानन्तरं पदपदार्थयोरेव(B) शक्तिग्रह आवापोद्वापेनेति कारिकोक्तं व्याचष्टे'[1]*

ग्रहो न संसृष्टव्यक्त्यन्तरे इति तन्मतेऽपि व्यक्त्यन्तरे तदीयसंसर्गे च तद्ग्राहेर्व्यभिचार इति दर्शयिष्यन्' इत्यंशः, तथा—

(A) अतः परं ख-पुस्तके 'एतत्प्रदर्शनेन शक्तिग्रहकाले दृष्टव्यक्तिविशेष एव शक्तिग्रहो न तु व्यक्त्यन्तरे, तथाच तत्तद्व्यक्तिषु तदीयसंसर्गे च व्यभिचार इति दर्शयितुमेतावान् प्रघट्टकः' इत्यंशो दृश्यमानोऽपि 'मीमांसकानामपि तद्व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शयितुम्' इति टीकाभागस्य व्याख्यानरूपा केनचित् कृता टिप्पनी लेखकप्रमादेन टीकायामन्तर्भावितेति बुद्ध्या परित्यक्तः ।

(B) एवकारः शक्तिग्रहानन्तरमित्यनन्तरं योजनीयः ।

---

1. 'अखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरेवाऽऽवापोद्वापेन शक्तिग्रह इति व्याचष्टे' ख ।

(A)परतः 'चैत्र गामानय देवदत्त अश्वमानय देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते(B) इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः

परत इति, (C)अयं तत्तत्पदपरिवृत्तिरूप आवापोद्वापः। 'अन्वितैः' परस्परान्वितैः। 'अन्वितानां' [1]तादृशार्थे सम्बद्धानाम्[1]*, आसत्तिमतां वा पदानाम्। 'वाक्यार्थः' वाक्यप्रतिपाद्यः। 'न तु' इत्यनेन नैयायिकमतनिषेधः। इत्थं मीमांसकमतं दर्शयित्वा तत्रैव (D)अनुपपत्तिद्वयमुद्भाव्य तत्रैकानुपपत्तेः शक्यपरिहारत्वेऽपि [2]अन्यानुपपत्तिरशक्यपरीहारेत्याह—यद्यपीत्यादिना गोचर इत्यन्तेन। [3]गृहीतशक्तिपदात् वाक्यादभिन्नमेव (E)तादृशवाक्यान्तरमित्यतः प्रथमानुपपत्त्युद्धारः। निश्चीयन्ते इत्यनन्तरं (अतः) वाक्यभेदनिबन्धनो न दोष इति पूरणीयम्। द्वितीयानुपपत्तिमुद्भावयति—पदार्थान्तरमात्रेणेति शक्तिग्रहकालदृष्टगवादिनैवेत्यर्थः; तथाच [4]गवान्तरा-

---

(A) परत इत्यादिसम्पूर्णग्रन्थस्यार्थः प्रदीपे स्फुटतररूपेण प्रतिपादितः, तद्ग्रन्थस्तु विस्तृतिभयात् नोद्ध्रियते।

(B) गृह्यत इति। एतादृशानां पदानां गोकर्मकानयादिरूपेणार्थेन सह सङ्केतरूपः सम्बन्धो गृह्यते इति निर्गलितार्थः।

(C) अयमिति, चैत्र गामानयेत्यादिवाक्यसमुदायः आवापोद्वापप्रदर्शनस्थलमित्यर्थः। आवापः अन्वयः। उद्वापः व्यतिरेकः।

(D) अत्र शक्तिग्रहकालीनवाक्यघटकगवादिपदतुल्याद वाक्यान्तरघटकगवादिपदादर्थोपस्थित्यनुपपत्तिः प्रथमा, गृहीतशक्तिकगवादिव्यक्तिभिन्नगवाद्युपस्थित्यनुपपत्तिर्द्वितीयेति अनुपपत्तिद्वयं बोध्यम्।

(E) वाक्यान्तरमिति स्थलविशेषाभिप्रायेण, पदानीति मूलोक्तमेव यथाश्रुतं सम्यक्, वाक्यभेदेऽपि पदाभेदस्वीकारेणैव तद्दोषोद्धारस्यावश्यकत्वात्।

---

1. 'तादृशार्थे सम्बन्धानां' ख, 'तादृशार्थे सम्बन्धानाम्' ग। 2. 'द्वितीयानुप-' ख ग। 3. 'गृहीतशक्तिकपदकात्' ग। 4. 'गवान्तरबोधतदानयनानुपपत्तिरिति' क।

सङ्केतगोचरः, तथाऽपि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वाद् इत्यन्विताभिधानवादिनः, तेषामपि मते [1]सामान्यविशेषः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो [2]वाक्यान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव(A)। (B)यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा ।

न्वयबोधानुपपत्तिरिति दर्शितम्। समाधत्ते—तथाऽपीति। विशेषव्यक्तावपि सामान्येन रूपेण शक्तिग्रहः। तथाच सामान्यव्यतिषक्तव्यक्त्यन्तराणामप्यन्वयबोध इत्याह—सामान्यावच्छादित इति। असाविति शक्तिग्रहकालोपलब्धव्यक्तिरित्यर्थः। 'व्यतिषक्तानां' सामान्यावच्छिन्नव्यक्त्यन्तराणाम्। 'तथाभूतत्वात्' शाब्दबोधविषयत्वात्। अत्र अशेष इति साध्यं पूरणीयम्। इत्थं मीमांसकमतं दर्शयित्वा तन्मतेऽपि व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शयति—तेषामपीति। 'सामान्यविशेषः' [3](C)शक्तिग्रहकालदृष्टगवादिव्यक्तिरूपः। 'अतिविशेषः' द्वितीयावगतो गवादिः। अविशेष इति क्वचित् सम्यगेव पाठः। वाक्यान्तर्गत इति वाक्यान्तरान्तर्गत इत्यर्थः। वाक्यार्थान्तर्गतो वाक्यार्थान्तरान्तर्गतो वाक्यान्तरगत इति तु (वा ?) क्वचित् सम्यगेव पाठः। 'यत्र' मते 'अर्थान्तरभूतस्य' प्रथमप्रतिपन्नव्यक्तितो भिन्नस्य, 'विध्यादेः'

(A) अवाच्य एवेति। तथाच उक्तनियमव्यभिचार इति भावः।

(B) ननु उक्तनियमः साजात्यघटितो वाच्यः, तथाच वाक्यान्तरप्रतिपाद्यः कालान्तरवर्त्तिशाब्दबोधान्तरविषयो गवादिः सङ्केतग्रहाविषयोऽपि सङ्केतग्रहविषयगवादिसजातीय एव, अतो न व्यभिचार इत्यत आह—यत्रेति। अत्र पदार्थः इति सावधारणम्, अर्थान्तरभूतस्य वाच्यार्थाद्विपरीतस्येत्यर्थः, तथाच सङ्केतग्रहविषयस्य गवादेस्तत्सजातीयतया च गवादिव्यक्त्यन्तरस्य शाब्दबोधविषयतया व्यभिचारासम्भवेऽपि निःशेषेत्यादौ व्यङ्ग्य-तदन्तिकगमने वाच्यस्य तदन्तिकगमननिषेधस्य साजात्याभावेन व्यभिचारो दुर्वार इति भावः।

(C) शक्तिग्रहेति, अत्र सामान्यत्वं गोत्वादिना, विशेषत्वं च तत्कालदृष्टत्वादिनेत्यभिप्रायो बोध्यः।

---

1. 'सामान्यविशेषरूपः' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. 'वाक्यार्थान्तरगतः' इति मुद्रितपुस्तके पाठः।
3. 'प्रथमदृष्ट'-क।

(A)अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये, पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने, अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'

निषेधप्रतियोगिनस्तदन्तिकगमनविध्यादेः। उभयमतेऽपि (B)[1]द्वितीयप्रतिपन्नव्यक्तिसंसर्ग एव[1]* व्यभिचारं दर्शयति—अनन्वित इति।

बोधकत्वेन शब्दो निमित्तम्, नैमित्तिकन्तु ज्ञानम्, तद्विषयतया अर्थोऽपि नैमित्तिकः; ईदृशनिमित्तनैमित्तिकभावादेव निमित्तस्य शब्दस्य नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थवाचकत्वसिद्धिरिति ऋजुबुद्धीनां मतमाह—यदपीति। 'निमित्तानि' शब्दा इत्यर्थः।

(A) उपसंहरति—अनन्वित इत्यादि। अभिहितान्वयवादिमते अनन्वितो गवादिः 'अर्थः' गवादिपदप्रतिपाद्यः; अन्विताभिधानवादिमते पदार्थान्तरमात्रेण क्रियात्वादिसामान्यरूपेण उपस्थितेरानयनादिभिः अन्वितः सम्बन्धत्वादिना सामान्यरूपेण उपस्थितकर्मत्वादिविशिष्टगवादिः, अर्थ इति सम्बध्यते। अन्वितविशेषस्त्विति, अन्वितः सम्बन्धयुक्तः, एतदंशाभिप्रायेण अभिहितान्वयमतेऽवाच्यत्वम्, विशेषः तत्तद्गवादिरूपः, एतदंशाभिप्रायेण अन्विताभिधानमतेऽवाच्यत्वम्, सामान्यरूपेण सङ्केतग्रहस्य तत्सिद्धान्तत्वात्। अन्वयविशेषसहितव्यक्तिविशेष इत्यर्थकत्वे तु अंशविशेषानुसरणापेक्षाऽपि नास्तीति बोध्यम्; अवाच्यः सङ्केतग्रहाविषय इत्यर्थः। तथाच कर्मत्वाविलहितः सङ्केतग्रहकालादृष्टो गवादिः उभयमते नाभिधाया विषय इति हेतोः वाक्यार्थः वाक्यप्रतिपाद्योऽन्वितगवादिः अपदार्थः पदाप्रतिपाद्य एवेति लक्षणयाऽप्रयोज्या शाब्दबोधविषयता अभिधाप्रयोज्यैवेति नियमे व्यभिचारः स्फुट इति भावः।

(B) द्वितीयेति, शक्तिग्रहात् परं मासाद्युत्तरकालवर्त्तिशाब्दबोधविषयीभूतगवादिव्यक्त्यन्तरे तत्संसर्गे चेत्यर्थः। तथाच तादृशबोधे शक्तिजन्यत्वरूपं साध्यं नास्ति लक्षणाऽजन्यशाब्दबोधत्वरूपहेतुस्तु वर्त्तत इति व्यभिचार इति भावः। रसादिविषयः अभिधाप्रयोज्यविषयताश्रयः लक्षणाऽप्रयोज्यशाब्दबोधीयविषयतावत्त्वादिति प्रयोगे तु गवादिव्यक्त्यन्तरे तत्संसर्गे वा अभिधाप्रयोज्यविषयतारूपं साध्यं नास्ति उक्तहेतुस्तु वर्त्तत इति यथाश्रुतमेव सम्यगिति बोध्यम्।

---

1. 'द्वितीयप्रतिपन्नव्यक्तीनां संसर्गे' ख, 'द्वितीयव्यक्तिसंसर्ग एव' ग।

(A)इति, तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम्, ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथम् ? ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव

प्रकाशकत्वादिति, न च स्वजन्यशब्दस्य जनके प्रकाशके च शब्द इति शब्दे व्यभिचारः, प्रकाशकमात्रत्वादिति करणे तु मात्रपदेन कारकत्वव्यवच्छेदे साध्याविशेष इति वाच्यम्, प्रकाशकत्वमात्रग्राहकान्वयव्यतिरेकशालित्वादिति तदर्थात्। अज्ञातस्येति, न च ज्ञातस्यैव शब्दस्य निमित्तत्वं तेनाप्युच्यत इति तत्र कथमिदमुक्तमिति वाच्यम्, 'शक्तिरूपसम्बन्धेन तदर्थे सम्बन्धितयाऽज्ञातस्येत्यर्थात्'[1]*। सङ्केतेनैवेति शक्तिग्राहक-

---

(A) निमित्तानि कल्प्यन्ते इति। पक्षोऽयं प्रदीपे स्फुटीकृतः—"यदपि कैश्चिदुच्यते शब्दश्रवणानन्तरं यावानर्थः प्रतीयते तत्र सर्वत्रापि शब्द एव निमित्तम्, यतो नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्ते इति, तदप्ययुक्तम्, शब्दस्य ह्ययं निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा। न प्रथमम्, शब्दस्यार्थानुत्पादकत्वात्। चरमं पुनरनुमन्यते, परं तु सङ्केतवत्त्वेन ज्ञातस्य अज्ञातस्य स्वरूपमात्रेण ज्ञातस्य वा ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। न चान्वयविशेषे संकेतग्रहः। अस्तु विशेष एव संकेतग्रह इति चेत् लोष्टाद्यन्वितानयनादेर्विशेषस्योपस्थापकान्तराभावेन शब्दादेवोपस्थितिर्वाच्या। तथा च तत्र संकेतग्रहे शब्दात्तदुपस्थितिः, शब्दाच्च तदुपस्थितौ संकेतग्रह इत्यन्योन्याश्रयात्। तस्मान्नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्त इत्यविचारिताभिधानम्"। व्याख्यातमिदमुद्द्योते "उपस्थापकान्तराभावेनेति, इतरव्यवहारदर्शनेनैव व्युत्पन्नस्य लोष्टान्वितानयनव्यवहारं कदाऽप्यदृष्टवतोऽपि लोष्टमानयेति वाक्याद्बोधस्थले इत्यर्थः। व्यञ्जनायास्तु स्वरूपसत्या एवोपयोगो धर्मिग्राहकमानसिद्धः, अतिप्रसङ्गस्तु वक्त्रादिवैशिष्ट्यापेक्षणान्नेति भावः" इति।

अथ नैमित्तिकानुसारेण कार्यानुसारेण निमित्तानि कारणानि कल्प्यन्ते इत्यर्थः, तथाच निःशेषेत्यादौ वाच्यार्थबोधानन्तरं दूतीरमणप्रतीतौ रसादिप्रतीतिश्च यद्यनुभूयते, तदा अन्यथाऽनुपपत्त्या तन्निर्वाहकाः शब्दा एव कल्प्यन्ताम्। न चानन्तशब्दकल्पनापेक्षया लाघवाद् व्यञ्जनावृत्तिरेव कल्पयितुमुचितेति वाच्यम्, शब्दव्यतिरेकेण प्रतीतेरेवासिद्धत्वात् तेषां फलत्वात्। विशेषतो वाचकशब्दानुपस्थितावपि सामान्यतो वस्त्वादिपदाविनाभाविता ज्ञानमात्रस्यैवानुभूयते तत्त्वमित्युक्तैः। अन्यमात्रस्यैव शब्दपूर्वकत्वं 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्या'मित्यत्र प्रतिपादितमेव। अन्यथा च रसादिप्रतीतिरिति चेत्, अस्तु नाम दूतीरमणादौ शब्दकल्पना,

---

१. 'शक्त्या तदर्थसम्बन्धितया ज्ञातस्येत्यर्थात्' ख। अतः परं ख-ग-पुस्तकयोः 'ननु तेन (ग-पुस्तके तु 'अनुगतेन') सम्बन्धेन ज्ञातस्यैव इत्येव नयोच्यते इत्यत आह—ज्ञातत्वं चेति तादृशसम्बन्धेन सम्बन्धितया ज्ञातत्वं चेत्यर्थः इत्यधिको पाठो दृश्यते।

स चान्वितमात्रे, एवं च [1]'निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं'* यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते इत्यविचारिताभिधानम् (A) ।

ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव [2]दीर्घदीर्घतरो व्यापारः

---

[3]कोषादिनैवेत्यर्थः । स चेति 'सः' (B)सङ्केतग्राहकः । 'अन्वितमात्रे', प्रथमप्रतीतान्वितमात्रे, न तु द्वितीयप्रतीते तदन्तिकमेव रन्तुमित्यादिके। एवञ्चेति । नियतनिमित्तत्वम्, शक्तिरूपसम्बन्धेन नियतार्थं प्रति यथोक्तनिमित्तत्वमित्यर्थः ।

व्यङ्ग्यार्थेऽप्यभिधेयार्थबोधिकामभिधामेव व्यापारं दृष्टान्तेन साधयतां मतमाह—ये त्विति । अत्र मते एकलक्ष्यभेदनार्थं प्रतिसंहितेषुवेगो यथा तल्लक्ष्यं भित्वा लक्ष्यान्तरभेदनार्थमप्रतिसंहितोऽपि सन् दीर्घतरीभूय लक्ष्यान्तरमपि भिनत्ति तथा एकैव अभिधा ज्ञाता सती वाच्यार्थं बोधयित्वा व्यङ्ग्यार्थं प्रति अज्ञातैव दीर्घतरीभूता तमर्थं बोधयत्यतो न शक्तिग्राहककोषाद्यपेक्षेत्यतो न पूर्वोक्तदोषावकाश इति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इत्यन्तस्यार्थः ।

रसादिप्रतीतौ तत्कल्पना तु नानुमन्यते, तत्र अभिधाव्यञ्जनयोर्वैरस्यचमत्काराधायकत्वस्य दुरपह्नवत्वेन कार्यवैजात्येन विलक्षणकारणस्य व्यञ्जनायाः स्वीकारावश्यम्भावादिति युक्तमुत्पश्यामः ।

(A) एतत्पक्षस्य निर्गलितोऽर्थो विवरणकारैरुक्तः—'अयमत्र सिद्धान्तसारः, व्यङ्ग्योपस्थितौ शब्दस्य ज्ञापकत्वरूपं निमित्तत्वमस्माकमपि सम्मतम् । तत्र नास्माकं विवादः । परं तु व्यञ्जनाया अस्वीकारे तन्न सम्भवति ; शब्दस्यार्थनिमित्तत्वं हि व्यापारसापेक्षमेव नियतम् ; यथा वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभिधालक्षणे व्यापारौ, तथा इहापि कोऽपि व्यापारोऽवश्यमङ्गीकार्यः, अन्यथा हि शब्दस्य निमित्तत्वानिश्चयेन नैमित्तिको व्यङ्ग्यार्थ इत्येव भवदभिमतोऽपि न सिध्यति, यदि तु व्यापारं विनाऽपि शब्दस्य निमित्तत्वं स्यात्, तदा अभिधालक्षणे अपि दत्तजलाञ्जली स्यातामित्यस्माभिरुच्यते, इत्यभिप्रायमबुद्ध्वाऽभिधानमविचारविजृम्भितमेव' इति ।

(B) अज्ञातस्य अर्थात् अश्रुतस्य श्रुतस्यापि गोपदं गवि शक्तमित्यादिरूपेण तत्तदर्थशक्तिमत्तया अज्ञातस्य गवादिशब्दस्य सास्नादिमत्पिण्डाद्युपस्थापकत्वम् अतिप्रसङ्गान्न सम्भवति, अतः तत्तदर्थशक्तिमत्तया ज्ञातस्यैव शब्दस्य ज्ञापकत्वं वाच्यम्, शब्दस्य शक्तिमत्त्वज्ञानन्तु न

---

1. 'निमित्तस्य नियतत्वं' इति क्वचित् पुस्तके पाठः । 2. 'दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' इति साहित्यदर्पणे विशेषः । 3. 'कोषादिव्यापारेणैव' क, 'कोषकारादिव्यापारेण' ख ।

इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेवात्र वाच्य (A)इति,

---

ननु व्यङ्ग्यस्य तादृशाभिधाबोध्यत्वे किं प्रमाणमित्यत आह— यत्पर इति। 'यत्परः यत्तात्पर्यकः शब्दः, स तच्छब्दस्य वाच्यार्थ एव इत्येवमर्थकम् इदमभियुक्तवाक्यमेव प्रमाणमित्यतो निःशेष इत्यादौ तदन्तिकगमनविधौ तात्पर्यात् सोऽर्थो वाच्य-

---

प्रत्यक्षरूपं शक्तेरतीन्द्रियत्वादतः सङ्केतस्य तत्र हेतुत्वं नास्तीत्यतः सङ्केतेनैवेति मूलोक्तं तद्ग्राहकपरतया व्याचष्टे—सङ्केतग्राहक इति, व्यवहार इति स्वर्थबललभ्यम्। तदुक्तम्—"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥" इति।

(A) भट्टमतोपजीविनां भट्टलोल्लटादीनामभिमतोऽयं पक्षः। तेषामभिप्रायः प्रदीपे स्फुटतरः। तथा हि—अथ सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो व्यापार इति यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति च 'निःशेष' इत्यादौ विधिरेव वाच्यः, इति भट्टमतोपजीविनः। अस्यार्थः—यथा बलवता प्रेरित इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण वर्मच्छेदम् उरोभेदं प्राणहरणं च रिपोर्विधत्ते, तथैक एव शब्द एकेनैवाभिधाख्यव्यापारेण पदार्थस्मृतिं वाक्यार्थानुभवं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते। अतो व्यङ्ग्यत्वाभिमतस्यार्थस्य वाच्यत्वमेव। किञ्च यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थ इति 'निःशेष' इत्यादौ तात्पर्यविषयतया विधिर्वाच्य एवेति। ते तात्पर्यवाचोयुक्तेस्तात्पर्यमजानन्तः पशवः। तद्वाक्यवर्त्तिपदोपस्थापित एव हि तात्पर्यमुच्यते न प्रतीतमात्रे। तथा हि—भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत इति सिद्धान्तः।

अस्यार्थः—भूतं सिद्धम्। भव्यं साध्यम्। तयोः समभिव्याहारे भूतं सिद्धं भव्याय साध्यायोपदिश्यत इति। कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः सिद्धा अपि प्रधानक्रियानुकूलया साध्यीभूतया स्वक्रियया योगात् साध्यायमानतामाप्नुवन्ति स्वरूपेण सिद्धा अपि साध्यक्रियाविशिष्टतया साध्या इव भवन्ति। ततश्च यथा दहनेनादग्धमात्रं दह्यते न तु दग्धमपि तथा यावदेवाप्राप्तं तावदेव शब्देन विधीयते न तु प्राप्तमपि। यथा ऋत्विक्प्रचरणेऽन्यतः प्राप्ते 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यनेन लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधीयते, न तु ऋत्विक्प्रचरणम्, उष्णीषस्यापि प्राप्तौ तु लौहित्यमात्रम्; हवनस्यान्यतः सिद्धौ च 'दध्ना जुहोति' इत्यनेन दध्नः करणत्वं न तु दधि हवनं वा। एवं 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ रक्तत्वपटवयनानां मध्य एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वाऽसिद्धावेकविधि-द्विविधि-त्रिविधिर्वा। ततश्च यावदेव विधेयं तावत्येव तात्पर्यम्। विधेयं च शब्दोपात्तमेवेति सुष्ठूक्तं 'शब्दोपात्त एव तात्पर्यम्' इति। यदि च प्रतीतमात्रे तात्पर्यं तदा 'पूर्वो धावति' इत्यादौ पूर्वादिसमानसंवित्संवेद्यतया प्रतीतेऽपरार्थेऽपि कदाचित् तात्पर्यं स्यात्। ननु तद्वाक्यवर्त्तिपदोपस्थापित एव तात्पर्यमिति न व्याप्तिः। विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्था इत्यत्र विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यस्य मा चेत्यादि वाक्यार्थे तात्पर्यादिति। नैवम्। यत एतदेकमेव वाक्यम्।

'तेन तात्पर्यज्ञाः (A)तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः। तथा हि (B)भूत-

---

एवेत्यर्थः। ते न तात्पर्यज्ञा इति समीचीन एव पाठः। तवतात्पर्यज्ञा इति क्वचित् पाठे तु तदित्यव्ययं, ते इत्यर्थकम्। 'तात्पर्यवाचः' यत्पर इत्यादितात्पर्यवाक्यस्य या युक्तिः विषयविभागः, तद्विषयतात्पर्यस्यानभिज्ञा इत्यर्थः ; 'देवानांप्रियाः' (C)पशवः। एकार्थकमिदम्(D) अलुक्समस्तं पदम्। यत्पर इत्यादिवाक्यस्य 'अन्य एव विषय-विभाग इति[2]* दर्शयति—तथा हीति। (E)गामानयेति वाक्ये प्रमाणान्तरप्राप्तो गौः

चकारस्यैकवाक्यतासूचकत्वात्, अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न चाऽऽख्यातवाच्यक्रिययोः साक्षादन्वयः सम्भवति, 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्' इति न्यायात्। सुहृद्वाक्यं चैतत्, अतो भवितव्यमन्नान्वयेन। ततो विषभक्षणादप्येतद्गृहभोजनमचिरहेतुरतः सर्वथा नास्य गृहेऽभुङ्क्था (माऽस्य गृहे भुङ्क्थाः ?) इति वाक्यार्थः। तथा च तद्वाक्यस्य पदोप-स्थापित एव तात्पर्यमिति सिद्धम्। तस्मात् 'यत्परः शब्दः' इत्यादि यदुक्तं तत् तात्पर्याज्ञानात्।

यदपि 'सोऽयमिषोरिव' इति तदप्ययुक्तम्। यतः शब्दश्रवणानन्तरं यावानर्थः प्रतीयते तावति सर्वत्र यदि शब्दस्याभिधैव स्यात् तदा 'चैत्र पुत्रस्ते जातः कुमारी ते गर्भिणी' इत्यादि-वाक्यानन्तरं हर्षविषादयोः प्रतीतेस्तयोरपि तद्वाक्यस्याभिधा स्यात्। अथ तच्छब्दप्रतिपाद्ये सर्वत्राभिधा, हर्षादयस्तु न तत्प्रत्याय्या इत्युच्यते तर्हि लक्षणीयेऽप्यभिधैव स्यादिति लक्षणो-च्छेदः। किमिति च 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थ-विप्रकर्षात्' इति सूत्रेण भगवान् जैमिनिः श्रुत्यादिषु पूर्वबलीयस्त्वं प्रतिपादयाम्बभूव। सर्वत्रैवा-भिधाप्रसङ्ग उत्तरस्य दौर्बल्ये बीजाभावात्' इति।

(A) तात्पर्येति, तात्पर्यविषयिणी या वाचोयुक्तिः युक्तिपूर्णा वागित्यर्थः तस्यास्तात्-पर्यानभिज्ञा इत्यर्थः। वाचोयुक्तिरित्यत्र समस्तपदे 'वाग्दिक्पश्यतो युक्तिदण्डहरे, इत्यनेन षष्ठ्या अलुक्।

(B) भूतभव्येति। भूतभव्ययोः सिद्धसाध्ययोः समुच्चारणे समभिव्याहारे भूतं सिद्धं वस्तु भव्याय भावप्रधाननिर्देशात् साध्यत्वाय उपदिश्यते कल्प्यते, साध्यपदं हि विधेयाश्रये धर्मिणि प्राचीनैः प्रयुक्तम्, तथाच सिद्धस्यैव साध्यत्वं बोध्यमिति भावः।

(C) पशव इति। तथाच त्रिकाण्डशेषे "बर्करस्तु लम्बकर्णश्छागो बस्तः शिवाप्रियः। अल्पायुर्लघुकायश्च मेनादः पर्णभोजनः॥ परिक्रमसहो बुक्को देवानांप्रिय इत्यपि॥" इति तथा तत्रैव "स्याद्देवानांप्रियः क्षेपे हतको बन्धुदग्धवत्" इति।

(D) अलुगिति, 'क्वचिदन्यत्रापि' इति अलुक्सूत्रम्। 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' इति वार्त्तिकसूत्रम्।

(E) भूतभव्येत्यादिकमुदाहरणमुखेन व्याचष्टे—गामानयेति।

---

1. 'तेऽप्यतात्पर्यज्ञाः' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. 'अन्य एवाय' इत्यतो व्यापारं परमभिधेयतायां न तत् प्रमाणमिति' ख।

भव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रिया-पदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चाऽदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते, यथा—ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम्, हवनस्यान्यतः सिद्धेः 'दध्ना जुहोति'इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्। क्वचिदुभयविधिः।

क्वचित् त्रिविधिरपि, यथा—'रक्तं पटं वय' इत्यादौ (A)एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा; ततश्च 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्'

'भूतः' सिद्धः, तदीयमानयनन्तु अप्राप्तत्वेन 'भव्यं' साध्यम्, तदर्थं भूतो गौः 'उपदिश्यते' उच्चार्यते इत्यर्थः। नन्वेवं कथं गोरपि साध्यत्वानुभव इत्यत आह—**कारके**ति। 'प्रधानक्रिया' आनयनम्, तन्निष्पादिका 'स्वक्रिया' गोश्चलनम्, तत्सम्बन्धादित्यर्थः। **ततश्चे**ति, तृणमिश्रिते भस्मराशावग्निर्यथाऽदग्धं तृणमेव दहति न भस्म, तथा सिद्धांश-मपहाय असिद्धांश एव वाक्येन विधीयते इत्यर्थः। तथाच विधेयांश एव शब्दस्य [1]प्रामाण्यनियामकोऽर्थ इत्येवमेव यत्पर इत्यादेरर्थः[1]*, न तु व्यङ्ग्यरूपोऽर्थः शब्दस्य वाच्यार्थ इति तदर्थ इति भावः। **यावदप्राप्त**मिति सामान्यनिर्देशात् क्वचित् क्रिया प्राप्ता कारकमप्राप्तं तदेव विधीयते इत्युक्तम्। तदेव च उदाहरति—**यथा ऋत्वि**गिति, यज्ञे ऋत्विजां प्रचरणं वाक्यान्तरात् प्राप्तम्, यज्ञविशेषे तु ऋत्विजां लोहितोष्णीषत्वं विधीयते इत्याह—**लोहिते**ति। उष्णीषं शिरोवेष्टनम्, लोहिततत्कत्वमत्र कर्त्तृकारकविशेषणं विधेयम्। क्वचित् करणकारकस्यापि विधे-यत्वमाह—**हवनस्ये**ति। द्विविधेरुदाहरणम्—एनं स्नातं भोजयेत्यूह्यम्।

त्रिविधिमाह—**रक्तं पट**मिति। अत्र [2]रक्तत्वपटत्ववयनानां त्रयाणामपि विधिः। उक्तमेवोपसंहृत्याह—**एके**ति। प्रकृते यत्पर इत्यत्र तदेव योजयति—**ततश्चे**ति। '[3]तात्पर्यं' (B)शब्दप्रामाण्यप्रयोजकमिति शेषः, न त्वनेन व्यङ्ग्यार्थे तात्पर्याभावो दर्शितः।

(A) एकविधिरिति। अत्र विधिविकल्पानामुदाहरणं रक्तं पटं वय इत्येव, तत्र रक्तपटप्राप्तौ वयनमात्रे पटमात्रप्राप्तौ रक्तत्ववयनयोः पटस्याप्यप्राप्तौ रक्तत्वपटवयनेषु त्रिष्वपि विधिरिति भावः।

(B) शब्दप्रामाण्येति। अत्रोक्तरीत्या विधेयांश एव शब्दानां तात्पर्यसिद्धौ 'न विधौ

---

1. 'प्राधान्यनियामकोऽर्थ इतीव बोधितं यत्पर इत्यादिवाक्येन' ख। 2. 'रक्तत्वपटत्वपटवयनानां' ग।
3. अयमंशः ग-पुस्तके नास्ति।

इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्, न तु प्रतीतमात्रे, एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्।

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते, तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः, न चाऽऽख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति

उपात्तस्यैवेति उपात्तस्य शब्दस्यार्थ एवेत्यन्वयः, अर्थश्च गृहीतशक्तिक एव [1]बोध्यः। तात्पर्यमित्यत्र च शब्दप्रामाण्यनियामकं बोध्यम्। तादृशं[1]* तात्पर्यं व्यङ्ग्यार्थे नास्तीत्याह—न त्विति। एवमिति पूर्वत्वप्रतीतेरवधित्वेन [2]अपरत्वविषयकत्वात्। अत्रापि 'तात्पर्यं' शब्दप्रामाण्यनियामकम् बोध्यम्।

नन्वेतावता उपात्तशब्दस्य गृहीतशक्तिक एवार्थे[2]* प्रामाण्यनियामकं तात्पर्यं नाऽगृहीतशक्तिक इत्युक्तम्, [3]तच्च व्यभिचारि, क्वचिदुपात्तशब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तादृशतात्पर्यदर्शनात्[3]*इत्याशङ्क्ते—यत्तु विषमिति, अत्र वरमित्यपि बोध्यम्। तथाच वरं विषम् भुङ्क्ष्व मा चाऽस्य गृहे भुङ्क्था इति [4]वाक्ये विषभक्षणमेव गृहीतशक्तिकम्, तत्र च न तादृशं तात्पर्यम्, किन्त्वगृहीततच्छब्दशक्तिके एतद्गृहभोजनाभाव एवेत्याह—एतद्गृह इत्यादि। समाधत्ते—तत्रेति। अङ्गता कल्पनीयेति, भुङ्क्ष्व इत्यत्र भुङ्क्था इत्यत्र च आख्यातद्वयार्थत्यागेनेति भावः। तथाच वाक्यार्थ

परः शब्दार्थः' इति न्यायेन तत्राभिधैव स्वीकार्या। एतेन विधेयांशे लक्षणास्वीकारेण तत्र लक्षणहेतुस्तात्पर्यानुपपत्तिमुख्यार्थबाधादिर्नास्तीति प्रतिपादितम्। ईदृशस्थले च शक्तिग्रहप्रमात्वस्य शाब्दबोधप्रमात्वप्रयोजकत्वाभ्युपगमे प्रमात्मकशाब्दबोधकरणतया शब्दे प्रामाण्यं निर्बाधम्। एवञ्च सर्वत्रैव तात्पर्यविषयस्याभिधेयत्वमेवेति पूर्वपक्षिणामाशये सति 'अपराद्यर्थेऽपि क्वचित् तात्पर्यं स्यादिति वृत्तिग्रन्थेन तात्पर्यनियतस्याभिधेयत्वस्य फलत आपत्तिरुत्तरपक्षिभिः कृता बोध्या, तथाच न प्रकृतानुपयोगित्वमिति विभावनीयम्।

---

1. अयमंशः ख-पुस्तके न दृश्यते। 2. 'अपरत्वप्रत्ययाधीनत्वात्' ग। 3. 'तच्च न नियतं क्वचिदुपात्तशब्दस्य गृहीतशक्तिकेऽर्थेऽपि तात्पर्याभावाद् गृहीततच्छब्दशक्तिक एवार्थे तादृशतात्पर्यदर्शनाच्च' ख, 'क्वचित्तु तदेव नास्ति, उपात्तशक्तिशब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तादृशतात्पर्यदर्शनात्' ग। 4. 'वाक्यस्य' ख।

'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा माऽस्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम्।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्; कस्माच्च लक्षणा? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः; किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्

---

[1]रचयति—विषभक्षणादपीति। आख्यातद्वयार्थत्यागेन विषभक्षणमेतद्गृहभोजनञ्च धात्वर्थः, अप्यर्थश्च आक्षिप्त'वरं'शब्दलभ्यः पञ्चम्यर्थस्तु संसर्गः, दुष्टमिति तु 'मा' शब्दार्थः, तथाच ईदृशवाक्यार्थे यत्तात्पर्यं तद् गृहीततच्छब्दशक्तिकेऽर्थ एवेति नोक्तदोष इति भावः। तादृशार्थलभ्यं पर्याप्तमर्थमाह—सर्वथेति। इत्युपात्तशब्दार्थ एवेति, उपात्तो यो विषं भुङ्क्ष्वेति शब्दस्तस्यार्थे गृहीतशक्तिके विषकर्मकभक्षणरूप एव प्रामाण्यनियामकं तात्पर्यम्, न त्वगृहीततच्छब्दशक्तिक इत्यतो नानियम इति भावः। यद्यपि विषभक्षणं दुष्टावधित्वेनो[2]पात्तमुद्देश्यमेव न तु विधेयम्[2]*। तथाऽपि साध्यान्वयित्वेन साध्यायमानत्वात् तत्रापि तादृशतात्पर्यविषयत्वमभ्युपगम्योक्तम् व्यङ्ग्यार्थे तादृशतात्पर्याभावस्यैव प्रतिपादनीयत्वात्।

नन्वेवंरीत्या व्यङ्ग्यार्थोऽपि तादृशतात्पर्यविषयोऽस्तु वरं गृहीततच्छब्दशक्तिकत्वं मा प्रवेश्यताम्, तथाच तस्यापि यत्पर इत्यादिनोक्तं शब्दवाच्यत्वमेवेत्यत आह-यदि चेति। 'कन्या ते' इत्यत्र कन्या अदत्ता [3]यद्वा श्रुतगर्भा कन्या अगर्भिणीति नञ्प्रश्लेषः[3]*। वाच्यत्वमिति, एतादृशशब्दो हि सम्बोध्यब्राह्मणेनेव तत्सन्निहितपुरुषान्तरेणापि श्रुतः, ततश्च तेन पुरुषेण तदीयहर्षशोकयोः प्रतीतत्वात् कथं न वाच्यत्वमित्यर्थः। ननु यावानर्थः [4](A)श्रुतशब्दात् प्रतीयते इति विवक्षितम्, अत्र तु उदासीनजनेन तदीयहर्षशोकानुमापकलिङ्गाभ्यामेव तावनुमितावित्यत आह— कस्माच्चेति। मैवम् इष्टापत्तिरेवेत्याह—किमिति चेति।

(A) श्रुतशब्दात् प्रतीयते इत्यस्य शाब्दबोधविषयीक्रियते इत्यर्थः, तेनोत्तरत्र अनुमितयोः शोकहर्षयोर्न वाच्यत्वापत्तिरिति बोध्यम्।

---

1. 'दर्शयति' ख। 2. 'नोपात्तः सिद्ध एव' क। 3. चिह्नितांशः ख-पुस्तके नास्ति। 4. 'श्रुते'ति क-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।

इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि (A)सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् ।

(B)श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति । (जैमिनिसूत्रम् अ० ३, पा० ३, सू० १४)

तत्र च—

श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गं वाक्यं पदान्येव तु संहतानि ।
सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या ॥

इति श्रुत्यादिपदार्थविवरणम् । अत्र च द्वितीया द्वितीयान्तं पदम् । सूत्रे समवाय इत्यत्र विरोध इत्यर्थः, पारदौर्बल्यमित्यत्र च परं परं दुर्बलमित्यर्थः । अत्र हेतुमाह—अर्थविप्रकर्षादिति । पूर्वपूर्वापेक्षया विलम्बेनार्थोपस्थापकत्वादित्यर्थः । शीघ्रोपस्थापकं पूर्वपूर्वमेव बलीय इत्यर्थः । (C)तदेव किमितीत्यर्थः । तथाच "ऐन्द्र्या ऋचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते"ति श्रुतौ द्वितीयान्तं गार्हपत्यपदं शक्त्या वह्न्युपस्थापकम्, ऐन्द्र्या ऋचः (D)क्षमता च गार्हपत्यपदे इन्द्रलक्षणया इन्द्रोपस्थापिकेति किमिन्द्रमग्निं वा उपतिष्ठेतेति विरोधे द्वितीयान्तं गार्हपत्यपदं शक्त्या वह्नेः शीघ्रोपस्थापकं बलवत्, [1]न तु लक्षणया मुख्यार्थबाधाद्युपस्थितिविलम्बेन इन्द्रोपस्थापिका

(A) सिद्धं व्यङ्ग्यत्वमिति । तथाच श्रुतिलिङ्गेत्यादियुक्त्या सोमेन यजेत इत्यादिवत् क्वचिल्लक्षणाया अवश्यमङ्गीकरणीयत्वेन दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारकल्पनस्य द्युभित्तिचित्रवन्निरवलम्बनत्वाद् व्यङ्ग्यार्थानां तदन्तिकगमनादीनां रसादीनाञ्च अनुभवसिद्धायाः प्रतीतेरन्यथोपपादयितुमशक्यत्वात् व्यञ्जनावृत्तिरवश्यमङ्गीकार्येति निष्कर्षः ।

(B) प्रदीपकारास्तु "सूत्रं तु प्रकृतार्थविच्छेदकत्वेऽपि बहूपकारकत्वाद्दुरूहत्वाच्च व्याक्रियते । श्रुतिलिङ्गादयः षडिह विनियोजकाः । तत्र विरुद्धयोरेकत्रोपनिपाते समुच्चयो न सम्भवतीत्येकेनापरस्य बाधो वक्तव्यः । स च बलवता दुर्बलस्येति स्थिते दौर्बल्यप्रतिपादकं सूत्रं श्रुतिलिङ्गेत्यादि । अस्यार्थः श्रुत्यादीनां समवाये एकत्रोपनिपाते तेषां मध्ये यदपेक्षया यत् परं तदपेक्षया तद्दुर्बलम् । कुतः ? अर्थविप्रकर्षात् पूर्वापेक्षया विलम्बेनार्थप्रत्यायकत्वादि'ति सूत्रं व्याख्याय श्रुत्यादिशब्दानामर्थान् तद्विरोधोदाहरणस्थलानि च प्रदर्शितवन्तः । बाहुल्यभयात्तु तद्ग्रन्थो नोद्ध्रियते अनुसन्धित्सुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यम् इति ।

(C) तदेवेति । वृत्तिस्थः 'किमिति' इत्यंशोऽत्र योजित इति बोध्यम् ।

(D) क्षमता लिङ्गं तच्च इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपमिति प्रदीपे स्पष्टम् ।

1. 'लक्षणया विलम्बेन इन्द्रोपस्थापिकाया ऋचः क्षमता तु दुर्बला' क, 'न तु लक्षणया विलम्बोपस्थापिका क्षमता' ग ।

किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्त्तिनि कथं दुष्टत्वम् ? न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात्।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्; न चानुपपन्नम्, सर्वस्यैव विभक्त-

---

क्षमता[1]* इत्युक्तम्। लक्षणाऽनङ्गीकारे तु इन्द्रस्यापि [1]शक्यत्वाद्विलम्बेन उपस्थित्यभावात्[1]* किमिति द्वितीयान्तस्य पूर्वोक्तस्य बलीयस्त्वमित्यर्थः। **विधेरपीति** तदन्तिकगमनविधेरपीत्यर्थः।

ननु अभिधाया एव दीर्घत्वं दीर्घतरत्वञ्चेति द्वैविध्यम्, तथाच दीर्घतरीभावेनैव [2]लक्ष्यार्थोपस्थापनाद् विलम्ब एवेत्यत आह—**किञ्चेति**। 'वैपरीत्ये' रुचिङ्कुर्वित्येवं प्रयोगे। **कथं दुष्टत्वमिति,** पदद्वयीयवर्णद्वयेन "चिङ्कु"शब्दोत्पत्तौ तस्य स्त्रीगुह्याङ्गव्यञ्जकत्वेनैव हि दुष्टत्वम्, व्यञ्जनाभावे तु कथं तद् दुष्टं स्यादित्यर्थः। ननु दीर्घतरीभूताभिधयैव तदुपस्थापनाद्दुष्टत्वं स्यादित्यत आह—**न ह्यत्रेति**। (A)असभ्यः चिङ्कुशब्दार्थः, शक्यलक्ष्यार्थयोस्तद्वाक्यस्थपदार्थान्तरान्वितत्वनियमादिति भावः। 'अपरित्याज्यं' (B)दुष्टत्वेन अहेयम्।

ननु दीर्घतरीभूताभिधोपस्थापितार्थस्य [3]पदार्थान्तरान्वितत्वनियमो न वाच्य इत्यत आह—**यदि चेति**। नित्यत्वमत्र सर्वरससाधारण्यम्, अनित्यत्वं रसविशेषीयत्वम्। **अनुपपन्नं स्यादिति,** श्रुतिकट्वादीनां हि ओजोगुणव्यञ्जनया अनोजस्विनि शृङ्गारादौ दुष्टत्वम् ओजस्विनि वीरादौ तु अदुष्टत्वम्, व्यञ्जनाभावे तदनुपपन्नं स्यादित्यर्थः। न च दीर्घतराभिधयैव तदुपस्थापनादुपपत्तिरिति वाच्यं निर्द्धर्मकस्य

(A) असभ्य इत्यत्र ग-पुस्तके 'अशक्यः' इति पाठो दृश्यते स च वृत्तावपि 'असभ्यः' इत्यत्र 'अशक्यः' इति पाठान्तरं सूचयति। तस्य च शक्त्याऽनुपस्थाप्य इत्यर्थः अपभ्रंशेषु ईश्वरेच्छादिरूपसङ्केतानङ्गीकारादित्यभिप्रायः। असभ्यः इत्यस्य च सभायामसाधुः, दुष्टः अश्लील इत्यर्थः। चिङ्कुशब्दार्थः इति विवरणं च असभ्योऽर्थ इति समुदायस्यैवेति बोध्यम्।

(B) दुष्टत्वेनेति, इदं अहेयमित्यस्यांशे हेयत्वे अन्वितम्, तथाच दुष्टत्वेन हेयं न स्यादित्यर्थः।

---

1. 'शक्यस्य शीघ्रोपस्थितौ' ख। 2. 'लक्ष्योपस्थापनात्' क-ग। 3. 'तादृशनियमः' क-ग।

तया प्रतिभासाद् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था।

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम्?

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण-वक्तृ-प्रतिपत्त्रादि-

---

ओजोगुणस्य वीरादौ प्रतीतेरानुभविकत्वेन अभिधायास्तादृशोपस्थापकत्वाभावात्। नन्वेवं व्यञ्जनाया अपि कथं तादृशोपस्थापकत्वमित्यत आह—वाच्यवाचकेति। बहुविधत्वादिति, क्वचित् सधर्मक एव व्यङ्ग्यार्थ उपतिष्ठते क्वचिन्निर्द्धर्मक इत्येवंविधाबाहुल्यादित्यर्थः। ननु जातिशक्तिवाद इव पदादपि निर्विकल्पकोपस्थितिर्भेया वाच्येत्यत आह—द्वयमिति।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी(A)॥

इति पार्वत्यां महेशनिन्दाश्लोके कपालधारित्वेन महेशनिन्दा व्यज्यते, अतस्तत्र कपालिपदस्यानुगुण्यम्, व्यञ्जनाभावे तु किमिति तस्यानुगुण्यमित्यर्थः।

नन्वत्र वृत्तमेवोत्तरम्, व्यञ्जनास्थानीयत्वादेव दीर्घतरीभूताभिधाया इत्यत आह—अपि चेति। तत्तत्प्रकरणवक्त्रिति, तथाच सर्वप्रतिपत्तृष्वेकविधार्थबोधकत्वमभिधायाः, व्यञ्जनायास्तु नानाप्रतिपत्तृषु नानाविधार्थबोधकत्वमिति वैलक्षण्यमेव भेदक-

---

(A) पद्यमिदं ख-पुस्तके उद्धृतं न दृश्यते। वृत्तौ पद्यस्य पूर्वार्द्धस्य द्वितीयार्द्धयोजनया टीकाकृता अन्येन वा सम्पूर्णता व्यधायीति निर्णेतुमसमर्थैरस्माभिः क-ग-पुस्तकानुसारेण मुद्रितम्।

विशेषसहायतया नानात्वं भजते। [1]तथा हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, संतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थः तत्र तत्र प्रतिभाति।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना,
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥१३३॥

इत्यादौ संशय-शान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण

मित्यर्थः। प्रकरणादिभेदात्तु तत्तत्प्रतिपत्तृबोध्यान् नानाविधार्थान् दर्शयति—तथाहीति। सपत्नं प्रतीति। 'अवस्कन्दनम्' आक्रमणम्, अत्र कूटयोधी प्रतिपत्ता। अभिसरणमित्यत्र अभिसारिका, प्राप्तप्राय इत्यत्र विरोहोत्कण्ठिताः, कर्मकरणादित्यत्र भृतकाः, सान्ध्य इत्यत्र ब्राह्मणाः, दूरमित्यत्र पथिकाः सुरभय इत्यत्र गोरक्षकाः सन्ताप इत्यत्रातपक्लान्ताः, विक्रेयेत्यत्र विक्रेतारः, नागत इत्यत्र प्रोषितभर्तृकाश्च प्रतिपत्तारः। नन्वभिधयैव गृहीतया बोधने सर्वप्रतिपत्तृषु एकार्थो बोध्यते तथैव अगृहीतया दीर्घतरीभूतया बोधने तु तत्तत्प्रकरणादिसाहाय्येन तत्र तत्र तथाविधा अर्था बोध्यन्त इत्यत आह—वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति। निःशेषेत्यादौ वाच्यव्यङ्ग्ययोर्निषेधविध्यात्मना स्वरूपस्य भेदेऽपि यद्येकत्वमिति दूरतरेणान्वयः। तदन्तिकागमनगमने निषेधविधी वाच्यव्यङ्ग्यौ विरोधिस्वरूपौ[2]। मात्सर्यमित्यादि। समर्यादमित्यनेन मर्यादया उक्तिश्रमो नापेक्षणीय इति सूचितम्। इत्यादौ संशयेति, संशयश्च शान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयश्चेति द्वन्द्वः; तद्रूपेण वाच्यव्यङ्ग्ययोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। अत्र 'किम्' पदार्थः संशयो वाच्यः, भूधरनितम्बा एव सेव्याः स्त्रीनितम्बाः सेव्या इति वा शान्तशृङ्गारिवक्तृभेदेन तदीयनिश्चयश्च व्यङ्ग्य इति एतावपि विरोधिस्वरूपौ

---

1. 'तथा च' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. अतः परं क-पुस्तके 'विरुद्धतद्द्वयबोधकत्वादभिधाव्यञ्जनयोर्भेदेऽपीत्यर्थः' इत्यधिकं दृश्यते।

"कथमवनिप दर्पो यन्निशातासिधारा-
दलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः॥ १३४॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्ध(A)व्यप-

---

भेदकौ। अत्र च संशये संशयेनेति च पाठौ प्रामादिकौ। कथमवनिपेति। हे अवनिप निशातेत्याद्युक्तानां विद्विषां श्रीस्त्वया स्वीकृता इत्ययं कथं दर्पः? दर्पाभावे हेतुमाह—नन्विति। साङ्गस्य निहतारेरपि तव वल्लभा कीर्त्तिः अपगताङ्गैरपि तैः त्रिदिवं किं नीता न? अपि तु नीतैव इत्यतस्तुल्यविनिमये कथं दर्प इत्यर्थः। निशातया असिधारया यद् दलनं छेदनं तेन गलितमूर्ध्नामिति विग्रहः। इत्यादौ निन्दास्तुतीति, अत्र निन्दास्तुतिपदद्वयं निन्द्यतास्तुत्यताप्रयोजकार्थपरम्, निन्दाया अत्रावाच्यत्वात्, शब्दात्मिकायाः [1]स्तुतेरव्यङ्ग्यत्वाच्च। तथाच अयुक्तत्वाद्दर्पप्रश्नो वाच्यो निन्दाप्रयोजकः, स्वर्गपर्यन्तगामिनी ते कीर्त्तिरिति व्यङ्ग्यार्थश्च स्तुत्यताप्रयोजकः। एतावप्यर्थौ स्वप्रयोज्ययोर्विरुद्धयोर्निन्दास्तुत्योः सम्बन्धाद्विरुद्धौ, तयोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। पूर्वपश्चादिति पूर्वं वाच्यार्थप्रतीतिः पश्चाच्च व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरिति स्वजन्यप्रतीतेः कालस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। शब्देति, अभिधा शब्दमात्रवृत्तिः व्यञ्जना तु शब्द-तदेकदेश-प्रकृत्यादिवृत्तिरित्याश्रयस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। शब्दानुशासनेति, अभिधेयस्य शब्दानुशासनज्ञानेनावगमः, व्यङ्ग्यस्य तु प्रकरणादिसहितप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन शब्दानुशासनज्ञानेनावगम इति स्वजन्यप्रतीतिनिमित्तस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। शब्दानुशासनस्य व्यञ्जकवाच्यार्थ-

---

(A) व्यपदेश्ययोरित्यत्र व्यपदेशयोरिति पाठे वाच्येनार्थेन प्रतिपत्तुः बोद्धा इति व्यपदेशो व्यवहारस्तन्मात्रं भवति व्यङ्ग्येन तु विदग्धः सहृदयः रसिक इति व्यपदेश इति कार्यभेद इत्यर्थौ बोध्यः।

---

1. क-पुस्तके 'स्तुते'रित्यतः परं '[illegible]' इत्यधिकं दृश्यते।

देश्ययोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,—

"कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पियाइ सव्वणं अहरं।
सभमरपडमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हिं(A) ॥ १३८ ॥

बोधकत्वाद् व्यङ्ग्यबोधे तदपेक्षा। **बोद्धृमात्रेति,** अभिधया (B)सर्वबोद्धॄणामेव प्रतीतिमात्रम्, व्यञ्जनया तु विदग्धव्यपदेश्यचमत्कृतिरप्यधिका जन्यते इति स्वकार्यस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। व्यपदेश्यत्वपर्यन्तानुधावनम् उत्कृष्टतल्लाभाय तस्यैव चमत्कृतेः। **संख्याया** इति, स्वबोध्यसंख्याया इत्यर्थः। न चेदं पुनरुक्तमिति वाच्यं प्रतिपत्तृभेदेन विभिन्नार्थबोधकत्वस्यैव प्रागुक्तत्वात् तत्र स्वबोध्यसंख्यानभिधानात्। **कस्स ण वेति**

कस्य न वा भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि (C)वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ इति संस्कृतम्

(A) कस्स वेति। यद्यपि अनुवाददर्शनेन 'कस्स ण व' इति पाठो ग्रहीतुमुचितस्तथाऽपि प्रामाणिकत्वबोधेन ध्वन्यालोकधृत एव गृहीतः। अस्याभिनवगुप्ताचार्यकृतं व्याख्यानञ्च— कस्य वेति, अनीर्ष्यालोरपि। सभ्रमरपद्माघ्राणशीले, शीलं हि कथंचिदपि वारयितुं न शक्यम्। सहस्वेदानीम् उपालम्भपरम्परामित्यर्थः। अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा तत्सविधसंविधाने भर्त्तरि तमनवलोकयमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते। सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेश्मिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं 'प्रियाया' इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयत् खलीकृताऽस्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तम्, प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसंबोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति।

(B) तथाच, वृत्तौ बोद्धृमात्रेत्यत्र मात्रपदं साकल्यार्थकम्, प्रतीतिमात्रेत्यत्र तु अवधारणार्थकमित्यभिप्रायः।

(C) 'वारिताऽपि सभ्रमरपद्माघ्राणे निषिद्धाऽपि वामा प्रतिकूला' इत्युदाहरणचन्द्रिकाकाराः।

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि (A)यद्येकत्वं तत् क्वचिदपि [1]नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारण[2]भेदो वा" इति।

उपनायकदष्टाधरां पत्नीं तर्जयन्तं प्रोषितागतं तत्पतिं प्रतारयन्त्याः सख्या उक्तिरियम्। सहस्वेत्यत्र पत्युस्तर्जनमिति शेषः। वारितवामे इति 'सभ्रमरपद्माघ्राणं यन्मया वारितं हे तत्र वामे प्रतिकूले' इत्यर्थः पतिबोध्यः। अधरदंशफलिका रतिर्मया वारिता, हे तत्र वामे इति नायिकाबोध्योऽर्थः। सखीतत्कान्तेति, 'सखी' वक्त्र्याः सखी नायिका, तद्बोध्यः "इयं प्रतारयती"ति व्यङ्ग्यार्थः, सभ्रमरं पद्ममियमाघ्रातवतीति तत्कान्ततत्स्थानस्थपरलोकबोध्यो वाच्यार्थः। व्यञ्जनाभिधाजन्यबोधविषययोस्ताद्दशार्थयोर्भेदेऽपीत्यन्वयः। (B)वैधर्म्यमेवान्योन्याभाव इति मते अयमेवेति। अन्योन्याभावज्ञापकमेव वैधर्म्यमिति मते तु भेदहेतुर्वेति। हेतुरत्र ज्ञापकः। नन्वेवं तार्णातार्णवह्न्योः(C)वैधर्म्याभावाद् भेदस्तज्ज्ञानं वा न स्यादित्यत आह—कारणभेदो वेति।

(A) यद्येकत्वमिति। उक्तरीत्या कार्यकारणयोर्द्वयोरपि वैलक्षण्यरूपस्य भेदसाधकस्य सत्त्व एव यदि अभिधाव्यञ्जनयोः 'एकत्वम्' अभिधात्वरूपेणाभेदः स्वीक्रियते तदा नीलपीतयोरपि भेदो न स्यात्, भेदसाधकस्य उभयत्रैव तुल्यत्वादित्यर्थः। ननु स्वस्वकार्यकारणभेदस्यैव वस्तुनो भेदकत्वे किं मानमित्यतस्तत्र प्राचां संवादमाह उक्तं हीति। एतेन 'एतेषां भेदेऽपि यदि वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोरैकत्वं तदा नीलानीलेत्यादि'व्याख्यानं प्रत्युक्तं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्निषेधविध्याद्योः स्वरूपतोऽभेदस्य केनाप्यनाशङ्कितत्वात्, सोऽयमिषोरिव इत्यादिना व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वाशङ्कायाश्च फलतोऽभिधाव्यञ्जनयोरभेदाशङ्कापर्यवसानादिति ध्येयम्।

(B) वैधर्म्यमिति, वृत्तिस्थं विरुद्धधर्माध्यासपदं कृदभिहितभावत्वेन अध्यस्तविरुद्धधर्मपरमित्यभिप्रायेणेदमिति बोध्यम्।

(C) वैधर्म्याभावादिति। अत्र तार्णातार्णवह्न्योर्वैधर्म्याभावकथनं वह्नित्वादिधर्माभिप्रायेण, तार्णत्वातार्णत्वाभिप्रायेण तु वैधर्म्यमस्त्येवेत्यापातत एवेदमुक्तम्। वस्तुतः अभिधाव्यञ्जनयोर्विरुद्धधर्माध्यास एव नास्ति स्वारसिकव्यवहारपदवीमनारूढयोरभिधाव्यञ्जनयोरध्यासासम्भवादित्येव कारणभेद इति पक्षान्तरग्रहणे बीजम्। अत एवाध्यासभाष्ये आशङ्कितमाचार्यैः 'न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्य'मिति।

---

1. 'नीलानीलादौ' इति क्वचित् पाठः। 2. 'भेदश्च' इति मुद्रितपुस्तकपाठः।

(A)वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानां तु न तदपेक्षत्वमपीति[1] न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्। किं च वाणीरकुडंगेत्यादौ प्रतीयमान-मर्थमभिव्यज्य वाच्यं(B) स्वरूप एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूत-

---

नन्विदमयुक्तम्, सर्वं वैधर्म्यमेकस्या अभिधायाः सहकारिभेदादुपपद्यत एवेत्यत आह—वाचकानामिति। अभिधया अनुभावकानां पदार्थोपस्थितिसापेक्षत्वं व्यञ्जनया अनुभावकानां तेषामेव तु विशिष्टस्मरण इव पदार्थोपस्थित्यनपेक्षत्वमपीत्यर्थः क्वचिद्दैववशसम्पन्नतदुपस्थितिसापेक्षत्वमपि [2]व्यक्तिविशेषं प्रतीत्यपेरर्थः।

ननु दीर्घतरीभूताया अभिधाया एवायं स्वभावो [3]विषयविशेषभेदेन वक्तव्य इत्यत आह—किञ्चेति। शक्तिग्राहककोषाद्यभावेऽपि व्यङ्ग्यार्थे अभिधास्वीकारे प्रमाणं तावत् तव इषुव्यापारदृष्टान्त एव, इषुव्यापारस्य च भिन्नलक्ष्यपुनर्भेदनं नास्तीत्यतो 'वाणीरकुडङ्गे'त्यादावभिधया व्यङ्ग्यार्थं बोधयित्वा रसबोधनार्थं कथं भवन्मते (C)स्वसहायार्थमभिहितार्थपुनरभिधानम्, अतो व्यङ्ग्यार्थो नाभिधागम्यः, तथाच कस्य

(A) यथास्वं कार्यकारणविषयादीनां भेदस्य अभिधाव्यञ्जनयोर्मिथो भेदसाधकत्वमुक्त्वा तदाश्रयाणां शब्दानां वैलक्षण्यान्तरमपि तत्साधनक्षममित्याह—वाचकानामिति।

(B) स्वरूप एव यत्र विश्राम्यतीति। अयम्भावः—विश्रामो नाम क्रियासम्बन्ध-परित्यागः, स च फलप्राप्तौ भवति, यथा—देवदर्शनानन्तरं तीर्थयात्रिणो विश्राम्यन्तीति। स्वरूपे विश्रामस्तु विषयान्तरासम्बन्ध एव, यथा वृत्तिसारूप्यविरहिणः पुरुषस्य। प्रकृते च वाच्य-मङ्गसादरूपं 'लतागृहे दत्तसङ्केतः प्रविष्टः' इति व्यङ्ग्यार्थमवगमय्य प्रतिपत्तुरास्वादात्मकचरमफल-सम्पादनेन अर्थान्तरनिराकाङ्क्षम् चारुत्वहेतुत्वेन तत्र वाच्यस्यैव प्राधान्यादिति स्वरूपे विश्रान्तम्। तथाच रसबोधे वाच्यानुभावात्मकाङ्गसादः पुनरपि विषयीभवति, इषुव्यापारस्य तु एकस्मिन् लक्ष्ये द्विः प्रवेशो नास्तीति दृष्टान्तवैलक्षण्यम्। अत एव गुणीभूतव्यङ्ग्यपर्यन्तानु-सरणमभिधातात्पर्ययोर्विरामप्रदर्शनार्थमिति मन्तव्यम्। इदमेव प्रदीपेऽप्युक्तम्—"यत्तोक्तं तात्पर्य-विषये शब्दः प्रमाणमिति तदितोऽप्यनुपपन्नम्, यतो व्यङ्ग्यस्य वाच्यताभ्युपगमेऽपि नामार्थन्यायेन तात्पर्यादेव नियमो वाच्यः, अन्यथा सर्वत्र सर्वव्यङ्ग्यप्रतीतिप्रसङ्गात्। तथाच यत्र वाणीर-कुडङ्गेत्यादौ व्यङ्ग्यप्रतीतावपि वाच्य एव चारुत्वविश्रामः, तत्र तात्पर्याविषयो व्यङ्ग्योऽर्थः कथं प्रतीयेत" इति।

(C) 'स्वसहायार्थं' भवदीयमतसमर्थनार्थमिति सोल्लुण्ठनोक्तिः। अभिहितपुनरभिधान-मिति, तत्र अभिहितस्याङ्गसादस्यानुभावतया रसबोधे तद्धानावश्यम्भावादिति भावः।

---

1. '-मिति' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. 'व्यक्तिविशेषं प्रति' इति ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।
3. 'विषयविशेषभेदेन' इति क-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।

व्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः (A)स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ।

ननु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'

इति(B),

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्'

इत्यादौ, (C)लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च

व्यापारस्य गम्यः स्यादित्यर्थः। 'स्वरूपे' वाच्यतास्वरूपे। 'विश्राम्यति' तिष्ठति, पुनरपि वाच्य एव स्यादित्यर्थः। 'अतात्पर्यभूतः' शक्तिग्राहकपुरुषतात्पर्याविषयीभूतः। न च तत्र वाच्यस्य नाभिधया पुनर्बोधः, किन्तु स्मरणमेवेति वाच्यम्, एवं सति वाच्यार्थस्मरणकाले अभिधाविरामे नाभिधा रसबोधिका, तथाच रसबोधनार्थं व्यञ्जनास्वीकारध्रौव्ये इषुव्यापारदृष्टान्तेनाभिधाया दीर्घतरत्ववादः पराहत एवेति भावः।

व्यङ्ग्यार्थे लक्ष्यार्थसाधर्म्यात् लक्षणीयत्वमृजुबुद्धिराशङ्कते—नन्विति। 'रामोऽस्मी'त्यत्र दुःखसहिष्णुरूपो लक्ष्यार्थः, 'रामेणे'त्यत्र निःस्नेहरूपः, 'रामोऽसौ भुवनेष्वि'त्यत्र तु तन्नाम्ना ख्यातरूपः। विशेषव्यपदेशेति, काव्यस्य शङ्ग-

---

(A) स्वशब्दानभिधेय इति। रसादिपदस्याभिधायकस्य सत्त्वेऽपि व्यञ्जनया प्रतीतिदशायामेव चमत्कारानुभवात्, अभिधया बोधने प्रत्युत वैरस्यापातेन तत्र दोष एवेति वक्ष्यमाणत्वाच्च अत्र स्वशब्दानभिधेयत्वमुक्तमिति बोध्यम्।

(B) रामेणेति।

प्रत्याख्यानरुचेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्॥

इति सम्पूर्णः श्लोकः।

(C) अत्र रामोऽस्मि सर्वं सहे इत्यत्र सर्वदुःखभाजनत्वम्, रामेण प्रियजीवितेनेत्यत्र कातरत्वम्, रामोऽसौ भुवनेष्वित्यत्र खरदूषणादिहन्तृत्वं च लक्ष्यते इति प्रदीपकाराणामाशङ्काग्रन्थः।

भवति; तद्वगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

उच्यते—लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव। न खलु मुख्येनार्थेन (A)अनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते; (B)प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

न च—

"अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि(C)॥१३६॥

शक्त्युत्थार्थशक्त्युत्थत्वादिव्यपदेशहेतुर्यथा व्यङ्ग्यार्थस्तथा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यलक्षणामूलत्वादिविशेषव्यपदेशहेतुर्लक्ष्यार्थोऽपीत्यर्थः[1]। अनेकार्थशब्देति, तस्य यथा कोषकारगणितनियतत्वं तथा लक्ष्यार्थस्यापि उपस्थितशक्यार्थसम्बन्धित्वरूपं नियतत्वमित्यर्थः। न खल्विति, 'अनियतसम्बन्धः' अनियतोपस्थितशक्यसम्बन्धः। प्रतीयमानस्त्विति। 'नियतसम्बन्धः' नियतोपस्थितस्वसम्बन्धः। 'अनियतसम्बन्धः' 'अनियतोपस्थितशक्यसम्बन्धः। व्यङ्ग्यार्थबोधने लक्षणाहेतुर्मुख्यार्थबाधोऽपि

(A) अनियत इति, अनियतः सामीप्यसादृश्यवैपरीत्यादिप्रसिद्धसम्बन्धभिन्नतया कदाचित् कस्यचिद् बुद्ध्यारूढः सम्बन्धो यस्य तादृशोऽर्थः न खलु लक्षयितुं शक्यते अप्रसिद्धसम्बन्धवति लक्षणायां नेयार्थतादोषाभ्युपगमादिति भावः। एवम् उत्तरत्र नियतसम्बन्ध इत्यादौ सर्वत्र बहुव्रीहिर्बोध्या।

(B) प्रतीयमान इति अर्थस्वरूपकथनम्, अन्यथा द्योत्यते इति विधेयेनैक्यात् शाब्दबोधानुपपत्तिः। यद्वा प्रतीयमानो न खल्वेवम्, तथाच तत्र इत्यध्याहारेण प्रकरणादिविशेष नियतसम्बन्ध इत्यन्वयः।

(C) अत्तेति। पद्येऽस्मिन् 'दिअहए' इत्यत्र 'दिअसअं' इति 'मह णिमज्जहिसि' इत्यत्र च 'महँण मज्जिहिसि' इति पाठो ध्वन्यालोके मुद्रितः। अभिनवगुप्ताचार्यास्तु—

श्वश्रूरत्र शेते (अथवा निमज्जति) अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक राज्यन्ध शय्यायामावयोर्माङ्क्षीः॥

---

1. अतः परं ङ-चिह्नितपुस्तके 'साधर्म्यान्तरमाह—तदवगमश्चेति, लक्षणीयार्थावगमश्चेतदर्थः। (शब्दायत्तः) शब्दसम्बन्धाधीनः, शक्यसम्बन्धरूपशब्दपरम्परासम्बन्धस्य एतन्मते स्वचपाणाच्चवलात् शब्दव्यापारस्यापि शक्तिरूपसम्बन्धाधीनत्वात् शक्यार्थस्य शब्दं न व्यञ्जनेन शक्ते रपि तत्रोपयोगित्वादिति' इत्यधिकं दृश्यते।

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः; तत्कथमत्र लक्षणा ? (A)लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम् ।(B)यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रय-

---

नास्तीत्याह—अत्ता एत्थेति ।

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवस एव प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायामावयोर्निमङ्क्ष्यसि ॥ इति संस्कृतम्

रात्र्यन्धत्वेन कथितात्मानं कृतावासं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम् । अत्ता श्वश्र्वां देशी । निमज्जति शय्यानिमग्ना मृतप्राया तिष्ठतीत्यर्थः । अत्राहमिति निष्क्रियनिर्देशात् आत्मनोऽतथाभूतत्वं सूचितम् । [1]अत्र निषेधस्य मुख्यार्थस्य बाधो नास्ति । न च स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यान्निषेधस्य बाध एवेति वाच्यम्, उभयशय्याप्रवेशनिषेधस्यैव वाच्यत्वेन तस्याबाधादेव[1]* । प्रतिपादितमिति, 'यस्य प्रतीतिमाधातु'मित्यादिनेत्यर्थः । लक्षणाव्यञ्जनयोरन्यदपि (C)वैधर्म्यमाह—यथा चेति । लक्षणायाः शक्तिरूपसमयविशेषसापेक्षत्वं बाधप्रतियोगितया मुख्यार्थोपस्थित्यर्थम् ।

अत्र 'शयिष्ठाः' वा इत्यनूद्य, "महँण' इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिः, अत्र 'आवयो'रित्यर्थः न तु ममेति, एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । कांचित् प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः सम्पन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाऽभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः, न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव रात्र्यन्धेति, समुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम्" इति व्याचक्षते । एतेन 'निषदो णुमज्ज' इति क्रमदीश्वरसूत्रानुसारेण 'णुमज्जिहिसि' इति पद्यान्ते पठित्वा 'निषत्स्यसि' इति 'निमज्जइ' इत्यत्र 'निषीदति' इति च महेशचन्द्रन्यायरत्नानामनुवादो नोपादेयः प्राचीनमतविरुद्धत्वात्, निपूर्वमस्जिना व्यङ्ग्यस्यार्थस्य निपूर्वसदिनालाभात् 'निमज्जइ' इत्यत्र तत्सूत्रानुसाराभावाच्च । अत्र अत्ताशब्दः अक्काऽल्लादिवत् मातृवाचक एव इदानीन्तनव्यवहारवत् प्राचीनेऽपि काले श्वशुरपत्न्यां व्यवहृत इति अत्ता इत्यस्य श्वश्रूरित्यनुवादे बीजं न वेति भाषातत्त्वविदां विचार्यम् ।

(A) ननु छत्रिणो गच्छन्तीत्याद्यनुरोधात् तात्पर्यबाध एव मुख्यार्थबाध इत्यनेन विवक्षणीयः, तथाच प्रकृते स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यासत्त्वादस्त्येव मुख्यार्थबाध इत्यत आह—लक्षणायामपीति ।

(B) व्यङ्ग्यार्थबोधे अभिधाया व्यापारत्वनिरसनन्यायं लक्षणापक्षनिरासेऽपि योजयति यथा चेति ।

(C) तथाच मुख्यार्थबाधादित्रय-समयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा व्यञ्जना तु नैवमिति स्फुटं वैधर्म्यमिति भावः ।

---

1. 'अत्र मुख्यार्थस्य शय्याप्रवेशनिषेधस्य न बाधः स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यसत्त्वात् निषेधबाधेऽप्युभयशय्याप्रवेशनिषेधस्याबाधादेव' क ।

समयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा। अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननं तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। (A)न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्; न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः; न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधा-तात्पर्य-लक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव।

(B)तत्र 'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स ण व होइ रोसो' इत्यादौ अनियतसम्बन्धः;

'तदनुगमेन' लक्षणापश्चाद्भावेन, 'तस्य' ध्वननस्य। ननु लक्षणैव दीर्घतरीभूता ध्वननमस्त्वित्यत आह—**न च तदन्विति**। ननु तत्रापि दीर्घतरीभूता अभिधैव ध्वननमस्त्वित्यत आह—**न च उभयेति**। ननु वर्णघटितपदाभिधैव तत्राप्यस्तीत्यत आह—**न च शब्देति**। [1]नियतसम्बन्धादिकं यदुक्तं तद्विषयं[1]* दर्शयति—**तत्र अत्तेति**। शय्याप्रवेशाप्रवेशयोर्व्यङ्ग्यवाच्ययोर्भावाभावरूपत्वेन प्रतियोग्यनुयोगिभावरूपसम्बन्धोपस्थितिनियमादिति भावः। **कस्स ण वेत्यादाविति**, प्रतारणं व्यङ्ग्यार्थः, सभ्रमरपद्माघ्राणञ्च वाच्यार्थः, तत्कथनजन्यत्वञ्च प्रतारणे तत्सम्बन्धः,

---

(A) न चेति। न च ध्वननं तदनुगतं लक्षणानुगतमेवेत्यर्थः, एवकारव्यवच्छेद्यमाह—अभिवेति। एतदुक्तं भवति व्यञ्जनायाः क्वचिदभिधामूलतया सर्वत्र दीर्घतरीभूतलक्षणात्मकता न सम्भवति तत्र लक्षणाया अभावात्। तथाच अनङ्गमङ्गलेत्यादौ 'ङ्ग'काराणां केवलानामवाचकत्वेऽपि अस्ति गुणव्यञ्जकत्वम्, नात्राभिधाया लक्षणाया वा गन्धोऽपीति स्वीकार्यैवातिरिक्ता व्यञ्जनेति भावः। टीकायां व्याख्यातमन्यत्।

(B) यदुक्तं 'प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धोऽनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्चेति तदुदाहरणमाह—तत्रेति। नियतसम्बन्धः 'अत्ता एत्थ' इत्यत्र स्पष्टः। अनियतसम्बन्धः 'कस्स व ण' इत्यत्र। तथाहि—अत्र वाच्यार्थः अधरव्रणः, पतिबोध्य' व्यङ्ग्यार्थश्च नेयं व्यभिचारिणीत्येवंरूपः, तत्र स्वदर्शनाधीनासूयाविषयप्रतियोगिकत्वं वाच्यार्थस्य सम्बन्धः व्यभिचारित्वाभावरूपव्यङ्ग्यार्थप्रतियोगिनि व्यभिचारे अधरव्रणदर्शनाधीनासूयाविषयत्वसत्त्वात्, एवं 'मा पुनरेवं दाङ्क्षी'रिति निवृत्तिविषयक उपनायकबोध्यो व्यङ्ग्यार्थः, तत्र च स्वज्ञानप्रयोज्यभ्रमोत्पादाधीनरक्षाविषयवृत्तिशङ्कोत्पादकक्रियावधिकत्वं सभ्रमरपद्मा-

---

1. 'नियतसम्बन्धत्वादिकस्य विषयं' क-ग।

विपरीअरए लच्छी बम्हं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं ।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १३७ ॥

तस्य च न नियमत उपस्थितिः तत्कथनजन्यत्वानुपस्थितावपीयं प्रतारयतीति बोधोदयात् (A)। चक्रवर्त्ती तु अनियतसम्बन्धः विभिन्नबोद्धृकत्वम्, व्यङ्ग्यवाच्यबोद्ध्रोः (B)कान्ताकान्तयोर्विभिन्नत्वात्; लक्ष्यार्थे तु तन्नास्ति [1]तद्बोद्धुरेव वाच्यबोद्धृत्वादिति व्याचष्टे, तन्न; विभिन्नबोद्धृकत्वं यदि वाच्यार्थाबोद्धृबोध्यत्वं तदा प्रकृतेऽपि तन्नास्ति कान्ताया उभयबोद्धृत्वात्[2]। [3]न च वाच्यार्थबोधः शाब्दो विवक्षितः कान्तायास्तु बाधावतारात् न शाब्दो वाच्यार्थबोध इति वाच्यं लक्ष्यार्थबोद्धुरपि बाधात् शाब्दवाच्यार्थबोधाभावेन तुल्यत्वात्[3]*। यदि तु स्वाबोद्धृबोध्यवाच्यकत्वं [4]तत्, तदा लक्ष्यार्थेऽपि तदस्ति[4]* अनवतीर्णबाधेन पुरुषेण वाच्यार्थस्यैव बुद्धत्वादित्यतस्ततो वैलक्षण्याभावात्[1]*। विपरीअ इति—

घ्राणरूपस्य वा वाच्यार्थस्य सम्बन्धः, सभ्रमरपद्माघ्राणज्ञानेन हि व्यभिचारशङ्कानिवृत्त्या नायिका परित्राता, तद्वृत्तिः शङ्कोत्पादकक्रिया प्रकटव्रणकारकदंशनादिः तदवधिका निवृत्तिश्च जारायोपदिष्टा। एवं प्रतिपाद्यभेदेन अन्येष्वपि प्रदर्शितेषु व्यङ्ग्यार्थेषु यथास्वं वाच्यार्थसम्बन्धा ऊहनीयाः। तथा च लक्षणास्थले लक्ष्यार्थे वाच्यार्थस्य सम्बन्ध एकविध एव, सोऽपि प्रसिद्धः, व्यञ्जनास्थले च प्रतिपाद्यादिभेदेन भिन्ने व्यङ्ग्यार्थे वाच्यार्थसम्बन्धः प्रत्येकं दूरविभिन्नः अतिपरम्परात्वेनाप्रसिद्धश्च तथाऽपि न नेयार्थलक्षणावद् वैरस्यमावहति प्रत्युत सकलसहृदयानन्दपरम्परामुत्पादयतीति सम्बन्धस्य एवंविधबाहुल्यमेव अनियतत्वमिति अत्र अनियतसम्बन्धः। एवं च दुरपह्नवं लक्ष्यव्यङ्ग्ययोर्मिथो वैलक्षण्यम्। तद्वैलक्षण्याच्च तद्बोधकयोर्लक्षणाव्यञ्जनयोरपि भेदो दुर्वारः। सम्बद्धसम्बन्ध इति, बहुव्रीहिणा सम्बद्धसम्बन्धाश्रय इत्यर्थः, तथाच वाच्यस्य हरिपदार्थस्य सूर्ये व्यङ्ग्ये स्वावयवाभेदः सम्बन्धः, एवं वाच्यसम्बद्धस्य सूर्यस्य स्वादर्शनज्ञाप्यत्वम् अस्तमयात्मकसन्ध्याकाले व्यङ्ग्ये सम्बन्धः, तत्कालः वाच्यार्थसम्बद्धसम्बद्धः। एवमुत्तरोत्तरं बोध्यम्। अनियतसम्बन्धपदस्य व्याख्यान्तराणि तद्दूषणानि च प्रदीपे द्रष्टव्यानि।

(A) अत्र प्रतारणरूपो व्यङ्ग्यार्थः उपनायकदृष्टाधरतन्नायिकाबोध्य इति बोध्यम्।

(B) अत्रैकशेषाभावश्चिन्त्यः।

---

1. 'अत्र लक्ष(क्ष्य ?)वाच्ययोरेकबोद्धृकत्वादित्याह—तन्न वाच्याबोद्धृबोध्यत्वरूपस्य विभिन्नबोद्धृकत्वस्य प्रकृतेऽप्यभावात् कान्ताया उभयबोद्धृत्वात्; स्वाबोद्धृबोध्यवाच(च्य ?)कत्वस्य तु लक्ष्यार्थेऽपि सत्त्वेन ततो वैलक्षण्याभावात् अत्र(अनव ?)तीर्णं बाधस्य पुंसो वाच्यार्थमात्रबोधात्' ग। 2. अतः परं ख-पुस्तके 'बाधार्थावगतवाच्यबोधादेव तस्य (तस्याः ?) व्यङ्ग्यबोधात्' इति अधिकं दृश्यते। 3. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति। 4. 'प्रकृते च तदबोद्धृकान्तबोध्यवाच(च्य ?)कत्वादिति तदा लक्ष्यार्थेऽपि तदस्ति' ख।

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते, तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम्, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवनविलसितमिति।

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च

विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति ढौकते॥ इति संस्कृतम्।

ढौकते (A) आच्छादयति। प्रकृतरते हरेर्न्युब्जत्वेन नाभिकमले ब्रह्मणः स्थित्यसम्भवाद् विपरीतेत्युक्तम्। रसाकुलत्वेन व्रीडयाऽपि न रतित्याग इति सूचितम्। दक्षिणनयनढौकनबीजं स्वयमेव व्याचष्टे—अत्र हि हरिपदेनेति। सूर्यात्मकता च पुराणसिद्धा(B)। तन्निमीलनेनेति; अत्र निमीलनजन्यत्वं सम्बन्धः, एवमुत्तरोत्तरमपि बोध्यम्।

ननु शब्दाधीनप्रतीतिको योऽर्थः स शक्यलक्ष्यान्यतर एवेति व्याप्तेः [1]संसर्गे व्यभिचारस्य नैयायिकमीमांसकमतयोः सम्भवेऽपि वैदान्तिकमते तदसम्भव इत्याशङ्क्ते[1]*—अखण्डेति। अत्र अथाखण्डेति क्वचित् पाठः प्रामादिक एव समाधाने प्रश्नोत्तरभावाभावात्। (C)'अखण्डबुद्धिः' [2]ब्रह्मभिन्नसंसृष्टसकलपदार्थ[3]विषयैका बुद्धिः।

(A) यद्यपि ढौकिर्गमनार्थे पठितस्तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वादाच्छादनेऽपि वर्त्तते। तथाच शाकुन्तले तृतीयेऽङ्के 'असन्दोसे उण किं करेदि' इति शकुन्तलयोक्ते 'इदम्' इति राज्ञः उत्तरात् परं 'इति व्यवसितः। शकु—वक्त्रं ढौकते' इति वङ्गदेशीयमुद्रितपुस्तकेषु दृश्यते। उद्योतकारास्तु 'ढकइ' इत्यस्य 'स्थगयति' इत्यनुवादं चक्रुः।

(B) 'चन्द्रसूर्यात्मके विष्णोः चक्षुषी वामदक्षिणे' इति विवरणधृतं पुराणवचनम्।

(C) अखण्डबुद्धिरिति। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादि वाक्यसमुत्था बुद्धिरखण्डबुद्धिः। तथाच—

अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्।
एकं वेदान्तं निष्णातास्तमखण्डं प्रपेदिरे॥

इति सुधासागरकारादीनां व्याख्यानम्। प्रकारसंसर्गानवगाहिनी ब्रह्मविषयिणी बुद्धि-

1. 'नैयायिकमीमांसकमतयोः संसर्गे व्यभिचारः सम्भवन्नपि न वैदान्तिकमते, तन्मते ब्रह्मभिन्नानां संसृष्टपदार्थानामखण्डशक्त्येन शक्त्यैव बोधनात् संसर्गस्यापि शक्यत्वादितात आह' क। 2. ख-ग-पुस्तकयोः 'ब्रह्मभिन्न'ेति न दृश्यते। 3. '-विषयिका' क।

वाचकम्(A) इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्या[1]पदपतितैः पदपदार्थकल्पना

(A)**वाक्यार्थ एवार्थ** इति, [2]तथाच वाक्यार्थान्तर्गतः संसर्गोऽपि वाच्य एवेति न तत्र व्यभिचार इति भावः[2]*। समाधत्ते—**तैरपी**ति, ब्रह्माद्वैतग्राहिणामेव तादृशी बुद्धिः,

---

रखण्डबुद्धिरिति च अपरेऽपि ब्रुवन्ति। यद्यपि एतदनुसारेण 'ब्रह्मभिन्नसंसृष्टसकलपदार्थविषयैका बुद्धिः' इति टीकाकृताम् अखण्डबुद्धिपदव्याख्यानं प्रथमतो विपरीतमिव प्रतिभाति तथाऽपि 'एवं घटमानयेत्यादौ घटकर्मत्वादेः पृथगुपस्थितस्य वैशिष्ट्यविषया बुद्धिः सखण्डा, अपृथगुपस्थितयोर्वैशिष्ट्यविषया अखण्डा बुद्धिः' इत्युद्द्योतग्रन्थदर्शनेन दृश्यं प्रमेयमित्याद्याकारेण प्रपञ्चविषयिणी बुद्धिरपि अखण्डबुद्धिपदवाच्या भवतीति नात्र दोषावसरः। एतेन 'अखण्डबुद्धि-' व्याख्यानार्थं प्रथमतो ब्रह्मभिन्नेत्यादिरूपेण सखण्डबुद्धिरेव व्याख्याता, ततश्च तद्भिलक्षणा बुद्धिरखण्डबुद्धिरिति टीकाकृतामभिप्रायः, टीकायां 'अखण्डबुद्धिः' इति तु 'सखण्डबुद्धिः' इति लिखितव्ये लिपिकरप्रमादादागतमिति केषाञ्चित् कल्पना चिन्त्या।

(A) अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च वाचकमिति। ग्रन्थोऽयं दुर्बोधः, टीकाऽपि क्वचिद्विपरीतेव प्रतिभातीति मतस्यास्य सुखबोधार्थं प्रभासहितः प्रदीप उद्ध्रियते—

'वेदान्तिनस्तु—क्रियाकारकादिपुरस्कारेण शब्दानां प्रवृत्तिर्धर्मधर्मिभावमपुरस्कृत्य न सम्भवति। धर्मधर्मिभावश्च प्रपञ्चगोचरो वा स्याद् ब्रह्मगोचरो वा। नाऽऽद्यः, प्रपञ्चस्य बाध्यत्वात्। नान्त्यः, ब्रह्मणो धर्मशून्यत्वात्। अतः पदपदार्थविभागमन्तरेणैव 'सत्यं विज्ञानम्' इत्यादि वाक्यमखण्डब्रह्मवाचकमित्यातिष्ठन्ते। अतस्तन्मतानुसारेण प्रतीयमानेऽपि वाक्यस्य शक्तिरेवेत्यपि न वाच्यम्, यतो व्यवहारमार्गे तैरपि पदपदार्थकल्पनाऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्या। व्यवहारे तेषां भट्टनयस्वीकारात्। यदि च पदपदार्थकल्पनाऽविद्यादशायामपि नाङ्गीक्रियते कुतस्तर्हि व्युत्पन्नाव्युत्पन्नविभागः? वाक्यार्थ एव वाक्यस्य संकेतग्रहमाश्रित्येति चेत्—न, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेनाऽऽनन्त्याच्च तत्र सङ्केतग्रहस्याशक्यत्वात्, अविद्यामार्गतिरस्कारे च कथमखण्डयोरपि वाच्यवाचकभावः पारमार्थिकभेदाभावात्। तस्मात् तन्मतेऽपि विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव'।

व्याख्यातमिदं प्रभाकारैः—क्रियाकारकादीति, आदिना तद्विशेषणानां संग्रहः। पुरस्कारेण तद्बोधद्वारेण, प्रवृत्तिः वाक्यार्थबोधकता। धर्मेति, अपुरस्कृत्य अनादृत्य। कारकाणां क्रियाधर्मत्वस्य विशेषणानां नेत्यादीनां च कारकविशेषणत्वस्यावश्यकत्वात्। बाध्यत्वादिति, तथाच सत्यादि वाक्यं बाधितार्थकं स्यादिति भावः। धर्मशून्यत्वादिति, अद्वितीयेन (अद्वि-

---

1. '-पथपतितैः' इति क्वचित् पाठः। 2. 'न तु संसर्गरहितः पदार्थ इत्यर्थः' क।

कर्तव्यवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव ।

संसारितादशायां तु पदपदार्थविभागोऽस्तीति तन्मतेऽपि संसर्गे व्यभिचार एवेति भावः । 'उक्तोदाहरणं' निःशेषेत्यादि ।

तीयत्वेन ?) सत्यत्वादिधर्मशून्यत्वादित्यर्थः । इयं च तन्मते वाक्यमखण्डार्थवाचकमिति भ्रान्तस्य शङ्केति ज्ञेयम्, तैर्लक्षणाया एव स्वीकारात् । वस्तुतस्तु 'येऽप्याहु'रित्यादिवृत्तिग्रन्थो वाक्यस्फोटाङ्गीकर्तृ-वैयाकरणमताभिप्राय एव समञ्जसः ।

यथाहुः—ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥ इति ।

अविद्यापदेत्यस्य च प्रक्रियादशापन्नैरित्यर्थः । तदप्युक्तं तैरेव—'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इति ।

असत्यतया प्रक्रिया अविद्यापदेनोक्ता । तत्पदश्रवणाच्च वेदान्तिमतमुक्तमित्यभिमान इति ज्ञेयम् । इति ।

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्य इति पक्षस्य टीकायाः घ-चिह्नितपुस्तके स्थितं पाठान्तरम्—एतत्प्रभा-व्याख्यानस्यांशतः सादृश्यमावहतीति अत्रैव यथास्थितं तदुद्ध्रियते—"नन्वयं शक्तिव्यञ्जनाभेद-विचारः तदशक्यशक्यज्ञाने सत्येव, तदेव तु नास्ति । तथाहि वाक्यस्यैव प्रयोगयोग्यत्वेनाखण्ड-पदार्थ एवाखण्डवाक्यार्थः, स च व्यङ्ग्यत्वाभिमतपदार्थोऽपि भवति । पदार्थस्तु क्वचिन्नास्ति । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥ इति ।

अस्यार्थः—ब्राह्मणसम्बन्धिनि कम्बले प्रतीयमाने यथा ब्राह्मणरूपोऽर्थो नास्ति तत्सम्बन्धित्व-विशिष्टकम्बलस्याखण्डस्य प्रतीतेः, तथा देवदत्तो गच्छतीति वाक्ये देवदत्तसम्बन्धिगमनस्या-खण्डस्य प्रतीतेः खण्डभूता देवदत्तादयोऽनर्थकास्तदर्थभिन्ना एव स्युरित्येतद्वैयाकरणमत-माशङ्कते—अखण्डेति । समाधत्ते—तैरपीति ; अन्यथा घटमानयेति वाक्ये एव व्युत्पन्नस्य आनय घटमिति वाक्यात्तदर्थबोधो न स्यादिति भावः । एवं च पदपदार्थकल्पनावशादेवापदार्थभूतस्य व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यार्थात् पृथक्त्वे व्यञ्जनाऽपि पृथगिति भावः । एवं च पदार्थकल्पनाऽद्वैतदर्शिनां तत्त्वज्ञानिनां नास्ति पदपदार्थयोरपि ब्रह्माभिन्नत्वेन तैरवगतत्वादित्याह अविद्यापथपतितैरिति । अविद्या द्वैतबुद्धिहेतुः मिथ्या वासना" इति ।

(A) वाक्यार्थ एवार्थ इति । इदं 'वाक्यार्थ एवार्थः' इति वृत्तिपाठाभिप्रायेण । अर्थ इत्यस्य वाच्यार्थ इति व्याख्या । ग-पुस्तके तु 'वाक्यार्थ एवैकार्थः' इत्येवं वृत्तिग्रन्थो दृष्टः ।

(A)ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य-

'व्यङ्ग्यार्थोऽनुमितिगम्य एवेति नैयायिकमतमुत्थापयितुं वाच्यार्थे पक्षे व्यङ्ग्यार्थस्य साध्यस्य बाधनिरासिकां भूमिकामाह—वाच्यादसम्बद्धमिति। 'अप्रतिबन्धे'

अस्माभिस्तु सुगमतया मुद्रितबहुपुस्तकानुसारी पाठो गृहीतः। क्वचित्तु 'वाच्यः' इत्यत्र 'वाच्यार्थः' इति पाठान्तरमुपलभ्यते।

(A) पक्षोऽयं प्रदीपे स्फुटतरीकृतः तेन वृत्तिग्रन्थस्यापि क्वचित् सुबोधता सम्भाव्यते तदर्थं हेतोरसिद्धताप्रतिपादनपर्यन्तस्तद्ग्रन्थ उद्ध्रियते। 'महिमभट्टास्तु—न तावदसंबद्ध एव वाक्यात् प्रतीयते, सर्वस्मात् सर्वोपलब्धिप्रसङ्गात्। संबद्धाच्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो भवन्नानियताद्भवतीति प्रतिबद्धरूपादेव भवतीत्युपेयम्। प्रतिबद्धोऽप्यर्थो न स्वाधिकरणत्वेनाज्ञाते व्यङ्ग्यं प्रतिपादयति, सर्वत्र तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्। एवं च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽनुमेयानुमापकभाव एव पर्यवसन्नः। यतो व्याप्तत्वेन सकलपक्षनिष्ठत्वेन च सपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्व-पक्षसत्त्वलक्षणरूपत्रयवतो लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमेवानुमानम्। तदेतदुक्तमनुमानं यत्तद्रूप इति तेनानुमानेनानुमित्या रूप्यते न त्वतिरिक्तया व्यक्त्येति हि तस्यार्थः। एवमनुमानादेव व्यङ्ग्यप्रतीतिः। तथा हि—

भम धम्मिअ०।

सङ्केतनिकेतनीभूतं गोदावरीतीरनिकुञ्जं पुष्पावचयादिहेतोः कदाचित् संचरतो धार्मिकस्य तन्निवारणायाविनयवत्या इयमुक्तिः। तत्र निकुञ्जवासिसिंहकृतया श्वनिवृत्त्या गृहे भ्रमणविधिर्वाच्यः, स एव निकुञ्जभ्रमणायोग्यतानुमित्यै प्रभवति, यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, निकुञ्जे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धौ पर्यवसानाद् भ्रमणस्य व्यापिका भयकारणाभावोपलब्धिः प्रतीता, तद्विरुद्धं यद्भयकारणं तदुपलब्धेः, यथा नात्र तुषारः स्पर्शो वह्नेः। अनुमानं च—इदं गोदावरीनिकुञ्जं श्वभीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वादिति।

अत्रोच्यते—श्वभीरोः अवीर-स्वभावस्य भ्रमणायोग्यत्वमत्र साध्यं वीरस्वभावस्य वा, विशेषौदासीन्येन तत्सामान्यस्यैव वा? आद्ये व्यभिचारः, प्रभोर्गुरोर्वा निदेशेन प्रियानु-

---

1. 'व्यङ्ग्यार्थोऽनुमितिरेव विषय इति वादिनां नैयायिकानां मते भूमिकामुत्थापयति वाच्यादसम्बन्धमिति। वाच्यस्य पक्षत्वे तत्र बाधनिवर्तिका तस्य हेतुत्वे च तत्र साध्यव्याप्तिबोधिका अवश्यं न भवतीतात्ता भूमिका। अप्रतिबन्धे असम्बन्धे। न भवतीत्यनन्तरम् 'इति स्थिते' इति पूरणीयम्। व्याप्तत्वेनेति, विरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि पक्षे ज्ञानं साध्यभूतव्यङ्ग्यार्थस्य, तदेवानुमानमनुमितिरिति यत् तद्रूप एव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः पर्यवस्यतीत्यन्वयः। लिङ्गस्य पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षसत्त्वात्मकं त्रिरूपत्वं दर्शयति व्याप्तत्वेनेति, साध्यवदन्यावृत्तित्वरूपव्याप्तिसत्त्वेनेत्यर्थः। अनेन विपक्षासत्त्वं रूपं दर्शितम्' च।

कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात् एवञ्च (A)सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति (B)व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति। तथा हि—

भम धम्मिअ [1]वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण(C) ॥ १३८ ॥

असम्बन्धे, 'अवश्यं' सर्वथा। व्याप्तत्वेनेति साध्याभाववदवृत्तित्वेनेत्यर्थः। तेन विपक्षावृत्तित्वमेकं रूपं दर्शितम्। अन्यत् रूपद्वयमाह—नियतेति, साध्यवत्त्वेन नियतौ यौ धर्मिणौ पक्षसपक्षौ तन्निष्ठत्वेनेत्यर्थः। तथाच पक्षसपक्षवृत्तित्व-विपक्षावृत्तित्वात्मकरूपत्रयवतो लिङ्गादित्यर्थः। [2]'लिङ्गिनि' पक्षे, 'ज्ञानं' साध्यस्य 'अनुमानम्' अनुमितिः, 'तद्रूपः' व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यन्वयः[1-2]*। [3]'तदनतिरिक्त इत्यर्थः[3]*। तदेव उदाहरणेन दर्शयति—भम धम्मिअ इति।

रागेण निधिलाभादिशङ्कया वा तादृशस्यापि तत्र भ्रमणदर्शनात्। अत एव नान्त्योऽपि। मध्यमे तु विरोधः, स्पर्शादिशङ्कयाऽपौरुषेयतया वा भवतो बिभ्यतोऽपि मृगयादिकुतूहलेन सिंहवद्देशे वीरस्य भ्रमणात्। किञ्च, पक्षे सिंहसद्भावो न मानान्तरेणावधारितः, किन्तु पुंश्चली-वाक्यादवधारितः; न च तद्वचनं निश्चायकम्, अर्थेन समं संबन्धानियमात्, इत्यनिश्चय-रूपाऽसिद्धिः' इति।

(A) सम्बन्धादित्यनन्तरं 'भवन्नि'ति पूरणीयम्। तेन सम्बन्धाद्द भवन् व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भावः अप्रतिबन्धे व्याप्तिरूपसम्बन्धाभावे न भवतीत्यर्थः।

(B) व्याप्तत्वेनेति। साध्याभाववदवृत्तित्वविशिष्टं साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः, एतेन हेतोः विपक्षासत्त्वसपक्षसत्त्वयोर्लाभः। नियतधर्मी हेत्वधिकरणतया ज्ञातो धर्मी, तन्निष्ठत्वेन पक्ष-वृत्तित्वलाभः। तेन लिङ्गं रूपत्रयोपपन्नं भवतीति अनुमित्युपयोग इति भावः।

(C) भमेति।

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

इत्यनूद्य व्याख्यातमिदमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—कस्याश्चित् सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं

---

1. 'वीसद्धो' इति पाठे विश्रब्ध इत्यनुवादः। 2. 'लिङ्गिनः साध्यस्य ज्ञानं तदेव च अनुमानमनुमितिः, तद्रूपो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यर्थः' इति ङ-पुस्तके पाठः। 3. 'तस्मै रूपं यस्येति विग्रहः अनुमापकस्वरूप इत्यर्थः' ग।

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धे-रभ्रमणमनुमापयति। यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युप-

---

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वा अद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥ इति संस्कृतम्।

आश्रमस्थायाः कुलटाया गोदावरीसन्निहितकुञ्जरूपे सङ्केतस्थाने प्रतिदिनं पुष्पावचयेन सङ्केतभङ्गं कुर्वाणं स्वप्रेरितकुक्कुरोपद्रवेणाप्यनिवृत्तं धार्मिकं प्रति तस्या दिनान्तरे उक्तिरियम्। गोदावरीतीरे यो दिनान्तरे त्वामुद्वेजयति स श्वा अद्य सम्प्रति तेन प्रसिद्धेन गोदावरीसन्निहितकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन मारित इत्यन्वयः।

(A)अभ्रमणमनुमापयतीति सिंहोपलब्धिरिति पाठे सैव कर्त्री। सिंहोपलब्धेरिति

धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात् तदवलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं (श्व)भयेनापोहितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु वि(नि ?)योगप्रैषादिरूपोऽत्र विधिः। अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्ययं लोट्। ......भ्रमेति। अतिसृष्टोऽपि(सि ?) प्राप्तस्ते भ्रमणकालः। धार्मिकेति, कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम्। विश्रब्ध इति शङ्काकारणवैकल्यात्। स इति यस्ते भयप्रकम्पाम् अङ्गलतिकामकृत। अद्येति, दिष्ट्या वर्द्धस इत्यर्थः। मारित इति, पुनरस्यानुत्थानम्। तेनेति, यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाऽप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति। पूर्वमेव हि त्वद्रक्षायै तत्त्वतयोपश्रावितोऽसौ, स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनात् निःसरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत् कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्काया इति भाव इति।

(A) इत आरभ्य (२७२) पृष्ठे हेतोरनन्यवृत्तित्वादितिपर्यन्तं घ-पुस्तकपाठोऽत्यन्तं विभिन्नोऽपि विशेषार्थप्रतिपादक इति टिप्पण्यामेव उद्ध्रियते—

'इदञ्च वाक्यं सङ्केतस्थलस्य सिंहवत्त्वकथनात् तत्राभ्रमणव्यञ्जकम्, तच्चाभ्रमणमनुमानगम्यमेवेत्याह—अत्रेति। विहितमित्यन्तं गोदावरीतीरदेशस्य वाच्यस्य पक्षदर्शनपरम्। विहितमित्यस्य कुलटयेति शेषः। सिंहोपलब्धेरिति हेतुप्रदर्शनम् अभ्रमणं भीरुधार्मिकस्य, सिंहोपलब्धिरपि एतद्वाक्यजन्या तस्यैव, अनुमानं च एतत्पद्यश्रोतॄणां सामाजिकानाम्। अनुमापयतीत्यत्र सिंहोपलब्धिजनकमेतद्वाक्यमेव कर्तृ बोध्यम्। सिंहोपलब्धिरिति पाठे सिंहोपलब्धिरूपहेतोरेव विवक्षावशात् कर्तृत्वं बोध्यम्। सिंहोपलब्धेश्च विषयतासम्बन्धेन पक्षवृत्तित्वं बोध्यम्। तथाचायं प्रयोगः—गोदावरीतीरदेशो भीरुतद्धार्मिकेण अभ्रमणीयः तदीयसिंहोपलब्धेरिति। तेन अन्यदीयसिंहोपलब्धिसत्त्वे तद्भ्रमणसत्त्वेऽपि न व्यभिचारः। पक्षोऽत्र तत्सिंहोपलब्धिमत्त्वेन विशेषणीयः, तेन अन्यदा तद्भ्रमणसत्त्वेऽपि न बाधः, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यस्य

लब्धिपूर्वकम्, गोदावरातीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।

पाठे कुलटाया वाक्यमेव कर्त्तृ। अत्र च गोदावरीनदीनिकुञ्जः तद्भीरोरभ्रमणीयः तत्र तस्य सिंहोपलब्धेरिति सामाजिकानामनुमानम्। अभ्रमणञ्च उपलब्धिकाले बोध्यम्, तेन अन्यदा भ्रमणेऽपि न बाधः। तत्र च एतादृशशब्दजन्योपलब्धिविशेष एव हेतुः, स च विषयतासम्बन्धेन पक्षमात्रवृत्तित्वाद् व्यतिरेकीत्यभिप्रायेण व्यतिरेकोदाहरणमाह—यद् यदिति। भीरोर्भ्रमणं यत्रेति बहुव्रीहिणा 'भीरुभ्रमणं' स्थानम्, तेन भीरोरभ्रमणरूपस्य साध्यस्य अभावेन भीरुभ्रमणेन विशिष्टं यद् यत् स्थानमित्यर्थः, तेन यद् यत् साध्याभाववदित्यर्थः। तद्भयकारणेति। भयकारणमत्र सिंहः तस्य निवृत्त्युपलब्धिः उपलब्धिनिवृत्तिः राजदन्तादिसमासात्। निवृत्तिरत्र अभाव एव, पूर्वकमित्यस्यापि विशिष्टमित्येवार्थः। तेन यद् यद् भीरुभ्रमणविशिष्टं स्थानं तत् सिंहोपलब्ध्यभावविशिष्टमित्युदाहरणार्थः। साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगिनं हेतुं पक्षे उपनयति—गोदावरीतीरे चेति। साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वं

बोधात्। तत्सिंहोपलब्धिश्चात्र तच्छा(तच्छ)ब्दजन्यैव सामाजिकैरवगतेति सैवात्र हेतुः। स च पक्षमात्रवृत्तित्वेन व्यतिरेक्येवेत्यतो व्यतिरेकेणैवोदाहरणं प्रयुङ्क्ते यद् यदिति। भीरुभ्रमणमित्यत्र भीरोर्भ्रमणं यत्रेति बहुव्रीहिणा भीरुभ्रमणवद्देशोऽर्थः, तेनाभ्रमणस्य साध्यस्याभावानां भ्रमणानामधिकरणान्युक्तानि। तेषां हेत्वभावाधिकरणत्वमाह—तत्तद्(इति)। भयकारणमत्र सिंहः, तस्य निवृत्त्युपलब्धिरुपलब्धिनिवृत्तिः; राजदन्तादित्वे कृते समासे पूर्वनिपातस्य व्याकरणव्युत्पादितत्वात्। निवृत्तिश्चाभावः सिंहोपलब्धि अ(लब्ध्य)भावो भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपर्य्यन्तस्यार्थः, विशिष्टबुद्धौ विशेषणस्य पूर्वज्ञेयत्वेन तदनुसारात् पूर्वपदमत्र विशेषणार्थकम्, बहुव्रीहौ च कप्रत्ययः। तथाच सिंहोपलब्ध्यभावविशेषणकमिति तत्तदित्यादिसमुदायार्थः। तथाच यद् यद् भीरुभ्रमणवत् तत् तत् सिंहोपलब्ध्यभाववदिति व्यतिरेकेणोदाहरणमुक्तम्। उपनयरूपमवयवं प्रयुङ्क्ते—गोदावरीतीरे चेति। सिंहोपलब्धेर्हेतोः साध्याभाव(व्यापकाभाव)प्रतियोगित्वं दर्शयति—व्यापकेति। व्यापकस्य साध्याभावव्यापकस्य अभावस्य विरुद्धा प्रतियोगिनी उपलब्धिः सिंहोपलब्धिर्गोदावरीतीर इत्यर्थः। सिंहोपलब्धेर्गोदावरीतीरवृत्तित्वमुक्त्वा तस्या व्यापकविरुद्धत्वं वाक्यान्तरेण कथितमिति न पौनरुक्त्यम्। भीरुरपीति। भीरुस्तद्धार्मिकोऽपीत्यर्थः, अन्यभीरुभ्रमणस्य साध्याभावरूपत्वाभावात्। प्रियानुरागेणेति, सिंहवद्गोदावरीतीरदेशप्रविष्टप्रियानुरागेणेत्यर्थः। अन्येन चेति, मन्त्रौषधिबलादित्यर्थः। अनैकान्तिक इति, पक्ष एव व्यभिचारीत्यर्थः; पक्षातिरिक्ते तच्छब्दे सिंहोपलब्धेरभावात्' इति।

अत्रोच्यते। भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात्; न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च(A)। तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

हेतोर्दर्शयति—**व्यापकेति**। व्यापकः साध्याभावस्य हेत्वभावः, तस्य विरुद्धा प्रतियोगिनी हेतुभूता उपलब्धिः सिंहस्य पक्षेऽस्तीत्यर्थः। **प्रियानुरागेणेति**, सिंहवद्देशप्रविष्टां प्रियामानेतुमित्यर्थः। 'अनैकान्तिकः' व्यभिचारी, स च पक्ष एवेति बोध्यम्, हेतोरनन्यवृत्तित्वात्। **विरुद्धोऽपीति**, शुनो भीरुरपि यदि वीरस्तदा सिंहोपलब्धिमति गोदावरीतीरे अवश्यं भ्रमतीति साध्याभावस्य व्याप्यः सिंहोपलब्धिरूपो हेतुर्विरुद्ध इत्यर्थः। अत्र चक्रवर्त्ती—'अगम्यदेशे सिंहोपलब्धिरस्ति, न च भीरोस्तत्र भ्रमणमिति [1]साध्यसहचारी हेतुरयम्, न विरुद्धः, किन्तु व्यभिचारितो (व्यभिचरितो ?) व्यतिरेकी विरुद्ध इति पारिभाषिको विरुद्ध इत्येवार्थः' इत्याह, तन्न; हेतोरस्य व्यतिरेकित्वे पक्षमात्रवृत्तित्वादगम्यदेशे तदसम्भवात्, अन्यत्र तत्सत्त्वे व्यतिरेकित्वस्यैवासम्भवाच्च, व्यतिरेकिणो व्यभिचारित्वे विरुद्धत्वस्य सुतरां सिद्धत्वेन व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इत्यस्यार्थवशप्राप्तकथनरूपत्वेन परिभाषितत्वाभावाच्च[1]*। सन्दिग्धासिद्धिमपि दर्शयति—**गोदावरीति**। **अपि तु वचना-**

(A) 'अत्र गृहे' इत्यादेः 'असिद्धश्च' इत्यन्तस्य ग्रन्थस्य तत्रभवद्भिः प्राचीनैः कृतं व्याख्यानं न परितोषमुदपादयत्, तद्बीजं तु प्राधान्येन इत्थम्। व्यङ्ग्यार्थबोधस्यानुमितित्वमत-

---

1. 'हेतोः साध्यसहचरात् न विरुद्धत्वमित्यतो व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इति पारिभाषिको विरुद्ध एवेत्याह, तन्न; भ्रमधार्मिकेत्यादिवाक्यजन्योपलब्धेरेव अत्र हेतुत्वेन तस्यागम्यदेशे असत्त्वेन साध्यसहचारस्यैवाभावात् अन्यथा व्यतिरेकित्वमेव तस्य कथं स्यात्, व्यभिचारस्य प्राग् दर्शितत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेः, क। साध्यसहचारान्न विरुद्धत्वमित्यतोऽव्यभिचरितो व्यतिरेकी विरुद्ध इति परिभाषितविरुद्ध एवेत्याह—तन्न, भ्रम धार्मिक इत्यादि शब्दजन्यसिंहोपलब्धेरेवात्र हेतुत्वेन तस्य गोदावरीतीरमात्रवृत्ति(त्ते?)रगम्यदेशेऽभावात्, अन्यथाऽत्र व्यतिरेकित्वस्यैवाभावेन परिभाषाविषयत्वस्याभावाद् व्यभिचारस्य प्राग्दर्शितत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेश्च' ग।

दिति, भ्रमेत्यादिकुलटावचनादित्यर्थः। **न च वचनस्येति,** [1]सन्दिग्धप्रामाण्यात् तद्वाक्याद् भीरोः सिंहोपलब्धिः पक्षे जाता न वेति अनुमातृसामाजिकानां सन्देहविषयो हेतुः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः[1]*। 'अप्रतिबन्धात्' असम्बन्धात्।

खण्डनार्थं हि ग्रन्थकृतामयमुद्यमः। तत्र भ्रमेत्यादिवाक्यात् प्रतिपाद्यपुरुषनिष्ठस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितिरूपत्वमनुपपाद्य पार्यन्तिकचमत्कारस्थानस्य सामाजिकनिष्ठस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितित्वोपपादनेऽपि प्रतिपाद्यपुरुषबोधो व्यञ्जनां विना न सम्भवतीति तदर्थं व्यञ्जनायाः स्वीकार्यत्वेन पूर्वपक्षसमर्थनमनर्थकं स्यात्, एवं 'गृहे' इत्यादीनां केषाञ्चित् पदानां व्याख्यानमपि न छष्ठुतया प्रतिभातीति तद्ग्रन्थो यथामति अन्यथा व्याख्यायते। तथाहि—

भ्रम धार्मिकेतिपद्यात् प्रतिपाद्यपुरुषस्य प्रथमम् 'अत्र भ्रमणमिष्टसाधनम्' इति वाच्यार्थज्ञानम्, ततः श्वनिवृत्तौ हेतुभूतं यत् श्वमरणं तत्कारणानुसन्धानेन तत्र सिंहागमनज्ञानम्, ततः 'सिंहसञ्चरणस्थाने भ्रमणमनिष्टसाधन'मिति ज्ञानेन भ्रमणे द्वेषोत्पत्त्या 'नूनमयं ब्राह्मणवदुर्निवृत्तो भविष्यति, तथा च निष्प्रत्यूह आवयोः समागम' इत्याकूतवत्यामेतत्पद्यप्रतिपादिकायां 'शुनोऽपि भयमनुभवन्ती ससिंहेऽपि स्थाने भ्रमणोपदेशेन सिंहात् सम्भाव्यमानं गुरुतरमनिष्टमजानती अपण्डितेय'मिति भ्रमपूर्वकः 'सर्वथा देशोऽयं मम भ्रमणानर्ह' इति व्यङ्ग्यार्थबोधः। तदनन्तरम् 'अहो गृहकुलटायाः प्रतारणानैपुण्यं येनान्यथा असम्भावितवारणोऽपि वारित' इति व्यङ्ग्यार्थः सामाजिकैर्बोद्धव्यः। वाक्यस्थपदानां तु 'गृहे' लताद्यावृततया प्रच्छन्नत्वेन गृहायमाणे सङ्केतस्थाने, 'श्वनिवृत्त्या' शुनः कदाऽपि पुनरागमनं न सम्भावितमिति ज्ञापनेन, 'विहितं' कुसुमाद्यवचयनार्थमागमनं निष्प्रत्यूहमिति इष्टसाधनत्वेन बोधितं 'भ्रमणम् अभ्रमणमनुमापयति' अस्मिन् स्थाने पुनरागमनं न अनिष्टानुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनताकम् इत्यनुमानं तद्धार्मिकस्य जनयतीत्यर्थः; शुन आगमने सति भ्रमणे अनिष्टानुबन्धित्वज्ञानेन तन्निवृत्त्या भ्रमणे अनिष्टानुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वज्ञानोत्पत्तौ बाधकाभावात्। भ्रमेति लोटा प्राप्तोऽयमेवार्थः विहितमित्यनेन सूचितः। एवञ्च 'एतद्देशो न ममानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणकः सिंहवत्तया ज्ञातत्वा'दित्याकारकोऽत्र प्रयोगः।

अत्र साध्यहेत्वोर्व्याप्तिग्रहाभावेन तत्पुरुषस्य तथाऽनुमानमेव न सम्भवतीति व्यञ्जनावादिनामभिप्रायमाशङ्क्य अनुमितिपक्षवादिनस्तदुपपादनपरो ग्रन्थो यद् यदित्यादिः। यत्र यस्य भयकारणज्ञानं तत्र तस्य भ्रमणमनिष्टसाधनमिति प्रयोगे सिंहादिमद्देशे भयकारणज्ञानेऽपि वीराणां मृगयूणां तत्र भ्रमणस्येष्टसाधनत्वाद् व्यभिचार इति भीरुभ्रमणमित्यत्र भीरुपदं मृगयाशीलादि-

---

1. 'भीरुणा तद्वाधि अप्रामाण्यस्याग्रहीतत्वेन तस्य शाब्दी उपलब्धिर्जाता न वेति सन्देहात् पक्षे हेतोः सन्दिग्धासिद्धिरितार्थः' क, 'भीरुणा तत्प्रामाण्यस्यानिश्चितत्वेन तस्योपलब्धिर्जाता न वेति सामाजिकानां सन्देहात् पक्षे हेतोः सन्दिग्धासिद्धिरितार्थः' ग।

तत्तद्व्यक्तिवारकम्। ततश्च एवंविधस्थले सामान्यव्याप्तेः प्रसिद्धत्वाद् उदाहरणेन तामेव दर्शयति— यद् यदिति। अत्र सिंहज्ञानमात्रे भयकारणत्वज्ञानमौत्सर्गिकमित्यभिप्रायेण साध्यांशे भयकारणेति। तेन प्रकृतानुमितिहेतौ भयकारणत्वस्याघटकत्वेन तादृशोदाहरणमप्रासङ्गिकमित्याशङ्काया नावसरः। एवञ्च यद् यत् स्थानं अवीरपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणकं तत्तद् भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यमिति स्थिते व्याप्तिशरीरे व्यापकस्य भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वस्य अभावेन व्याप्यस्य अवीरपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वप्रकारकसम्भावनाविषयभ्रमणकत्वस्य अभावः सिध्यति, व्यापकाभावेन व्याप्याभावसिद्धेः सर्वसम्मतत्वादित्यभिप्रायः। तादृशव्यापकाभावस्य सिद्धिमेव दर्शयति—गोदावरीतीरे चेति। गोदावरीतीरवासिसिंहस्य अत्रोपलब्धिरिति तदर्थः। यथाश्रुते तु गोदावरीतीरं यदि सिंहोपलब्धिविशेष्यं तदा एतत्स्थाने भ्रमणे न बाधकमिति बोध्यम्। एतद्देशस्यापि गोदावरीतीरत्वाभिप्राये तु यथाश्रुतमेव सम्यक्। व्यापकविरुद्धेति, भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वं व्यापकं तद्विरुद्धं भयकारणप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेव, तस्य उपलब्धेः सङ्केतस्थले तज्ज्ञानादित्यर्थः। ईदृशव्यापकविरुद्ध एव व्यापकाभावेन व्याप्याभावानुमाने व्यापकाभावत्वेन विवक्षितः।

एतन्निरस्यति—अत्रोच्यत इति। गुरोरित्यादेः अनैकान्तिको हेतुरित्यन्तस्य ग्रन्थस्य अयम्भावः— यादृशं स्थानं भयकारणवत्तया ज्ञातं तत्र सञ्चरणे यदि गुरुनिदेशादिस्तदा तदुल्लङ्घनादौ यादृशानिष्टसम्भावना, कथञ्चित् परित्राणस्यापि सम्भवेन सिंहादिभयकारणविशिष्टे भ्रमणं न तदपेक्षया अनिष्टानुबन्धीति औत्सर्गिकज्ञानेन, सिंहादिभयकारणवत्तया ज्ञाते यस्मिन् स्थाने भीरुपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपो हेतुरस्ति न तत्र भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूपं साध्यमिति व्यभिचारेण निरुक्तं साध्यं न हेतोर्व्यापकम्; तथाच व्यापकाभावाद्व्याप्याभाव इति रीतेरत्रानुसरणं सुदूरपराहतमिति। ननु तादृशस्थले सिंहादभीतानां वीराणां भयकारणाभावप्रकारकं यज्ज्ञानं तद्विशेष्यत्वरूपं साध्यमप्यस्तीत्यतो न व्यभिचार इति चेत् तत्राह—शुन इति। अस्यायमभिप्रायः, भीरुपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपस्य हेतोर्गृहाङ्गणादौ सत्त्वेन तत्र वीरत्वेन सिंहादभीतानां वस्तुवैचित्र्याच्च शुनोऽपि भीतानाम् अशौचपिशाचाक्रान्तानां धार्मिकादीनां च भयकारणप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूपस्य निरुक्तसाध्यविरुद्धधर्मस्य सत्त्वेन उक्तहेतोः साध्यविरुद्धव्याप्तत्वरूपं विरुद्धत्वमिति। अथ तथाऽप्युक्तं विरुद्धत्वं न सङ्गच्छते, तथाहि उक्तहेतोरधिकरणमात्रे एव कस्यचित् भयकारणाभावप्रकारकज्ञानसम्भवेन तद्विशेष्यत्वस्य तत्र सत्त्वाद् व्यभिचार एव न सम्भवति का कथा विरोधस्येति चेत् तदुभयमपहाय असिद्धिरूपं दोषान्तरमाह—गोदावरीतीरे सिंहसद्भाव इति। तद्ग्रन्थाशयस्तु— प्रतिपाद्यधार्मिकेण तावत् सङ्केतस्थाने सिंहवत्तया ज्ञातत्वेन हेतुना अनिष्टसाधनभ्रमणकत्वमनुमाय ततो निवर्त्तितव्यम्, तस्य सिंहवत्ताज्ञानं तु शाब्दबोधः, शाब्दबोधे अप्रामाण्यशङ्का तु तज्जनकशब्दे आप्तोक्तत्वानिश्चयेन भवति, ग्राम्यस्त्रीप्रयुक्ते वचसि तु आप्तोक्तत्वनिश्चायका-

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि। व्यक्तिवादिना च (A)अधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्।

तथेति, दूती उपनायकोपभुक्ता चन्दनच्यवनादिमत्त्वादित्यनुमाने व्यभिचार इत्यर्थः। न च चन्दनच्यवनादौ वैलक्षण्यविवक्षणात् न व्यभिचार इति वाच्यं शब्दात् तदनुपस्थितेः। नन्वीदृशात् ततः कथमुपभोगस्य व्यञ्जनाऽपीत्यत आह—**व्यक्तिवादिना चेति** व्यञ्जनावादिना चेत्यर्थः। **अधमपदसहायानामिति**, दूतीरन्तृत्वेनैवाधमत्वमित्यभिप्रायः। एतदपि दूतीप्रेषणकृतसङ्केतनायकाभिप्रायेणैवोक्तम्, तदन्यनायकपक्षे तु दूतीप्रेषणसापेक्षत्वेनाप्यधमोक्तिसम्भवात् न तत्सहायतेत्यवधेयम्।

भावेन तादृशबोधे अप्रामाण्यशङ्का औत्सर्गिकी। तथाच ज्ञानधार्मिकाप्रामाण्यसन्देहस्य विषयसंशयपर्यवसानवद् वचने आप्तोक्तत्वानिश्चयेन प्रतिपाद्यधार्मिकस्य सिंहवत्तया ज्ञानमप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितमिति सङ्केतस्थानरूपे पक्षे अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितहेतुनिश्चय एवं नास्तीति कथं तस्य एतत् स्थानं मम भ्रमणानर्हमित्यनुमितेः सम्भव इति। 'अर्थेनाप्रतिबन्धात्' अर्थेन सह व्याप्यव्यापकभावरूपसम्बन्धविरहादित्यर्थः। एतेन प्रवृत्तौपयिकशाब्दबोधे वाक्ये आप्तोक्तत्वनिश्चयोऽपेक्षित इति सूचितम्।

अथ तथाऽपि अप्रामाण्यसन्देहकारणस्य तत्रानुपलब्धेरस्ति तस्य अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितहेतुज्ञानम्, ततश्चानुमितिर्निष्प्रत्यूहेति चेत् एतदस्वरसेनैव निःशेषेत्यादौ हेतोर्व्यभिचारप्रदर्शनमिति सुधीभिर्विभावनीयम्।

(A) अधमेति। तत्र दूतीप्रेषणसापेक्षतया यादृशमधमत्वं तदपेक्षया पूर्वकृतापराधेन अधमत्वस्य गरीयस्त्वं परिस्फुटमिति उभयसाधारणार्थप्रतिपादक'निःशेषच्युता'दिपदापेक्षया अधमपदस्य प्राधान्येन सहायत्वमिति बोध्यम्। इदानीन्तनदूतीरन्तृत्वेन प्राधान्यं तु प्रत्युक्तमधस्तात् (२९ पृष्ठे)।

न चात्र अधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् ? एवंविधादर्था-देवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशत इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो

नाम पञ्चम उल्लासः ॥ ५ ॥

नन्वेवं मयाऽपि अधमसन्निहितप्रेषितत्वे सतीति हेतुविशेषणं देयमित्यत आह—**न चेति**, आरोप्यनिन्दयाऽप्यधमोक्तिसम्भवादिति भावः। ननु तवापि कथमेवं-विधादर्थादुपभोगव्यञ्जनेत्यत आह—**एवंविधादिति**। 'उपपत्तिः' अव्यभिचारादिः। [1]**तददूषणमिति**, व्यञ्जनया प्रतिपादने अव्यभिचारादेरनपेक्षणादिति भावः[1]*।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे

गुणीभूतव्यङ्ग्यनिर्णयस्य पञ्चमः प्रतिबिम्बः।

———

1. अयमंशः क-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।